महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

नव-सामाजिक विमर्श

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
चतुर्थ सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 22

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

नव-सामाजिक विमर्श

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक एवं मुद्रक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : जून 2018

पाठ-रचना

प्रो॰ श्रद्धा सिंह
प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 1 : इकाई – 1

डॉ॰ गोविन्द स्वरूप गुप्त
अवकाश प्राप्त प्राध्यापक
भाषाविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 1 : इकाई – 2

डॉ॰ प्रमोद मीणा
एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग, मानविकी संकाय, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी, बिहार

खण्ड – 1 : इकाई – 3

डॉ॰ बन्दना झा
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, वसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 1

डॉ॰ सुचिता त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 2

डॉ॰ सुशीला टाकभौरे
वरिष्ठ साहित्यकार
नागपुर, महाराष्ट्र

खण्ड – 2 : इकाई – 3 एवं 4
खण्ड – 4 : इकाई – 2
खण्ड – 5 : इकाई – 1

डॉ॰ सावित्री कुमारी बड़ाईक
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, एस॰एस॰ मेमोरियल कॉलेज, राँची, झारखण्ड

खण्ड – 2 : इकाई – 5 एवं 6
खण्ड – 4 : इकाई – 3

प्रो॰ (डॉ॰) के. वनजा
प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, कोचीन विज्ञान व प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय, कोचीन, केरल

खण्ड – 3 : इकाई – 1

डॉ॰ पूर्णिमारानी
प्रधानाचार्य
राजकीय बालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय, राजमहल, जोधपुर
माध्यमिक शिक्षा विभाग, राजस्थान

खण्ड – 3 : इकाई – 2
खण्ड – 4 : इकाई – 1

श्री आनन्द कुमार पटेल
भारतीय भाषा केन्द्र, हिंदी
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया, बिहार

खण्ड – 3 : इकाई – 3

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़-रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (खण्ड – 1 : इकाई – 2)

सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

चतुर्थ सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 22
पाठ्यचर्या का शीर्षक : नव-सामाजिक विमर्श

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : विमर्शों की सैद्धान्तिकी

- इकाई – 1 : स्त्री-विमर्श : अर्थ, परिभाषा, लिंग तथा जेंडर, पितृसत्ता की उत्पत्ति एवं विचारधारा, यौनिकता, सत्ता, हिंसा, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, समानता, सशक्तीकरण, नारीवाद के प्रकार तथा सिद्धान्त; महिला आन्दोलन (पाश्चात्य और भारतीय); समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य लेखन
- इकाई – 2 : दलित विमर्श : दलित साहित्य की अवधारणा, स्वरूप, वैचारिकता, दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता, दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मान्यताएँ, दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ : भाषा, बिम्ब, प्रतीक, मिथक; हिन्दी काव्य में दलित पीड़ा की अभिव्यक्ति, दलित-काव्यधारा, हिन्दी समीक्षा और दलित साहित्य, समकालीन हिन्दी साहित्य में दलित विमर्शमूलक साहित्य परिदृश्य
- इकाई – 3 : आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप; जल, जंगल, ज़मीन और अस्मिता का सवाल, आदिवासी चेतना, मौखिक और लिखित साहित्य परम्परा, सांस्कृतिक विशिष्टताएँ, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, आदिवासी दर्शन एवं वैचारिकता, बोलियाँ, भाषाएँ; समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्शमूलक साहित्य लेखन

खण्ड – 2 : काव्य

- इकाई – 1 : स्त्रियाँ, बेजगह, तुलसी का झोला – अनामिका
- इकाई – 2 : इस स्त्री से डरो, सात भाइयों के बीच चम्पा, गार्गी – कात्यायनी
- इकाई – 3 : कैसा उदारवाद यह, छत की तलाश, सुनो ब्राह्मण ! – मलखान सिंह
- इकाई – 4 : चिड़िया जो मारी गई, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?, शम्बूक – कँवल भारती
- इकाई – 5 : कथन शालवन के अंतिम शाल का, जड़ी-बूटी पीसने की तरह, राजा ठाकुर होते थे – रामदयाल मुंडा
- इकाई – 6 : एक और जनी-शिकार, कलम को तीर होने दो, हे समय के पहरेदारो ! – ग्रेस कुजूर

खण्ड – 3 : उपन्यास

- इकाई – 1 : एक ज़मीन अपनी – चित्रा मुद्गल
- इकाई – 2 : नीला आकाश – सुशीला टाकभौरे
- इकाई – 3 : जंगल के गीत – पीटर पौल एक्का एस. जे.

खण्ड – 4 : कहानी

इकाई – 1 : अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी– सुधा अरोड़ा

इकाई – 2 : अम्मा – ओमप्रकाश वाल्मीकि

इकाई – 3 : मैना – रोज केरकेट्टा

खण्ड – 5 : आत्मकथा

इकाई – 1 : मुर्दहिया – तुलसीराम

निर्धारित पाठ्य कृतियाँ :

01. स्त्रियाँ, बेजगह, तुलसी का झोला – अनामिका, कवि ने कहा – अनामिका, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली
02. इस स्त्री से डरो, सात भाइयों के बीच चम्पा, गार्गी – कात्यायनी, सात भाइयों के बीच चम्पा – कात्यायनी, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ
03. कैसा उदारवाद यह, छत की तलाश, सुनो ब्राह्मण ! – मलखान सिंह, ज्वालामुखी के मुहाने– मलखान सिंह, शब्दारंभ प्रकाशन, दिल्ली
04. चिड़िया जो मारी गई, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?, शम्बूक – कँवल भारती, दलित निर्वाचित कविताएँ, सम्पादक : कँवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद
05. कथन शालवन के अंतिम शाल का, जड़ी-बूटी पीसने की तरह, राजा ठाकुर होते थे – रामदयाल मुंडा, कलम को तीर होने दो, सम्पादिका : रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
06. एक और जनी-शिकार, हे समय के पहरेदारो !, कलम को तीर होने दो, – ग्रेस कुजूर, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, सम्पादक : रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
07. एक ज़मीन अपनी – चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
08. नीला आकाश – सुशीला टाकभौरे, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर
09. जंगल के गीत – पीटर पौल एक्का एस. जे., सत्य भारती प्रकाशन, डॉ० कामिल बुल्के पथ, राँची
10. अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी – सुधा अरोड़ा, एक औरत की नोटबुक – सुधा अरोड़ा, मानव प्रकाशन, कोलकाता
11. अम्मा – ओमप्रकाश वाल्मीकि, सलाम – ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
12. मैना – रोज केरकेट्टा, पगहा जोरी-जोरी रे घाटो – रोज केरकेट्टा, देशज प्रकाशन, राँची
13. मुर्दहिया – तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

सहायक पुस्तकें :

01. अस्मिताओं के संघर्ष में दलित समाज, ईश कुमार, अकादमिक प्रतिभा, नई दिल्ली
02. आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता
03. आदिवासी कहानियाँ, सम्पादक : केदार प्रसाद मीणा, अलख प्रकाशन, जयपुर
04. आदिवासी कौन, रमणिका गुप्ता
05. आदिवासी दुनिया : चुनिंदा मुद्दों पर विमर्श, सम्पादक : हरिराम मीणा, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
06. आदिवासी भारत जैसा देखा, सम्पादक : टी.सी. दमोर, अलख प्रकाशन, जयपुर

07. आदिवासी मिथक और यथार्थ, सम्पादक : रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
08. आदिवासी स्वर, सम्पादक: कुमार चौहान एवं रेनू चौहान, स्वर्ण जयंती, दिल्ली
09. आदिवासी संघर्ष गाथा, विनोद कुमार
10. आदिवासी साहित्य-यात्रा, रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
11. आधुनिक भारत का दलित आन्दोलन, आर. चन्द्रा तथा कन्हैयालाल चंचरीक
12. आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, सम्पादक : देवेन्द्र चौबे, ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद
13. आधुनिकता के आईने में दलित, सम्पादक : अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
14. उत्तर-आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, कृष्णदत्त पालीवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
15. उपन्यासों के झरोखे से : चित्रा मुद्गल, करुणा शर्मा, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली
16. उपनिवेश में स्त्री, प्रभा खेतान
17. औरत की कहानी (कहानी-संग्रह), सम्पादिका : सुधा अरोड़ा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
18. अंबेडकर चिन्तन और हिन्दी दलित साहित्य (उपलब्धियाँ और अपेक्षाएँ), पी॰एन॰सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला
19. अंबेडकर रचनावली, भाग-1
20. अंबेडकरवादी स्त्री-चिन्तन, सम्पादक : तेजसिंह, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
21. अंबेडकर समग्र, भारत सरकार का प्रकाशन
22. कहती हैं औरतें (कविता-संग्रह), अनामिका, साहित्य उपक्रम, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद
23. काली सुर्खियाँ, राजेन्द्र यादव, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली
24. गुलामगिरी, ज्योतिबा फूले
25. चित्रा मुद्गल एक मूल्यांकन, के. वनजा, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली
26. चेतना के स्वर, एन. सिंह, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली
27. तुलसीराम : व्यक्तित्व और कृतित्व, सम्पादक : श्रीधरम, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, उत्तरप्रदेश
28. दलित आत्मकथाएँ : अनुभव से चिन्तन, सुभाष चन्द्र, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद
29. दलित आन्दोलन का इतिहास, मोहनदास नैमिशराय
30. दलित चेतना : सोच, रमणिका गुप्ता, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग
31. दलित चेतना की कहानियाँ : बदलती परिभाषाएँ, राजमणि शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
32. दलित चेतना की पहचान, सम्पादक : सूर्यनारायण रणसुभे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
33. दलित दृष्टि, गेल ओमवेट, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
34. दलित-प्रसंग, प्रणव बन्द्योपाध्याय, शिलालेख, नई दिल्ली
35. दलित ब्राह्मण, शरणकुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
36. दलित विमर्श की भूमिका, कँवल भारती, साहित्य उपक्रम
37. दलित साहित्य, आज का क्रान्ति विज्ञान, बाबूराव बागूल
38. दलित साहित्य : एक अभ्यास, अर्जुन डाँगले, महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मण्डल, मुम्बई
39. दलित साहित्य आन्दोलन, चन्द्र कुमार वरठे
40. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
41. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, शरणकुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
42. दलित साहित्य के प्रतिमान, एन॰ सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

43. दलित साहित्य वेदना और विद्रोह, सम्पादक : शरणकुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
44. दूसरी दुनिया का यथार्थ, रमणिका गुप्ता, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग
45. नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, रजतरानी मीनू, दलित साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली
46. नारीवादी राजनीति, जिनी निवेदिता
47. नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे सम्पादक : साधना आर्य, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
48. नारीवादी विमर्श, राकेश कुमार, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
49. प्रेमचंद और अछूत समस्या, कान्ति मोहन, जनसुलभ साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
50. भारत के आदिवासी क्षेत्रों की लोक कथाएँ, सम्पादक : शरद सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
51. भारतीय दलित साहित्य : आन्दोलन और चिन्तन, बजरंग बिहारी तिवारी, शब्दारंभ प्रकाशन, दिल्ली
52. भारतीय नारी समाज और साहित्य के ऐतिहासिक सन्दर्भों में, सुशीला टाकभौरे, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली
53. भारतीय महिलाओं की दशा, सुभाष शर्मा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
54. मध्यभारत के पहाड़ी इलाके, कैप्टन जे. फोरसिथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
55. मध्य प्रांत और बरार में आदिवासी समस्याएँ, डब्ल्यू. वी. ग्रिग्सन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
56. मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक-राजनैतिक चेतना, विमल थोरात, हिन्दी बुक सेन्टर, नई दिल्ली
57. मूक नायक, बहिष्कृत भारत, अंबेडकर
58. यथार्थवाद और हिन्दी दलित साहित्य, सर्वेशकुमार मौर्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
59. यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु तलाशती कविताएँ (आलेख), चौथीराम यादव, जवालामुखी के मुहाने (काव्य-संग्रह), मलखान सिंह, शब्दारंभ प्रकाशन, दिल्ली
60. शिखर की ओर, एन. सिंह, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली
61. शूद्र कौन और कैसे ?, भीमराव अम्बेडकर, अनुवाद : भदन्त आनन्द कौशल्यायन
62. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, फिलहाल प्रकाशन, देहरादून
63. साहित्य और दलित दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, सम्पादन : सर्वेशकुमार मौर्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
64. साहित्य की ज़मीन और स्त्री-मन के उच्छवास, रोहिणी अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
65. स्त्री-अधिकारों का औचित्य-साधन, मेरी वोल्सटनक्राफ़्ट, अनुवाद : मीनाक्षी, राजकमल प्रकाशन
66. स्त्री अस्मिता साहित्य और विचारधारा, सुधा सिंह
67. स्त्री उपेक्षिता, सिमोन दी-बोउआर, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली
68. स्त्री और सेंसेक्स, रंजना जायसवाल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
69. स्त्री: मुक्ति का सपना, सम्पादक : वसुधा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
70. स्त्री-विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य, के.एम. मालती
71. स्त्री-विमर्श का लोकपक्ष, अनामिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
72. स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका
73. स्त्रीत्व धारणाएँ एवं यथार्थ, कुसुमलता केडिया, रामेश्वरप्रसाद मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
74. हाशिये का वृतांत : स्त्री, दलित और आदिवासी समाज का वैकल्पिक इतिहास, सम्पादक : दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला, हरियाणा
75. हाशिए का विमर्श (दलित विमर्श), सुशीला टाकभौरे, नेहा प्रकाशन, दिल्ली

76. हाशिए की वैचारिकी, सम्पादक : उमाशंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
77. हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, सम्पादक एवं संकलनकर्त्ता : माता प्रसाद, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
78. हिन्दी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएँ और विधाएँ, रजतरानी मीनू, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली
79. त्रिया चरित्रं : उत्तर काण्ड, अनामिका, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा

सहायक पत्र-पत्रिकाएँ :

01. अंगुत्तर, अंक: 1, 1993, अंक : अप्रैल-जून, 1996, अंक : जुलाई-अगस्त-सितम्बर, 1997
02. आजकल, मई-जून, 1995
03. आदिवासी साहित्य, अंक : 4-5, अक्टूबर, 2015 – मार्च, 2015
04. उत्तरप्रदेश, जून, 1997
05. कदम, अंक : 2-3, 1999
06. जनसत्ता, 21 अगस्त, 1998
07. जागरण, 26 अक्टूबर, 1932
08. दलित साहित्य सम्मेलन पत्रिका, 17 जनवरी, 1976
09. दस्तावेज, अंक : 82, 1999
10. नया पथ, अंक : 24-25, जुलाई-सितम्बर, 1997, अंक : 26, 1998
11. परिकथा, अंक : 50, मई-जून, 2014,
12. पश्यन्ति, अप्रैल-जून, 1998
13. पहल, अंक : 55, 1997
14. प्रबुद्ध भारत, 15 फरवरी,1958
15. बया, अंक : अप्रैल-जून, 2015, सम्पादक : गौरीनाथ, तुलसीराम विशेषांक
16. बहुजन वैचारिकी, अंक : जनवरी, 2016, सम्पादक : धर्मवीर यादव, तुलसीराम विशेषांक
17. युद्धरत आम आदमी, अंक : 41-42, 1996, अंक : 31 सितम्बर, 1998
18. राष्ट्रीय सहारा, 30 अगस्त, 1998, 29 नवम्बर, 1998
19. वसुधा, अंक : 33-34, दिसम्बर 1995, अंक : 41, जून 1998
20. सिंह गर्जना, दीपावली अंक, 1975
21. हंस पत्रिका (आत्मकथा अंक), सम्पादक : प्रेमचंद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
22. हंस पत्रिका (दलित साहित्य विशेषांक), अंक : 02, 1996, अंक : 11, 1996, अंक : अगस्त, 1998, अंक : अक्टूबर, 1998
23. Toranto Review, 1998, Volume 16, No. 2

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	12 – 101
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	102 – 118
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	119 – 140
04.	खण्ड – 2	इकाई – 1	141 – 152
05.	खण्ड – 2	इकाई – 2	153 – 165
06.	खण्ड – 2	इकाई – 3	166 – 183
07.	खण्ड – 2	इकाई – 4	184 – 194
08.	खण्ड – 2	इकाई – 5	195 – 219
09.	खण्ड – 2	इकाई – 6	220 – 246
10.	खण्ड – 3	इकाई – 1	247 – 272
11.	खण्ड – 3	इकाई – 2	273 – 297
12.	खण्ड – 3	इकाई – 3	298 – 314
13.	खण्ड – 4	इकाई – 1	315 – 330
14.	खण्ड – 4	इकाई – 2	331 – 345
15.	खण्ड – 4	इकाई – 3	346 – 368
16.	खण्ड – 5	इकाई – 1	369 – 394

खण्ड – 1 : विमर्शों की सैद्धान्तिकी

इकाई – 1 : स्त्री-विमर्श : अर्थ, परिभाषा, लिंग तथा जेंडर, पितृसत्ता की उत्पत्ति एवं विचारधारा, यौनिकता, सत्ता, हिंसा, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, समानता, सशक्तीकरण, नारीवाद के प्रकार तथा सिद्धान्त; महिला आन्दोलन (पाश्चात्य और भारतीय); समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य-लेखन

इकाई की रूपरेखा

1.1.00. उद्देश्य कथन
1.1.01. प्रस्तावना
1.1.02. स्त्री-विमर्श
    1.1.02.1. स्त्री-विमर्श की अवधारणा
    1.1.02.2. अर्थ एवं परिभाषा
    1.1.02.3. स्त्री-विमर्श के सरोकार
1.1.03. लिंग तथा जेंडर
    1.1.03.1. उदारवादी नारीवादी समझ
    1.1.03.2. रेडिकल नारीवादी समझ
    1.1.03.3. उत्तर आधुनिक नारीवादी समझ
    1.1.03.4. अन्य मत
    1.1.03.5. जेंडर शब्द की उत्पत्ति व उसके प्रयोग के सन्दर्भ में विभिन्न मत
1.1.04. पितृसत्ता की उत्पत्ति एवं विचारधारा
    1.1.04.1. पितृसत्ता की विचारधारा
1.1.05. यौनिकता
1.1.06. सत्ता
1.1.07. हिंसा
1.1.08. स्त्रीत्व
1.1.09. पुरुषत्व
1.1.10. समानता
1.1.11. सशक्तीकरण
1.1.12. नारीवाद के प्रकार तथा सिद्धान्त
    1.1.12.1. नारीवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
        1.1.12.1.1. उदारवादी नारीवाद
        1.1.12.1.2. उग्रवादी नारीवाद
        1.1.12.1.3. मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद
        1.1.12.1.4. समाजवादी नारीवाद
        1.1.12.1.5. मार्क्सवादी नारीवाद

1.1.12.1.6. उत्तर आधुनिक नारीवाद
1.1.12.1.7. पारिस्थितिक नारीवाद
1.1.12.1.7.1. ग्रीन बेल्ट आन्दोलन
1.1.12.1.8. काला नारीवाद
1.1.12.1.9. उत्तर उपनिवेशिक नारीवादी
1.1.13. महिला आन्दोलन
1.1.13.1. स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रमुख महिला आन्दोलन
1.1.13.2. पाश्चात्य महिला आन्दोलन
1.1.13.2.1. नारीवाद के विभिन्न चरण
1.1.13.2.1.1. नारीवाद का प्रथम चरण
1.1.13.2.1.2. नारीवाद का द्वितीय चरण
1.1.13.2.1.3. नारीवाद का तृतीय चरण
1.1.13.2.2. आलोचना
1.1.13.3. भारतीय महिला आन्दोलन
1.1.13.3.1. भारत में पहली नारीवादी लहर
1.1.13.3.2. भारत में दूसरी नारीवादी लहर
1.1.13.3.3. भारत में तीसरी नारीवादी लहर
1.1.14. समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य-लेखन
1.1.15. पाठ सार
1.1.16. बोध प्रश्न
1.1.17. कठिन शब्दावली
1.1.18. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.1.19. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.1.00. उद्देश्य कथन

नव-सामाजिक विमर्श पाठ्यचर्या का पहला खण्ड विमर्शों की सैद्धान्तिकी पर आधारित है। इस खण्ड की पहली इकाई में आप स्त्री-विमर्श की जानकारी प्राप्त करेंगे। प्रस्तुत पाठ में स्त्री-विमर्श की विस्तृत चर्चा करते हुए स्त्री-विमर्श से सम्बन्धित विविध शब्दावलियों, अवधारणाओं एवं पाश्चात्य व भारतीय महिला आन्दोलनों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य लेखन का परिचय भी दिया गया है। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. स्त्री-विमर्श की अवधारणा को समझ सकेंगे।
ii. लिंग व जेंडर का अन्तर जान सकेंगे।
iii. पितृसत्ता की उत्पत्ति एवं उसकी विचारधारा से परिचित हो सकेंगे।
iv. यौनिकता, सत्ता, हिंसा, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, समानता, सशक्तीकरण की परिभाषाएँ एवं अर्थ समझ सकेंगे।

v. नारीवाद के विभिन्न प्रकारों और सिद्धान्तों को जानेंगे।
vi. पाश्चात्य एवं भारतीय महिला आन्दोलन को जान सकेंगे।
vii. समकालीन हिन्दी के स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य लेखन से अवगत हो सकेंगे।

1.1.01. प्रस्तावना

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम की नव-सामाजिक विमर्श पाठ्यचर्या के अन्तर्गत आप समकालीन विभिन्न विमर्शों का अध्ययन कर रहे हैं। पहले खण्ड में इन विमर्शों की सैद्धान्तिकी का अध्ययन करना है। 'विमर्शों की सैद्धान्तिकी' खण्ड की पहली इकाई स्त्री-विमर्श से सम्बन्धित है जिसमें आप स्त्री-विमर्श से जुड़ी अनेक पारिभाषिक शब्दावलियों एवं अवधारणाओं की सैद्धान्तिकी से परिचित होंगे। स्त्री-विमर्श शब्द के अर्थ, परिभाषा एवं अवधारणाओं से परिचित होने के साथ ही स्त्री सम्बन्धी मुद्दों से जुड़ी प्रमुख संस्थाओं तथा विचारों यथा – लिंग तथा जेंडर, पितृसत्ता, यौनिकता, हिंसा, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, समानता व स्त्री सशक्तीकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों की अवधारणा एवं वैचारिकी को समझ सकेंगे। इसके साथ ही नारीवाद की उत्पत्ति, नारीवाद के विभिन्न प्रकार व उनके सिद्धान्त, भारतीय तथा पाश्चात्य महिला आन्दोलन एवं समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य लेखन से अवगत होंगे। इन अवधारणाओं को समझने के बाद आप स्त्री-विमर्श सम्बन्धी सम्पूर्ण सैद्धान्तिकी को जान सकेंगे तथा अन्य साहित्यिक सामग्रियों में निहित स्त्री-मुक्ति सम्बन्धी तथ्यों की व्यावहारिक समझ विकसित कर सकेंगे।

1.1.02. स्त्री-विमर्श

स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज के नियामक हैं अर्थात् दोनों ही इस जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं लेकिन समाज में एक का दर्जा दूसरे से ऊपर आँका जाता है। नारी को सर्वदा से हीन मानकर एक पक्ष उस पर हावी रहा। उसकी भावनाओं-जिज्ञासाओं को एक 'मनुष्य' के रूप में नहीं देखा गया। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् न केवल जीवन शैली व सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन आए, अपितु सामाजिक संरचना में भी व्यापक परिवर्तन उभर कर प्रस्तुत हुए हैं। नये व्यवसायों के प्रादुर्भावों से सामाजिक गतिशीलता को एक आधार मिला व आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति की स्वतन्त्रता व सामाजिक समानता पर विचार करने का प्रारम्भ हुआ। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था व्यक्ति को समान मताधिकार व भागीदारी के अवसर प्रदान करती है। समानता व स्वतन्त्रता की अवधारणाओं ने समूहों के परस्पर विभेदों को हटाकर समान अधिकारों के उपयोग की व्यवस्था को प्रस्तुत किया। इसी परिप्रेक्ष्य में नर व नारी के सम्बन्धों व प्रस्थितियों की असमानता, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के रूप में उभरा। स्वयं को स्त्री के रूप में देखने, जताने और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित करने हेतु 'स्त्रीवाद' को आवश्यकता पड़ी। स्त्रीवाद स्त्रियों द्वारा अपने अस्तित्व के लिए, अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के लिए किया गया साझा प्रयास है। इस विचारधारा की उत्पत्ति मूलतः पितृसत्तात्मक अर्थात् पुरुष-प्रभुत्व की प्रतिक्रियास्वरूप हुई है। जिसका प्रयास स्त्री के अस्तित्व को स्वीकार करके उसे 'मनुष्य' रूप में प्रतिष्ठित करने का है। समाज में उसे या तो देवी का रूप मानकर उसे ऊँचे सिंहासन पर बिठा दिया गया या फिर कुलटा कहकर समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। दोनों ही रूपों में उसके

'मनुष्यत्व' रूप को नकारा गया। किसी ने उसे 'नरक की खान' कहा तो किसी ने "त्रिया चरित्रं, पुरुषस्य भाग्यम्, देवौ ना जानाति कुतो मनुष्यः" अर्थात् स्त्री के चरित्र व पुरुष के भाग्य को कोई नहीं जान सकता आदि कहकर तिरस्कृत किया। स्त्री-विमर्श स्त्री के जीवन की उन अनछुई पीड़ाओं को व्यक्त करता है। परन्तु इसका उद्देश्य स्त्री की दोयम दर्जे की स्थिति पर आँसू बहाना नहीं है, ना ही यथास्थिति बनाए रखना है। अपितु स्त्री की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार कारकों का गहराई से पता लगाना है, जिन्होंने उसे मात्र 'वस्तु' रूप में परिणत कर दिया है।

'स्त्री-विमर्श' का अर्थ स्त्री के पक्ष में खड़े होकर लैंगिक विभाजन को मजबूत करना नहीं है, लैंगिक विभाजन से आक्रान्त मनुष्य की मुक्ति की साझा लड़ाई है। सृजन की महागाथा स्त्री-विमर्श अपने भीतर 'मनुष्य' खोजने और प्रतिष्ठित करने की लगन का नाम है। स्त्री-विमर्श का अर्थ स्त्री को केन्द्र में रखकर समाज, परम्पराएँ एवं इतिहास का पुनर्निरीक्षण करते हुए स्त्री की स्थिति पर मानवीय दृष्टि से विचार करने की अनवरत प्रक्रिया है। स्त्री-विमर्श स्त्री व पुरुष दोनों की तुलनात्मक स्थिति पर तटस्थ होकर विचार करता है व स्त्री की इस दयनीय स्थिति के कारण को खोजने का भी प्रयास करता है। 'मनुष्य' होने की न्यूनतम गरिमा से विहीन स्त्री को उसी स्वतन्त्र अस्मिता से परिचित करके प्रदीप्त करना ही स्त्री-विमर्श का मूल लक्ष्य है।

1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति जिसने स्वतन्त्रता, समानता व बंधुत्व जैसी मानवीय आकांक्षाओं को नैसर्गिक मानवीय अधिकार की गरिमा देकर राजतन्त्र व साम्राज्यवाद के बरअक्स लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था के स्वस्थ और अभीप्सित विकल्प को प्रतिष्ठित किया। 1829 में भारत में राजा राममोहन राय के प्रयासों से सतीप्रथा विरोधी कानून, जिसने पहली बार स्त्री के अस्तित्व को मनुष्य के रूप में स्वीकारा तथा 1848 में सिनेका फॉल्स न्यूयार्क की ग्रिमके बहनों की अगुवाई में आयोजित तीन सौ स्त्री-पुरुषों की सभा जिसने स्त्री दासत्व की लम्बी शृंखला को चुनौती देते हुए स्त्री-मुक्ति आन्दोलन की नींव रखी तथा 1867 में प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक और चिन्तक जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में स्त्री के वयस्क मताधिकार के लिए प्रस्ताव रखा जाना ऐसी घटनाएँ हैं जिन्होंने कालान्तर में स्त्री-पुरुष के बीच स्वीकारी जाने वाली अनिवार्य कानूनी और संवैधानिक असमानता की अवधारणा को बदल दिया। संयुक्त रूप से ये चारों घटनाएँ एक तरह से विभाजक रेखाएँ हैं जिसके एक ओर पूरे विश्व में स्त्री-उत्पीड़न की परम्परा है और दूसरी ओर मुक्ति की तड़प।

संक्षेप में, स्त्री-विमर्श अस्मिता आन्दोलन है जहाँ हाशिए पर धकेल दी गई अस्मिताओं को पुनः केन्द्र में लाने का प्रयास किया जाता है। स्त्री-विमर्श अपनी मूल चेतना में पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करता है। इसी उपक्रम में विवाह संस्था, धर्म, न्याय, शिक्षा और मीडिया की स्त्री-विरोधी भूमिका को प्रकाश में लाता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री के जीवन पर नियन्त्रण हेतु व उस नियन्त्रण को स्थायी बनाने हेतु एक ऐसे समाजशास्त्रीय विधान की स्थापना की जहाँ परिवार, धर्म, न्याय, शिक्षा व मीडिया ने स्त्री-विरोधी नियम बनाकर पुरुष की वर्चस्ववादी स्थिति को और मजबूत किया। ये संस्थाएँ एक दूसरे से शक्ति लेकर स्वयं को पुष्ट करती हैं।

1.1.02.1. स्त्री-विमर्श की अवधारणा

'स्त्री-विमर्श' अंग्रेजी के 'Feminism' का अनुवाद है। हिन्दी में 'स्त्री-विमर्श' शब्द का प्रयोग सामान्यतया उस विचारधारा के लिए किया जाता है जिसका उद्देश्य सदियों से चले आ रहे पुरुषप्रधान समाज में महिलाओं को उचित स्थान एवं मुक्ति दिलाना है। यह एक ऐसा विश्वव्यापी आन्दोलन है जो समकालीन समाज में नारी की अधीनस्थ और अवपीड़ित स्थिति को समाप्त करके उन्हें पुरुष के समकक्ष स्थान दिलाने का आकांक्षी है। 'स्त्री-विमर्श' पितृसत्ता को नारी के शोषण और निम्न स्थिति के पीछे मुख्य सामाजिक कारक मानता है और इस बात का आह्वान करता है कि पैतृक संरचना के चलते पुरुष से मुक्ति प्राप्त करने के लिए समाज के सभी वर्गों की महिलाओं को एकजुट होना चाहिए।

'नारी विमर्श' आज के बौद्धिक विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। पिछले दो दशकों में इस विमर्श ने पूरी दुनिया में एक जबरदस्त बौद्धिक और सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात किया जिसके अन्तर्गत सदियों से अधिकार-वंचित, शोषित, उत्पीड़ित नारी-समाज के उद्धार और उन्नयन की आकांक्षा सर्वोपरि रही है। नारीवादी विमर्श ने पितृसत्तात्मक मूल्यों, अवधारणाओं को चुनौती दी एवं उसके विरुद्ध संवाद करते हुए उन मूल्यों को खारिज किया जिससे नारी की समाज में बदली हुई स्थिति और दृष्टि का प्रश्न भी एक नये परिप्रेक्ष्य में उभरकर सामने आया। 'स्त्री-विमर्श' में महज नारियों से जुड़े हुए प्रश्न नहीं है अपितु उनमें पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मानदण्डों, पैतृक मूल्यों, लिंगभेदों की राजनीति और स्त्री-उत्पीड़न के कारणों को समझने की गहरी दृष्टि भी अन्तर्निहित है। 'स्त्री-विमर्श' स्त्री-जीवन के अनछुए-अनजाने पीड़ा जगत के उद्घाटन के अवसर उपलब्ध कराता है तथापि उसका उद्देश्य साहित्य एवं जीवन में नारी की दोयम दर्जे की स्थिति पर आँसू बहाने और यथास्थिति बनाए रखने के स्थान पर उन कारणों की खोज भी है जो नारी की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार है। वास्तव में पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री के लिए आदर्श निर्धारित कर उसका मनमाना उपयोग किया है। आज के वर्तमान परिवेश में भी सदियों से पितृसत्तात्मक समाज द्वारा खोजी गई रूढ़ियों को ढो रही है, जिसने उसकी नियति ही 'स्त्री बने रहना' बना दिया है।

ऐंगल्स ने कहा है – "मातृसत्ता का विनाश नारी जाति की विश्व ऐतिहासिक महत्त्व की पराजय थी। ई.पू. 5500 से पितृसत्ता के विकास के दृष्टिकोणों और अभ्यासों के खिलाफ संघर्ष ही इस विमर्श का बुनियादी एजेंडा है।" फ्रांस की ही नहीं बल्कि दुनिया की प्रखर लेखिका 'सीमोन द बोउवार' ने 'द सेकेंड सेक्स' पुस्तक के माध्यम से नारीवादी विमर्श एवं नारीवादी आलोचना की शुरुआत की। बाद में आगे चलकर केट मिलेट, बैटी फ्रीडन, इरी गैरो, क्रिसिटिविया, गायत्री चक्रवर्ती, स्पीवॉक ने अपने विश्व की पितृसत्तात्मक संरचना को चुनौती दी। नारीवादी आलोचना ने पितृसत्तात्मक सभ्यताओं, संस्कृतियों के वास्तविक चेहरों को उद्घाटित किया है कि किस प्रकार धर्म, कानून, नियम, सिद्धान्त, नैतिकता, अनुशासन, आलोचना की दृष्टियाँ, साहित्य और कलाएँ पितृसत्तात्मक यानी नारीविरोधी हैं।

नारीवादी विमर्श ने ऐसे अन्तर्विरोधों को उद्‌घाटित किया है कि किस साहित्य और समीक्षा में पैतृक वर्चस्व की व्याप्ति है जिसे समझने के लिए 'फेमिनिज़्म' की सही समझ जरूरी है। 'फेमिनिज़्म' (नारी विमर्श) आज विश्व चिन्तन की बहसों में सबसे सशक्त चिन्तन है क्योंकि इसमें निहित है – अरबों, करोड़ों नारियों की दमन, अन्याय, उत्पीड़न से मुक्ति की गाथा। अतः यह पश्चिम का दर्शन मात्र नहीं रह गया है। तीसरी दुनिया के सबसे पिछड़े हुए देश 'बांग्लादेश' की तसलीमा नसरीन जब 'औरत के हक में', 'नष्ट लड़की नष्ट गद्य' तथा अन्य कविताएँ लिखती है तो वह काम सीमोन, केट मिलेट, बैटी फरीडन, इरी गैरो से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।

'फेमिनिज़्म' के सन्दर्भ में सीमोन ने जब अपनी पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' लिखी तो उन्होंने ऐंगल्स के स्त्रीवादी चिन्तन में मौजूद अन्तर्विरोधों को स्पष्ट किया कि समाजवाद में स्त्री की स्थिति पूर्णतया सुधर नहीं सकी। उनका कहना है – "नारी मुक्ति आन्दोलन का इतिहास पुरुषों ने लिखा है। ठीक उसी प्रकार जैसे अमेरिका में समस्या नीग्रो की न हो बल्कि श्वेत जाति की है। अतः समस्या औरत ने खड़ी नहीं की। यह पुरुष की समस्या है कि वह स्त्री को समानाधिकार से वंचित रखना चाहता है। पुरुष ने आदिकाल से ही अपनी आर्थिक, शारीरिक शक्ति के कारण अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। उसने जो धर्म बनाये, जिन मूल्यों को गढ़ा, जिन आचरणों को मान्यता दी वे सब उसकी अपनी सुविधा के थे। उसके इस एकछत्र राज्य को औरत ने पहले कभी चुनौती नहीं दी। कहीं-कहीं कुछ महिलाओं ने व्यक्ति के रूप में विरोध में आवाज उठाई, कुछ आन्दोलन भी हुए किन्तु पुरुष ने उतनी ही माँगें स्वीकारी जितनी उसके हित में थी या देना चाहता था। पुरुष ने औरत का सब कुछ अपने हाथों में रखा। उसने स्त्री के स्वार्थ में उसकी नियति नहीं गढ़ी बल्कि अपनी परियोजनाओं और अपनी जरूरतों से वह नियोजित हुआ।" ('स्त्री उपेक्षिता', प्रभा खेतान)

इस प्रकार सीमोन ने स्पष्ट किया है कि उसने (पुरुष ने) स्त्री के सामाजिक अधिकार और जीवन जीने के अधिकार अपने हाथों में रखे तथा कर्त्तव्यों का सारा बोझ उस पर लाद दिया। उसने उसे उतने ही अधिकार दिये जिससे उसके वर्चस्व, प्रभुत्व को कोई भी किसी प्रकार का खतरा न हो। इसके लिए तमाम कानून, नियम, नीतिशास्त्र, कर्मशास्त्र अनुशासन बनाए गए जिससे स्त्री को पराधीन बनाकर रखा जा सके, वह उसकी उपनिवेश बनी रह सके, उसका पालन करती रहे। इसीलिए तमाम सिद्धान्त, नियम, कानून उसकी परम आवश्यकता थे जिनमें छिपी थी – स्त्री को गुलाम बनाने की सैद्धान्तिकी। सीमोन ने इस सच्चाई का रहस्योद्‌घाटन किया कि आज तक के नियम, कानून, नीति-अनीति, आदर्श सभी पुरुष निर्मित हैं, उनको बनाने वाला व्यक्ति पुरुष है इसीलिए वे नियम स्त्रियों पर जबर्दस्ती थोपे गए हैं। सीमोन ने स्त्रियों से कहा कि वह उस यथास्थिति में ही जीना चाहती हैं अथवा उस यथास्थितिवाद को तोड़कर उससे बाहर आना चाहती हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें बहुत बड़ी कीमत अदा करनी पड़ेगी और सामने आकर पुरुष वर्चस्ववाद को चुनौती देनी होगी।

बाद में बैटी फरीडन ने सीमोन की धारणाओं को आगे बढ़ाया। उन्होंने स्पष्ट किया कि नारी के लिए सबसे बड़ा काम अपने नारीत्व (फेमिनिटी) को परिपूर्ण करना रहा है। फरीडन का मानना है कि स्त्रीत्व के प्रति जागरुक, सम्वेदनशील और संघर्षशील स्त्रियाँ ही एक सही स्त्री दृष्टि रखती है जिनमें स्त्रीत्व के प्रति आत्म सजगता

नहीं होगी, उनमें स्त्री दृष्टि भी नहीं होगी। इसीलिए बहुत स्त्रियाँ जो स्त्रीत्व के प्रति सजग नहीं होती वे मूलतः पितृक संस्कृति की संरक्षक व पोषक होती हैं।

इस तरह, नारीवाद प्रमुख रूप से पुरुष या पितृसत्ता के विरुद्ध आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। जिसका मुख्य मुद्दा था– नारी को वे सब अधिकार दिलवाना जो पुरुषों को प्राप्त थे पर उसे नहीं।

नारी विमर्श वह बातचीत है, तर्क-वितर्कों से भरी बहस और बहसों से निकलकर आने वाला वह निष्कर्ष है जो नारी के जीवन को पुरुष के जीवन के साथ समानता के स्तर पर लाना चाहता है। अभी तक जो ढर्रा रहा है उसके चलते जगह-जगह और तरह-तरह से समानता ही खण्डित होती है, खण्डित होने से जो विभाजन होता है, वह छोटे-बड़े हिस्सों का नहीं होता बल्कि नाम मात्र और समूचे का बनता है। औरत के लिए हर तरफ से निर्णय लेने की जिम्मेदारी पुरुष ही निभाता रहा है जैसे वह जन्मजात मूर्ख हो। लड़की के जन्म से पहले ही एक अदद खूँटा घर में गाड़ दिया जाता है जिससे बँधकर उसे जीवन बिताना है। रस्सा छोटा हो, लम्बा हो तो कितना लम्बा हो ! यह फैसला पिता-भाई, पति और पुत्र करते हैं। जिस दिन नारी अपने लिए फैसला लेने का संकल्प करती है, उसका रस्सा टूट जाता है और वह मनुष्य के मूल रूप पुरुष की तरह अपनी इच्छा की मालिक हो जाती है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें समानधर्मी नारी-पुरुष हो, नारी का सपना है।"

नारी विमर्श की सारी धारणा और संघर्ष के केन्द्र में मुख्य रूप से मध्यमवर्ग ही है। इसका सीधा सम्बन्ध शिक्षा और उसके साथ उभरने वाली उस आधुनिक चेतना के साथ जुड़ा है जो नारी को अपने वर्चस्व, अपनी अस्मिता के प्रति सचेत करता है।

प्रसिद्ध लेखिका चित्रा मुद्गल के अनुसार – "नारी-विमर्श एक विचारधारा नहीं अपितु एक आन्दोलन है। विचारधारा में हर चीज स्पष्ट होती है। समस्या को किस रूप और कितनी शर्तों में देखा समझा जाना चाहिए और उससे मुठभेड़ करना क्यों जरूरी है, किन-किन रूपों में करना जरूरी है अर्थात् विचारधारा का अनुशासन एक बँधी ज़मीन पर चलने के लिए बाध्य करता है। नारी की अस्मिता को हासिल करने की मुहिम के लिए जरूरी है कि चारों दिशाओं की खिड़की-दरवाजे खुले रखे जाएँ। जरूरी हो तो उनकी चौखटों को भी निकालकर फेंका जा सके ताकि स्वस्थ और विवेकपूर्ण सन्तुलन के साथ ही सामाजिक स्थिति को न्यायपूर्ण ढंग से मजबूत किया जा सके। यह तभी सम्भव है जब समाज की अनुकूलित मानसिकता नारी को देह नहीं, दिमाग का दर्जा देगी और उसी रूप में स्वीकार करेगी।"

कुल मिलाकर एक अवधारणा के रूप में 'नारी-विमर्श' नारी उत्पीड़न के विभिन्न पहलुओं को समझने की क्रिया में प्रयासरत एक गतिशील और निरन्तर परिवर्तनशील विचारधारा है। नारी-विमर्श के समर्थक तमाम बातों में भिन्न मत रखते हुए भी एक बिन्दु पर एक मत हैं, और वह है – 'नारी-पुरुष के वर्तमान सम्बन्धों को बदला जाना चाहिए और समाज में दोनों को एक समान स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार मिलना चाहिए।'

इस प्रकार 'स्त्री-विमर्श' की अवधारणा का प्रयोग चार सन्दर्भों में परिलक्षित होता है –

(1) यह नारी की पुरुष के प्रति अधीनता और नारी के विश्वव्यापी उत्पीड़न की प्रकृति के विरुद्ध एक दार्शनिक सिद्धान्त है।
(2) यह एक सामाजिक-राजनैतिक सिद्धान्त है जो समस्त महिलाओं को पुरुषों के प्रभुत्व और शोषण से मुक्त करने का आकांक्षी है।
(3) यह एक सामाजिक आन्दोलन है जिसका आधार नारी-पुरुष संघर्ष है।
(4) यह एक विचारधारा है जो सभी नारीद्वेषी विचारधाराओं और व्यवहारों के विपरीत है।

1.1.02.2. अर्थ एवं परिभाषा

विमर्श का अर्थ है – जीवन्त बहस। किसी भी समस्या या स्थिति को एक कोण से न देखकर विभिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों और वैचारिक प्रतिबद्धताओं का समाहार करते हुए उलट-पुलट कर देखना, उसे समग्रता में समझने की कोशिश करना और फिर मानवीय सन्दर्भों में निष्कर्ष प्राप्ति की चेष्टा करना। इस प्रक्रिया में जो निष्कर्ष निकलते है वह अन्तिम निर्णय की तरह थोपे नहीं जाते वरन् उसे समय के साथ मुठभेड़ कर नया स्वरूप ग्रहण करने की स्वतन्त्रता दी जाती है। हिन्दी में 'विमर्श' शब्द अंग्रेजी के Discourse शब्द से आया है जिसका अर्थ है – 'वर्ण्य विषय पर सुदीर्घ एवं गम्भीर चिन्तन-मनन' (A long and serious treatment or discussion of subject in speech or writing)। इस प्रकार स्त्री-विमर्श का अर्थ है – 'स्त्री को केन्द्र में रखकर समाज, संस्कृति, परम्परा एवं इतिहास का पुनरीक्षण करते हुए स्त्री की स्थिति पर मानवीय दृष्टि से विचार करने की अनवरत प्रक्रिया।' स्पष्ट है कि स्त्री-विमर्श के अन्तर्गत 'अतीत' या 'समकालीनता' प्रमुख नहीं रहती वरन् भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालखण्डों पर एक दूसरे की अन्विति एवं संगति में विश्लेषण करने का भाव प्रधान रहता है। स्त्री-विमर्श स्त्री-चेतना के प्रसार का आख्यान है। चेतना मूलतः मूल्यपरक इकाई है जो स्वभावतः परिवेशगत दबावों से उत्पन्न होती है और अनिवार्यतः परिवेश का विखण्डन करती है। अतः स्त्री-विमर्श परम्परा व व्यवस्था के विखण्डन का शास्त्र भी है।

स्त्री-विमर्श स्त्री और पुरुष दो भिन्न जैविक इकाइयों को परस्पर पूरक या अन्योन्याश्रित जैसे विशेषणों से सजाकर विश्लेषित नहीं करता, वरन् दोनों की स्वतन्त्र अस्मिता एवं सत्ता पर बल देते हुए एक जीवन्त मानवीय इकाई के रूप में अध्ययन करने का नव-संस्कार देता है। वह स्त्री को भोग्या-वस्तु, श्रद्धा-योनि किसी भी कोटि में रखे जाने की परम्परागत मान्यताओं का विरोध करते हुए उन तमाम समाजशास्त्रीय संरचनाओं की पड़ताल कर लेना चाहता है जो स्त्री को हीन और दोयम दर्जे का प्राणी घोषित करता है। स्त्री-विमर्श समाज में स्त्री व पुरुष दोनों की तुलनात्मक स्थिति पर तटस्थ एवं सम्वेदनात्मक ढंग से विचार करने का आह्वान है। इसकी सम्वेदना का केन्द्र-बिन्दु समाज है किन्तु विश्लेषण का मूलघटक है – समाजशास्त्र। अतः इसके स्वरूप एवं भविष्य को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाजवैज्ञानिक की भाँति पितृसत्तात्मक व्यवस्था की गहन पड़ताल अनिवार्य है। स्त्री-विमर्श पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पुनरीक्षण का महाआख्यान है, यह जीवन्त मानवीय इकाई के रूप में स्त्री को समझने का मानवीय प्रतिवेदन है। स्त्री-विमर्श स्त्री-अधिकारों एवं स्त्री-मुक्ति का मुद्दा उठाकर पुरुष के प्रति घृणा या

प्रतिशोध की भावना का प्रसार नहीं करना चाहता वरन् स्त्री के लिए उन सभी मुक्ति द्वारों को खोल देना चाहता है जिन पर किसी भी मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है।

1.1.02.3. स्त्री-विमर्श के सरोकार

स्त्री-विमर्श का सरोकार जीवन और साहित्य में स्त्री-मुक्ति के प्रयासों से है। स्त्री की स्थिति की पड़ताल उसके संघर्ष एवं पीड़ा की अभिव्यक्ति के साथ-साथ बदलते सामाजिक सन्दर्भों में उसकी भूमिका, तलाशे गए रास्तों के कारण जन्मे प्रश्नों से टकराने के साथ-साथ आज भी स्त्री की मुक्ति का मूल प्रश्न उसके मनुष्य के रूप में अस्वीकारे जाने का प्रश्न ही है। "स्त्री होना और मनुष्य होना परस्पर अपवर्जक है।"

स्त्री की अस्मिता की लड़ाई आधी दुनिया को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई है। उसके मनुष्यत्व को स्वीकारना आज मानवता का सबसे बड़ा सवाल है। आज भी 'मनुष्य' की अवधारणा में स्त्री और पुरुष दोनों को शामिल नहीं किया जाता। सचेत रूप से स्त्री को इसे अलगाने की कोशिशें खत्म नहीं हुई हैं। यद्यपि समय-समय पर स्वयं स्त्री ने अपने मनुष्य समझे जाने / न समझे जाने के सवाल उठाए हैं। "करीब सौ साल पहले 'नोरा' ने हेल्मर से पूछा 'तुम क्या मानते हो, मेरा सबसे पवित्र कर्त्तव्य क्या है ? और जब उसने कहा – अपने पति और बच्चों के प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य। तो वह असहमत हुई और बोली – मेरा एक और कर्त्तव्य है, उतना ही पवित्र अपने प्रति मेरा कर्त्तव्य ... मैं मानती हूँ कि सबसे पहले मैं मनुष्य हूँ। उतनी ही, जितने कि तुम हो ... या हर सूरत में मैं वह बनने की कोशिश तो करूँगी ही। मैं अच्छी तरह से जानती हूँ तोरवाल्ड कि ज्यादातर लोग तुमसे सहमत होंगे, किताबों से तुम्हें इसका परवाना मिला है, लेकिन अब मैं, ज्यादातर लोग जो कहते हैं और जो किताबों में लिखा है उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाऊँगी, मुझे चीजों पर खुद सोच-विचार करना होगा और उन्हें समझने की कोशिश करनी होगी।" समस्या यह है कि स्त्री के पास चीजों पर खुद सोच-विचार और उन्हें समझने की कोशिश की गुंजाइश इसलिए नहीं बनती है कि युगों की कंडीशनिंग ने एवं परम्परागत सामाजीकरण ने उसे मात्र 'स्त्री' के रूप में रूपान्तरित किया है।

'बना दी गई स्त्री' से मुक्ति के रास्ते 'स्त्री की मुक्ति' के रास्ते हैं। 'स्त्री' की मुक्ति का तात्पर्य पुरुष हो जाना या पुरुषोचित गुणों का स्वीकार कदापि नहीं है। स्त्री की अपनी प्राकृतिक विशेषताएँ हैं, परन्तु दोहरे सामाजिक मानदण्डों ने जो शर्मनाक स्थिति पैदा की है वे स्त्री को मात्र 'स्त्रीत्व' के बन्धन में बाँधते हैं। स्त्री की खोल से बाहर आकर मनुष्यत्व की दिशा में अग्रसर होना है। "स्त्री का व्यक्ति के रूप में प्रकाशित हो सकना, अपनी सम्पूर्णता में जा सकना मनुष्य जाति के बचे रहने की शर्त है। यह अकारण नहीं है कि 'इला भट्ट' जैसी स्त्री चिन्तक स्त्री-मुक्ति के रास्ते मानव जाति की मुक्ति का सपना देख रही हैं।"

जैविक भिन्नता स्त्री की स्थिति पुरुष से भिन्न रखने में सहायता करती है लेकिन स्त्री की दोयम दर्जे की स्थिति के महत्त्वपूर्ण कारक उसकी सामाजिक और आर्थिक हैसियत से अधिक जुड़ते हैं। उसकी अधीनस्थ की भूमिका असमानता को जन्म देती है और शोषण के अवसर प्रचुर हो जाते हैं। स्त्री एक ऐसी मादा में तब्दील हो

जाती है जिसकी जिन्दगी रोटी, कपड़ा और मकान की उपलब्धता के अहसान तले सीमित हो जाती है। जिसके बदले में वह हर तरह की जहालत झेलने की अधिकारिणी है। माँ, बहन, पत्नी, बेटी की भूमिकाओं में सीमित स्त्री अपनी स्वतन्त्र सत्ता के अवसर कम करती है। 'स्त्री-विमर्श' स्त्री के जीवन के अनछुए-अनजाने पीड़ा जगत के उद्‌घाटन के अवसर उपलब्ध कराता है परन्तु उसका उद्देश्य साहित्य एवं जीवन में स्त्री के दोयम दर्जे की स्थिति पर आँसू बहाने और यथास्थिति बनाए रखने के स्थान पर उन कारकों की खोज से है जो स्त्री की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं। वह स्त्री के प्रति होने वाले शोषण के खिलाफ संघर्ष है। स्त्री के शोषण के सूत्र जहाँ बच्चों को बेटे और बेटी की तरह अलग-अलग ढंग से बड़ा करने और गलत ढंग से सामाजीकरण से जुड़ते हैं वहीं प्रजनन व यौन सम्बन्धी शोषण से भी। तुलनात्मक व्यवस्था और आर्थिक परावलम्बन स्त्री के शोषण को गहरा करते हैं। हमारी सामाजिक संरचना में बदलाव के बिना स्त्री के हिस्से में बेहतरी आना सम्भव नहीं। 'स्त्री-विमर्श' स्त्री के स्वयं की स्थिति के बारे में सोचने और निर्णय करने का विमर्श है यह स्वयं चेती हुई स्त्री के पाए हुए स्वाधिकार हैं, जहाँ उसे अपने खिलाफ होने वाले हर गैरवाजिब सुलूक से खुद निपटना है। भिन्न-भिन्न श्रेणी, वर्ग, जाति, नस्ल की होते हुए भी 'जेंडर' के धरातल पर सारी दुनिया में स्त्री का संघर्ष एक-सा है क्योंकि उसकी लड़ाई हर जगह पितृसत्तात्मक व्यवस्था से है। स्त्रियों की भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, भाषिक और अस्मिता सम्बन्धी समस्याएँ प्रायः एक-सी हैं।

विश्व के अधिकांश भागों में स्थापित पूँजी व्यवस्था, पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने सामाजिक ढाँचा इस प्रकार निर्मित किया कि स्त्री व्यक्ति से वस्तु में बदल गई। परिवार में उसकी स्थिति सम्पत्ति और घर से बाहर वस्तु के रूप में आँकी गई। वैयक्तिक सत्ता से इनकार किया गया। समस्त दर्शन, विज्ञान, समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र ने इन्हीं सन्दर्भों में स्त्री की व्याख्या की और उसे देह से परिभाषित किया गया। ऐतिहासिक प्रक्रिया में स्त्री की शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता, संस्कारों के प्रति सचेत दृष्टि के कारण कालान्तर में भी जब भी स्त्री की स्वतन्त्रता की बात की गई तब-तब उसे देह की स्वतन्त्रता से व्याख्यायित किया गया और यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया कि स्त्री चूँकि देह मात्र है इसलिए उसे इसी धरातल पर मुक्ति चाहिए। स्त्री-विमर्श के सरोकार स्त्री की देह के धरातल पर मुक्ति की पक्षधरता के साथ-साथ उसके लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्वतन्त्रता एवं समानता की भी वकालत करते हैं। स्त्री-मुक्ति का प्रश्न सामाजिक, राजनैतिक मुक्ति के अन्य पक्षों से हटकर नहीं बनाया जा सकता। वह संसार के पुनर्मूल्यांकन की माँग करता है। विज्ञान, मनोविज्ञान की नयी खोजों के स्त्री के पक्ष में उठ खड़े होने से स्थितियों पर नये सिरे से विचार करना लाजिमी हो गया है। अब तक जिस आधार पर स्त्री की वैयक्तिक विफलता या कमी कह कर स्त्री को शोचनीय स्थिति में रखा जाता था वे व्यवस्था की जिम्मेदारियों पर उँगली रखने लगी हैं। स्त्री के प्रश्न उसकी सिर्फ स्त्री होने की स्थिति से नहीं जुड़े हैं बल्कि वे स्त्री के वर्ग, श्रेणी, नस्ल, उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति से जुड़ते हैं इसलिए स्त्री के प्रश्न अन्तरानुशासनात्मक अध्ययन के विषय हैं। इतिहास, दर्शन, साहित्य की खाइयों के बारे में विचार करते हुए उनके पुनर्मूल्यांकन व नये सिरे से उनकी व्याख्या तक स्त्री-विमर्श का फलक विस्तार पाता है। "स्त्री-विमर्श दुनिया का एकमात्र अहिंसक आन्दोलन है (ग्लोरियस रेलोन्यूशन के बाद का), जो मानकर चलता है कि दोष पुरुषों का नहीं, पितृसत्तात्मकता का है, जो किंचित पूर्वाग्रहों और कंडिशनिंग (प्रशिक्षण-दोष) के कारण पुरुषों को भेड़िया और स्त्रियों को भेड़ बना डालती है।"

स्त्री-विमर्श की तीन मूल प्रपत्तियाँ हैं – (i) जेंडर के सामाजिक कन्स्ट्रक्ट हैं; (ii) पितृसत्तात्मक व्यवस्था में आचार-संहिताएँ चूँकि पुरुषों की बनायी हुई होती हैं, इसलिए स्त्रियों की तुलना में पुरुषों के प्रति इनका रवैया पक्षपातपूर्ण होता है – स्त्रियों को विकास के समान अवसर भी 'कृपापूर्वक' ही दिए जाते हैं; (iii) भविष्य का जो लिंग-शोषणमुक्त समाज होगा, उसे गढ़ने में स्त्रियों के कार्यक्षेत्र, प्रेम, प्रजननादि विशेष अनुभवमूलक वृत्तान्त और उनकी भाषा तथा शिल्प के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास बहुत निर्णायक सिद्ध होंगे। इस प्रकार, कुल मिलाकर फेमिनिज़्म के दो दायित्व हो जाते हैं – पहला, जेंडर-स्टीरियोटाइप पर प्रहार तथा दूसरा, स्त्री-मन और शरीर की सही समझ का विकास। आज के स्त्री-विमर्श का यह दायित्व है कि वह सभी वर्गों के लोगों की चेतना को इस दिशा में संवेदित करे।

1.1.03. लिंग तथा जेंडर

लिंग एक जैविक संरचना है और जेंडर का सम्बन्ध संस्कृति से है। प्रकृति से लिंग का वही रिश्ता है जो संस्कृति से जेंडर का। 'लिंग' और 'जेंडर' के भेद को स्पष्ट करना स्त्री-विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'सेक्स' शब्द पुरुष और स्त्री के बीच एक जैविक अर्थ की तरफ इशारा करता है। जबकि 'जेंडर' का ताल्लुक उसके साथ गुँथे सांस्कृतिक सन्दर्भों से है। स्त्री-विमर्श के लिहाज से इस फर्क को स्पष्ट करना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि महिलाओं की अधीनता को मोटे तौर पर स्त्री-पुरुष के बीच जैविक फर्क के आधार पर ही सही ठहराया जाता है। ऐसे दार्शनिक तर्क मौजूद हैं जो तमाम तरह के उत्पीड़नों को कुदरती या प्राकृतिक कहकर जायज ठहराते है। इस तर्क के अनुसार जो कुदरती है वह अपरिवर्तनीय है, अतः जायज है। ऐसे तर्क को जैविक निर्धारणवाद (Biological determinism) कहा जाता है।

हमारे सामाजिक जीवन की यह विशेषता है कि हम कुछ खास विशिष्टताओं को पुरुषत्व और कुछ दूसरी खास विशेषताओं को नारीत्व के साथ जोड़कर देखते है। बचपन से ही लड़कों और लड़कियों को जेंडर भेद के अनुरूप व्यवहार करना, कपड़े पहनना, खेलना आदि सिखाया जाता है। यह प्रशिक्षण निरन्तर और अधिकांशतः बेहद सूक्ष्म होता है। जैसा कि सीमोन द बोउआर ने कहा है – "औरत पैदा नहीं होती, बना दी जाती है।"

लिंग का सम्बन्ध महिला-पुरुष के बीच शारीरिक बनावट के फर्क से है वहीं जेंडर का सम्बन्ध महिला-पुरुष के बीच सामाजिक तौर पर होने वाले फर्क से है। कमला भसीन के अनुसार – जेंडर सामाजिक सांस्कृतिक रूप में स्त्री-पुरुष को दी गई परिभाषा है जिसके माध्यम से समाज उन्हें स्त्री और पुरुष दोनों की सामाजिक भूमिका में विभाजित करता है।

पितृसत्तात्मक समाज की संरचना जेंडर विभेद पर आधारित होती है। जैसे – बेटे की चाह, भ्रूण-हत्या, स्त्री-पुरुष में भेदभाव व सामाजिक कार्यों में स्त्रियों का पुरुषों से नीचे का दर्जा। जेंडर हमें इन सभी सामाजिक भेदभाव को समझने का नजरिया देता है। यह सत्य है कि स्त्री-पुरुष दोनों ही जैविक संरचना है। पर इनकी पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक भूमिका का निर्धारण जेंडर करता है। जेंडर अस्मिता की पहचान

का सबसे मूल घटक है जो हमें स्त्री या पुरुष की निर्धारित सीमा को परिभाषित करने और दुनिया को देखने के नजरिए की नाटकीय भूमिका को बताता है। यह केवल लिंगों के बीच अन्तर को ही नहीं बताता बल्कि सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्तर पर सत्ता से इसके सम्बन्ध को भी परिभाषित करता है।

मोटे तौर पर नारीवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत लिंग और जेंडर के विभेद का जिस प्रकार विकास हुआ है उसमें हम चार प्रमुख धाराएँ देख सकते हैं – (i) उदारवादी नारीवादी समझ, (ii) रेडिकल नारीवादी समझ, (iii) उत्तर आधुनिक नारीवादी समझ, (iv) 'जेंडर' को विभिन्न पहचानों – जाति, वर्ग, नस्ल, धर्म आदि में स्थित करने पर आधारित समझ।

1.1.03.1. उदारवादी नारीवादी समझ

एलिसन जैग्गर के अनुसार 'सेक्स' व 'जेंडर' एक दूसरे के साथ द्वन्द्वात्मक व अविभाज्य रूप से सम्बन्धित हैं। इस सोच के अनुसार मानव-जीवविज्ञान का निर्माण मानव-शरीर, भौतिक वातावरण और प्रौद्योगिक तथा समाज के विकास की अवस्था के बीच बेहद जटिल अन्तर्सम्बन्ध से होता है। जैग्गर कहती हैं – "इंसान का हाथ श्रम का औजार नहीं, श्रम की उपज भी है। यहाँ इसका यह अर्थ है कि दोनों प्रक्रियाएँ एक दूसरे से जुड़ी हैं। मानवीय हस्तक्षेप बाहरी वातावरण को परिवर्तित करता है और साथ ही बाहरी वातावरण में होने वाले परिवर्तनों से मानव शरीर में परिवर्तन और उसका स्वरूप निर्धारित होता है। दो मायनों में यह बिल्कुल सही है। पहला दीर्घकालीन उद्भव व विकास-प्रक्रिया के सन्दर्भ में जो हजारों साल तक अनवरत चलती रहती है। यानी, दुनिया के विभिन्न हिस्सों में मानव-शरीर आहार, मौसम और किए जाने वाले कामों की विशिष्टता और भिन्नताओं के चलते अलग-अलग रूपों में और अलग-अलग तरीकों से विकसित हुए हैं। दूसरा, व्यक्ति के मनोमस्तिष्क और हार्मोन सन्तुलन में उद्विग्नता, शारीरिक श्रम और सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों के स्तर पर स्वरूप के कारण उसी प्रकार परिवर्तन आते हैं जिस प्रकार व्यक्ति मनोमस्तिष्क और हार्मोन सन्तुलन के कारण सामाजिक व्यवहार और क्रियाओं में परिवर्तन आते हैं। मिसाल के तौर पर शरीर में कुछ खास रासायनिक परिवर्तनों से तनाव के विशिष्ट लक्षण दिखने लगते है जिन्हें दवाइयों से सामान्य किया जा सकता है इसी प्रकार 'उच्च तनाव स्तर उच्च रासायनिक असन्तुलन का कारण हो सकता है और हो सकता है कि शरीर का सन्तुलन वापस पाने के लिए उसके वातावरण में ही बदलाव करना पड़े।

जैविक बनावट और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों की इस समझ को अगर हम सेक्स / जेंडर विभेद पर लागू करें तो निष्कर्ष निकलता है कि महिलाओं के शरीर की बनावट भी सामाजिक बन्धनों और सौन्दर्य के मानकों द्वारा निर्धारित की गई है। यानी 'शरीर' का स्वरूप जिस हद तक 'प्रकृति' से निर्धारित हुआ है उतना ही 'संस्कृति' से भी। मसलन, इन दिनों जो महिलाओं के एथलेटिक रिकार्ड में बढ़ोतरी हुई है। यह तथ्य इस बात का संकेत है कि महिलाओं की शारीरिक बनावट को सामाजिक बन्धनों ने बाँध रखा था जिससे महिलाओं का शारीरिक विकास अवरूद्ध हो रहा था। नारीवादी मानवशास्त्रियों ने यह तथ्य भी उजागर किया है कि कुछ नृजातीय समूहों में औरत और मर्द के बीच शारीरिक असमानताएँ बेहद मामूली हैं। संक्षेप में, हमें इस तथ्य पर विचार करना चाहिए कि

हमारे ऊपर दो समान रूप से शक्तिशाली कारक प्रभाव डालते हैं – पहला, कई अन्तर्सम्बन्धित प्रक्रियाओं के जरिए समाज सेक्स विभेद पैदा करता है और दूसरे सेक्स विभेदों के कारण समाज का एक खास ढाँचा पैदा होता है।

1.1.03.2. रेडिकल नारीवादी समझ

'सेक्स' कोई स्थायी, अपरिवर्तनशाली आकार नहीं है जिस पर समाज जेंडर का निर्माण करता है, बल्कि सेक्स स्वयं ही कई बाहरी कारकों से प्रभावित होता है – प्रकृति और संस्कृति के बीच कोई साफ और अपरिवर्तनीय रेखा मौजूद नहीं है।

सेक्स / जेंडर के बारे में दूसरा मत रेडिकल नारीवादियों का है। वह आगाह करती हैं कि नारीवादियों को अलग-अलग लिंगों के बीच जीव वैज्ञानिक भेद को कम करके नहीं आँकना चाहिए, और सारी असमानताओं को महज 'संस्कृति' के ही मत्थे मढ़ देना ठीक नहीं है। ऐसा करने का मतलब होगा पुरुष सभ्यता द्वारा स्त्री की प्रजनन भूमिका को कम करके आँकने की प्रवृत्ति को स्वीकार कर लेना। यह उस उदारवादी नारीवादी समझ की आलोचना है जिसके अनुसार एक आदर्श विश्व में पुरुष और स्त्री मोटे तौर पर एक समान होंगे। रेडिकल नारीवादियों का दावा इसके उलट जाता है। उनकी दलील है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों ने स्त्रीत्व के गुणों का अवमूल्यन किया है और नारीवाद की यह जिम्मेदारी है कि वह इन गुणों को वापस प्रतिष्ठित करें क्योंकि उनके अनुसार स्त्री और पुरुष में यह असमानता बहुमूल्य है। सेक्स / जेंडर के सवाल पर रेडिकल नारीवादी सोच यह है कि पुरुष और स्त्री के बीच कुछ विशेष असमानताएँ हैं जो उनके भिन्न जैविक प्रजनन क्षमताओं के कारण पैदा होती हैं, और इसीलिए स्त्रियाँ ज्यादा सम्वेदनशीलता, सहज और प्रकृति के निकट होती हैं। मिसाल के तौर पर रेडिकल नारीवादी सुजेन ग्रिफिन और एंड्रीया ड्वॉर्किन मानती हैं कि स्त्री का प्रजनन जीव-विज्ञान, यानी गर्भधारण की प्रक्रिया और मातृत्व का अनुभव, बाहरी दुनिया के साथ उनके सम्बन्ध को गहरे स्तर पर प्रभावित करता है। इसलिए, इस समझ के हिसाब से, महिलाएँ प्रकृति के नजदीक हैं और दुलार, पालन-पोषण और सम्वेदनशीलता के सन्दर्भ में प्रकृति के गुणों की वाहक हैं। पितृसत्तात्मक समाज इन गुणों को खारिज करता रहा है। लेकिन नारीवादियों को इन गुणों को स्वीकार करना चाहिए और इन्हें प्रतिष्ठा देनी चाहिए।

कैरोल गिलिगन की पुस्तक 'इन ए डिफरेंट वोआस' (In a Different voice) इस दृष्टिकोण का एक बढ़िया उदाहरण है। एक मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए वह तर्क देती हैं कि प्रारम्भिक दुलार देने वाली इकाई एक स्त्री (माँ) ही होती है – (लिंग के आधार पर श्रम विभाजन के चलते) इसलिए स्त्री और पुरुष जिस प्रक्रिया से होकर वयस्कता तक पहुँचते हैं वह भिन्न होती है। लड़के वयस्कता की तरफ बढ़ते हुए अपनी माँ से भिन्नता की दिशा में विकसित होते हैं जबकि लड़कियाँ अपनी पहचान अपनी माँ के सन्दर्भ में ही देखती है। यानी, एक लिंगभेद आधारित समाज में, जहाँ सभी शिशु अपने आप को अपनी माँ के साथ जोड़कर देखते हैं, वहीं धीरे-धीरे लड़के महसूस करने लगते हैं कि वह अपनी माँ से 'भिन्न' हैं जबकि लड़कियाँ महसूस करती हैं वह वैसी ही हैं जैसी माँ है। गिलिगन की दलील है कि इसका नतीजा यह होता है कि दुनिया के साथ स्त्रियों का जुड़ने का तरीका

ज्यादा मनोगत भावनात्मक और सम्बन्धपरक होता है जबकि पुरुषों का तरीका ज्यादा वस्तुपरक या भौतिक होता है। स्त्रियाँ दूसरे के साथ सम्बन्धों में स्वयं को देखती हैं जबकि पुरुष स्वयं को अलग देखते हैं। मिसाल के तौर पर, पुरुष और स्त्री मित्रताओं के स्वरूप में भिन्नता को इस तथ्य के आधार पर समझा जा सकता है।

1.1.03.3. उत्तर आधुनिक नारीवादी समझ

जहाँ एक तरफ रेडिकल नारीवादियों का मानना है कि सेक्स / जेंडर विभेद लिंग भेदों को कम महत्त्वपूर्ण बना देता है, वहीं उत्तरआधुनिक नारीवादियों का एक खेमा मानता है कि यह विभेद जैविक शरीर पर ज़रूरत से ज्यादा जोर देता है। उदाहरण के लिए जडिथ बटलर दलील देती हैं कि यदि 'जेंडर' सांस्कृतिक अर्थों का वह लबादा है जो एक 'सेक्स' जिस्म ओढ़ लेता है, तो ऐसा नहीं माना जा सकता है कि जेंडर किसी एक रूप में 'सेक्स' से निकलती है। वह कहती हैं कि 'जेंडर' एक पहले से दिए गए 'सेक्स' को प्रदान कर दिया गया सांस्कृतिक अर्थ या सन्दर्भ नहीं है, बल्कि, सोचने के एक तरीके और अवधारणा के रूप में जेंडर जैविक सेक्स की श्रेणी को जन्म देता है। इस प्रकार बटलर, जैविक शरीरों और सांस्कृतिक रूप में निर्मित जेंडरों के बीच एक 'तीव्र सम्बन्ध विच्छेद' का दृष्टिकोण देती हैं।

इस अवधारणा की विशिष्टता यह है कि इसके अनुसार, 'स्त्री' नामक श्रेणी का तब तक कोई अस्तित्व नहीं है जब तक उसके बारे में कल्पना न की जाए या सोचा न जाए। जेंडर एक ऐसा अर्थ है जो सत्ता सम्बन्धों के माध्यम से निर्मित होता है और विशेष कायदे-कानूनों और प्रतिबन्धों के जरिए 'पुरुष' और 'स्त्री' शरीर को एक विशेष पहचान दी जाने लगती है। ऐसे कायदे-कानूनों के जरिए कई प्रकार की शारीरिक भिन्नताओं को गायब या अदृश्य कर दिया जाता है। मसलन, ऐसे शिशु जिनके शरीर में ऐसे विशिष्ट लक्षण नहीं होते हैं जिनके आधार पर उनके पुरुष या स्त्री होने के बारे में फैसला किया जा सकता है, या हिजड़े, या ऐसे स्त्री-पुरुष जो अपने जेंडर के लिए स्वीकार्य वेशभूषा से इतर अलग वेशभूषा धारण करने लगते हैं। इन सभी को या तो हाशिये पर धकेल दिया जाता है या उन्हें पहले से मौजूद द्विलिंगी खाके में किसी-न-किसी तरीके से ढाल लिया जाता है। ज्यादातर आधुनिक भाषाओं में ऐसे मनुष्यों के बारे में बोलने के लिए पर्याप्त व्यवस्था नहीं है जो दोनों में से किसी भी सेक्स के खाके में फिट नहीं हो पाते हैं। इसका अर्थ है कि भाषा 'वास्तविकता' को पहले से दिए गए खाके में स्थापित कर देती है और कई सम्भावनाओं को जन्म लेने से रोक देती है।

विभिन्न शताब्दियों में वैज्ञानिकों ने 'सेक्स' को भिन्न-भिन्न तरीकों से समझा है। प्राचीन ग्रीक वैज्ञानिकों से लेकर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक, चिकित्साशास्त्र में पुरुष और स्त्री शरीर को मूलतः समान हालाँकि कमतर ही माना जाता रहा है। स्त्री को पुरुष का कमतर रूप मानने वाले, मानवता के इस 'एकलिंगी' मॉडल का चिकित्साशास्त्र में हजारों साल तक पूरा बोलबाला रहा। 18वीं सदी में जैव चिकित्सकीय विमर्श में सेक्सों के बीच समानता के बजाय असमानता पर जोर दिया जाने लगा। मानव शरीर के प्रत्येक भाग को लिंग की पहचानों से जोड़ दिया गया, और शरीर विज्ञान के 'तथ्यों' (जैसे मस्तिष्क का छोटा होना) का प्रयोग करते हुए महिलाओं को कम बुद्धिमान, निष्क्रिय वगैरह साबित किया जाने लगा। नारीत्व के 'मूलाधार', जिसके आधार पर स्त्री को पुरुष

से भिन्न दिखाया जाता है, को अलग-अलग समय पर शरीर के अलग-अलग भागों में स्थित बताया जाता रहा है। मसलन, 18वीं सदी में गर्भाशय को स्त्रीत्व का केन्द्र बिन्दु माना गया, 19वीं सदी में डिम्ब ग्रन्थि को इसी सन्दर्भ में सामने रखा गया और बीसवीं सदी तक आते-आते नारीत्व का मूल 'हॉर्मोन' नामक पदार्थ में स्थापित माना जाने लगा।

1.1.03.4. अन्य मत

सेक्स / जेंडर विभेद के बारे में एक चौथी किस्म की अवधारणा 'जेंडर' को विभिन्न पहचानों – जाति, वर्ग, नस्ल, धर्म आदि में स्थित करने पर आधारित है। इसका अर्थ है कि 'स्त्री' की जैविक श्रेणी के हित, जीवन परिस्थितियाँ या लक्ष्य साझा हों, ऐसा होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार की समझ दुनियाभर में महिला आन्दोलनों के राजनैतिक व्यवहार में उपजी है जिसने लगातार दिखाया है कि 'स्त्रियाँ' एक पहले से मौजूद समूह नहीं हैं जिन्हें महिला आन्दोलन अपने बूते पर सीधे-सीधे संगठित कर सकता हो। इसका अर्थ है कि महिलाएँ स्वयं को सिर्फ और यहाँ तक कि सिर्फ प्राथमिक रूप से भी जेंडर के सन्दर्भ में नहीं देखती हैं बल्कि श्वेत-अश्वेत, मुस्लिम या दलित या किसान के रूप में भी देखती हैं। इसीलिए अनेक मामलों में औरतों को महिला आन्दोलन की तुलना में अन्य आन्दोलनों के जरिए कही ज्यादा आसानी से संगठित किया जा सकता है। ऐसे आन्दोलनों के उदाहरण के तौर पर धार्मिक आन्दोलन को लिया जा सकता है। इस तरह, नारीवादियों द्वारा किया गया मूल सेक्स / जेंडर विभेद नारीवादी राजनीति के चलते लगातार जटिलतर होता गया है।

सिल्विया वाल्बय (Sylvia Walby) के अनुसार, लिंग (Gender) की अवधारणा का प्रयोग आज सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अपेक्षाकृत नये रूप में किया जाता है। यह व्याकरण का एक शब्द है, जो संज्ञा को वगीकृत करने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है जैसे – महिला, पुरुष या हिजड़ा (Neuter) अंग्रेजी भाषा के अनुसार, लिंग सामान्य रूप से संज्ञाओं में, जैविक लिंग के अन्तर को उल्लेखित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। जैसे – आदमी और औरत, हिरन और हिरणी, हाथी और हाथिनी इत्यादि। 'लिंग' शब्द 1970 और 1980 के दशक में शैक्षणिक क्षेत्रों जैसे महिला अध्ययन में आन्दोलन का एक उत्पाद है।

1.1.03.5. जेंडर शब्द की उत्पत्ति व उसके प्रयोग के सन्दर्भ में विभिन्न मत

जब महिलाओं ने अपनी सामाजिक भूमिका को लेकर सोचना-विचारना शुरू किया, वहीं से स्त्री की अस्मिता की बहस की भी शुरुआत हुई। जेंडर का प्रश्न अस्मिता के प्रश्न के भीतर से ही उभरता है जो स्त्री को स्त्री के नजरिए से देखने की बात करता है। स्त्री व पुरुष की सामाजिक संरचना पर सवाल खड़ाकर समाज में बहस की माँग करता है। जेंडर का सम्बन्ध एक ओर पहचान से है तो दूसरी ओर सामाजिक विकास की प्रक्रिया के तहत स्त्री-पुरुष की भूमिका से। जहाँ मनुष्य और मनुष्य के बीच अन्तर किया गया। जेंडर शब्द का सम्बन्ध प्रारम्भ में भाषा में लिंग अर्थात् स्त्रीलिंग व पुल्लिंग से रहा है। हिन्दी में स्त्रीलिंग व पुल्लिंग केवल दो रूपों का प्रयोग मिलता है। जबकि संस्कृत में एक तीसरा लिंग (नपुसंकलिंग) का भी प्रयोग भाषा में देखा जा सकता है। पश्चिम में तीसरे

न्यूट्रल जेंडर विभाजन का आधार स्त्रीत्व व पुरुषत्व के समाज में निर्धारित गुणों से अलग स्वतन्त्र पहचान का होना था तो संस्कृत में तीसरे लिंग से अभिप्राय स्त्रीत्व व पुरुषत्व केगुणों का साथ होना जो आज भी भाषाविज्ञान में देखा जा सकता है। 'स्त्रीत्व' व 'पुरुषत्व' शब्दों के प्रयोग के सन्दर्भ में अरस्तू ने कहा कि ग्रीक विचारक 'प्रोतागोरस' (Protogoras) ने ही भाषा में स्त्रीत्व (Feminis) पुरुषत्व (Masculine) और न्यूट्रल शब्दों का प्रयोग संज्ञा के वर्गीकरण के सन्दर्भ में किया। भाषा में जेंडर की यह विभाजन-प्रक्रिया व्यवहारमूलक थी जैसा कि चार्ल्स हॉकेट (Charls Hockett) ने कहा – "शब्दों के व्यवहार के आधार पर संज्ञा का वर्गीकृत विभाजन जेंडर है।" भाषा के सन्दर्भ में भले ही जेंडर शब्द का प्रयोग शब्दों के व्यवहारमूलक प्रयोग पर आधारित था लेकिन सामाजिक सन्दर्भों को भी भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता जैसा कि बारबरा जानसन का मानना था कि जेंडर (स्त्री) का सवाल भाषा का सवाल है क्योंकि भाषा भौतिक रूपों में हस्तक्षेप करती है।

जिस तरह भाषा में शब्दों के वर्गीकरण के लिए उनके सामाजिक व्यवहार को आधार बनाया गया उसी प्रकार सामाजिक संरचना में सेक्स को सामाजिक प्रक्रिया के तहत स्त्री व पुरुष की निर्धारित भूमिकाओं में ढाला गया। स्त्री व पुरुष दोनों ही जैविक संरचना है जिन्हें बदला नहीं जा सकता। लेकिन इनकी पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक भूमिका का निर्धारण जब किया जाता है तो इनके स्वतन्त्र अस्तित्व पर प्रश्न अंकित हो जाता है जिसका जवाब जेंडर देता है। 'जेंडर' अस्मिता की पहचान का सबसे मूल घटक है जो हमें स्त्री व पुरुष की निर्धारित सीमा को परिभाषित करने और दुनिया को देखने के नजरिए की नाटकीय भूमिका को बताता है। यह केवल लिंगों के बीच के अन्तर को नहीं बताता वरन् सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्तर पर सत्ता से इसके सम्बन्ध को भी परिभाषित करता है। सत्ता से लिंग व जेंडर का सम्बन्ध केवल आज के सन्दर्भों में ही नहीं बताता बल्कि इतिहास में स्त्री की भूमिका से उसे जोड़ कर देखता है। सामाजिक सन्दर्भों में जब हम जेंडर की बात करते हैं तो इसका पहला प्रयोग लिंग और लिंग की भूमिका के अन्तर को स्पष्ट करने के दौरान सामने आता है जहाँ स्त्री व पुरुष का जैविक आधार पर विभाजन न होकर समाज द्वारा तय मानदण्डों पर विभाजन है। जिसमें स्त्री की भूमिका शोषित की रही तो पुरुष की शोषक की, जिसका जिक्र मारगोट फूलर की 'Women in the Nineteenth Centuary', हैरिस्ट टेलर मिल की 'इन फ्रेंनचीसमेंट ऑफ वुमेन' (Enfaranchisement of Women), जॉन स्टुअर्ट मिल की 'A Sujection of Women', फ्रेडरिक ऐंगेल्स की 'परिवार', 'निजी सम्पत्ति' और 'राज्य की उत्पत्ति' पुस्तकों में मिलता है, लेकिन लिंग और लिंग की भूमिका पर पहले-पहल बातचीत 1935 में सांस्कृतिक नृविज्ञानी (Cultural anthropologist) मार्गरेट मीड (Margaret Mead) अपने शोध 'Sex and temperament in three Primitine Societies' में करती हैं जिसमें वे बताती हैं कि किस तरह एक समाज ऐसा है, जहाँ महिलाएँ गुलाम की भूमिका में हैं तो दूसरी ओर एक आदिवासी समाज हैजहाँ महिलाएँ सत्ता में है और पुरुष गुलाम और कमजोर की भूमिका में है। मार्गरेट का यह विश्लेषण सेक्स व सेक्स की सामाजिक भूमिका की बात सामने लाता है। मार्गरेट 'सेक्स' और 'सेक्स की भूमिका' के जिस विचार को सामने लाती है उसमें वह लिंग आधारित श्रम-विभाजन को प्राकृतिक मानती हैं जबकि 1955 में मनोवैज्ञानिक और सेक्सोलोजिस्ट जॉन विलियम मनी इसे खारिज करते हैं। 'सेक्स' व 'सेक्स की भूमिका' के सन्दर्भ में मनी कहते हैं –"जेंडर केवल स्त्री व पुरुष की सामाजिक स्थिति भर नहीं है बल्कि व्यक्ति पहचान और उसका निर्धारण है।"

1940 से 60 तक आते-आते सामाजिक-विभाजन की प्रक्रिया का यह विचार वैचारिक विमर्श को जन्म देता है जिनमें 1949 में सीमोन द बोउआर का 'द सेकेण्ड सेक्स', 1963 में केट मिलेट की 'द फेमिनिन मिस्टिक', 1968 में सुलामिथ फायर स्टोन की 'डायलेक्टिक ऑफ सेक्स', 1971 में जूलियट मिशेल की 'वुमेन स्टेट' जैसी पुस्तकें मुख्य हैं। 1968 में मनोवैज्ञानिक रॉर्बर्ट स्टोलर (Robert Jesse Stoller) ने अपने शोध परियोजना कार्य के दौरान 85 मरीजों का अध्ययन किया इस अध्ययन का केन्द्र बिन्दु 'सेक्स' व 'जेंडर' के बीच अन्तर को जानना व जेंडर पहचाने के स्वतन्त्र प्रश्न पर बात करना था। स्टोलर 'Sex and Gender : The development of Masculanity and femininity' पुस्तक में सेक्स व जेंडर के बीच अन्तर की बात करते हैं। स्टोलर ने 'जेंडर' का अर्थ प्रकृति से न मानकर मनोवैज्ञानिक व सांस्कृतिक सन्दर्भों में जोड़कर देखा और कहा कि 'सेक्स' का सम्बन्ध स्त्री व पुरुष से है तो 'जेंडर' का सम्बन्ध स्त्रीत्व व पुरुषत्व से। ये दोनों शब्द लिंग की प्राकृतिक संरचना से स्वतन्त्र अर्थ ग्रहण करते हैं।

जेंडर व लिंग को लेकर गहन चिन्तन 1970 के आसपास शुरू होता है। 1972 में ब्रिटिश समाजशास्त्र व नारीवादी लेखिका ऐना आक्ले (Ann Oakley) की पुस्तक 'Sex, gender and Society' इसी चिन्तन का आगाज थी। ऐना के अनुसार जेंडर सामाजिक सांस्कृतिक संरचना है, जो स्त्रीत्व व पुरुषत्व के गुणों को गढ़ने के सामाजिक नियम व कानूनों का निर्धारण करता है। 1980 में ऐना के विचारों से समाजशास्त्री विचारक Raewyn Connell सहमत नजर आती हैं। कोनेल ने सामाजिक दृष्टिकोण से लिंग व जेंडर के सामाजिक सम्बन्ध पर लिखा। उनका मानना था कि जेंडर सामाजिक निर्मिति है जिसमें व्यक्ति की पहचान गौण होती है और समाज की भूमिका मुख्य। 1980 में फ्रेंच इतिहासकार मिशेल फूको ने अपनी पुस्तक 'The History of Sexuality' में ज्ञान और सत्ता के चरित्र की बात की और बताया कि किस प्रकार ज्ञान और सत्ता को अनुकूलित करते है। फूको कहते हैं – "It is important to examine the different ways in which women experience their bodies. Bodies are given Role as a site for political struggle and shaped and trained by the networks of social and political power in which they exist. For example, Mentend to be thought to tape up space larger than women, while women are socialized to tape up as little space as possible."

शरीर एक आब्जेक्ट है जिसे समाज राजनीति व सत्ता के अनुसार बनाता व प्रशिक्षित करता है जैसे कि पुरुष हमेशा से अपने लिए खुद अधिक 'स्पेस' चाहता है वहीं स्त्री 'थोड़े में ही' खुद को सन्तुष्ट पाती है क्योंकि उसे ऐसी सामाजिक निर्मिति दी जाती है कि वह बड़ा न सोच सके।

मानवशास्त्री व नारीवादी लेखिका Lynda Birke 1986 में अपनी पुस्तक 'Women, Feminsm & Biology : The Jemensit challenger' में लिंग और जेंडर पर बहस के दौरान जीवविज्ञान को भी साथ में रखकर देखने की बात करती हैं, जो कि मनुष्य के प्राकृतिक सम्बन्धों को समझने का वैज्ञानिक नजरिया है। उनका मानना है कि सेक्स और जेंडर में कोई भी स्थिर नहीं है। जिस प्रकार मानव शरीर अपने आस-पास के सामाजिक वातावरण के अनुकूल परिवर्तित होता है, उसी प्रकार लिंग और जेंडर भी।

अमेरिकन विचारक जूडिक बटलट (Judith Butles) 1988 में 'Performative arts and Gender constitution' निबन्ध में लिखते हैं कि जेंडर का सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत क्रियात्मक उपलब्धियों व निषेध से है। अर्थात् यह एक शैली है जो समाज द्वारा निर्धारित संकेतों, आन्दोलनों व अधिनियमों के गठन के तरीके के रूप में देखी जा सकती है जो एक प्रकार से लोगों को समझने का भ्रम उत्पन्न करता है। वह प्राकृतिक लिंग से अलग सामाजिक गतिविधियों व क्रियाओं के रूप में सामने आता है। Butler के अनुसार यह सामाजिक क्रियाएँ कार्यकलाप और गतिविधियाँ स्वयं भी जेंडर की निर्मिति करती हैं।

नारीवादी विचारक ऐलिजन जैग्गर लिंग और जेंडर के सन्दर्भ में लिखते हैं – "इंसान का हाथ श्रम का औजार ही नहीं श्रम की उपज भी है।" अर्थात् मानवीय हस्तक्षेप बाहरी वातावरण को परिवर्तित करता है और साथ ही बाहरी वातावरण में होने वाले परिवर्तनों से मानव शरीर में परिवर्तन और उसका स्वरूप निर्धारित होता है। इस प्रकार ऐलिजन और लिण्डा दोनों के मत से लिंग और जेंडर परिवर्तनीय है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार जैविक बनावट और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों की समझ को अगर हम जेंडर पर लागू करे तो निष्कर्ष यही निकलता है कि महिलाओं के शरीर की बनावट भी सामाजिक बन्धनों और सौन्दर्य के मानकों द्वारा निर्धारित की गयी है। शरीर का स्वरूप जितना प्रकृति से निर्धारित हुआ है उतना ही 'संस्कृति' से भी। इस प्रकार महिलाओं की मौजूदा अधीनता जैविक असमानता से नहीं पैदा होती बल्कि यह एक सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों और संस्थाओं की देन है।

भारतीय सन्दर्भ में जेंडर पर बहस करने वालों में कमला भसीन, उमा चक्रवर्ती, मैत्रेयी कृष्णराज, शर्मिला रेगे और निवेदिता मेनन का नाम मुख्य रूप से सामने आता है। कमला भसीन के अनुसार – "जेंडर सामाजिक सांस्कृतिक रूप में स्त्री पुरुष को दी गई परिभाषा है, जिसके माध्यम से समाज उन्हें स्त्री और पुरुष दोनों की सामाजिक भूमिका में विभाजित करता है। यह समाज की सच्चाई को मापने का एक विश्लेषणात्मक औजार है।" मैत्रेयी कृष्णराज के अनुसार समाज में जितनी भी आर्थिक और राजनैतिक समस्याएँ है उनका सम्बन्ध जेंडर से है। जेंडर लिंग आधारित श्रम का विभाजन है। जिसे पितृसत्ता ने सामाजिक अनुशासनों के द्वारा तय किया है जिसकी संकल्पना को परिवार और आर्थिक आधार पर खोजना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त जेंडर एक विश्लेषणात्मक श्रेणी है जो सामाजिक संरचना व उसके जटिल व्यवहारमूलक सम्बन्धों को स्त्री-पुरुष के बीच के सम्बन्धों से जानने का प्रयास करता है। शर्मिला रेगे जेंडर को विचार की प्रक्रिया मानती हैं। उमा चक्रवर्ती भी सामाजिक संरचना को स्त्री की निर्मिति का कारण मानती हैं। निवेदिता मेनन भी जेंडर को सामाजिक निर्मिति का ही रूप मानती हैं। साथ ही उनका मानना है कि जेंडर की अवधारणा भारत में पहले से मौजूद रही है। यह आधुनिक सभ्यता की देन नहीं है।

1.1.04. पितृसत्ता की उत्पत्ति एवं विचारधारा

नारीवादी अध्ययन का लगभग पहला क्रम यही था कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना की पहचान हो। इसी सन्दर्भ में बीसवीं सदी के आठवें दशक के महज से 'पितृसत्ता' शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करने के प्रयास शुरू हुए।

पितृसत्ता को सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है और वे उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं। पितृसत्ता की सर्वाधिक उपयोगी परिभाषा गर्डा लर्नर ने दी है – "पितृसत्ता परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्ति और संस्थागतकरण और सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है। अर्थात् पुरुषों का समाज के सभी महत्त्वपूर्ण सत्ता प्रतिष्ठानों पर नियन्त्रण रहता है और महिलाएँ ऐसी सत्ता तक पहुँच से वंचित रहती हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि महिलाएँ या तो पूरी तरह शक्तिहीन हैं या पूरी तरह अधिकारों, प्रभावों व संसाधनों से वंचित हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि प्रत्येक पुरुष सदा वर्चस्व और प्रत्येक स्त्री सदा अधीनता की स्थिति में ही रहती है बल्कि महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस व्यवस्था जिसे पितृसत्ता कहते हैं, के तहत यह विचारधारा प्रभावी रहती है कि पुरुष स्त्रियों से अधिक श्रेष्ठ है तथा महिलाओं पर पुरुषों का नियन्त्रण है और होना चाहिए। इसमें महिलाओं को पुरुषों की सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है।

पितृसत्ता की उत्पत्ति एवं विकास को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से समझने की कोशिश की है। एंगेल्स अपनी पुस्तक 'द ऑरिजन ऑफ फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी स्टेट' में मानते हैं कि सभ्यता के आरम्भिक चरण में जब आदिमानव ने पहिये का आविष्कार करने के बाद आखेट की अपेक्षा कृषि एवं पशुपालन को अपना प्रमुख व्यवसाय बनाया तब पुरुष का वर्चस्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा। वह कमजोर कबीलों पर आक्रमण करके उन्हें जीतने लगा और उनकी पशु सम्पत्ति एवं पराजित समूह को दास के रूप में रखने लगा। साथ ही अपनी सम्पदा को अपनी ही सन्तान के हाथ सौंपने की अभिलाषा भी कुलबुलाने लगी। स्त्रियों को उत्पादन क्षेत्र से हटाकर वह उसे घर के दायित्वों की ओर उन्मुख कर ही चुका था। इससे स्त्रियों की पूर्ववर्ती स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर अवस्था समाप्त हो चली थी और वे अधिकाधिक पुरुष पर निर्भर रहने लगी थीं। फलतः विवाह एवं नैतिकता के दोहरे मानदण्डों का प्रयोग करते हुए उसने स्त्री की यौनिकता पर कड़े प्रतिबन्ध लगाने शुरू किए आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय भागीदारी न रहने के कारण स्त्री धीरे-धीरे पूरी तरह उस पर आश्रित हो गई तथा उसका गार्हस्थिक श्रम स्वतन्त्र उत्पादन एवं श्रम की कोटि से अपदस्थ होकर 'अलक्षित श्रम' बन गया।

उग्र उन्मूलनवादी स्त्री चिन्तक मानते हैं कि स्त्री की पराधीनता तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था के उदय का कारण था कि स्त्री की यौनिकता एवं प्रजनन क्षमता पर पुरुष का पूर्ण नियन्त्रण। एलिजाबेथ फिशर का मानना है कि "गर्भावस्था एवं प्रजनन के दौरान स्त्रियों की शारीरिक अक्षमता, पशुओं को सिधाने की कला तथा अपनी मूलभूत हिंसक प्रवृत्ति के कारण पुरुष ने बलात्कार के जरिए स्त्री की यौनिकता, मानसिकता एवं शरीर पर नियन्त्रण स्थापित

कर लिया। स्त्री आखेट की जाने वाली वस्तु बन गई और इस प्रकार समाज व्यवस्था भी संरचना और संचालन में पुरुष की केन्द्रीय भूमिका सशक्त होती गई।

1.1.04.1. पितृसत्ता की विचारधारा

पितृसत्ता की खास बात इसकी विचारधारा है जिसके तहत यह विचार प्रभावी रहता है कि पुरुष स्त्रियों से अधिक श्रेष्ठ है और महिलाओं पर पुरुष का नियन्त्रण होना चाहिए। विचारधारा के तौर पर पितृसत्ता की व्यवस्था का मुख्य पहलू महिलाओं में सहमति पैदा करता है। इसके तहत महिलाएँ पितृसत्ता को बनाए रखने में मदद करती हैं, क्योंकि सामाजीकरण के जरिए वो खुद पुरुष वर्चस्व को आत्मसात् करके उसके प्रति अपनी सहमति देती हैं। उनकी इस सहमति को कई तरीकों से हासिल किया जाता है – जैसे उत्पादक संसाधनों तक उनकी पहुँच का न होना और परिवार के मुखिया पर उनकी आर्थिक निर्भरता। इस तरह अलग-अलग पैंतरों के जरिए महिलाओं से पितृसत्ता में उनकी सहमति उगलवा ली जाती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि पितृसत्ता सिर्फ वैचारिक व्यवस्था नहीं है बल्कि इसका भौतिक आधार भी है। पितृसत्ता में महिलाओं को शक्ति व वर्चस्व के साधनों से वंचित करने पर उनकी सहमति आसानी से हासिल कर ली जाती है और जब महिलाएँ पितृसत्ता के इशारों पर ज़िन्दगी जीने लगती हैं तो उन्हें वर्गीय सुविधाएँ मिलने लगती हैं और उन्हें मान-सम्मान के तमगों से नवाजा जाने लगता है। वहीं दूसरी तरफ जो महिलाएँ पितृसत्ता के कायदे-कानूनों और तौर-तरीकों को अपना सहयोग या सहमति नहीं देती हैं उन्हें बुरा करार दे दिया जाता है और उन्हें उनके पुरुषों की सम्पत्ति और सुविधाओं से बेदखल कर दिया जाता है। पितृसत्ता के काम करने का ये तरीका पहले महिलाओं की अलग-अलग खेमे – (i) अच्छी – जो पितृसत्ता को सहयोग देती हैं और (ii) बुरी – पितृसत्ता को सहमति नहीं देती हैं – में बाँटकर इन दोनों के बीच कभी खत्म न होने वाली प्रतिस्पर्धा का खेल शुरू कर देता है।

सन् 1990 में प्रकाशित चित्रा मुद्‌गल का उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी' में समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में उत्तर औपनिवेशिक स्थितियाँ तथा भू-मण्डलीकरण की प्रक्रियाएँ स्त्री-जीवन पर जो नकारात्मक एवं सकारात्मक प्रभाव डाल रही है, उनका खुलासा हुआ है। इस उपन्यास में विज्ञापन कम्पनियों से जुड़कर काम करने वाली दो नारियों की कथा है। इसमें बाजार की चकाचौंध में स्त्री-स्वतन्त्रता का सकारात्मक व नकारात्मक रूप प्रतिबिम्बित है।

पितृसत्ता में महिलाएँ दोयम दर्जे की नागरिक होती हैं। यह व्यवस्था समाज के हर सदस्य को एक बराबर न मानकर ऊँचा या नीचा मानता है। इस तरह पितृसत्तात्मक व्यवस्था लोकतान्त्रिक मूल्यों के विपरीत हमेशा रही है। इसमें जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग, धर्म जैसे भेद से ऊपर 'एक व्यक्ति एक मत' के सिद्धान्त को अपनाया गया।

एक पितृसत्तात्मक समाज में महिलाएँ हर पल पितृसत्ता के अलग-अलग रूपों से रूबरू होती हैं। यही कारण है कि इस व्यवस्था में तरह-तरह के भेदभाव और आजादी में बिना वजह कटौती और सुविधाओं में कमी के भाव दिखाई देते हैं। इस व्यवस्था में महिलाएँ दोयम दर्जे की नागरिक होती हैं जहाँ एक तरफ उन्हें घर के ज्यादा से

ज्यादा काम का जिम्मा लेना होता है वहीं दूसरी ओर घरेलू व्यवस्था में उनका प्रभाव और सम्मान उतना ही कम होता है। साथ ही उन्हें आर्थिक शोषण के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से अधीनता, दमन और उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। कात्यायनी की कविता 'गार्गी' में स्त्री शोषण के इस रूप को भली-भाँति देखा जा सकता है – जिसमें पितृसत्ता को 'ब्रह्मसत्ता' का नाम दिया गया है। ब्रह्मसत्ता के आशीर्वचनों से पितृसत्ता से फली-फूली है। राजा और ईश्वर का बाड़ जिस तरह दलितों-उत्पीड़ितों को शोषित करता है उसी तरह स्त्रीसत्ता के सम्बन्ध में उसके विचार है इस विचारों से बाहर जाने पर उसे डराया-धमकाया जाता है। 'गार्गी' कविता की पंक्तियाँ देखिए

मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर,
मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना,
मत उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर,
वह पुरुष है !
मत तोड़ो इन नियमों को।
पुत्री बन पिता का प्यार लो
अंकशायिनी बनो
फिर कोख में धारण करो
पुरुष का अंश
मत रचो नया लोकाचार
मत जाओ प्रश्नों की सीमा से आगे।
गार्गी, तुम जलो रुपयों की ख़ातिर
बिको बीमार बेटे की ख़ातिर
नाचो इशारों पर
गार्गी तुम ज़रा स्मार्ट बनो
तहज़ीब सीखो
सीढ़ी बन जाओ हमारी तरक़्क़ी की
गार्गी तुम देवी हो – जीवनसंगिनी हो
पतिव्रता हो गार्गी तुम
हम अधूरे हैं तुम्हारे बिना
महान् बनने में हमारी मदद करो
दुनिया को फ़तह करने में
आसमान तक चढ़ने में
गार्गी, तुम एक रस्सी बनो।
त्याग-तप की प्रतिमा हो तुम
सोचो परिवार का हित
अपने इस घर को सँभालो
मत जाओ प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर !

कामकाजी महिला और घरेलू महिला के हिसाब से पितृसत्ता का रूप भी बदल जाता है । अगर कोई महिला कामकाजी नहीं है तो उससे ज्यादा से ज्यादा घरेलू काम करवाया जाएगा । वहीं अगर महिला कामकाजी है तो उस पर अधिक से अधिक पैसे कमाने का दबाव डाला जाएगा । यहाँ शोषण दोनों महिलाओं का होता है, बस उनके तरीके अलग-अलग होते हैं । इसी तर्ज पर महिलाएँ जिस खास वर्ग, जाति, धर्म, राष्ट्र या कबीले से ताल्लुक रखती हैं, उनके अनुसार के शोषण-दमन के तरीकों में बदलाव आता है ।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री के जीवन पर नियन्त्रण को वैध एवं स्थायी बनाने के लिए ऐसे समाजशास्त्रीय विधान की संरचना की जहाँ परिवार, धर्म, न्याय, शिक्षा एवं मीडिया ने स्त्री विरोधी नियमों, वर्जनाओं, आचार संहिताओं, रीतियों एवं दण्ड संहिताओं पर स्वीकृति की मुहर लगाकर पुरुष की वर्चस्ववादी स्थिति मजबूत की । परिवार का संस्थागत ढाँचा पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सबसे बड़ी शक्ति है । पुत्र जन्म से लेकर विवाह से सम्बद्ध सभी प्रथाएँ एवं विशेषाधिकार सम्पत्ति पर अधिकार, उत्तराधिकार के नियम, नैतिकता के दोहरे मानदण्ड तथा निर्णय लेने का अधिकार आदि परिवार में पुरुष की केन्द्रीय भूमिका की पुष्टि करते हैं । धर्म का पुरुषवादी स्वरूप पितृसत्तात्मक व्यवस्था के हाथ मजबूत करने का महत्त्वपूर्ण घटक है । रीति-रिवाज, व्रत, त्योहार, वैवाहिक अनुष्ठान, स्त्री-पुरुष को लेकर परम्परागत अवधारणाएँ – सभी सामान्यतया धर्मग्रन्थों द्वारा निष्पादित होते है जो अपनी मूल प्रकृति में पुरुषवादी है । न्याय व्यवस्था का चेहरा भी पुरुषवादी है जिसमें परिवार, विवाह एवं सम्पत्ति के अधिकार के मामलों पर परम्परागत दृष्टि का अनुसरण करते हुए पुरुष के सन्दर्भ में पुरुष की हित रक्षा के लिए ही विचार किया जाता है । शिक्षण संस्थान दो दृष्टियों से पितृसत्ता को पुष्ट करते हैं एक तो परम्परा से शिक्षा के द्वार स्त्रियों के लिए बन्द रखे गए ताकि अपने अज्ञान, अन्धविश्वास एवं जहालत के बीच वे स्वयं को हीन तथा पुरुष निर्भर मानें । दूसरे, लड़कों को बचपन से ही जो शिक्षा दी जाती है, वहाँ स्वयं को कर्त्ता, नियन्ता, भोक्ता के रूप में देखने के कारण उनमें श्रेष्ठता का अहं भाव पैदा हो जाता है । मीडिया का चरित्र पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मूल चरित्र के अनुरूप सामन्ती एवं पूँजीवादी है । मीडिया ने स्त्री की अबला, भोग्या और हीन छवि का पोषण किया है, स्त्रियों के मनोजगत एवं उसकी उपलब्धियों का चित्रण जहाँ नहीं के बराबर होता है ।

1.1.05. यौनिकता

यौनिकता मनुष्य के जीवनकाल का एक केन्द्रीय आयाम है और इसमें सेक्स, जेंडर, पहचाने व भूमिकाएँ, यौन प्रवृत्तियाँ, कामुकता, आनन्द, अन्तरंगता और प्रजनन सभी शामिल है । यौनिकता व्यक्ति के विचारों, कल्पनाओं, कामनाओं और सम्बन्धों में अनुभव और अभिव्यक्त की जाती है । हालाँकि यौनिकता में ये सारे आयाम आ जाते हैं लेकिन ये जरूरी नहीं है कि इन सभी को हमेशा अनुभव या अभिव्यक्त किया जा रहा हो । यौनिकता जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, कानूनी, ऐतिहासिक और धार्मिक व आध्यात्मिक कारकों की अन्तःक्रियाओं से प्रभावित होती है ।

यौनिकता का अर्थ सिर्फ 'सेक्स' नहीं है । यह जेंडर से भी अलग होता है । जेंडर का अर्थ है कि विभिन्न समाज स्त्रियों और पुरुषों को किस तरह देखते हैं, उनकी भिन्नताओं को किस तरह देखते हैं और उनको किस तरह

की भूमिकाएँ सौंपते हैं। यौनिकता में बहुत सारे विचार निहित होते हैं और यह मनोगत श्रेणी है। हमारी यौनिकता बहुत सारे कारकों को प्रभावित करती है और उनसे प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए हम यह मानकर नहीं चल सकते है कि सभी लोग सेक्स करने या किसी से सम्बन्ध बनाने के लिए एक जैसी वजहों से प्रेरित होते हैं। कुछ लोग बच्चे पैदा करने के लिए सेक्स करते हैं जबकि कई दूसरे लोग एक साथी की चाह में ऐसा कर सकते हैं। सभी लोग यौनिकता को समान रूप में अनुभव नहीं करते।

हमारा यौन ज्ञान, विश्वास, रुझान, मूल्य और आचरण हमारी यौनिकता के हिस्से होते हैं। शरीर-रचना, शरीर क्रिया-विज्ञान और यौन प्रतिक्रिया तन्त्र का जीव रसायन विज्ञान, पहचान, झुकाव, भूमिकाएँ और व्यक्तित्व तथा सोच, भावनाएँ और सम्बन्ध – ये सभी यौनिकता के विभिन्न आयाम हैं। यौनिकता की अभिव्यक्तियाँ हमारे नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और नीतिशास्त्रीय सरोकारों से प्रभावित होती है।

पाश्चात्य जगत में 'हिस्ट्री ऑफ सेक्सुएलिटी' का प्रथम अध्याय विक्टोरियन काल (1837-1901) से प्रारम्भ होता है। भारत में वात्स्यायन के कामसूत्र में यौनिकता की सैद्धान्तिक प्रस्तुति है। यौनिकता विमर्श निस्सन्देह एक बायोलॉजिकल सन्दर्भ पर केन्द्रित है। यह जींस या गुणसूत्रों की ऐनाटॉमी है लेकिन इस विमर्श की परिधि में भूगोल विशेष के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश भी शामिल होते हैं। व्यक्ति की यौनिकता उसकी देह व अस्तित्व से सम्बद्ध होकर जितनी निजी अवधारणा है उससे कहीं अधिक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं से अन्तर्सम्बद्ध होती है तथा निरन्तर निर्मित व पुनर्निर्मित होती है। सेक्सुएलिटी या यौनिकता का सम्बन्ध व्यक्ति की यौनेच्छा, यौन व्यवहार, वैयक्तिकता व अस्तित्व से है। साथ ही, यौनिक सन्दर्भों को प्रभावित करने वाले प्रत्येक सामाजिक सन्दर्भ से इसका गहरा नाता है। व्यक्ति की यौनिकता के अनुभूतिगत आयाम भी है। अर्थात् यौनेच्छा की अभियोग्यता, सेक्सुएलिटी, यौनाभिव्यक्ति की विशिष्टता, यौन क्रिया की निजतम अनुभूतियाँ। स्पष्ट है कि सामाजिक व वैयक्तिक दो विपरीत ध्रुवों से सम्बद्ध यौनिकता में स्त्री व पुरुष की अवस्थिति भी उतनी ही विपरीत व वैभिन्यपूर्ण होगी। अर्थात् स्त्री व पुरुष की भिन्न शारीरिकता, सामाजिक स्थिति, भौगोलिक स्थिति, सांस्कृतिक संरचनागत असमानताओं का प्रभाव उनकी यौनिक अभिव्यक्ति व अनुभूति दोनों को समान नहीं रहने देते हैं। इसीलिए आधुनिक विमर्शों में स्त्री-स्वातन्त्र्य के साथ ही स्त्री सेक्सुएलिटी का विमर्श भी अस्तित्व में आया या कह सकते हैं कि यौनिकता विमर्श से जेंडर विमर्श की आधुनिकता विमर्श की शृंखला शुरू होती है।

यौनिकता या Sexuality नियन्त्रण नारी के दमन का महत्त्वपूर्ण हथियार है। नारी को अपने पति की इच्छानुसार यौन सेवाएँ देनी होती हैं। पति के अलावा किसी और पुरुष के साथ यौन सम्बन्धों की इजाजत नारी को धर्म तथा नैतिक नियम नहीं देते। जबकि पुरुष पर ऐसी कोई वर्जनाएँ नहीं होतीं। लैंगिकता पर नियन्त्रण परिवार, समाज, संस्कृति, धार्मिक मान्यताएँ, स्त्रियों पर पहनावे सम्बन्धी, व्यवहार सम्बन्धी तथा घर से बाहर आवाजाही सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाते रहे हैं। नारी के यौनिक व्यवहार के साथ इज्जत या शर्म की भावना को जोड़ दिया जाता है। बलात्कार पितृसत्ता के हाथ में नारी के शोषण तथा दमन का एक मजबूत हथियार रहा है। उग्रवादी नारीवादी पोर्नोग्राफी और जबदरस्ती थोपी गई हैट्रोसैक्सुअलिटी को पितृसत्तात्मक यौनिकता मानते हैं।

स्त्री की यौनिकता, उत्पादन-पुनर्रुत्पादन पर पुख्ता नियन्त्रण बनाए रखने के लिए पितृसत्ता स्त्री के ऊपर पर्दा थोपती है। घर से बाहर विचरण पर रोक-टोक करती है। स्त्री-पुरुष के बीच संवाद वर्जित करती है, तथा घर और समाज के दायरे के मध्य लक्ष्मण-रेखा खींचती है।

सम्पत्ति तथा धार्मिक संसाधनों की मल्कियत पुरुषों के हाथ में होतीहै। उत्तराधिकार पिता के बाद पुत्र को मिलता है। यदि कानूनन स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार हो भी तो धर्म, रीति-रिवाज, भावानात्मक दबाव, अक्सर हिंसा या हिंसा की धमकी से उन्हें अपने कानूनी अधिकार को छोड़ना पड़ता है। विभिन्न धर्मों के निजी कानून भी इस अधिकार को नियन्त्रित करते हैं। संयुक्त राष्ट्र के एक अनुमान के अनुसार पूरी दुनिया में किए गए काम के घण्टों का साठ प्रतिशत काम स्त्री करती है। परन्तु उसको पूरी दुनिया की आमदनी का महज 10 प्रतिशत ही आमदनी मिलती है तथा दुनिया की सम्पत्ति के एक प्रतिशत पर ही मालिकाना हक मिलता है।

स्त्री के यौन सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखने हेतु पुरुष ने विवाह एवं परिवार संस्था के भीतर बालविवाह, विधवाविवाह निषेध, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा जैसी अनेक संस्थाएँ बनाई जिन्होंने स्त्री की स्वायत्तता को समाप्त कर पुरुष सापेक्ष बना दिया। स्त्रीवादी चिन्तक मानती हैं कि स्त्री की यौनिकता पर पुरुष के अधिकार ने कुलवधुओं के लिए कुलीनता और मर्यादा जैसी भ्रामक अवधारणों को जन्म दिया, बलात्कार एवं यौन शोषण के भय को निरन्तर बनाए रखा तथा घर से बाहर वेश्यावृत्ति, स्त्री तस्करी एवं सैक्स बाजार जैसे घृणित कार्य व्यापारों को गतिशील बनाए रखा। दूसरे, स्त्री को पुरुष की यौन सन्तुष्टि का निष्क्रिय माध्यम बनाए रखने के प्रयास में असीम सुन्दरी होना स्त्री के जीवन की सार्थकता समझा गया। परिणामस्वरूप एक ओर सुन्नत जैसी कुप्रथाएँ अस्तित्व में आयीं तो दूसरी ओर सुराहीदार गर्दन या शिशुवत पैरों में स्त्री सौन्दर्य को अनूदित किया जाने लगा। इससे जन्म से ही कन्या शिशुओं की गर्दन एवं पैरों में लोहे के छल्ले बाँध कर उनके स्वाभाविक शारीरिक विकास को बाधित किया जाने लगा।

1.1.06. सत्ता

राबर्ट डाहल के अनुसार – "अगर कोई किसी से अपनी मर्जी के आधार पर कुछ ऐसे काम करवा सकता है जो वह अन्यथा नहीं करता, तो इसे एक व्यक्ति की दूसरे पर सत्ता (Power) की संज्ञा दी जाएगी।" स्टीवन ल्यूक्स के अनुसार सत्ता का अर्थ है – "निर्णयों के सार को बदल देने की क्षमता, सत्ता का अर्थ है – लोगों की समझ एवं प्राथमिकताओं से खेलते हुए उनके विचारों को अपने हिसाब से नियन्त्रित करने की क्षमता।" सत्ता की अवधारणा मार्क्सवादी, उत्तर आधुनिकतावादी एवं नारीवादी आयामों से भिन्न-भिन्न प्रकार की है। प्रस्तुत अध्याय में नारीवादी आयामों से ही सत्ता को परिभाषित करना समीचीन है। नारीवादी विद्वान सत्ता को पितृसत्ता की रोशनी में परखते हैं। पितृसत्ता प्रभुत्व की एक ऐसी सर्वव्यापी संरचना है जो हर स्तर पर काम करती है। पितृसत्ता के तहत कोई स्त्री व्यक्तिगत स्तर पर सत्तावान भी हो सकती है लेकिन उसे पितृसत्तात्मक शासन द्वारा तय की गई सीमाओं में ही काम करना होगा। मसलन घर के दायरे में स्त्री सास के रूप में तो एक हद तक सत्ताधारी हो सकती है, पर बेटी, बहू, पत्नी या बहन के रूप में नहीं। हर जगह उसकी स्थिति पुरुष सापेक्ष और उसके साथ

सम्बन्ध के तहत ही परिभाषित होने के लिए मजबूर है। अकेली और पृथक् कोई अस्मिता न होने के कारण वह सत्ता से वंचित रहने के लिए अभिशप्त है। नारीवादियों के अनुसार पितृसत्ता की कोई ऐसी समरूप संरचना नहीं होती जो हर जगह एक ही रूप में मिलती हो। इतिहास, भूगोल व संस्कृति के मुताबिक उसके भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इसके अलावा पितृसत्ता शोषण व प्रभुत्व के अन्य रूपों – मसलन वर्ग, जाति, साम्राज्यवाद, नस्लवाद आदि के साथ अपना रूप ग्रहण करती है। हर जगह उसके प्रभाव अलग-अलग निकलते हैं। एक अमेरिकी श्वेत स्त्री और भारतीय दलित स्त्री को पितृसत्ता का उत्पीड़न अलग-अलग ढंग से झेलना पड़ता है।

1.1.07. हिंसा

हिंसा व महिलाओं का सम्बन्ध सदियों पुराना है। सदियों से महिलाएँ हिंसा और शोषण की गर्त से बाहर निकलने में सफल नहीं हो पा रही हैं। महिला, जो एक अगरबत्ती के समान जीवन में सुगन्ध फैलाती है वो आज हिंसा और शोषण के धुएँ में जलकर राख हो रही है। पुरुषों ने युगों-युगों से महिलाओं का शोषण किया है। इस भयावह सच के बावजूद हिंसा के मुद्दे पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया और न ही यह जानने का प्रयास किया गया कि इस मुद्दे पर महिलाओं की उपेक्षा क्यों की जाती है ?

विश्व ने जैसे-जैसे तकनीकी और प्रौद्योगिकी विकास किया है, वैसे-वैसे महिलाओं के हिंसा और शोषण के प्रकारों में वृद्धि हुई है। एक बच्ची को पैदा होने से पहले ही कितनी यातनाओं से गुजरना पड़ता है। उसके बाद उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक ऐसी विभिन्न प्रकार की यातनाएँ, शोषण, हिंसा उसके जीवन का हिस्सा बन जाती हैं। महिलाओं को कभी धर्म, कभी संस्कृति, कभी पत्नी होने, तो कभी महिला होने के नाम पर शोषित किया जाता है।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था ब्रह्मसत्ता के आशीर्वाद से फली-फूली है। राजा और ईश्वर का बॉण्ड जिस तरह दलितों को शोषित करता है। उसी तरह स्त्री का भी शोषण बदस्तूर जारी है। 'सात भाइयों के बीच चम्पा' जो समस्त स्त्री जाति का प्रतीक है, अपने घर में दोयम दर्जे की नागरिक है जिसे सदियों से कूटा-पीटा जा रहा है। पितृसत्ता की नागरिक स्त्री किस तरह हिंसात्मकता व आक्रामकता की शिकार होती है उसकी महागाथा के रूप में यह कविता है –

सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई।
बाँस की टहनी-सी लचक वाली,
बाप की छाती पर साँप-सी लोटती
सपनों में
काली छाया-सी डोलती
सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई।

ओखल में धान के साथ
कूट दी गयी
भूसी के साथ कूड़े पर
फेंक दी गयी।
वहाँ अमरबेल बनकर उगी।
झरबेरी के सात कँटीले झाड़ों के बीच
चम्पा अमरबेल बन सयानी हुई।
फिर से घर आ धमकी।

सात भाइयों के बीच सयानी चम्पा
एक दिन घर की छत से
लटकती पायी गयी।
तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच
दबा दी गयी।
वहाँ एक नीलकमल उग आया।
जलकुम्भी के जालों से ऊपर उठकर
चम्पा फिर घर आ गयी,
देवता पर चढ़ायी गयी
मुरझाने पर मसलकर फेंक दी गयी,
जलायी गयी।
उसकी राख बिखेर दी गयी
पूरे गाँव में।

रात को बारिश हुई झमड़कर।
अगले ही दिन
हर दरवाज़े के बाहर
नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच
निर्भय-निस्संग चम्पा
मुस्कुराती पायी गयी।

तमाम तरह की हिंसा, प्रताड़ना व शोषण के बावजूद स्त्री की जिजीविषा है कि वह बार-बार लौट आती है बर्बर समाज के बीच अपने परचम को लहराती रहती है।

महिलाओं के साथ हो रही हिंसा और शोषण के कुछ प्रकार निम्नलिखित हैं – कन्याभ्रूण हत्या, बालिका यौन शोषण, यौन उत्पीड़न और तस्करी, अनैतिक देह व्यापार, लैंगिक असमानता, असुरक्षित गर्भपात, कार्यस्थल पर यौन शोषण, सतीप्रथा, दहेज उत्पीड़न, घरेलू हिंसा, शारीरिक, मौखिक, आर्थिक उत्पीड़न, भावनात्मक शोषण, बलात्कार एवं बलात्कारोत्तर मानसिक और भावनात्मक शोषण, ऑनर किलिंग, गैंग बलात्कार, अपहरण, अतिक्रमण, एसिड अटैक, डेटिंग दुरूपयोग, अन्तरंग साथी हिंसा, जबरन वेश्यावृत्ति शोषण, जबरन पोर्नोग्राफी सम्बन्धी यौन शोषण, साइबर क्राइम, स्टाकिंग, छिपकर देखना, ब्लैकमेल करना इत्यादि।

1.1.08. स्त्रीत्व

स्त्रीत्व का शाब्दिक अर्थ है – 'स्त्री होने का भाव या गुण या औरतपन', 'गुण या धर्म आदि के विचार से स्त्रियों का-सा होने का भाव'। नारी सम्बन्धी विचार की व्याख्या के सन्दर्भ में तीन अवधारणाएँ विचारणीय हैं – (i) स्त्रीत्व (Feminism) (ii) नारीयता (Feminity) और (iii) नारीवाद (Feminism)। 'स्त्रीत्व' शब्द पुरुष व स्त्री के बीच शारीरिक व जैविक अन्तर को स्पष्ट करने वाला शब्द है। शारीरिक विभेद जन्म से प्राप्त होते हैं जिनका आधार जननिक (Genetic) होता है। पुरुष व स्त्री के शरीर की बनावट में, आवाज में, जनन-अंगों में व अन्य कतिपय अंग भागों में अन्तर, दो विभिन्न लिंगों के मध्य भेद को इंगित करता है। शरीर के भेद का अन्तर सभी प्रजातियों में पाया जाता है। यह भेद किसी एक श्रेणी को अधिक क्षमताशील नहीं बनाता और इस बात को स्पष्ट करता है कि विभेद, असमानता नहीं है। प्राणीशास्त्रीय विभेदों को सामाजिक असमानता में परिवर्तन करने की प्रक्रिया पितृसत्तात्मक समाज की विचारधारा का प्रतिफल है।

'स्त्रीत्व' समाज व संस्कृति के द्वारा स्त्री का विशिष्ट निर्माण है। जिसके माध्यम से उसकी प्रस्थिति (Status) भूमिका, पहचान, सोच, मूल्य व अपेक्षाओं को गढ़ा जाता है। स्त्रीत्व के निर्माण की प्रक्रिया में समाज की संस्थाओं, सांस्कृतिक मूल्य व व्यवहारों, प्रथा, रीति-रिवाजों, लिखित-मौखिक ज्ञान परम्पराओं, धार्मिक अनुष्ठानों व नारी अपेक्षित विशिष्ट मूल्यों से स्थापित होती है। जन्म से ही बालक-बालिका के सामाजीकरण की प्रक्रिया इस तरह से संचालित होती है कि बालक को साहसिक, बौद्धिक, आक्रामक कार्यों के प्रति ढालने का स्वरूप बनाया जाता है और बालिका को क्षमा, भय, लज्जा, सहनशीलता, सहिष्णुता, नमनीयता के गुणों को आत्मसात् करने की शिक्षा-दीक्षा प्रदान की जाती है। यह प्रक्रिया बालक और बालिका के परिवेश में इस तरह जोड़ दी जाती है कि अन्ततः स्व-पहचान व अन्य लोगों की परिभाषा के आधार पर उसके अनुरूप व्यवहार करना सामान्य माना जाता है व प्रदत्त अपेक्षाओं से भिन्न व्यवहार असामान्य करार कर दिया जाता है। अनामिका की 'बेजगह' शीर्षक कविता में स्त्रीत्व निर्माण की प्रक्रिया व दंश द्रष्टव्य हैं –

'अपनी जगह से गिरकर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरतें और नाखून' –
अन्वय करते थे किसी श्लोक का ऐसे
हमारे संस्कृत टीचर।
और मारे डर के जम जाती थीं
हम लड़कियाँ
अपनी जगह पर !

जगह ? जगह क्या होती है ?
यह, वैसे, जान लिया था हमने
अपनी पहली कक्षा में ही !
याद था हमें एक-एक अक्षर

आरंभिक पाठों का –
'राम, पाठशाला जा !
राधा, खाना पका !
राम, आ बताशा खा !
राधा, झाड़ू लगा !
भैया अब सोएगा,
जाकर बिस्तर बिछा !
अहा, नया घर है !
राम, देख, यह तेरा कमरा है !'
'और मेरा ?'
'ओ पगली,
लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता !'

जिनका कोई घर नहीं होता –
उनकी होती है भला कौन-सी जगह ?
कौन-सी जगह होती है ऐसी
जो छूट जाने पर
औरत हो जाती है
कटे हुए नाखूनों,
कंघी में फँसकर बाहर आए केशों-सी
एकदम से बुहार दी जाने वाली ?
घर छूटे, दर छूटे, छूट गए लोग-बाग,
कुछ प्रश्न पीछे पड़े थे, वे भी छूटे !
छूटती गई जगहें।

परम्परा से छूटकर बस यह लगता है –
किसी बड़े क्लासिक से
पासकोर्स बी०ए० के प्रश्नपत्र पर छिटकी
छोटी-सी पंक्ति हूँ–
चाहती नहीं लेकिन
कोई करने बैठे
मेरी व्याख्या सप्रसंग !

सारे संदर्भों के पार
मुश्किल से उड़कर पहुँची हूँ
ऐसे ही समझी-पढ़ी जाऊँ
जैसे
अधूरा अभंग !

सुधा अरोड़ा की कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में भी स्त्रीत्व की इस पितृसत्तात्मक समाज की पीड़ा को देखा जा सकता है। जिसमें अन्नपूर्णा मंडल व उसके भाई बावला के एक समान खेलकूद पर शिक्षा बेटी की ही दी जाती है, बेटे को नहीं जबकि स्कूली शिक्षा में बेटे को प्राथमिकता दी जाती है बेटी की पढ़ाई, छुड़ाकर उसकी शादी करके भेज देने में ही माता-पिता की खुशी है। कुछ संवाद देखिए, जैसे कि अपनी पिता से बेटी कहती है कि तुम मुझे ही डाँटते थे और मुझे माँ अन्नपूर्णा ही कहते थे "बावला की नकल क्यों करती है रे ! तू तो माँ अन्नपूर्णा है, देवीस्वरूप।" इस तरह के उपदेशों से बचपन से बेटी में स्त्रीत्व के संस्कार थोपे जाने की प्रवृत्ति पितृसत्तात्मक व्यवस्था की देन है। अन्नपूर्णा अपने वैवाहिक जीवन के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए कहती है – "मुझे बी.ए. की सालाना परीक्षा में भी बैठने नहीं दिया और दूसरे दर्जे की आरक्षित डोली में बिठाकर विदा कर दिया।" यहाँ 'दूसरे दर्जे का आरक्षण' की व्यंजना भी ध्यान देने योग्य है जो स्त्री की सामाजिक स्थिति को दर्शाता है। बाल्यावस्था से ही बालक व बालिका के खेल और खिलौने इस तरह से भिन्न होते हैं कि समाज द्वारा परिभाषित नर-नारी के क्षेत्र के अनुरूप ही उनका विकास हो सके। सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि की आधारशिला भी बाल्यकाल से ही लड़की के मन में अंकित कर दी जाती है। बालिका के सन्दर्भ में सौन्दर्य को बुद्धि की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। उसकी बौद्धिक क्षमताओं को द्वितीयक स्थान दिया जाता है। समाज की अनेक संस्थाएँ नारी की प्रस्थिति को निम्न बनाने में सहायक होती हैं। परिवार व विवाह जैसी संस्थाएँ जो कि व्यक्ति को भावनात्मक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक सुरक्षा प्रदान करते हैं, किसी स्तर पर नारी की असमान प्रस्थिति व शोषण की प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी हैं। पितृसत्तात्मक परिवारों में विवाह के पश्चात् लड़की को पति के घर जाना होता है, उसका पारिवारिक नाम बदल जाता है। अनेक समाज में उसे सम्पत्ति में अधिकार नहीं होता। विवाह से जुड़े अनेक आयाम उदाहरणतः दहेज प्रथा, वैधव्य, कौमार्य अदृश्य हिंसा नारी की प्रस्थिति के नकारात्मक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। सिमोन दी-बोउआर का कहना है कि "स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।" सीमोन का मानना है कि स्त्रियोचित गुण दरअसल परिवार व समाज द्वारा लड़की में भरे जाते हैं जबकि वह भी वैसे ही जन्म लेती है जैसे कि पुरुष। उसमें भी वे सभी क्षमताएँ, इच्छाएँ और गुण होते हैं, जो कि किसी लड़के में।

स्त्रीत्व की मूल अवधारणा नकारात्मक है। लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक दायरों में स्त्री को पुरुष के सन्दर्भ में एक अपूर्ण और सापेक्ष जीवन के रूप में देखा गया है। मात्र स्त्री होकर जन्म लेना सही सामाजिक सन्दर्भ में 'स्त्री' होने के लिए पर्याप्त नहीं, हर स्त्री के लिए 'स्त्रीत्व' यानी खास तरह के उठने-बैठने, बोलने-चालने की विशिष्ट तालीम भी लेते चलना जरूरी है। स्त्री को पुरुष की तरह सृष्टि का सहज रूप से 'अपना' मानने के बजाय 'बाहरी' के रूप में देखने की इस रवायत का ही फल है कि स्त्री 'सेकेण्ड सेक्स' बन कर रह गई। अनामिका की 'स्त्रियाँ' शीर्षक कविता की पंक्तियों में इस एहसास को इन शब्दों में कहा गया है –

पढ़ा गया हमको
जैसे पढ़ा जाता है कागज
बच्चों की फटी कॉपियों का
'चनाजोर गरम' के लिफाफे के बनने से पहले !

देखा गया हमको
जैसे कि कुफ़्त हो उनींदे
देखी जाती है कलाई घड़ी
अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद !

सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने
सस्ते कैसेटों पर
ठसाठस्स ठुँसी हुई बस में !

भोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के
दुःख की तरह !

पारम्परिक रूढ़िवादी स्त्रीत्व के अनुसार – "स्त्री एक विशुद्ध देह है, स्त्री महज सौन्दर्य है या स्त्री केवल कोख है।" असूर्यंपश्या होना, एक पतिव्रती होना, आमरण पिता, पति या पुत्र के अनुशासन में घर के भीतर रहना, दबकर चलना, कम बोलना, बहुत कम खाना, बहुत गम खाना – जैसे मानवता विरोधी मुद्दों पर स्त्रीत्व टिका हुआ होता है। आत्मग्रस्तता, हीनताबोध, दब्बूपन, मानसिक निष्क्रियता, आपसी शंका और ईर्ष्या, भौतिक सुरक्षा के प्रति आग्रह – आदि स्त्रियों के गुण समाज में उसकी हीन स्थिति तथा पराश्रमी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का ही परिणाम है जिसे आज की शिक्षित स्त्री लगातार तोड़ रही है और हमारा पुरुष मानसिकता वाला समाज 'स्त्रीत्व' के विलुप्त हो जाने की चर्चाएँ कर रहा है। वस्तुतः उन्हें याद रखना चाहिए कि स्त्रीत्व के बनाए गए मानदण्ड प्राकृतिक नहीं है। आज स्त्री इन बनी-बनाई रूढ़िबद्ध छवियों को शिक्षा, आर्थिक स्वावलम्बन के द्वारा नकार रही है। कवयित्री अनामिका की 'स्त्रियाँ' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं –

एक दिन हमने कहा –
हम भी इनसान हैं
हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसे पढ़ा होगा बी०ए० के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन !

देखो तो ऐसे
जैसे कि ठिठुरते हुए देखी जाती है
बहुत दूर जलती हुई आग !

सुनो, हमें अनहद की तरह
और समझो जैसे समझी जाती है
नई-नई सीखी हुई भाषा !

इतना सुनना था कि अधर में लटकती हुई
एक अदृश्य टहनी से
टिड्डियाँ उड़ीं और रंगीन अफवाहें
चीखती हुई चीं-चीं
'दुश्चरित्र महिलाएँ, दुश्चरित्र महिलाएँ –
किन्हीं सरपरस्तों के दम पर फूली-फैलीं
अगरधत्त जंगली लताएँ !
खाती-पीती, सुख से ऊबी
और बेकार बेचैन, आवारा महिलाओं
का ही
शगल हैं ये कहानियाँ और कविताएँ ..... ।
फिर, ये उन्होंने थोड़े ही लिखीं हैं'
(कनखियाँ इशारे, फिर कनखी)
बाकी कहानी बस कनखी है ।

हे परमपिताओं,
परमपुरुषों –
बख्शो, बख्शो, अब हमें बख्शो !

दरअसल शिक्षा व आर्थिक आत्मनिर्भरता ही वह पुल है, जो उसको अर्द्धमानव की स्थिति से उसे सम्पूर्ण मानव के दर्जे तक ले जाकर समाज में अपनी सही पहचान स्थापित करा सकता है ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । स्त्री उस समाज की आधी आबादी है । लेकिन जब हम आधी आबादी को सामाजिक अधिकारों व सुविधाओं से वंचित रखेंगे, तो हमारा आधा समाज तो मूक पशु ही होगा । महादेवी वर्मा ने कहा है कि "समाज में सम्मान वही प्राप्त कर सकता है, जिसके हृदय और मस्तिष्क का समान विकास हो और इसके लिए उसे नागरिकता विषयक ज्ञान, राजनैतिक व सामाजिक अधिकार, सम्पति का स्वामित्व, शासन-व्यवस्था में स्थान और स्वयं अपनी शक्तियों का आभास होना परम आवश्यक है ।" लेकिन वास्तविकता यह है कि नारी-स्वभाव में, कोमलता के आवरण में जो दुर्बलता छिप गई है, वही उसके शरीर में सुकुमारता बन गई । अब वह सुकुमारता को अपना अलंकार समझती है, इसीलिए उसे त्यागना नहीं चाहती । स्त्री अपनी इच्छा, प्रयत्न, आत्मनिर्भरता से ही मनुष्य की श्रेणी में आ सकती है ।

1.1.09. पुरुषत्व

प्रभुत्वशाली रूढ़िबद्ध धारणाओं के अनुसार पुरुष / पुरुषत्व का सम्बन्ध शक्तिपूर्ण, वैश्विक, आक्रामक, आकांक्षी, तार्किक एवं उग्र व्यक्तित्व से है तथा नारी / नारीत्व इसका विपरीत है अर्थात् नारी का सम्बन्ध कमजोर, निर्भर, सहनशील, सीधी-साधी, अनाकांक्षी, असंगत एवं कोमल व्यक्तित्व से है । ये लिंग के प्रारूप की दोहरी प्रकृति को दर्शाता है । जो पुरुष / पुरुषत्व तथा नारी / नारीत्व को इस द्विभाजन के दो स्तम्भ मानता है । महिलाएँ

पुरुषों से भिन्न नहीं हैं पर महिलाओं की परिभाषा पुरुषों से भिन्न की गई है। नारीवाद के जो लक्षण गिनाए गए हैं, वे पुरुषत्व के विरोधाभासी हैं अथवा उसके समानान्तर नहीं हैं।

नारीवादी मानववैज्ञानिक मार्गरेट मीड के अनुसार, पुरुषत्व और स्त्रीत्व के रूप भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और परम्पराओं में भिन्न-भिन्न रूप में प्रदर्शित होते हैं। सभी समाजों के अपने अलग-अलग व्यवहार, मान्यताएँ, संस्कार और संस्कृति होती है। उसी के अनुसार महिलाओं और पुरुषों में अलग-अलग संस्कारों का जन्म होता है। महिलाओं को 'स्त्रीत्व' वाले कार्य और संस्कार दिये जाते हैं, जबकि पुरुषों को शारीरिक श्रम वाले कार्यों में दक्ष किया जाता है।

जेंडर समाज द्वारा निर्मित 'पुरुषत्व और स्त्रीत्व' के लिए विषमताजनित विशिष्टताओं की व्याख्या करता है। यह एक ऐसा सामाजिक सोपानक्रम है जो नारीत्व गुणों के मुकाबले पौरुष गुणों को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता है। नारीवादी राजनैतिक चिन्तक करौल पेंटमैन (Carole Paterman) के अनुसार "पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुषत्व व नारीत्व का अन्तर स्वतन्त्रता व परतन्त्रता के राजनैतिक अन्तर जैसा है। पुरुष ने स्त्री में यह भावना संस्कार की तरह कूट-कूट कर भर दी कि वह सिर्फ और सिर्फ शरीर है। वह शरीर के सिवा उसकी किसी और पहचान से इनकार करता है।" औरत उसके लिए सुमुखी, पयोधरा, क्षीणकटि, सुभगा है और पुरुष वृषभस्कन्ध, बाहुबली, वज्रवक्ष और वीर्यवान् होने के साथ-साथ वह मन, मस्तिष्क और मेधा से सम्पन्न है। महिलाओं के खिलाफ हिंसा और भेदभाव को खत्म करने के लिए पुरुषत्व की अवधारणा को नये सिरे से परिभाषित करने की ज़रूरत है।

राबर्ट स्टोलर अपनी पुस्तक 'Sex and Gender : The development of Masculinity and femininty' में कहते हैं कि सेक्स का सम्बन्ध स्त्री व पुरुष से है तो जेंडर का सम्बन्ध स्त्रीत्व व पुरुषत्व से। ये दोनों शब्द प्राकृतिक संरचना से स्वतन्त्र अर्थ ग्रहण करते हैं। 1972 में ब्रिटिश समाजशास्त्री व नारीवादी लेखिका ऐना ओक्ले (Ann Oakley) की पुस्तक 'Sex, gender and Society' में कहा गया है कि जेंडर सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना है जो स्त्रीत्व और पुरुषत्व के गुणों को गढ़ने के सामाजिक नियम व कानूनों का निर्धारण करता है। मृणाल पाण्डेय लिखती हैं – "पुरुषत्व की मूल अवधारणा हमारे समाज में हमेशा सकारात्मक और केन्द्रीय रही है। यानी पुरुष का जन्मना एक सम्पूर्ण मानव ही नहीं, मानवता का सही और आदर्श स्वरूप होना सहज स्वीकृत रहा है। अपनी सामर्थ्य और सामाजिक सार्थकता का यह बुनियादी अहसास अस्तित्व के समुद्र में तल्लीनता से गोता लगाने और वहाँ से नाना ज्ञान-मुक्ताएँ लेकर बार-बार वापस लौटने के लिए हर पुरुष की अस्मिता को एक ऐसा ठोस और सुरक्षित आधार देता है, जहाँ अपनी इच्छा होने पर बैठकर, वह बड़ी तटस्थता और तन्मयता से जीवन का प्रलय-प्रवाह देख-गुन सकता है। उसका पुत्र-पिता, पति या प्रेमी का स्वरूप, इस पूरे दौरान समाज उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के हिस्से मानता है, उसका सम्पूर्ण 'स्व' नहीं, अतः पुरुष का इन रिश्तों के परे जाकर अपना 'स्व' तलाशना, पुरुषत्व के सन्दर्भ में किसी को अटपटा नहीं लगता।" (स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक) बायो इंजीनियरिंग में हुए शोध की मान्यता है कि पुरुषों का 'वाई फैक्टर' उन्हें स्वभाव से उग्र, दुर्दम्य और विध्वंसक बनाता है। स्त्रियों में यह होता ही नहीं इसीलिए वे स्वभावतः शान्तिप्रिय, स्नेही, कोमल

और उच्च मानवीय गुण सम्पन्न होती हैं। जबकि सत्य यह है कि एक सार्थक जीवन के लिए किसी भी व्यक्ति में वे गुणसमूह, जिनका प्रतिनिधित्व स्त्रियों के सिर आता है, (ममता, प्रेम, उदारता, क्षमा, सहिष्णुता) उतने ही जरूरी होते हैं जितने वे गुणसमूह जिनका प्रतिनिधित्व करते हुए पुरुष दिखाए जाते हैं अर्थात् वीरता, शौर्य, नियन्त्रण, न्याय, दमन, तटस्थता आदि बीज रूप में ये गुण स्त्री व पुरुष दोनों में विद्यमान होते है किन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक निर्माण कुछ ऐसे हैं कि पुरुषों में खास तरह के गुण और स्त्रियों में किसी और तरह के गुण आदर्श बताए जाते हैं इसीलिए 'मर्दाना स्त्री' और 'स्त्रैण पुरुष' जैसी अवधारणाएँ भी बनती हैं।

1.1.10. समानता

सामाजिक सन्दर्भों में समानता का अर्थ किसी समाज की उस स्थिति से है जिसमें उस समाज के सभी लोग समान, अधिकार या प्रतिष्ठा (Sastus) रखते हैं। समानता एक ऐसी दशा या अवस्था है जिसमें सभी व्यक्ति समान परिस्थितियों में समान व्यवहार का अधिकार रखते है। समानता बिना किसी भेदभाव के व्यक्ति को सभी सुविधाओं तथा संसाधनों पर समान रूप से पहुँच व नियन्त्रण प्राप्त करने का अधिकार है अर्थात् विशेषाधिकारों का नकार और अवसरों की समानता है। समानता सबके लिए पर्याप्त अवसरों की उपलब्धता है। अवसर की समानता का अर्थ सबको अपने-अपने ढंग से अच्छा जीवन जीने एवं स्व व्यक्तित्व के विकास को पूर्णता प्रदान करने के लिए अवसरों के मिलने से है। हेराल्ड लास्की ने समानता के लिए निम्नलिखित स्थितियों को आवश्यक माना है – (i) समाज में किसी को विशेषाधिकार प्राप्त न हो, (ii) सभी के लिए समान अवसर उपलब्ध हों ताकि वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें, (iii) सभी को सामाजिक लाभ पाने की सुविधा हो जिसमें पारिवारिक स्थिति साधन या उत्तराधिकार आदि के आधार पर प्रतिबन्ध न हो और (iv) आर्थिक व सामाजिक शोषण की अनुपस्थिति हो।

स्त्री-विमर्श और स्त्री-चेतना के सन्दर्भों का चक्र 'गुलामी के एहसास और मुक्ति की आकांक्षा– इन दोनों बिन्दुओं के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। स्त्री-चेतना अर्थात् स्त्री की मुक्ति की आकांक्षा। स्त्री की आकांक्षा कम से कम भारतीय स्त्री की सम्बन्धों से मुक्ति की नहीं, बल्कि सम्बन्धों में मुक्ति की है, इच्छाओं से मुक्ति नहीं, इच्छाओं की दासता से मुक्ति, पुरुष के बल के आकर्षण से मुक्ति नहीं, बल के पशुत्व के आकर्षण से मुक्ति, निर्भरता से नहीं, निर्भरता की अनिवार्यता से मुक्ति की है, जिससे दोनों एक-दूसरे की मुक्ति के संगी बन सकें। मुक्ति-मार्ग पर स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे के सहयोगी बनकर विकास का एक नया इतिहास रचें, नया सन्दर्भ उद्घाटित करें।

19वीं सदी के सुधार-आन्दोलनों में 'समानता' की धारणा नहीं मिलती। सुधारकों ने 'समानता' के प्रश्न को नहीं उठाया। 'स्त्री-समानता' की धारणा 20वीं सदी के आरम्भ में शुरू हुए स्वाधीनता संग्राम की देन है। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वाधीनता संग्राम में स्त्री-पुरुष के बीच समानता की धारणा का उदय हुआ।

'स्त्री-समानता' की धारणा 'स्त्री-शिक्षा' के बगैर जैसे निर्मित नहीं हो सकती; उसी तरह 'स्त्री की पहचान' एवं 'आत्मनिर्भर' छवि भी 'स्त्री-शिक्षा' के बगैर सम्भव नहीं थी। 'स्त्री-शिक्षा' वस्तुतः स्त्री के विकास की धुरी है,

इसे समाज-सुधारकों ने सही रेखांकित किया था। आज भी हम गौर से देखें, तो पाएँगे कि स्त्री-शिक्षा के बगैर संविधान प्रदत्त स्त्री-अधिकार बेमानी है।

सन् 1920 के बाद से स्त्री-शिक्षा का मसला महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। यह जानते हुए भी स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करके अपनी लड़ाई जीत नहीं पाईं, बल्कि स्त्री-संघर्ष की यात्रा का श्रीगणेश हुआ। अनेक स्त्रियाँ पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर बनीं। उल्लेखनीय है कि स्त्री-शिक्षा का समूचा ताम-झाम शहरों तक सीमित था। स्त्री-शिक्षा का अधिकांश कार्य-व्यापार निजी क्षेत्र के संस्थानों या सेठ-साहूकारों द्वारा संचालित था। संसाधनों की कमी के कारण सरकार इनका गाँवों तक विस्तार नहीं कर पाई। महात्मा गाँधी द्वारा 'सबको शिक्षा' का नारा देने के बाद ही शिक्षा का प्रसार हुआ। बौद्धिक एवं सृजनात्मक क्षेत्रों में लिंगभेदीय स्थितियों की समाप्ति के बाद ही समानता के नजरिए का उदय होता है। लिंगभेदीय अवस्था में स्त्री की मुक्ति की पहली सीढ़ी है – 'स्त्री-शिक्षा'। स्त्री-शिक्षा के विषय में जयशंकर प्रसाद ने स्वीकार किया है – "पुरुष नारी को उतनी ही शिक्षा देता है, जितनी उसके स्वार्थ में बाधक न हो।"

'समानता' की धारणा का स्त्रीवादी चेतना के विकास से गहरा सम्बन्ध है। जब हम औरत की समानता की बात करते हैं, तो इससे हमारा सीधा मलतब होता है, औरत को उस सामन्ती-पूँजीवादी व्यवस्था के मूल्य-बोध से मुक्त करना, जो उसे देवी या दासी या उपभोग की वस्तु मात्र समझता है और औरत के एक स्वतन्त्र अस्तित्व से इनकार करता है। कहने का मतलब यह है कि सामाजिक स्तर पर पिछड़ी हुई विचारधाराएँ औरतों की स्थिति को बदतर बनाने में कम बड़ी भूमिका अदा नहीं करतीं। सभी शोषक समाजों में औरतों की चर्चा 'सेकेण्ड सेक्स' अथवा 'वीकर सेक्स' के रूप में की जाती है अर्थात् उसे पुरुषों से हीन मान लिया जाता है और मनुष्य के रूप में प्राप्त होने वाली मर्यादा तथा सम्मान से उसे वंचित कर दिया जाता है। आज के जमाने में भी ऐसा सोचने वाले काफी लोग हैं, जो यह मानते हैं कि भगवान ने औरत को कुछ ऐसा बनाया है, जिसके कारण शारीरिक तर्कों पर ही औरत आदमी की गुलाम बनकर रहने के लिए अभिशप्त है या गुलाम नहीं भी, तो पराधीन या दोयम दर्जे की ही अधिकारी हो सकती है। पितृसत्तात्मक समाज की विचारधारा का यही मूलमन्त्र है।

स्त्री के लिए 'समानता' का जब प्रश्न उठाया जाता है, तब हमें यह देखना होगा कि मार्क्स-एंगेल्स का इस प्रश्न पर क्या नजरिया था ? 'समानता' की धारणा उदारवादी चिन्तन की देन है। इसका मार्क्सवादी चिन्तन से उदय नहीं हुआ। 'समानता' की धारणा को मार्क्स ने मात्र विचार की तरह विश्लेषित नहीं किया, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से 'बुर्जुआ विचार' के रूप में इसकी व्याख्या की।

मार्क्स-एंगेल्स दोनों ने सभी तरह के शोषण के रूपों के खात्मे की बात कही। खासकर, मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण के अन्त की धारणा के प्रतिपादन में ही अपनी क्रान्तिकारी ऊर्जा लगा दी। मार्क्स-एंगेल्स ने कभी भी स्त्री के अधिकारों का विरोध नहीं किया।

स्त्रीवाद का विचार वस्तुतः 'समानता' के दार्शनिक चिन्तन की देन है। मार्क्स ने उन तमाम बुनियादी समस्याओं की तरफ ध्यान दिया, जिनका समूचे समाज से सम्बन्ध था। इसमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं। मार्क्सीय नजरिए से स्त्री की स्वाधीनता और समानता सामाजिक स्वाधीनता एवं आजादी की लड़ाई से अभिन्न रूप से जुड़ी है। वास्तविक अर्थों में स्त्री को स्वाधीनता एवं समानता तब ही प्राप्त होगी, जबकि समूचा समाज 'स्वाधीनता' को प्राप्त करेगा। स्त्री-स्वाधीनता का अर्थ उसको वह सभी अवसर उपलब्ध कराना है, जो पुरुष को प्राप्त हैं और स्त्री होने के कारण वह जिनसे वंचित की जाती है। उसे समान मताधिकार, समान नागरिक अधिकार, शिक्षा और रोजगार के समान अवसर तथा सम्पत्ति पर समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उसे प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता तथा प्रजनन की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उसका क्षेत्र घर के भीतर तक ही सीमित नहीं होना चाहिए। समस्त बन्धनों को काटने के लिए समाज को तोड़ना और नये मूल्यों को सृजित करना, स्त्री-चेतना एवं स्त्री-मुक्ति के लिए बेहद जरूरी है। स्त्री-मुक्ति एवं स्त्री-चेतना के लिए सबसे ज्यादा जरूरी है – एक स्त्री अर्थात् आधी दुनिया का शिक्षित होना, क्योंकि एक शिक्षित नारी ही स्वस्थ समाज के उज्ज्वल भविष्य को जन्म देने की महत्त्वपूर्ण आधारशिला होती है। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष-दोनों में असमानता नहीं रखनी चाहिए। शिक्षा की असमानता, अवसर की वह असमानता है, जो हर प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, वर्गीय और लैंगिक असमानता को बनाए रखने का कारगर हथियार रही है। जब तक इसका उन्मूलन नहीं होगा, स्त्री-चेतना की व्यापक वृद्धि, न्यूनतम आवश्यकताओं की व्यापक पूर्ति असम्भव बनी रहेगी। स्त्री-चेतना को सामाजिक चेतना में परिवर्तित करके ही समतामूलक समाज की परिकल्पना पूर्ण हो सकती है। समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व – यही तीनों मूलमन्त्र हैं, स्वर्णिम समाज बनाने का।

समानता का मतलब भी स्त्री-पुरुष की समानता ही क्यों ? एक नारी की दूसरी नारी से समानता भी क्यों नहीं ? क्या नारी-नारी के बीच की असमानता नहीं मिटाई जानी चाहिए ? नहीं तो बहुसंख्यक बहनों को पीछे छोड़ केवल मुट्ठीभर नारियों की प्रगति के क्या मायने हैं ? फिर क्या पुरुष ही नारी की प्रगति में बाधक है ? स्वयं एक नारी दूसरी नारी की प्रगति में बाधक नहीं ? इस आत्मविश्लेषण के बिना और 'नारी द्वारा नारी के शोषण' को मिटाए बिना नारी-शोषण से मुक्ति असम्भव है।

स्त्री की मुक्ति की लड़ाई निजी व्यवहार, निजी परिवार एवं पूँजी के तन्त्र से है। स्त्री के सम्पूर्ण विकास की पहली शर्त है – उसके विकास, पहचान एवं संस्कार के निर्माण का अबाधित एवं शर्तहीन आधार तैयारकरना।

स्त्री की समानता की लड़ाई बुनियादी लड़ाई है। इससे उसे स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता एवं अस्मिता की पहचान मिलेगी। इस संघर्ष के प्रति तदर्थभाव, दयाभाव या सहानुभूतिभाव स्त्री के संघर्ष एवं अवदान को कम करेगा। स्त्री की समानता के संघर्ष के प्रति दया या सहानुभूति की ज़रूरत नहीं है, बल्कि यह महसूस करने की ज़रूरत है कि यह तो उसका अधिकार था, जो उसे दिया जाना चाहिए। स्त्री तो सर्जक है, उत्पादक है, श्रमिक है, वह उपभोक्ता नहीं है। स्त्री को अगर हम उपभोक्ता बनाते हैं, तो उसे उसकी स्वतन्त्र पहचान से भी वंचित कर देते हैं। अतः स्त्री-समानता के लिए चलाया गया संघर्ष पितृसत्तात्मक विचारधारा के साथ-साथ उपभोक्तावादी-पूँजीवादी विचारधारा के साथ भी है। स्त्री-समानता का संघर्ष सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक – इन तीनों ही

स्तरों पर एक ही साथ चलना चाहिए। इस क्रम में, पुरुषवादी विचारधारा द्वारा स्त्रियों में पैदा किया गया विभाजन (दलित महिला, सवर्ण महिला, पिछड़ी महिला आदि) टूटेगा, साथ ही; स्त्रियों में भी समानता के साथ ही साथ बहनापे का बोध पैदा होगा। स्त्रियाँ अपने को समान महसूस करें, साथ ही, आपस में भी समानता और बहनापे की भावना महसूस करें। स्त्री की पहचान बने, उसे स्वतन्त्र सामाजिक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाए – इसके लिए महिला आन्दोलन एवं महिला संगठनों को गली-गली, मुहल्ले-दर-मुहल्ले, गाँव-दर-गाँव, जिला-दर-जिला फैलाना होगा। बुनियादी एवं तात्कालिक सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष के मुद्दों से उसे जोड़ना होगा। स्त्री का संघर्ष और संगठन आज के युग की ठोस हकीकत है। इससे जहाँ एक ओर स्त्रियों में जागरण पैदा होगा, वहीं दूसरी ओर समूचा समाज भी जाग्रत होगा। स्त्रियाँ जगें, समाज में सम्मान से जिएँ – इसके लिए जरूरी है कि उन्हें घर से बाहर निकलने, बोलने, रचने और आत्मनिर्भर बनने में साहित्य अग्रणी भूमिका अदा करने का अवसर मिले, तभी स्त्री की दुनिया बदलेगी, तब ही समाज भी बदलेगा। 21वीं शताब्दी में भी स्त्री-चेतना के उभार के लिए समाज-सुधार के प्रयासों की ज़रूरत होगी। स्त्री-चेतना से जुड़े विविध प्रश्नों को भौतिक आधार एवं परिवेश से जोड़कर देखना होगा। स्त्री की चेतना हमेशा सामयिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रक्रियाओं से प्रभावित होती रही है। यह खोये को पाने एवं सोये हुए को जगाने की विचारधारात्मक लड़ाई है, यह पुरुष वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष है और इससे समानता एवं लिंगीय सौहार्द बनाने में मदद मिलेगी। स्त्रियों की चेतना ज्यों-ज्यों विकसित होती जाती है, उसकी पारिवारिक वफादारियाँ घटती जाती हैं और उनकी जगह अन्य वफादारियाँ ले लेती हैं। निष्कर्षतः इस सन्दर्भ में निराला का कथन है – "कोई स्त्री तब तक मुक्त नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं अपनी निगाहों से स्वयं को आजाद न महसूस करे।"

सत्ता की बजाय स्त्री का अपना पृथक् अस्तित्व होना चाहिए। स्त्री का अपना अहम् हो, गौरव हो, अपना स्वाभिमान, अपनी उपयोगिता और अपनी सार्थकता हो। उसे पुरुष से न हीन मान जाय, न वह पुरुष की बराबरी में अपनी क्षमताओं का अपव्यय करे। स्त्री को पुरुष की पूरक होना चाहिए, उसकी प्रेरक शक्ति होना चाहिए, कोई भी सत्तात्मक न हो। नारी-पुरुष के सम्बन्धों का आधार मानवीय प्रेम, सम्मान और सहकार हो। ऐसी आदान-प्रदान वाली नयी पहचान के परिणामस्वरूप मैत्री सम्बन्धों से समाज अनेक विकृतियों से बचाया जा सकता है। भावी पीढ़ियों के लिए ऐसे जीवन की अपेक्षा की जाती है, जो समता, न्याय, समानता, संयम तथा मानवीयता की भावना का हो, जिससे हमारे मस्तिष्क को जाग्रत तथा हमारे हृदयों को प्रकाशित किया जाये और हमारे सब कुछ का नवीनीकरण हो, जो मानव के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। स्त्री को पुरुष की सहयोगी बनना है, प्रतियोगी नहीं। नवयुग की माँग 'सत्ता' न होकर 'स्वतन्त्र चेतना' की होनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा भी है कि "जब तक महिलाएँ स्वयं अपने विकास के लिए आगे नहीं आएँगी, तब तक उनका विकास असम्भव है।" और ऐसा तभी सम्भव है जब स्वयं स्त्री के भीतर चेतना होगी और यह चेतना शिक्षा से ही सम्भव है। स्त्री-स्वतन्त्रता की चाह और उसके लिए संघर्ष अमूमन प्रथम चरण में उपहास के दौर से गुजरा है। स्त्री-स्वतन्त्रता को प्रधानतया गैर-जरूरी माना गया और कोई स्त्री यदि इसका भोग करने की कोशिश करती, तो उसे बदचलन माना जाता। स्त्री के चरित्र के निर्माण में स्वतन्त्रता और पराधीनता भूमिका अदा कर सकती है। सामन्ती ढाँचे और मूल्य-संरचना वाले समाज में स्त्री-स्वतन्त्रता की लड़ाई बेहद चुनौती भरी एवं जटिल होती है। स्वतन्त्रता के छोटे-छोटे रूप बड़ी से बड़ी

कुर्बानियों की माँग करने लगते हैं। "पुरातन-पंथी बुर्जआ अब भी सोचता है कि औरत की स्वतन्त्रता पुरुषों के स्वार्थों और नैतिक मूल्यों के लिए खतरनाक साबित होगी।" (स्त्री उपेक्षिता)

स्त्री-समानता का मतलब स्त्री-पुरुष समानता ही नहीं, बल्कि एक स्त्री की दूसरी स्त्री से समानता से भी है। नारी-नारी के बीच की असमानता को भी मिटाना चाहिए। इससे पूरे समाज में बहनापे की भावना विकसित होगी और हमारी ज्यादातर समस्याएँ हल हो सकती हैं। पुरुष की जन्मदात्री और उसके निर्माण-विकास की उत्तरदायी होने से स्त्री पुरुष से उच्च है भी, केवल अपने मानवीय गुणों और अपनी क्षमताओं के प्रदर्शन से अपनी इस स्थिति को मान्यता दिलाने की ज़रूरत है। स्त्री-पुरुष में सहज मैत्री सम्बन्ध विकसित किए जा सकें, तो संसार को अनेक विकृतियों से बचाया जा सकता है। स्त्रियों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व-व्यक्तित्व और जीवन का कोई उद्देश्य होता है। उनमें सामाजिकता, दृष्टिकोण की उदारता, चरित्र की दृढ़ता, निर्भयता और नेतृत्व के गुण विकसित होते हैं। नवयुग की माँग है कि लड़कियों को प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र चेतना-संस्कार देकर उनका सहज मानवीय ढंग से विकास किया जाये। विकास मानवीयता आधारित हो, न कि मात्र 'नारीत्व के आग्रह' पर।

निष्कर्षतः स्त्री-चेतना को विकसित करने तथा सुदृढ़ बनाए रखने के लिए समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व का मन्त्र जीवन में अपनाना होगा। स्त्री-पुरुष में समान अधिकार होने चाहिए, लिंग-भेद के आधार को समाप्त कर देना चाहिए। स्त्री-पुरुष में ही नहीं, स्त्री-स्त्री में भी समानता होनी चाहिए। स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति हर क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। समान अधिकार से आशय है – बराबरी का अधिकार। ये अधिकार नारी को सभी क्षेत्रों में – चाहे पारिवारिक हों, राजनैतिक हों, सामाजिक हों, आर्थिक हों, चाहें नैतिक हों – प्राप्त होने चाहिए। स्वयं निर्णय लेने का अधिकार, गर्भापात का अधिकार, तलाक का अधिकार, नारी-आरक्षण का अधिकार, चुनाव का अधिकार, पूजा-पाठ विषयक अधिकार, 'स्व' की स्थापना का अधिकार, निजी मूल्य-बोध की स्थापना का अधिकार, अपने शरीर पर अधिकार, अपनी अभिव्यक्ति पर अधिकार, अपनी इच्छा के अनुसार जीवन जीने का अधिकार, जीवन में अपना रास्ता खुद तय करने का अधिकार आदि प्राप्त होने चाहिए।

1.1.11. सशक्तीकरण

किसी व्यक्ति, समुदाय या संगठन की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षिक लैंगिक या आध्यात्मिक शक्ति में सुधार को सशक्तीकरण कहा जाता है। महिला सशक्तीकरण के अन्तर्गत महिलाओं से जुड़े सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और कानूनी मुद्दों पर सम्वेदनशीलता और सरोकार व्यक्त किया जाता है।

सशक्तीकरण की प्रक्रिया में समाज को पारम्परिक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागरुक किया जाता है जिसमें महिलाओं की स्थिति को सदैव कमतर माना जाता है। महिला सशक्तीकरण भौतिक या आध्यात्मिक, शारीरिक या मानसिक सभी स्तर पर महिलाओं में आत्मविश्वास पैदाकर उन्हें सशक्त बनाने की प्रक्रिया है।

महिला सशक्तीकरण बहुआयामी और बहुमुखी होता है। यह पुरुष निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष विमर्श होता है और इसके लिए महिलाओं को पुरुषों से भी आगे निकलना होगा। महिला सशक्तीकरण से अभिप्राय ऐसी

शक्ति से है जो महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और कानूनी रूप से सोचने, समझने और जीने की स्वतन्त्रता देती है। सशक्तीकरण का सम्बन्ध महिलाओं के जीवन के आत्म-निर्णय से है। सशक्तीकरण की प्रक्रिया समाज को पारम्परिक पितृसत्तामक दृष्टिकोण के प्रति जागरुक बनाती है। महिला सशक्तीकरण, भौतिक या आध्यात्मिक शारीरिक या मानसिक, आन्तरिक या बाहरी सभी स्तरों पर महिलाओं में आत्मविश्वास जाग्रत करता है।

पैलिनी थूराई के अनुसार, "महिला सशक्तीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के विकास की प्रक्रिया में राजनैतिक संस्थाओं के द्वारा महिलाओं को पुरुषों के बराबर मान्यता दी जाती है।" लीला मीहेन के अनुसार, "निडरता, सम्मान और जागरुकता – तीनों शब्द महिला सशक्तीकरण में सहायक हैं।" यदि डर से आजादी महिला सशक्तीकरण का पहला कदम है, तो तेजी से न्याय से उसकी आवश्यकता पूरी हो सकेगी। यदि महिलाओं को वास्तव में न्याय दिलाना है तो उनकी जाँच-परख प्रणाली को और अधिक कार्यकुशल बनाना होगा तथा अराजकता फैलाने वाले तत्त्वों को सजा देनी होगी। महिला सशक्तीकरण का उद्देश्य महिलाओं की प्रगति और उनमें आत्मविश्वास का संचार करना है। वर्तमान में महिलाएँ अपनी प्रतिभा की बदौलत सफलता के नित नये आयाम स्थापित कर रही हैं। जल, ज़मीन और आसमान तक उनकी पहुँच है।

कात्यायनी ने एक सशक्त स्त्री के आत्मविश्वास को 'इस स्त्री से डरो' शीर्षक कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है –

यह स्त्री
सब कुछ जानती है
पिंजरे के बारे में
जाल के बारे में
यन्त्रणा-गृहों के बारे में
उससे पूछो।
पिंजरे के बारे में पूछो,
वह बताती है
नीले अनन्त विस्तार में
उड़ने के
रोमांच के बारे में।
जाल के बारे में पूछने पर
गहरे समुद्र में
खो जाने के
सपने के बारे में
बातें करने लगती है।
यन्त्रणा-गृहों की बात छिड़ते ही
गाने लगती है

प्यार के बारे में
एक गीत।
रहस्यमय हैं इस स्त्री की उलटबासियाँ
इन्हें समझो।
इस स्त्री से डरो।

यह कविता यथार्थ के न सिर्फ बहुत निकट की कविता है बल्कि स्त्री के मनोजगत की तहों में प्रवेश के लिए दरवाजे भी खोलती है। पितृसत्ता की कैद में स्त्री जो दुःखी होते हुए भी हँस रही है। कैद में रहते हुए भी मुक्ति के सपने देख रही है। यातना सहते हुए भी मुक्ति के गीत गा रही है। इस मुक्ति के गीत में पितृसत्तात्मक समाज की जंजीरों की खनक को साफ-साफ सुना जा सकता है।

महिला सशक्तीकरण को बेहद आसान शब्दों कहें तो इससे महिलाएँ सशक्त बनती हैं, जिससे वो अपने जीवन से जुड़े हर फैसले स्वयं ले सकती हैं और समाज में सम्मानजनक स्थिति प्राप्त कर सकती हैं। अर्थात् समाज में स्त्री को उसके वास्तविक अधिकार को प्राप्त करने के लिए उन्हें सक्षम बनाना महिला सशक्तीकरण है।

भारत में महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए सबसे पहले समाज में उनके अधिकारों और मूल्यों का हनन करने वाली विरोधी सोच जैसे – दहेजप्रथा, यौन हिंसा, अशिक्षा, भ्रूण हत्या, असमानता, महिलाओं के प्रति घरेलू हिंसा, कार्य-स्थल पर यौन शोषण, बाल मजदूरी, वेश्यावृत्ति, मानव-तस्करी आदि को नष्ट करना जरूरी है। भारत के संविधान में लिखे समानता के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए महिलाओं को सशक्त बनाना सबसे प्रभावशाली उपाय है। सर्वाधिक सशक्तीकरण के लिए शिक्षा सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। महिला सशक्तीकरण के लिए किए गए महत्त्वपूर्ण सार्थक प्रयास निम्नलिखित हैं –

(i) 1848 में सावित्रीबाई फुले ने पुणे में महिलाओं के लिए स्कूल खोला और भारत की प्रथम महिला शिक्षिका बनीं।
(ii) 1898 में भगिनी निवेदिता ने 'महिला स्कूल' की स्थापना की।
(iii) 1961 में पहली महिला यूनिवर्सिटी (SNDT) की स्थापना समाज सुधारक केशव कर्वे ने पाँच विद्यार्थियों के साथ मिलकर की।
(iv) 1917 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की एनी बेसेन्ट पहली महिला अध्यक्ष बनीं।
(v) 1927 में ऑल इण्डिया वीमेन कांग्रेस की स्थापना की गई।
(vi) 1947 में सरोजिनी नायडू भारत की पहली महिला गवर्नर बनीं।

भारत सरकार ने महिलाओं की शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण नीति एवं कार्यक्रमों का निर्माण किया। जिनमें महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम और नीतियाँ इस प्रकार हैं –

(1) महिला शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम और नीतियाँ – माध्यमिक शिक्षा आयोग 1952-53, राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति 1958-59, हंसा मेहता कमेटी ऑन वूमेन एजूकेशन 1962, हंसा मेहता समिति 1964-65, फुलरेनु गुहा समिति 1974, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986, जनार्दन रेड्डी समिति 1992, कस्तूरबा गाँधी शिक्षा योजना 1997, मौलाना आजाद राष्ट्रीय छात्रवृत्ति 2003, कस्तूरबा गाँधी विद्यालय योजना 2004, महिला समाख्या कार्यक्रम, विशेष आवासीय विद्यालय योजना 2005-06, बालिका शिक्षा प्रोत्साहन योजना 2005-06, इकलौती कन्या छात्रवृत्ति योजना 2006-08, बराबरी की ओर 1974, महिलाओं हेतु राष्ट्रीय कार्य योजना 1988-2000, श्रमशक्ति रिपोर्ट 1988 इत्यादि।

(2) ग्रामीण महिला सशक्तीकरण कार्यक्रम – भारत सरकार ने ग्रामीण महिलाओं की सशक्तीकरण के लिए अनेक कल्याणकारी कार्यक्रम चलाए। जैसे – काम के बदले अनाज योजना 1977, अन्त्योदय कार्यक्रम 1978, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम 1980, ग्रामीण क्षेत्रों में महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम (डबाकरा) 1982, ग्रामीण प्रौद्योगिकी विकास परिषद् 1986, महिलाओं हेतु प्रशिक्षण और रोजगार कार्यक्रम 1987, कुटीर ज्योति योजना 1988-89, स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना 1999, प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना, अन्त्योदय योजना 2000, सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना 2001, किशोरी शक्ति योजना 2001, महिला स्वयंसिद्धा योजना 2001, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना 2005, भारत निर्माण योजना 2005-06, समेकित बाल विकास सेवा योजना इत्यादि।

(3) महिला स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाएँ – भारत सरकार ने महिलाओं के स्वास्थ्य हेतु विभिन्न योजनाएँ चलायीं। जैसे – वीमेंस इंटीग्रेड लर्निंग फॉर लाइफ, राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना 1997, स्वास्थ्य सखी योजना 1997, महिला उत्थान योजना, किशोरी शक्ति योजना, पोषाहार मिशन योजना 2001, बालिका समृद्धि योजना (प्रसवोपरान्त अनुदान – 500 रुपये), जननी सुरक्षा योजना 2003, जीवन भारती महिला सुरक्षा योजना 2003, वन्देमातरम् योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन 2005, भारत निर्माण योजना 2006 आदि।

(4) महिला सशक्तीकरण में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका अहम रही है। इसमें निम्नलिखित एन.जी.ओ. ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी है – सेल्फ एंपलाइड वीमेंस एसोसिएशन, वनिता समाज, स्वयं सहायता समूह संजीवनी सेवा संगम, अहल्या आश्रम, दिशा, आशा, नेशनल मुस्लिम वूमेन वेलफेयर सोसाइटी, महिला संघर्ष समिति, नारी समता संघ इत्यादि।

(5) महिला समाख्या कार्यक्रम – सामाजिक और आर्थिक तौर पर पिछड़े वर्गों के ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं की शिक्षा, सशक्तीकरण और आर्थिक निर्भरता के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वर्ष 1989 में महिला समाख्या कार्यक्रम शुरू किया गया था। इस योजना के अन्तर्गत प्रश्न पूछने, मुद्दों और समस्याओं को सुलझाने, विश्लेषण करने और समाधान करने की प्रक्रिया पर बल दिया गया। इसमें महिलाओं के व्यक्तिगत विकास, उनकी प्राथमिकताएँ, अपनी पसंद के विषयों में सूचना एवं ज्ञान अर्जित करने पर बल दिया गया। इस कार्यक्रम के द्वारा महिलाओं की पारम्परिक भूमिकाओं की अवधारणाओं में बदलाव की पहल की गई जिसमें

विशेष रूप से महिलाओं की आत्मछवि और आत्मविश्वास में वृद्धि, शिक्षा के अवसरों में वृद्धि, किशोरियों की शिक्षा पर जोर, महिलाओं की समाज में सकारात्मक भूमिका पर बल, औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों में महिलाओं तथा लड़कियों की अधिक-से-अधिक सहभागिता प्राप्ति पर जोर दिया गया। यह कार्यक्रम विशेष रूप से आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, कर्नाटक, केरल, गुजरात, उत्तरप्रदेश और उत्तरांचल के 104 जिलों और लगभग 32574 से भी अधिक गाँवों में क्रियान्वित किया जा रहा है। वित्त वर्ष 2007-08 से इस योजना के लिए 34 करोड़ का बजटीय प्रावधान किया गया था जो कि वर्ष 2011-12 के लिए 50 करोड़ के करीब पहुँच गया।

महिला सशक्तीकरण की पहल 1985 में महिला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नैरोबी में की गई। महिला सशक्तीकरण का अभिप्राय महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्तता है। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों की अधिकांश महिलाएँ अशिक्षा, बेरोजगारी, कुपोषण और कई प्रकार की बीमारियों से ग्रसित हैं। अतः भारत में महिला सशक्तीकरण का प्राथमिक उद्देश्य महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक दशा को सुधारना है।

कानूनी अधिकार के साथ महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए संसद द्वारा पारित कुछ अधिनियम निम्नलिखित हैं –

1. अनैतिक व्यापार रोकथाम अधिनियम, 1956
2. दहेज रोक अधिनियम, 1961
3. एक बराबर पारिश्रमिक एक्ट, 1976
4. मेडिकल टर्म्नेशन ऑफ प्रेग्नेंसी एक्ट, 1987
5. लिंग परीक्षण तकनीक एक्ट, 1994
6. बालविवाह रोकथाम एक्ट, 2006
7. कार्य स्थल पर महिलाओं का शोषण एक्ट, 2013

1.1.12. नारीवाद के प्रकार तथा सिद्धान्त

सामान्य तौर पर नारीवाद को एक ऐसे सामाजिक आन्दोलन के रूप में देखा जाता है जिसकी सम्बद्धता सांस्कृतिक सन्दर्भों, राजनैतिक मानदण्डों तथा विधि-विधानों से भी रही है और जो 'पुरुष' एवं 'स्त्री' के बीच प्रत्येक स्तर पर समानता स्थापित करने की दिशा में व्यावहारिक, विमर्शात्मक एवं सैद्धान्तिक स्तरों पर प्रयास करता रहा है। इसका प्रारम्भ 18वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में मैरी वुलस्टोनक्राफ्ट (Mary Wollstonecraft) द्वारा स्त्री-अधिकारों की प्राप्ति की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों से हुआ माना जाता है। 20वीं शताब्दी तक आते-आते इसने स्त्रियों के लिए मताधिकार के सन्दर्भ में एक प्रकार का राजनैतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया था। 1920 में

संयुक्त राज्य अमेरिका और 1928 में ब्रिटेन में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हो जाने के बाद इसमें स्त्रियों के लिए शिक्षा और व्यवसायों के सन्दर्भ में अधिकारों हेतु प्रयास प्रारम्भ किए गए।

एक सिद्वान्त एवं विमर्श के रूप में नारीवाद को बौद्विक जगत में स्थापित करने में नारीवादी विचारक और लेखिका सिमोन दी-बोउआर (Simone de Beauvoir) की पुस्तक 'दी सेकेण्ड सेक्स' (The Second Sex), 1949 की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनकी इस मान्यता ने कि "स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है" ने समकालीन नारीवादी सोच पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। उनके अलावा जिन नारीवादी विचारकों ने अपनी लेखनी के माध्यम से इसे सशक्त बनाने के प्रयास लिए हैं उनमें केट मिलेट (Kate Mallet), वेट्टी फ्रायडेन, (Betty Friden), वोलेरी सोलनारू (Valeie Salavaro), शुलामिथ फायर स्टोन (Shulamith Fireston) तथा जूलियट मिथेल (Juliet Mithele) के नाम प्रमुख हैं। इनकी लेखनी का केन्द्रीय सन्दर्भ नारी-मुक्ति (Women's Libraton) रहा है। उन्होंने दुनिया का ध्यान पुरुष वर्चस्व तथा इसके अन्तर्गत नारी की अधीनता की ओर आकृष्ट किया है, चाहे वो पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक संरचना के अन्तर्गत हो अथवा आधुनिक उत्पादन प्रणाली एवं तकनीकि इत्यादि के क्षेत्र में हो। नारीवादी विमर्श एवं सिद्धान्त के अनुसार उनका यह भी मानना रहा है कि 'मातृत्व' (Motherhood) स्त्रियों का एक निजी विषय है तथा इसे पुरुष वर्चस्व के एक कारण के रूप में अथवा स्त्री की परम्परागत निर्बल स्थिति से जोड़ कर नहीं देखा जाना चाहिए। नारी-मुक्ति आन्दोलन (Women's Libration Movement) का एक महत्त्वपूर्ण संगठित प्रयास 1970 में ब्रिटिश राष्ट्रीय अधिवेशन में देखने को मिला जिसमें समान शिक्षा, समान कार्य अवसर, समान वेतन, 24 घंटे चालू रखने वाले नारी-गृह तथा आवश्यकता के आधार पर निःशुक्ल गर्भनिरोध एवं गर्भपात की माँग उठाई गई। इनमें से अन्तिम माँग का सम्बन्ध स्त्रियों द्वारा अपने शरीर पर स्वयं के नियन्त्रण को स्थापित करने की इच्छा से था। बाद में इसमें वित्तीय आत्मनिर्भरता की माँग भी जोड़ दी गई थी। इसके बाद यह आन्दोलन प्रदर्शनकारियों के माध्यम से चिली, अर्जेन्टीना, दक्षिण अफ्रिका इत्यादि देशों में प्रत्यक्ष रूप में पहुँचा तथा विश्व के प्रायः प्रत्येक देश एवं समाज पर इसका न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

1.1.12.1. नारीवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जैसा कि पूर्ववर्णित है, नारीवाद (Feminism) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक एवं राजनैतिक अधिकारों के सन्दर्भ में पुरुषों के साथ स्त्रियों की पूर्ण समानता के परिप्रेक्ष्य में किया गया। हालाँकि एक अवधारणा एवं आन्दोलन के रूप में इसका विकास वस्तुतः बीसवीं शताब्दी के मध्य तथा उसके पश्चात् की अवधि में ही प्रारम्भ हो गया था, तथापि इसकी जड़ें अपेक्षाकृत और भी अतीत में जमी प्रतीत होती हैं। एक 'विचार' (Idea) के रूप में इसका प्रारम्भ लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के विचार की स्थापना से हुआ माना जाता है। कुछ समय पश्चात् 1792 में मैरी वुलस्टोनक्रॉफ्रट लिखित पुस्तक 'विंडिकेशन ऑफ दी राइट्स ऑफ वुमैन' (A Vindication of the Rights of a Woman) में सर्वप्रथम इसे एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया। मैरी वुलस्टोनक्रॉफ्रट ने इस पुस्तक में परम्परागत पितृसत्तात्मक एवं पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्रियों की अपेक्षाकृत हीन सामाजिक स्थिति, प्रस्थिति एवं अधिकारों के सन्दर्भ में प्रचलित पारम्परिक धारणाओं का खण्डन

करते हुए उसे प्रत्येक स्तर पर पुरुषों के समकक्ष सिद्ध करने हेतु आवाज उठाने का प्रयास किया और यह बलपूर्वक कहा कि पुरुषों की भाँति शिक्षा एवं आवश्यक प्रोत्साहन पाकर वे भी पुरुषों के स्तर तक पहुँच सकती हैं। हालाँकि तत्कालीन व्यवस्था में स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों के बारे में उन्होंने कुछ नहीं कहा तथापि निश्चित तौर पर वे स्त्री-अधिकारों एवं लैंगिक समानता के विचारों का बीजारोपण करने में सक्षम रहीं। मैरी वुलस्टोनक्रॅाफ्रट के पश्चात् चार्ल्स फोरियर, पर्किन्स गिलमन तथा कुछ अन्य विचारकों ने परिवारों के पितृसत्तात्मक स्वरूप तथा कार्ल मार्क्स ने परिवारों में पुरुषों के आर्थिक वर्चस्व को नारियों की अपेक्षाकृत अधिकारहीनता एवं हेय स्थिति के सन्दर्भ में देखा एवं विश्लेषित किया। इस सन्दर्भ में यह एक अलग बात है कि उनके द्वारा किए गए अकादमिक एवं वैचारिक कार्यों और स्त्रियों की दशा में क्रमिक सुधार में कोई तारतम्य परिलक्षित नहीं होता है। उदाहरण के तौर पर कार्ल मार्क्स की यह एक प्रसिद्ध उद्घोषणा थी कि साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी तथा ऐसे में परिवारों में सम्पत्ति आधारित पुरुष वर्चस्व स्वतः ही समाप्त हो जाएगा। तब स्त्री-पुरुष क्रमशः भावनात्मक एवं समानतामूलक होते जाएँगे। व्यावहारिक जगत में ऐसा हुआ नहीं। जिन देशों में साम्यवादी क्रान्तियाँ सफल रहीं हैं उनके समाजों के बारे में किए गए अध्ययन इस बात के संकेत देते हैं कि मात्र साम्यवादी क्रान्ति एवं तज्जन्य साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण से नारियों की स्थिति प्रस्थिति में कोई वांछित परिवर्तन नहीं आ सका है। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि नारी समानता की दिशा में न्यूजीलैण्ड (1893), ब्रिटेन (1918) तथा अमेरिका (1920) जैसे अग्रिम पंक्ति के राष्ट्रों ने तब तक मताधिकार से वंचित रही महिलाओं को मताधिकार प्रदान कर पहल कर दी थी। इनके पश्चात्, हालाँकि दोनों विश्वयुद्धों की अवधि में स्त्री-अधिकारों एवं प्रगतिशीलता के सन्दर्भ में यथोचित प्रगति नहीं हो सकी, परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् नये सिरे से निर्मित हो रही राष्ट्रों की आन्तरिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की लहरों ने इस प्रक्रिया को पुनः प्रारम्भ किया और उसे गति प्रदान की।

विभिन्न रूपों और विकसित होते अर्थों के सन्दर्भ में नारीवादी आन्दोलन को समझने का प्रयास किया गया है। यूरोप और अमेरिका में ब्लैक (काले अफ्रीकी), अन्य अश्वेत महिलाएँ, नस्लवाद इत्यादि अनेक मुद्दों ने ध्यान अपनी ओर खींचा। प्रसिद्ध ब्लैक महिला एलिस वॉकर और एंजेला डेविस दुनिया की सबसे प्रसिद्ध ब्लैक नारीवादी रही हैं। नारीवादी सिद्धान्त महिलाओं और पुरुषों दोनों की सबसे प्रसिद्ध ब्लैक नारीवादी रही है। नारीवादी सिद्धान्त महिलाओं और पुरुषों दोनों के लिए बराबरी का माँग करते हैं। यद्यपि सभी नारीवादी लिंग समानता की बात करते हैं, लेकिन इसके लिए वे विभिन्न तरीके अपनाते हैं – इसमें उदारवादी नारीवादी, मार्क्सवादी नारीवादी, रेडिकल नारीवादी और उत्तर आधुनिक नारीवादी सिद्धान्त शामिल हैं। समकालीन नारीवाद में मतभेदों और विभाजनों के चलते नारीवाद के भीतर बहुत गहरे मतान्तर देखे जा सकते है। जिनके समक्ष नयी चुनौतियाँ और नये परिप्रेक्ष्य हैं।

प्रमुख नारीवाद सिद्धान्तों पर चर्चा करने की आवश्यकता है क्योंकि स्त्री-विमर्श को समग्रता में जानने के लिए इन समुदायों के वैचारिक दर्शन को जानना आवश्यक है।

1.1.12.1.1. उदारवादी नारीवाद (लिबरल फेमिनिज़्म)

उदारवादी नारीवादियों ने पुरुषों के समान महिलाओं के कानूनी और राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने का समर्थन किया है । उदार नारीवादी दर्शन का आधार व्यक्तिवाद के सिद्धान्त में निहित है । उदारवादी नारीवादी विचारधारा सर्वप्रथम अट्ठारहवीं सदी में उभरकर सामने आई । उदारवादी नारीवादी महिलाओं को लैंगिक असमानता और उत्पीड़न से स्वतन्त्र करना चाहता था । उदारवादी नारीवादियों के अनुसार, महिलाओं के व्यक्तित्व में भी पुरुषों के समान उत्साह, आकांक्षा, योग्यता, तर्कशक्ति, मानसिक क्षमता और निपुणता विद्यमान होती है और इसीलिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें भी समान अवसर दिया जाना चाहिए । उदारवादी नारीवादियों का ऐसा विश्वास है कि इन निर्बन्धनों सामाजिक-आर्थिक एवं कानूनी बाधाओं की समाप्ति सीधे तौर पर पितृसत्तात्मक विचारधारा को चुनौती देती है । उदारवादी नारीवादियों के प्रयास से कानूनी, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं महिलाओं के कल्याण से सम्बन्धित कई विधान बनाए गए हैं, जिसने निश्चित रूप से महिलाओं की प्रतिष्ठिता को बढ़ाया है । उदारवादी नारीवादियों ने महिलाओं को दमनकारी, पितृसत्तात्मक लैंगिक भूमिका से स्वतन्त्रता प्राप्त कराने की इच्छा व्यक्त की । उदारवादी नारीवाद मुख्य रूप से अपने स्वयं के कार्यों और विकल्पों के माध्यम से उनकी समानता दिखाने के लिए और बनाए रखने के लिए महिलाओं की क्षमता पर केन्द्रित है, जो नारीवादी सिद्धान्त का एक व्यक्तिपरक रूप है ।

उदारवादी विचारधारा ने महिलाओं के लिए मानवीय गरिमा और समानता को स्थापित करने का प्रयास किया है । साथ ही समाज में व्याप्त महिलाओं की अधीनता, उत्पीड़न, रीति-रिवाजों और जनतान्त्रिक मूल्यों के अन्तर्विरोधों को भी उजागर किया । उनके मुख्य उद्देश्यों में महिलाओं का मतदान का अधिकार, राजनैतिक समानता, नागरिकता का अधिकार, कानूनी सुधार, समान अवसर की समानता इत्यादि शामिल हैं । उन्होंने मुख्य रूप से सार्वजनिक जीवन में शामिल होने के महिलाओं के अधिकारों की वकालत की । बाद में, उदारवादी नारीवादियों ने अपनी विचारधारा को विस्तृत रूप में महिलाओं में मतदान अधिकार, शादीशुदा महिलाओं की सम्पत्ति की रक्षा के द्वारा विवाहित महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन, बच्चे गोद लेने में महिलाओं के कानूनी अधिकार, तलाक कानूनों को सरल बनाना, शादीशुदा महिलाओं की आर्थिक स्वायत्तता, उच्च शिक्षा, श्रम और व्यवसाय इत्यादि में महिलाओं की स्थिति का विस्तार करने का समर्थन किया ।

उदारवादी स्त्रीवादी सम्प्रदाय के उन्नायकों में जे.एस. मिल (1869), सीमोन द बउवार (1949) तथा बैटी फ्राइडन (1963) का स्थान महत्त्वपूर्ण है । मिल की मान्यता है कि "जैविक विषमताओं के बावजूद स्त्री व पुरुष में नैतिक एवं बौद्धिक क्षमताएँ बराबर हैं । अतः आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति हेतु पुरुष में स्त्रियोचित गुणों तथा स्त्रियों में पुरुषोचित गुणों का विकास किया जाना चाहिए । यदि ऐसा न भी हो पाए तो दोनों को विकास के समान अवसर अवश्य उपलब्ध कराये जाने चाहिए ।" इसी मान्यता के कारण उन्होंने स्त्रियों के लिए वोट का अधिकार, शिक्षा एवं नौकरी के अधिकार का समर्थन किया । मिल की मान्यता को आगे बढ़ाते हुए जेम्स स्टर्बा 'पब्लिक मैन-प्राइवेट वुमैन' की परम्परागत अवधारणा का खण्डन करते हैं । वे दफ्तरों-कारखानों में काम के कुछ घण्टों को इतना लचीला बनाने की माँग करते हैं कि शिशुपालन गृहों में बच्चे की देखभाल के लिए माँ और पिता दोनों बारी-बारी

बच्चे को संभाल सकें। सीमोन द बउवार "स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है" कह कर सभी बुद्धिजीवियों, चिन्तकों एवं मननशील व्यक्तियों से आत्मसाक्षात्कार के जरिए व्यवस्था के षड्यन्त्रों को पहचानने और दूर करने का अनुरोध करती हैं। उदारवादी सम्प्रदाय स्त्रियों के मूलभूत मानवीय अधिकारों के लिए लड़ाई करता है। इनके अनुसार शिक्षा, सम्पत्ति, उत्तराधिकार एवं वोट के अधिकार के बिना स्त्री परिवार एवं समाज में अपनी स्थिति मजबूत नहीं कर सकती। अतः इन अधिकारों को पाने के बाद ही उसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ जंग छेड़नी होगी।

भारत में नवजागरण आन्दोलन स्त्री-मुक्ति के सन्दर्भ में उदारवादी सम्प्रदाय से प्रभावित रहा है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं – मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट, एलिजाबेथ केडी स्टैंटन, जॉन स्टुअर्ट मिल, हेरिएट टेलर, ग्लोरिया सटेनिम और रेबेका वॉकर। मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट तथा बेट्टी फ्राइटमैन ने अपनी पुस्तकों द्वारा समाज में अधिकारों एवं अवसरों के असमान वितरण के सन्दर्भ में नारियों की अधीनता को समझने की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। 'समान अधिकार नारीवाद' आवश्यक रूप से सुधारवादी है। यह निजी अथवा घरेलू जीवन की बजाय सार्वजनिक क्षेत्र के जन-जीवन में सुधार से अधिक सम्बद्ध है, जिसके लिए महिलाओं को कानून एवं राजनैतिक स्तर पर बढ़ावा देने एवं उनके शैक्षणिक एवं भविष्यगत आयामों में सुधार की आवश्यकता है।

1781 में जेरेमी बेंथम ने अपनी पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टु द प्रिंसिपल ऑफ मोरल्स एंड लेजिस्लेशन' में स्त्रियों को शक्तिहीन एवं कमजोर मानकर उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करने की कई राष्ट्रों की मंशा की आलोचना की। बेंथम ने लिंगों में समानता की वकालत की। डैबोराह एल. मैडसन के अनुसार, "उदारवादी नारीवादी पितृसत्ता में सुधार के पक्षधर हैं। वे लिंग भेदभाव, असमानता को समाप्त करने के लिए कानूनी संशोधन की वकालत करते हैं।" बारबरा एपिस्टन के अनुसार, "यह सही है कि अपनी संगठनात्मक कोशिशों के कारण इसने कई सफलताएँ भी प्राप्त की हैं।"

1.1.12.1.2. उग्रवादी नारीवाद (रेडिकल फेमिनिज़्म)

1968 में अस्तित्व में आए उग्र उन्मूलवादी सम्प्रदाय का मानना है कि छिटपुट अधिकारों एवं सुधारों द्वारा स्त्री की स्थिति में वांछित परिवर्तन नहीं आ सकता। इसके लिए योजनाबद्ध ढंग से बड़े पैमाने पर समाज के बुनियादी ढाँचे में फेरबदल होना चाहिए। विशेषकर परिवार, धर्म एवं शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में। यह सम्प्रदाय स्त्री की पराधीनता का कारण उसकी प्रजनन शक्ति को मानता है। अतः शुलमिथ फायरस्टोन अपनी पुस्तक 'द डायलेक्टिक ऑव सेक्स' में गर्भधारण को हैवानियत की संज्ञा देकर विवाह एवं मातृत्व का विरोध करती हैं। पेरिस में कुछ स्त्री संगठनों द्वारा अन्तर्वस्त्रों का दहन इसी अतिवादी प्रतिक्रिया का परिणाम है। बाद में उग्र उन्मूलनवादी स्त्रीवाद अपने आवेश को स्थिर कर संयमित होता गया। तब उन्होंने जो निष्पतियाँ दीं, वे निश्चय ही स्त्री के विकास में सहायक सिद्ध हुईं। उन्होंने कहा कि प्रजनन क्षमता स्त्री के विकास में बाधक नहीं है, वरन् स्त्री की प्रजनन क्षमता पर पुरुष का नियन्त्रण उसके विकास में बाधक है। अतः स्त्रियों को स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए कि वे गर्भपात सम्बन्धी सारे निर्णय स्वयं करें। दूसरे, उन्होंने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि स्त्री को देह मानने के संस्कार के

कारण ही समाज में बलात्कार, यौन शोषण, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा, डायन दहन जैसी अमानुषिकताएँ व्याप्त हैं। अतः विवाह की अनिवार्यता एवं देह के बोध से ऊपर उठ कर उन्होंने कौमार्य और लैस्बिनिज़्म का औचित्य प्रमाणित किया।

रेडिकल नारीवाद का उद्देश्य लिंगों के बीच व्याप्त सभी विभेदों को प्रकाश में लाना है, जो हमारे इतिहास से हमारी निजी जिन्दगी, संस्कारों, परम्पराओं, व्यक्तिगत सम्बन्धों, मानसिकता एवं रोजगार के सार्वजनिक क्षेत्रों तक फैला है। उग्र परिवर्तनकारी नारीवाद पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर प्रभुत्व की प्रणाली का विरोध करता है। वह पुरुषवादी अधीन सांस्कृतिक मूल्यों का विरोध करता है और उनको चुनौती देता है। वह परम्पराओं के नये संस्कारों एवं मूल्यों का सृजन करना चाहताहै। वह पुरुषों की अधीनता एवं शोषणकारी सभ्यता का अनुसरण नहीं करना चाहता। उग्रपरिवर्तनकारी नारीवादी महिलाएँ अपने शरीर पर अपना नियन्त्रण एवं पुरुषों से स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहती हैं। वे अपने घरेलू, निजी, व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक मामलों में पुरुषों से अलग स्वतन्त्र अस्तित्व की माँग उठाती हैं, जिसमें वह यौनिकता, मातृत्व और यौन गुलामी से मुक्ति प्राप्त करना चाहती हैं। इसी सन्दर्भ में वह समलैंगिकता का समर्थन भी करती हैं। जिसे अपनाकर वह पुरुष वर्चस्व के विचारधारात्मक, राजनैतिक व्यक्तिगत और आर्थिक आधार को चुनौती दे सकें।

उग्र नारीवाद पुरुष प्रधानता को उसकी आक्रामक प्रवृत्ति एवं हिंसा सहित महिलाओं के विरुद्ध मानता है। उग्र नारीवाद, पुरुषों को महिलाओं के शोषक के रूप में देखता है। यह नारीवादी दृष्टिकोण 'चेतना की जागृति' के रूप में प्रसिद्ध है। उग्र परिवर्तनवादी नारीवादी सिद्धान्त निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में आधिपत्य का अन्वेषण करने का प्रयास करता है और इस बात का भी विश्लेषण करता है कि इसे किस प्रकार व्यवस्थित करके पितृसत्ता को सफलतापूर्वक चुनौती दी जा सके। प्रमुख उग्र नारीवादी लेखकों में एक केट मिलेट भी शामिल हैं जिनका मानना है कि स्त्री शोषण की जड़ें पितृसत्तात्मक लिंग व्यवस्था में विद्यमान हैं। 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' (1970) नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा कि लिंग मुख्यतया राजनैतिक है क्योंकि पुरुष-स्त्री सम्बन्ध सभी शक्ति सम्बन्धों के लिए प्रतिमान है, क्योंकि निजी एवं सार्वजनिक जीवन में पुरुष का नियन्त्रण ही पितृसत्ता का निर्माण करता है। केट मिलेट (1969) का मानना है कि "पितृसत्ता एक ऐसी संस्था है जिसमें आधी आबादी जो स्त्रियों की है, वह शेष पुरुषों की आधी जनसंख्या द्वारा नियन्त्रित होती है।"

अतः उग्र नारीवादी एक ऐसी लिंगपूर्ण क्रान्ति का आग्रह करते हैं जिसके द्वारा वैयक्तिक, घरेलू एवं पारिवारिक जीवन की संरचना का पुनर्निर्माण हो सके। उग्र नारीवाद का प्रमुख नारा पुरुष को स्वाभाविक शत्रु मानकर चलता है तथा यह विचारधारा पुरुष एवं स्त्री के बीच किसी प्रकार के मेल-मिलाप को स्वीकार नहीं करती। इस तरह के विचारों की वजह से कहीं-कहीं नारी मुक्ति आन्दोलन राजनैतिक स्त्रीसमलिंग कामुकता में बदल गया। उग्रवादी कट्टरपंथी नारीवादी विचारधारा पर कई तरह के आक्षेप लगाए गए हैं। उग्रनारीवाद द्वारा पुरुषों को शत्रु के रूप में देखने के कारण यह विचारधारा लस्बियनिज़्म की ओर रुख़ करती चली गई, जिसके कारण समलैंगिक सम्बन्ध एक गम्भीर लैंगिक और राजनैतिक मुद्दा बन गया। कुछ आलोचकों का मानना है कि उग्र नारीवाद विश्लेषणात्मक होने के बजाय अत्यधिक वर्णनात्मक और विवरणात्मक बन कर रह गया।

सार्वभौमिकता के आधार पर यह मात्र मिथ्या बन कर ही रह गया क्योंकि यह समाज के कुछ निश्चित महिला वर्गों तक ही सीमित रहा। और श्रमिक वर्ग, अश्वेत महिलाएँ और तीसरी दुनिया की महिलाओं की समस्याओं को दूर नहीं कर पाया।

1.1.12.1.3. मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद

इसका सारा झगड़ा फ्रॉयड से है और उनके इस मूल सिद्धान्त से कि शिश्नबोध या पुल्लिंग होने का बोध होते ही पुरुषों में प्राक्एडीपीय अवस्था में आत्यन्तिक मातृमोह से सायास मुक्त होने की कठिन प्रक्रिया शुरू हो जाती है, इस कारण जो उन्हें कठोर निर्णय लेते हुए सायास अपने ऊपर सामाजिकता, अनुशासनप्रियता आत्मनिर्भरता, बहिर्मुखता तथा निर्णयात्मकता से भर देती है। स्त्रियों की इस प्रक्रिया से गुजरना ही नहीं पड़ता, इसलिए वे अन्तर्मुखी, कम सामाजिक, कोमल और कमजोर रह जाती हैं।

नैन्सी चोदोराव नाम की प्रसिद्ध महिला-मनोविज्ञानविद् ने लाखों स्त्रियों की मातृमूलक सम्वेदनाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् इस पूरी प्रक्रिया का विश्लेषण कुछ इस प्रकार किया – "स्त्रियों को माँ से अलग अपना व्यक्तित्व प्रोजेक्ट करने की ज़रूरत नहीं होती (शारीरिक तादात्म्य-बोध के कारण) तो इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर अच्छा ही पड़ता है – जिनसे भी उनका जुड़ाव होता है, उनसे यह जुड़ाव पूरा होता है, किसी तरह के भावानात्मक स्खलन का शिकार वे जल्दी नहीं होतीं। पर हाँ, समर्पित और विलीन होने को उनकी यह क्षमता कई बार उनकी स्वतन्त्र अस्मिता के विकास में बाधक हो जाती है। प्राक्एडिपीय सम्वेदनाओं का कुल प्रभाव ऐसा होता है कि स्त्री और पुरुष में कुछ तात्विक स्वभावगत अन्तर भी हो ही जाते हैं।"

और तो सब ठीक है, पर नस्ल और वर्ग भी मातृमूलक संवदेनाओं को प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं। इसका उल्लेख चोदोरोव स्पेलमैन के आलेख 'Gender in the Context of Race and Class' में मिलता है जो एक-एक उदाहरण देकर बताती हैं कि कैसे श्वेत और अश्वेत, सम्पन्न और विपन्न माताओं की अन्तश्चेतना भी बच्चों की अन्तश्चेतना पर अलग-अलग ढंग से प्रभाव डालती है। अश्वेत / विपन्न माताएँ अपने बच्चों को ज्यादातर जो कहानियाँ सुनाती हैं वे दुःखान्त होती हैं – आने वाले दिनों में जो ज़िल्लत और पराभव अन्यायपूर्ण व्यवस्था के चलते उनके हिस्से आना है, उसके लिए उन्हें तैयार करने वाली कहानियाँ। इसके विपरीत समृद्ध देशों की खुशहाल, निश्चित माताएँ अपने बच्चों का मनोबल मजबूत करने वाली सुखान्त परी-कथाएँ सुनाती हैं। मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय के विकास में फ्रांसीसी स्त्रीवादियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। देरिदा के संरचनावाद और लाकां के मनोविश्लेषणवाद को आधार बना कर वे प्रतिपादित करते हैं कि स्त्रियों के यौन शोषण का सबसे बड़ा कारक स्वयं भाषा है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के संस्कारों, निर्देशों, सिद्धान्तों और लक्ष्यों को रोजमर्रा की जिन्दगी में गूँथती चलती है। अतः इरिगरे, सिक्सू, जूलिया क्रिस्तोवा जैसी नारीवादी चिन्तक स्त्रियों द्वारा स्वयं अपनी भाषा आविष्कृत किए जाने पर बल देती हैं।

1.1.12.1.4. समाजवादी नारीवाद (सोशलिस्ट फैमिनिज़्म)

समाजवादी नारीवाद सेक्स और लिंगभेद के बीच आवश्यक और तार्किक सम्बन्ध से इनकार करता है। समाजवादी नारीवाद सामाजिक क्रान्ति द्वारा समाज की बुनियादी संरचनात्मक व्यवस्था को बदलने की बात करते हैं जिसमें कोई भी वर्ग, लिंग, कामुकता की होड़ न रहे और महिलाओं को पुरुषों की अधीनता और वर्ग संघर्ष से मुक्ति प्रदान की जा सके। समाजवादी नारीवाद के समर्थक वर्ग और लिंग दोनों प्रथाओं को समाप्त करना चाहते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य वर्तमान सामाजिक संरचना से हर प्रकार के शोषण को समाप्त करना है तथा एक नये समाज का निर्माण करना है, जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों सामाजिक रूप से अप्रांसगिक हों, जिसमें समर्थक लिंग की भूमिका नगण्य हो। समाजवादी नारीवादी समर्थक पूँजीवाद एवं पितृसत्ता की अवधारणाओं को चुनौती देते हैं। समाजवादी नारीवादी समर्थक वर्ग और वर्ग की असमानताओं को मिटाकर हर क्षेत्र में, महिलाओं और पुरुषों को समान रूप में कार्य करने के अधिकार देने की वकालत करते हैं। अतः समाजवादी नारीवाद सशक्तीकरण द्वारा पूँजीवादी पितृसत्तात्मक की प्रबल शक्ति व्यवस्था को समाप्त करना चाहते हैं।

समाजवादी नारीवाद का मूल विषय यह है कि पितृसत्ता को केवल सामाजिक एवं आर्थिक कारकों के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। इस कथन के शास्त्रीय विचार का विकास फ्रेडरिक एंगेल्स के ग्रन्थ 'ओरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रॉपटी एंड द स्टेट' (1884) में हुआ। एंगेल्स के अनुसार, "वैवाहिक जीवन में पुरुष एवं स्त्री के बीच विवाद के विकास के साथ-साथ पुरुष द्वारा महिला के प्रथम वर्ग शोषण की भी शुरुआत हुई।" एंगेल्स का मानना था कि वर्ग शोषण, यौन उत्पीड़न से भी अधिक गम्भीर प्रक्रिया है।

महिलाएँ न केवल पुरुषों द्वारा शोषित की जाती हैं, बल्कि वे पूँजीवाद की निजी सम्पत्ति की संस्था द्वारा भी शोषित होती हैं। उनका यह भी सुझाव था कि नारी जाति का उद्धार सामाजिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप ही हो सकता है, जिसमें पूँजीवाद को जड़ से उखाड़ फेंका जाएगा और उसका स्थान समाजवाद ले लेगा। इसलिए महिलाओं की मुक्ति के उद्देश्य से वर्ग संघर्ष को पहचानना चाहिए। अतः नारीवादियों को अपनी शक्ति का प्रयोग एक पृथक् और विलग महिला आन्दोलन का समर्थन करने के बजाय श्रमिक आन्दोलन के लिए करना चाहिए।

समाजवादी नारीवाद एक महिला के जीवन के लिए सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों दोनों पर केन्द्रित है। समाजवादी नारीवादी महिलाएँ समाज में पुरुषों पर अपनी वित्तीय निर्भरता के कारण मुक्त होने में असमर्थ हैं। महिलाओं की आर्थिक असमान और असन्तुलित स्थिति की वजह से पूँजीवाद के पुरुष शासक उनका शोषण करते हैं।

समाजवादी नारीवादी मानते हैं कि स्वतन्त्र प्रजनन एवं यौनकर्म के लिए शोषण को समाप्त करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा, जब पूँजीवादी व्यवस्था तथा पितृसत्ता का अन्त हो। नारी को पूर्ण स्वतन्त्रता समाज का आधार बदलने पर ही प्राप्त हो सकती है। समाज को बदले बिना यह सम्भव नहीं है। महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन के लिए समाजवादी नारीवादी नारी संस्कृति के विकास पर जोर देते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के

लिए समाजवादी नारीवादी विचारकों ने नारीवाद की रणनीति की व्याख्या शिकागो वीमेंस लिबरेशन यूनियन के चैप्टर में 1972 में की थी। इसका उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा महिलाओं से सम्पर्क कर उन्हें संगठित करना, आन्दोलन प्रारम्भ करना और सामूहिक कार्रवाई का विकास करना था।

कुछ प्रमुख समाजवादी नारीवादी सिद्धान्तकारों के नाम निम्नलिखित हैं – जोहन्ना ब्रेनर, बारबरा, क्लाटा फ्रेजर, शेर्लोट पर्किन्स गिल्मन, एम्मा गोल्डमैन, डोना, सेल्मा जेम्स, शीला राबांथम, सिल्विया वालवी, नेली वोंग इत्यादि। समाजवादी नारीवादी महिलाएँ आर्थिक और सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए पुरुषों के साथ ही काम करना चाहती थीं। समाजवादी नारीवाद ने महिलाओं की समानता को प्राप्त करने के लिए एक मिश्रित सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण का इस्तेमाल किया।

1.1.12.1.5. मार्क्सवादी नारीवाद (मार्क्सिस्ट फेमिनिज़्म)

मार्क्सवादी नारीवाद का उद्देश्य महिलाओं की अधीनता, उत्पादन के तरीके और महिलाओं की स्थिति के बीच के रिश्ते की सामग्री के आधार का वर्णन करना है। मार्क्सवादी नारीवाद महिलाओं को स्वतन्त्र कराने के एक रास्ते के रूप में पूँजीवाद की समाप्ति पर ध्यान केन्द्रित करता है। मार्क्सवादी के अनुसार, निजी सम्पत्ति, आर्थिक असमानता, निर्भरता और राजनैतिक भ्रम ही पुरुषों और महिलाओं के बीच अस्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देते हैं। मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार, लिंग उत्पीड़न के विश्लेषण में ही मार्क्सवादी नारीवादी की नींव रखी गई। मार्क्सवादी नारीवादी विचार निजी सम्पत्ति, लिंग असमानता और पूँजीवाद के दमन की आलोचना करता है। पूँजीवादी समाज में, विवाह के पश्चात् महिलाओं की अधीनता, तनाव और लिंगों के बीच आर्थिक और सामाजिक असमानता में वृद्धि होती है। महिलाओं का उत्पीड़न पुरुषों की प्रकृति में निहित है। पुरुषों द्वारा महिलाओं का उत्पीड़न हमेशा ही अस्तित्व में रहता है।

मार्क्सवादी नारीवादी विचारधारा पुरुषों और महिलाओं के बीच एक संघर्ष देखती है जिसे केवल पूँजीवाद की समाप्ति द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। आलोचकों ने कहा है कि मार्क्सवादी नारीवाद ने इसके केवल एक ही पक्ष आर्थिक पक्ष की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है, और उन्होंने दूसरे पक्षों को नजरअंदाज किया है। महिला, स्त्री, नारी, यह शब्द अपने आप में असमानता को सम्बोधित करते हैं। यदि हम इतिहास का सर्वेक्षण करें तो देखेंगे कि महिलाओं की स्थिति परिवार के भीतर एक श्रमिक जैसी है, महिलाएँ अधीनता के रूप में, एक शोषित के रूप में, शिशु-उत्पादक श्रमिक के रूप में, बुजुर्गों की सेवार्थी के रूप में और अन्त में पति के साथ लिंग असमानता के स्तर पर अवैतनिक रूप से शोषित होती रहती हैं।

मार्क्सवादी नारीवादी विचारधारा के अनुसार, महिलाओं की अधीनता और वर्गों का विभाजन दोनों ही निजी सम्पत्ति के विकास के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित माने जाते हैं। पुरुषों द्वारा निजी सम्पत्ति के स्वामित्व के आधार पर पूँजीवाद की स्थापना के साथ महिलाओं को सम्पत्ति और सामाजिक स्थिति में निम्न दर्जा

दिया गया। मार्क्सवाद के अनुसार वर्ग-विभाजन, यौन उत्पीड़न और शोषण से महिलाओं की दशा और अधिक शोचनीय बन गई है।

मार्क्सवादी नारीवादी विचारधारा पूँजीवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी आलोचक है क्योंकि उसका मानना है कि पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों को शोषण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। समाजवादी नारीवादी महिलाओं ने पूँजीवादी पितृसत्ता को समझने और बदलने का प्रयास किया है। मार्क्सवादी नारीवादी विचारकों ने शोषण के अतिरिक्त अधीनता का मुद्दा भी उठाया है। इस मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए नारीवादियों ने शादी के बाद महिलाओं की स्थिति और श्रमिकों की स्थिति की तुलना की है जिसमें दोनों ही में शोषण और अधीनता को उजागर किया गया है। ऐसी स्थिति के कारण महिलाएँ अपने घरेलू कामों और प्रजनन कार्यों से अपने अस्तित्व को भूल जाती हैं तो दूसरी ओर, श्रमिक अपने उत्पादन दायरे में संलग्न रहने के कारण, अपनी श्रम शक्ति से अपने सहकर्मियों से अलगाव की स्थिति में आ जाते हैं।

1.1.12.1.6. उत्तर आधुनिक नारीवाद (पोस्ट मॉर्डर्न फेमिनिज़्म)

उत्तर आधुनिक नारीवाद फ्रैंच नारीवाद के नाम से भी जाना जाता है। “उत्तर आधुनिक नारीवाद के नारीवाद से सम्बन्ध आशंकाजनक हैं।” (– रौजमैरी, 1989-217) उत्तर आधुनिक नारीवादियों को लगता है कि नारीवाद में एक व्याख्याता वर्ग है जो चीजों की पुरुष सोच के हिसाब से व्याख्या करता है। उत्तर आधुनिकता नारीवाद विद्वान, संसार में जो हो रहा है उसे प्राकृतिक नहीं मानते वे संसार की व्याख्याकरने वाले इस उपागम को कुछ प्राकृतिक प्रतीकात्मक शर्तों पर छोड़ना चाहते है। इतिहास की कहानियाँ पुरुषों की गाथा पर आधारित है। जिसे उत्तर आधुनिक नारीवादी प्राकृतिक नहीं मानते। प्राचीन लेखकों से लेकर आधुनिककाल तक के लेखकों ने स्त्री पुरुष के अन्तर को दबाने के लिए प्राकृतिक व्यवस्था को बनाये रखने की कोशिश की है जिसका निर्माण पुरुष ने किया है। यही कारण है कि उपन्यासकार हैलिनी सिजू (Helene cixous) कहती है कि पुरुषों के लेख पुरुष सोच पर केन्द्रित है। जो हमेशा यह दर्शाने की कोशिश करते है कि पुरुष प्रमुख है और औरतों का अस्तित्व पुरुषों की शर्तों पर है जिसमें पुरुष प्रधान है और महिलाएँ दूसरे दर्जे की हैं। सिजू कहती हैं कि औरतों को अब जरूर इस दुनिया से बाहर आ जाना चाहिए। इसके लिए सिजू ने समाज एवं संस्कृति में परिवर्तन के लिए कुछ मानक सुझाये हैं जो स्त्री-मुक्ति के स्रोत बन सकते हैं। इस नारीवादी सिद्धान्त का यह दावा है कि ज्ञान के प्रभावशाली वाद-विवाद से हमेशा ही महिलाओं को बाहर रखा गया और उनकी आवाज को असंगत कहा गया। इतिहास की व्याख्या सही मायने में तब शुरू होगी जब स्त्रियों के विचारों समझ और दृष्टिकोण को मिलाया जाय। ऐसी ही सोच लुईस इरिगिरे के लेखों से प्रकट होती है। वे कहती हैं कि पुरुषवादी वाद-विवाद में औरतों को कभी भी समझा नहीं जा सका। वे पुरुषवादी सोच के अलावा कुछ भी नहीं समझते हैं। महिला लैंगिकता को पुरुष के समान नहीं माना गया। इरिगिरे का मानना है कि ऑडिपस काम्पलेक्स (Audipus Complex) को नष्ट होना जरूरी है। पितृसत्ता में पुरुष का पौरुषपूर्ण अर्थ प्रबन्धन पूरी तरह से महिला लैंगिकता को नकारता है जबकि महिला की लैंगिकता ज्यादा सकारात्मक उदार रही है। वे महिला की लैंगिकता के विविधता और उसके अनुभव के तत्त्व का बखान करती हैं। सिजू और इरिगिरे से अलग जूलिया क्रिस्टोवा को महिला और स्त्रीलिंग अवधारणा के मौलिक दर्शन से

आपत्ति है। वे कहती हैं कि इसे जरूर बदला जाना चाहिए। वे उन वर्गों का वर्णन करती हैं जिनकी आवाजें प्रभावशाली वाद-विवाद का हिस्सा नहीं हैं। जैसे – होमोसैक्सुअल, यहूदी आदि। जूलिया क्रिस्टोवा, लुईस इरिगिरे और सिजू की विचारधारा में एक सामान्य बात है। ये तीनों मानती हैं कि भाषा और लैंगिकता के बीच के जटिल सम्बन्ध को खोजने की ज़रूरत है ताकि ऐसा तरीका इजात किया जाय जो पुरुष लिंगधारी सोच को प्राथमिकता न दे। बटलर अपनी कृति जेंडर ट्रबल्स (Gender Trobles) (1990) में सेक्स (Sex) जेंडर (Gender) और लैंगिकता (Sexuality) की समबद्धता पर प्रश्न उठाती हैं। वे जेंडर को नाटकीय (Performative) बताती हैं। डोना हार्वे का मानना है कि सारी की सारी महिलाओं को एक समान वर्ग में नहीं रखा जा सकता। वे कहती हैं कि वैज्ञानिक संस्कृति में दृढ़ पक्षपात है और साइबर नारीवाद का प्रस्ताव सामने रखती हैं। साइबर नारीवाद महिला को सशक्त करेगा और महिलाओं को कड़ी मेहनत की प्राकृतिकता और मौलिकता से छुटकारा दिलाएगा। सिजू (Cixous) 'द लाफ ऑफ मैडूसा' The laugh of medusa (1975) में लैंगिकता (Sexuality) और भाषा (Language) के जटिल सम्बन्ध को बताती हैं। इरिगिरे 'द सेक्स विच इन नोट वन' (The sex which is not one 1985) में इस बात का विस्तार से वर्णन करती हैं कि किस प्रकार महिला को वस्तु मानकर बर्ताव किया जाता है। उनकी मान्यता है कि सम्पूर्ण समाज स्त्री-पुरुष के आदान-प्रदान पर टिका है।

हालाँकि उत्तर आधुनिक नारीवादियों में कुछ आलोचकों का मानना है कि वास्तविक क्रान्तिकारी संघर्ष से पीछे हट गए हैं और सम्भ्रान्त बुद्धिजीवी वाद-विवाद में फँसे हैं। जहाँ नारीवादी सम्पूर्ण विश्व में विरोध बहिष्कार, यात्राओं और प्रचार के द्वारा प्रतिरोध व्यक्त कर रहे हैं, उत्तर आधुनिक नारीवादी, सिर्फ कल्पनाशील बुद्धिजीवी वाद-विवाद में फँसे हैं जो बाकी लोगों के लिए आसानी से व्याख्या करने के योग्य हैं लेकिन परिणाम देने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार बहुत सारे नारीवादियों के लिए उनका कोई अर्थ नहीं हैं।

1.1.12.1.7. पारिस्थितिक नारीवाद (इकोफेमिनिज़्म)

इकोफेमिनिज़्म पर्यावरण संकट, पृथ्वी और महिलाओं के अवमूल्यन और आध्यात्मिक चिन्ताओं के बीच एक समानान्तर सम्बन्ध देखता है। इकोफेमिनिज़्म प्रकृति के वर्चस्व और महिलाओं के शोषण के बीच एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध देखता है जो कि नारीवाद की दूसरी लहर और पर्यावरण आन्दोलन के साथ 1970 के मध्य में उभरा। इकोफेमिनिज़्म शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बार फ्रेंकोइस डी यूबोन द्वारा किया गया था। यह शब्द 1970 से लेकर 1980 के दशक तक लोकप्रिय बना रहा। इकोफेमिनिज़्म एक शैक्षणिक आन्दोलन और दर्शन है जो कि नारीवादी जागृति आन्दोलनों और पारिस्थितिकीय चिन्ता की संयुक्त सोच से उत्पन्न हुआ है। महिलाओं और प्रकृति दोनों का एक जैसा इतिहास है जो कि पितृसत्तात्मक समाज द्वारा दोनों के उत्पीड़न से जुड़ा है। इकोफेमिनिज़्म पिछले तीन दशकों में राजनैतिक सक्रियता के बाहर विकसित होकर, अपेक्षाकृत नये रूप में परिवर्तित हो रहा है। जिसमें शान्ति मार्च, परमाणु विरोधी प्रदर्शन, पर्यावरण संरक्षण और पशु मुक्तिआन्दोलन, भूख इत्यादि जैसे कई नये मुद्दे भी शामिल हो गए हैं। पारिस्थितिकीय नारीवादी सिद्धान्तकारों में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं –

फ्रेंकोइस डी यूबोन – फ्रेंकोइस डी यूबोन जिनको पृथ्वी को विनाश और विघटन से बचाने के क्रम में एक पारिस्थितिकीय क्रान्ति के नेतृत्व में महिलाओं की भूमिका के आह्वान का श्रेय जाता है। फ्रेकोइस डी यूबोन का जन्म पेरिस में 12 मार्च 1920 को हुआ था। वे एक फ्रेंच नारीवादी महिला थीं। जिन्होंने पर्यावरण के नारीवादी पक्ष को उभारा था। उन्होंने पहली बार प्राकृतिक दुनिया के साथ लिंग सम्बन्धों और मानवीय सम्बन्धों में क्रान्ति की विचारधारा को उजागर किया। वे पर्यावरण के लिए अत्यन्त सम्वेदनशील व्यक्तित्व की महिला थीं।

सैली मैक फैग – सैली मैक फैग एक अमेरिकी पर्यावरणीय नारवादी ईसाई धर्मशास्त्री हैं। उनके अनुसार, भगवान् के शरीर के रूप में पृथ्वी की देखभाल की जानी चाहिए। उन्होंने बड़े पैमाने पर लेखन, पर्यावरण के मुद्दों को विशेष रूप से इस दृष्टिकोण में लागू किया। 1933 में जन्मी सैली ने 1966 में अपनी डॉक्टरेट थीसिस का एक संशोधित संस्करण साहित्य और ईसाई जीवन के रूप में प्रकाशित किया। रेडफोर्ड ने 36 पुस्तकें और 600 से भी अधिक लेख लिखे।

मारिया मिएस – मारिया मिएस एक जर्मन सामाजिक आलोचक के रूप में यूरोप और भारत भर में नारीवादी कार्यों में शामिल रहीं। वे विशेष रूप से एक स्थानीय और वैश्विक स्तर पर पितृसत्ता, गरीबी और पर्यावरण के विभिन्न मुद्दों पर काम कर रही हैं। 1979 में उन्होंने हेग, नीदरलैंड में सामाजिक अध्ययन संस्थान में महिला एवं विकास कार्यक्रमों की स्थापना की। 1960 के दशक के बाद से मारिया मिएस महिला आन्दोलन और महिला अध्ययन में सक्रिय रहीं। उन्होंने नारीवादी, पारिस्थितिकीय और तीसरी दुनिया के मद्दों पर कई पुस्तकें और कई लेख प्रकाशित किए। उन्होंने समकालीन मुख्य चिन्ताओं में से एक कार्यप्रणाली में और अर्थशास्त्र में एक वैकल्पिक दृष्टिकोण का विकास किया। 1993 में अध्यापन से सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने महिलाओं और अन्य सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभाना शुरू कर दिया।

वन्दना शिवा – भारत में वन्दना शिवा पर्यावरणवाद के विकास में एक प्रभावशाली नेता रही हैं। वे विश्वभर में एक पर्यावरण विद्धान और कार्यकर्त्ता के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने भारत में महिलाओं के विकास कार्यों में उल्लेखनीय कार्य किया है। वन्दना शिवा स्थानीय, जैविक कृषि के लिए एक सक्रिय आवाज हैं। भारतीय किसानों को भारत में एक जैविक खाद्य बाजार को पुनजीर्वित और रसायनों से उनकी फसलों को मुक्त रखने के लिए स्वतन्त्रता जोन बनाया, जो कि नवदन्य आन्दोलन के नाम प्रसिद्ध है। नारीवादियों ने पुरुषों से अलग महिलाओं के नजरिये और मूल्यों को स्वीकार किया है। उनका मानना है कि महिलाएँ पुरुषों से ज्यादा रचनात्मक, सम्वेदनशील और सहनशील होती है। वन्दना शिवा की पुस्तकें 'कोलोनियलिज़्म एंड द इवोल्यूशन ऑफ मैस्क्यूलिनिस्ट फॉरेस्ट्री' में उन्होंने पारिस्थितिक विनाश और पूँजीवादी विकास के लिए पितृसत्तात्मक परियोजना को जिम्मेवार एवं दोषी ठहराया है। वन्दना शिवा के अनुसार, "महिलाओं में पृथ्वी के समान ही उत्पन्न करने की सृजनात्मक शक्ति होती है। वे अपनी कल्याणकारी शक्तियों का उपयोग करके विभिन्न पर्यावरणीय पोषणकारी संसाधनों, नीतियों और प्राकृतिक तरीकों का ज्ञान सहज ही प्राप्त कर लेती हैं। पृथ्वी के साथ उनका यह अन्तस्सम्बन्ध बहुत ही गहरा होता है।"

इकोफेमिनिज़्म में वन्दना शिवा और मारिया मिएस आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी पुरुषों के मूल्यों के आलोचक हैं। उनके अनुसार, मानव प्रजनन और नये-नये वनस्पति सृजन पुरुषों द्वारा नियन्त्रित किए जाते हैं जबकि नारीवादियों के अनुसार यह एक प्राकृतिक घटना है जिसमें प्रकृति और महिलाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

1.1.12.1.7.1. ग्रीन बेल्ट आन्दोलन

ग्रीन बेल्ट आन्दोलन महिलाओं और पर्यावरण के इतिहास में सबसे बड़े आन्दोलन के रूप में उभरा। नोबेल पुरस्कार विजेता वंगारी मथाई द्वारा जून 1977 में विश्व पर्यावरण दिवस के अवसर पर इस आन्दोलन की स्थापना की गई। शुरू में 1977 में समारोह में कुछ महिलाओं वे वंगारी मथाई के साथ सात पेड़ लगाए और 2005 तक उन पेड़ों की संख्या 30 लाख पेड़ों तक पहुँच गई। विभिन्न लोगों ने सार्वजनिक और निजी भूमि पर ग्रीन बेल्ट आन्दोलन को साकार रूप दिया। ग्रीन बेल्ट आन्दोलन समाज के आर्थिक विकास के साथ-साथ पर्यावरण को बेहतर करने के लिए अपने आप में सबसे अनूठा आन्दोलन सिद्ध हुआ।

वंगारी माथाई के नेतृत्व में इस आन्दोलन ने स्वदेशी पौधे लगाने पर विशेष बल देने के साथ ही केन्या में तेजी से हो रही पेड़ों की कमी और साथ ही पर्यावरण संरक्षण के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाने पर जोर दिया। पुरुष निरन्तर विकास करने के लिए प्रकृति को नुकसान पहुँचा रहे हैं, जिससे मानव और प्रकृति के रिश्ते में दरार बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप, पुरुषों की शोषण करने की आदत प्रकृति को प्राकृतिक अवमूल्यन की तरफ ले जा रही है। पितृसत्तात्मक समाज में निरन्तर पृथ्वी और महिलाओं के अवमूल्यन ने जोर पकड़ लिया है। पुरुषवादी मानसिकता समाज में प्रकृति और महिलाओं की नींव को निरन्तर खोखला करती जा रही है। प्रकृति के शोषण का सबसे गहरा असर महिलाओं के जीवन पर देखा जा सकता है।

वन्दना शिवा (1990) के अनुसार, "पश्चिमीकरण वास्तव में विकासशील देशों में महिलाओं के जीवन की गुणवत्ता को कम करता जा रहा है। पारम्परिक कृषि विधियाँ और नाजुक पारिस्थितिकी प्रणालियों और प्राकृतिक संसाधनों के विघटन के कारण, मनुष्य शहरों की तरफ विस्थापित हो रहे हैं। इसका सीधा असर महिलाओं के जीवन संघर्षों में देखा जा सकता है। भोजन और बच्चों की जरूरतों को पूरा करने के लिए महिलाओं को जिम्मेदारी के साथ अकेला छोड़ दिया जाता है।"

1.1.12.1.8. काला नारीवाद

काला नारीवाद का उदय लिंग असमानता, वर्ग उत्पीड़न और नस्लवाद के विरोध में हुआ। एलिस वॉकर और इस नारीवादी विचारधारा की प्रासंगिकता ने इस बात का खुलासा किया कि काली महिलाओं का उत्पीड़न और शोषण गोरी महिलाओं के मुकाबले अधिक गहन और तीव्र था। काला नारीवाद, औपनिवेशिक और तीसरी दुनिया के नारीवाद से भी अन्तस्सम्बन्धित है। इसमें महिलाओं को न केवल अपने लिए, अपनी संस्कृति में पुरुषों से मान्यता के लिए संघर्ष, बल्कि पश्चिमी नारीवादियों से भी जूझना पड़ा। इसी दिशा में 1970 के दशक के दौरान

विभिन्न काला नारीवादी संगठन उभरे। 1970 में इस उत्पीड़न के विरुद्ध काली महिलाओं का घोषणा पत्र भी प्रकाशित किया गया जिसमें नस्लवाद और पूँजीवाद दोनों का विरोध किया गया था। इस घोषणा पत्र पर एलेनोर होम्स नार्टन, मैक्सिन विलियम्स, फ्रांसिस एमबील और लिंडा ला ने हस्ताक्षरकिए।

कोमबाही रिवर कलेक्टिव (The Combahee River Collective) 1974 से 1980 तक बोस्टन में एक सक्रिय काला नारीवादी समलैंगिक संगठन था।

1982 में ग्लोरिया हल, पेट्रीसिया बेल स्कॉट और बारबरा स्मिथ द्वारा लिखी गई पुस्तकें 'आल द वीमेन आर हवाइट', 'आल द ब्लैक्स आर मेन', 'बट सम ऑफ अस आर ब्रेव', विभिन्न काले नारीवादी विचारकों में 'एलिस वॉकर' का 1982 में लिखित उपन्यास 'दी कलर पर्पल' (The Colour Purple) (जिसे 1983 में पुलित्जर पुरस्कार से सम्मानित किया गया) प्रमुख हैं। रेबेका वॉकर की कृति 'ब्लैक, वाइट एंड ज्यूइश : ऑटोबायोग्राफी ऑफ ए शिफ्टिंग सेल्फ' 2000 (Black, White and Jewish : Autobiography of a shifting self) इत्यादि पुस्तकें चर्चा में हैं।

पेट्रीसिया हिल कोलिंस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्लैक फेमिनिस्ट थॉट : नॉलेज, कॉनसियसनेस एंड द पॉलिटिक्स ऑफ एम्पावरमेंट' 1990 (Black feminist thought : Knoledge, Consciousness and the Politics of Eurporment) में मुख्य रूप से अफ्रीकी अमेरिकी समुदायों के भीतर नारीवाद और लिंग से जुड़े मुद्दों पर सवाल उठाया है।

1.1.12.1.9. उत्तर उपनिवेशिक नारीवादी (पोस्ट कोलेनियल फेमिनिस्म)

उत्तर उपनिवेशिक नारीवादी से अभिप्राय नारीवादी दर्शन के एक प्रकार से है जो नस्लवाद, गैर सफेद और गैर पश्चिमी महिलाओं के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सन्दर्भ में उनके प्रभाव के साथ उपनिवेशवाद पर केन्द्रित है। उत्तर-औपनिवेशिक नारीवाद अतीत में उपनिवेशवाद के तहत महिलाओं की समस्या का समाधान करने की कोशिश के रूप में उभरा। इस प्रकार, उत्तर-औपनिवेशिक नारीवाद ने महिलाओं के प्रभावों, मान्यताओं द्वारा महिलाओं की समस्या हेतु उन्हें एक मंच प्रदान किया है। उत्तर-औपनिवेशिक नारीवादियों ने महिलाओं से जुड़े विभिन्न मुद्दे जैसे पलायन, गुलामी, प्रतिनिधित्व, दमन और प्रतिरोध आदि विभिन्न मुद्दों पर विचार-विमर्श किया। उत्तर-औपनिवेशिक नारीवाद की प्रवृत्तियाँ, लैंगिक मुद्दे, उत्पीड़न और प्रभावित संस्कृतियाँ दूसरी नारीवादी विचारधाराओं से अत्यन्त भिन्न हैं। उत्तर-औपनिवेशिक नारीवाद, उपनिवेशवाद, लिंग, राष्ट्र, वर्ग, जाति, महिलाओं के जीवन, उनकी कामुकता, उनके अधिकार के अलग-अलग सन्दर्भों में कामुकता के साथ नवउपनिवेशवाद के चौराहों की एक खोज है। इस नारीवादी विचारधारा के मुख्य दार्शनिक इस प्रकार हैं – अरून्धति रॉय, गायत्री स्पीवक, चन्द्र तलपदे, उमानारायण, कुमकुम संगारी, लता मणि इत्यादि। उत्तर-औपनिवेशिक नारीवादी मुख्यधारा में पश्चिमी नारीवादी के स्वदेशी और अन्य तीसरी दुनिया के नारीवादी आन्दोलनों के विचारों को शामिल करने की बात करते हैं।

1.1.13. महिला आन्दोलन

भारत में नारीवादी विचारधारा नारीवाद की विभिन्न तरंगों / लहरों और महिलाओं के कई सदियों के इतिहास को चित्रित करती है। यह भारत में महिलाओं के साथ हो रही हिंसा, अन्याय, आन्दोलन, अनुभव, कार्यशैली, समस्या के निवारण खोजने और बेहतर जीवन स्तर उपलब्ध कराने हेतु एक प्रयास है। भारतीय महिला आन्दोलन का इतिहास विकास और बदलाव का एक चित्र प्रस्तुत करता है। नारीवाद की विभिन्न लहरें निजी और सार्वजनिक जीवन दोनों में महिलाओं के विशिष्ट उत्पीड़न को स्वीकार करती है।

1.1.13.1. स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रमुख महिला आन्दोलन

भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रमुख महिला आन्दोलन इस प्रकार हैं –

महिलाओं द्वारा कार्यरत एक ट्रेड यूनियन के रूप में 1972 में 'सेवा' (SEWA : Self Employed Women's Association) उभरी। इसका इतिहास टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन जो 1920 में सबसे बड़ी यूनियन अनुसूया साराभाई द्वारा शुरू की गई थी, उससे सम्बन्धित थी। इस आन्दोलन के द्वारा परिवार में काम करने वाली घरेलू महिलाओं की मदद की जा सकी। सेवा घर में काम करने वाली महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षण जैसे – सिलाई, कढ़ाई, कटाई, प्रेस, रचना, टंकण आशुलिपि इत्यादि देती हैं यह एक पंजीकृत ट्रेड यूनियनहै। यह एक महिला स्वरोजगार श्रमिकों का एक संगठन है। सेवा के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है – पूर्ण रोजगार, मजदूरों को काम की सुरक्षा, आय सुरक्षा, खाद्य सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा, महिला आत्मनिर्भरता। गाँधीवादी सोच और सामाजिक बदलाव, सेवा के गरीब स्वरोजगार सदस्यों के लिए मार्गदर्शक बल है। सेवा महिलाओं के नेतृत्व, उनके आत्मविश्वास, नीति निर्माण और प्रतिनिधित्व और उनके अस्तित्व की एक पहचान है।

1974 में गुजरात में 'नवनिर्माण आन्दोलन' की शुरुआत हुई। यह एक सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन था। यह आन्दोलन असन्तुष्ट विद्यार्थियों और मध्यमवर्गीय लोगों द्वारा बढ़ते दाम, कालाबाजारी और भ्रष्टाचार के खिलाफ चलाया गया आन्दोलन था। अहमदाबाद में युवक और युवतियों ने नवनिर्माण युवक समिति का भी गठन किया था। इसमें हजारों मध्यमवर्गीय महिलाओं ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया।

1972-1973 में विकसित 'चिपको आन्दोलन' एक पर्यावरण आन्दोलन था जिसका उद्देश्य वृक्षों के संरक्षण से था। चिपको आन्दोलन अक्सर ठेकेदारों की कुल्हाड़ियों से उत्तराखण्ड की वन पारिस्थितिकी के बचाने के लिए महिला आन्दोलन के रूप में उभरकर सामने आया। अहिंसा की गाँधीवादी विचारधारा से प्रेरित यह आन्दोलन पेड़ों को बचाने के लिए उनसे चिपक जाने की बात कहता था। इस आन्दोलन के अग्रदूतों में सी.पी. भट्ट, सुन्दरलाल बहुगुणा और गौरा देवी के नाम उल्लेखनीय हैं। इस आन्दोलन में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभायी क्योंकि वे इससे सबसे ज्यादा प्रभावित थीं। ग्रामीण महिलाओं के लिए अपने पर्यावरण को बचाना, अपनी

आजीविका को बचाने जैसा था। प्राथमिक भोजन, ईंधन, पानी, मरुस्थलीकरण इत्यादि महिलाओं के विशेष हित में शामिल थे।

'नर्मदा बचाओ' 1985 में महिलाओं द्वारा चलाया गया आन्दोलन था। यह आन्दोलन मेधा पाटेकर ने भारत में गुजरात की नर्मदा नदी के किनारे सरदार सरोवर बाँध के विरुद्ध जनजातीय लोगों, आदिवासियों, किसानों, पर्यावरणवेत्ताओं और मानव अधिकार के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की सहायता से चलाया था। नर्मदा नदी के पानी को मध्यप्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में उपयोग में लाने के लिए राज्य सरकार द्वारा बाँध बनाने की योजना को मंजूरी दे दी गई थी। अक्टूबर, 1969 में भारत सरकार द्वारा नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण की स्थापना की गई ताकि जल विवाद का निर्णय किया जा सके। दिसंबर, 1979 को सरदार सरोवर बाँध की ऊँचाई बढ़ाने के साथ-साथ 30 बड़े, 135 मध्यम और 3000 छोटे बाँधों के निर्माण की अनुमति मिल गई थी। यह आन्दोलन आदिवासियों के विस्थापन, किसानों की उपजाऊ भूमि के छीने जाने, दलित श्रमिकों और महिलाओं-बच्चों के अधिकारों के संरक्षण में चलाया गया था। इसमें बड़ी संख्या में आदिवासी महिलाओं, दलित महिलाओं ने अपने भूमि के अधिकार के लिए संघर्ष किया था।

1973 में साबरमती नदी में बाढ़ आ जाने से 3000 परिवार बेघर हो गए थे। उस समय रोशनबेन उन लोगों के लिए मसीहा बनकर उभरी। उन्होंने ऐसे मुश्किल समय में 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिज़ाइन' की शुरुआत की। इसमें इनके साथ कुछ गैर-सरकारी संगठन भी जुड़ गए और बाद में इन्होंने अपने संगठन को महिला पैच वर्क कोऑपरेटिव सोसाइटी में सिद्धहस्त किया। जल्द ही उन्होंने 100 महिलाओं को इसमें प्रशिक्षित भी किया। पिछले 28 वर्षों से रोशनबेन महिलाओं की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयासरत है। इसी काम को देखते हुए उन्हें मकरबा ग्राम पंचायत के लिए निर्वाचित भी किया गया।

1975 में 'पुरोगामी महिला संगठन' बनाया गया जिसमें मुख्य रूप से दलित महिलाओं और देवदासियों को प्राथमिकता दी गई। महाराष्ट्र में इसी वर्ष 'स्त्री-मुक्ति संगठन' और 'महिला समता सैनिक दल' बनाया, जिन्होंने दलित महिलाओं के मुद्दों को उठाया।

1970 से 1980 के दशक में विभिन्न पार्टी आधारित महिला संगठनों का विकास हुआ जिसमें महत्त्वपूर्ण पार्टी संगठन इस प्रकार हैं – 1977 में समाजवादी महिलाओं की 'महिला दक्षता समिति', 1978 में 'आल इंडिया डेमोक्रेटिक वीमेंस एसोसिएशन', सामाजिक विज्ञान विशेषज्ञ देवकी जैन ('इंस्टिट्यूट ऑफ वीमेंस डिवेलपमेंट स्टडीज') और वीना मजूमदार ('सेंटर फॉर वीमेंस डिवेलपमेंट स्टडीज') इत्यादि ने अवैतनिक काम को काम न माने जाने का मुद्दा उठाया।

1979 में 'महिला दक्षता समिति' गठन किया गया था। इसकी स्थापना समाजवादी महिलाओं के सहयोग से की गई थी। 1980 में बिहार के बोध गया जिले में युवा छात्र संघर्ष वाहिनी द्वारा महिलाओं के संघर्षों को उल्लेखित किया गया। 1980 के दशक में कुछ नारीवादी कार्यकर्त्ताओं ने समूहों में संरचित होकर अभियान जारी रखे।

जैसे – 'द फोरम अगेंस्ट आप्रेसन ऑफ वीमेन इन बॉम्बे', 'स्त्री संघर्ष', 'सहेली' दिल्ली में, 'स्त्री शक्ति संगठन', हैदराबाद, 'विमोचना', बंग्लुर में। हैदराबाद में दहेज के विरोध में 'प्रगतिशील महिला संगठन' ने संगठनात्मक विरोध प्रदर्शन किए गए। दिल्ली में 'महिला दक्षता समिति' द्वारा स्त्री संघर्ष अभियानों का आयोजन किया गया।

इसके अलावा, महिलाओं के विकास से जुड़ा 'महिला विकास अध्ययन केन्द्र' 19 अप्रैल, 1980 को स्थापित किया गया। इसके बाद इसकी कई शाखाएँ दिल्ली, मुंबई, कोलकाता इत्यादि में भी स्थापित की गई। 1992 में भारत सरकार के 1990 के महिला आयोग अधिनियम (एक्ट संख्या 20) के अन्तर्गत 'राष्ट्रीय महिला आयोग' की स्थापना की गई। जिसका मुख्य उद्देश्य महिलाओं के लिए संवैधानिक एवं कानूनी रक्षा उपायों की समीक्षा करना, सुरक्षात्मक कानूनी उपायों का सुझाव देना, समस्याओं को निपटाना इत्यादि शामिल था।

निर्मला देशपांडे ने गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर विशेष रूप से शान्ति स्थापना में अपना सहयोग दिया। इसके लिए उन्होंने विभिन्न संगठनों का निर्माण किया जैसे – 'अखिल भारत रचनात्मक समाज', 'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ', 'ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय केन्द्र' इत्यादि। वह एक प्रख्यात भारतीय सामाजिक कार्यकर्त्ता थीं। उन्होंने अपना जीवन महिलाओं, वंचित समूहों और जनजातीय लोगों के उद्धार में समर्पित कर दिया। संघर्ष, साम्प्रदायिकता, जातीय घृणा तथा 1980 के दशक में आतंकवाद से ग्रस्त पंजाब और जम्मू-कश्मीर में हुए आतंकवादी हमले के बाद शान्ति स्थापना के लिए उन्होंने बड़े पैमाने पर महिलाओं और लड़कियों को शान्ति स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। 2006 में उन्हें पद्म विभूषण पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया।

1980 के दशक में हिंसा और यौन उत्पीड़न की बढ़ती घटनाओं के कारण विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ प्रकाश में आईं। जैसे – 'स्त्री संघर्ष', 'दहेज विरोधी चेतना मंच', 'कर्मिका', 'मानुषी', 'जनवादी महिला समिति', 'शक्तिशालिनी' इत्यादि।

महिला सशक्तीकरण का एक और उदाहरण 'गुलाबी गैंग' के द्वारा देखा जा सकता है। 1980 में गुलाबी गैंग को संपत पाल और अन्य महिलाओं द्वारा उनके पतियों के खिलाफ महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार और हिंसा से बचाने के लिए मददस्वरूप शुरू किया गया था। कुछ ही दिनों के संघर्ष के बाद महिलाओं ने अपनी सदस्य संख्या में बढ़ोत्तरी की और अपने सदस्यों को लाठी चलाने का प्रशिक्षण भी दिया। इसके साथ ही साथ अपनी पहचान को बढ़ाने के लिए इनकी महिला सदस्यों ने गुलाबी रंग की साड़ी को ही अपने समूह का पहचानचिह्न बनाया। यह समूह उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के गरीब बुन्देलखण्ड में प्रमुख रूप से सक्रिय है। और इन दोनों राज्यों में कुल मिलाकर 27,000 से भी ज्यादा महिलाएँ इसकी सदस्य बनीं। संपत पाल की कोशिशों के कारण उन्होंने न केवल महिलाओं को एकजुटता प्रदान की, बल्कि भेदभाव और घरेलू हिंसा के खिलाफ लड़ने के लिए उनके प्रयासों को वैश्विक ख्याति भी प्राप्त हुई।

1.1.13.2. पाश्चात्य महिला आन्दोलन

1.1.13.2.1. नारीवाद के विभिन्न चरण (Different Stages of Feminism)

नारीवाद के सन्दर्भ में वर्णित नारीवाद के उपर्युक्त प्रकारों का विकास एक साथ और अचानक नहीं हुआ है। कुछ सन्दर्भों में इनका विकास परिस्थितिजन्य क्रमबद्धता के अनुसार भी हुआ है। इसकी जड़ें अट्ठारहवीं शताब्दी में यूरोप द्वारा शेष-विश्व के समक्ष प्रस्तुत 'आधुनिक परियोजना' (Modern project) में भी गठरी पैठी हुई हैं। इसके द्वारा यूरोप में यूरोपीय राष्ट्रों के बीच व्याप्त वैमनस्यता, प्रतिद्वन्द्विता एवं शत्रुता को समाप्त करने का कार्यक्रम तो प्रस्तुत किया ही गया था, साथ ही शेष-विश्व के समाजों को सभ्यता एवं संस्कृति के स्तर पर परिष्कृत एवं परिमार्जित करने की उद्घोषणाएँ भी की गई थीं। यह और बात है कि 'आधुनिक परियोजना' के विचारों एवं कार्य-योजनाओं के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया और अतार्किक ढंग से इनको तार्किक सिद्ध करने के क्रम में हुई गलतियों ने इसे शेष-विश्व के सन्दर्भ में शीघ्र ही अप्रासंगिक, अव्यावहारिक, अनुपयोगी तथा एक सीमा तक अन्यायपूर्ण एवं अनैतिक सिद्ध कर दिया। यूरोपीय पुनर्जागरण ने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की समेकित प्रक्रिया को यद्यपि 'वर्ग' (Class), 'सजातीयता' (Ethnicitt) तथा 'प्रजाति' (Race) जैसे मुद्दों के साँचे में ढाल कर विश्व के समक्ष सकारात्मक परिवर्तनों की आवश्यकता को प्रस्तुत किया परन्तु आश्चर्यजनक रूप से उसने स्वयं को स्त्री 'लिंग' (Gender) जैसे अतिमहत्त्वपूर्ण, सम्वेदनशील एवं सांख्यिकीय रूप से सशक्त विषय से दूर ही रखा था। यह वो समय था जब सामाजिक विज्ञानों ने भी, विशेषकर समाजशास्त्र ने, मानव समाज के सम्पूर्ण विकास के लिये प्रत्यक्षवाद (Positivism) को एक उपयोगी एवं अपरिहार्य उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया था। परन्तु इसकी अनदेखी कर अनेक राष्ट्रों ने मिल कर विश्व-समाज को परिवर्तन की प्रक्रिया के नाम पर 1914 से 1942 की संक्षिप्त अवधि में दो-दो महायुद्धों के विध्वंस दिए। इससे पुनर्जागरण की तमाम मान्यताओं के ऊपर अनेक प्रश्न-चिह्न लगने लगे और उनके बारे में क्रमशः वैचारिक और व्यावहारिक सन्देह का वातावरण निर्मित होने लगा परन्तु नारीवादी सिद्धान्त अनवरत बना रहा और विभिन्न आरोहों-अवरोहों से होते हुए अपनी यात्रा के विभिन्न चरण पूरे करता रहा। इसके प्रमुख चरणों का विवरण अधोलिखित है –

1.1.13.2.1.1. नारीवाद का प्रथम चरण (First Wave Feminism)

प्रथम महायुद्धों का सर्वाधिक तात्कालिक दुष्परिणाम अलग-अलग देशों में बच गई स्त्रियों पर ही पड़ा था। अपने घायल तथा अपंग पुत्रों, पतियों, रिश्तेदारों इत्यादि को अकारण खो देने के पश्चात् विनाशकारी प्रवृत्तियों के साथ अचानक प्रकट हो गए एकाकीपन एवं लैंगिक असमानता ने उन्हें अत्यन्त ही विकट मानसिक, पारिवारिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में जकड़ दिया था। युद्ध के पश्चात् निर्मित हुई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में स्त्रियों को अपने लैंगिक अस्तित्व एवं भविष्य के परिप्रेक्ष्य में अपनी परिस्थितियों एवं भूमिकाओं के बारे में नये सिरे से विचार तथा व्यवहार करने को प्रेरित किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने बल देकर यह प्रतिवाद प्रस्तुत किया कि "पितृसत्तात्मकता एवं सेना का सम्बन्ध आप पुरुष निर्मित करते हैं, युद्ध एवं विनाशकारी

प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निर्णय भी आप ही लेते हैं, तो फिर सिर्फ नकारात्मक एवं त्रासद परिणामों के सहने में हम सहभागी क्यों बनें, वो भी एकाकीपन की सीमा तक।"

उसी अवधि के दौरान वैश्विक आर्थिक मंदी (Great depression) का भी वातावरण निर्मित हो गया था जिसने आर्थिक स्तर पर भी स्त्रियों के अस्तित्व, अधिकारों तथा क्षमताओं को नये सिरे से परिभाषित एवं विश्लेषित करने के साथ-साथ एक सीमा तक उसको स्वीकार भी किया। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसे ही वातावरण में स्त्रियों को सर्वप्रथम राजनैतिक मताधिकार प्रदान किया गया। वस्तुतः यह नारीवाद के प्रथम चरण की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि ही थी जिसमें सामाजिक व्यवस्था में व्यापक तौर पर स्त्री-स्वीकार्यता की पहल के माध्यम से सकारात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी।

1.1.13.2.1.2. नारीवाद का द्वितीय चरण (Second Wave Feminism)

नारीवाद के प्रथम चरण के प्रारम्भ के पश्चात्, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ वर्षों बाद तक प्रायः सम्पूर्ण यूरोप एवं अमेरिका महाविध्वंस के बाद पुनर्निर्माण की समस्याओं में उलझ गया। यह वो दौर था जिसकी पृष्ठभूमि में लाखों युवा पुरुषों (सैनिकों तथा नागरिकों के रूप में) की हत्याओं ने लैंगिक एवं ऐसा विषम समाज बना दिया था जिसमें नाजियों द्वारा यहूदियों के नर-संहारों की यादों के साथ एक नवीन प्रकार की सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना ने जन्म ले लिया था। इसमें प्रकार्यवादी मान्यताएँ क्रमशः बिखरने लगी थीं, अस्तित्ववाद फिर से अपनी जड़ें जमाने लगा था, व्यापक असंतोष पर आधारित आन्दोलन उभरने लगे थे तथा प्रजातीय मुद्दों ने नारीवाद को नेपथ्य में भेज दिया था।

बीसवीं शताब्दी में साठ के दशक के आते-आते यूरोप एवं अमेरिका का बौद्धिक जगत अपेक्षाकृत स्थिरता प्राप्त कर चुका था। वहाँ नव-निर्माण एवं पुनर्निमाण की प्रक्रियाएँ तब तक एक स्तर तक स्थापित हो चुकी थीं। ऐसे में वहाँ नारीवाद एक बार पुनः उभरना प्रारम्भ हुआ परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में स्त्रियों को मिली सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्वीकार्यता तथा उनके द्वारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अपनाई गई प्रगतिशीलता ने नारीवाद को वो संस्करण निर्मित कर दिया जिसकी मान्यता थी कि "परम्परागत सामाजिक संस्थाएँ स्त्री विरोधी एवं दमनकारी है तथा इनको सिरे से नकार देने में ही स्त्री-उत्थान का मर्म छिपा हुआ है।" इसे अतिवादी नारीवाद (पूर्व वर्णित) की संज्ञा दी जाती है जिसमें पुरुष-अस्तित्व को नकार कर महिला कम्यूनों, बिना विवाह के पुरुषों के साथ रहने (Live-in Relation) तथा स्वच्छन्दतापूर्वक सहवास करने, अन्तःवस्त्रों का परित्याग करने तथा समलिंगी सम्बन्धों के माध्यम से यौन-सुख प्राप्त करने जैसे उपायों से स्त्रियों को आत्मनिर्भर एवं सन्तुष्ट बनने की राय दीगई। सिमोन दी-बोउआर को इसकी अग्रणी नेत्री के रूप में जाना जाता है। अतिवादी नारीवाद की उत्पत्ति के कुछ वर्षों तक इसकी काफी चर्चा रही तथा इसके प्रभाव में अपरम्परागत तथा सर्वथा नवीन स्त्रीवादी प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों का भी जन्म हुआ। परन्तु शीघ्र ही इसके अप्रासंगिक, पूर्वग्रह एवं पारस्परिक कटुता पर आधारित एवं श्वेत तथा मध्यम एवं उच्च मध्यम वर्ग की महिलाओं तक ही केन्द्रित रहने के कारण इसका प्रभाव क्रमशः कम होता गया। बाद में इसके स्थान पर समन्वय एवं सहयोग के दृष्टिकोण पर आधारित नारीवाद का तृतीय चरण

प्रारम्भ हो गया। हालाँकि इसके पीछे द्वितीय चरण के नारीवाद की विसंगतियों तथा अव्यावहारिक, अपरिपक्व तथा अस्थायी मान्यताओं एवं गतिविधियों की भूमिकाएँ प्रभावी रही थीं तथापि प्रथम चरण के नारीवाद की लुंज-पुंज स्थिति, अस्पष्ट मान्यताओं एवं अपरिभाषित लक्ष्यों के स्थान पर स्त्री की मौलिक आवश्यकताओं, स्त्री की पुरुष-वर्चस्व से मुक्ति की चाह तथा स्त्री-मन की वास्तविक झलक प्रस्तुत करने के सन्दर्भ में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा नारीवाद के तृतीय चरण के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि निर्मित की। बीसवीं शताब्दी में 1980 के दशक तक नारीवाद के द्वितीय चरण का पर्याप्त प्रभाव समाजशास्त्र के क्षेत्र में देखने को मिलने लगा था। तब तक लघु महिला अध्ययन लागू कर शोध-पत्रों इत्यादि के माध्यम से अकादमिक समाजशास्त्रियों न पुरुष प्रधान समाजशास्त्रीय चिन्तन को चुनौती प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया था। उनका प्रमुख आरोप यह था कि जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह समाजशास्त्र में भी लैंगिक समानता के स्थान पर लैंगिक-रूंधता की स्थिति देखने को मिलती है। मेग स्टैसी (Meg Stacy) ने समाजशास्त्र के संस्थापकों की यह कह कर आलोचना की है कि "उन्होंने अपना ध्यान प्रायः 19वीं शताब्दी के मध्य तक अवैधानिक मामलों, राज्य में सम्बन्धित मुद्दों तथा बाजार इत्यादि पर ही बनाए रखा तथा उनके लिए स्त्रियों में मुद्दे किंचित् महत्त्व के भी नहीं थे।" अन्न ओकले (Ann Oakley) ने अपनी पुस्तक 'सेक्स, जेंडर एण्ड सोसाइटी' 1972 में इस बात पर बल दिया कि "लिंग घरेलू श्रमिक के रूप में प्रस्तुत तथा बच्चों को जन्म देने की लिए समाज द्वारा निर्मित एवं रचित है।" अकादमिक क्षेत्र में स्थान प्राप्त करने के साथ ही एक आन्दोलन के रूप में नारीवाद कमजोर पड़ने लगा। 1980 के दशक तक आते-आते नारीवाद का द्वितीय चरण समान वेतन, भेदभाव रहित वातावरण तथा गर्भपात सम्बन्धी सुधारों जैसी औपचारिक उपलब्धियों के साथ अपना चरम प्राप्त कर चुका था। इसके बाद पहचान की राजनीति, लैंगिक विषयों, पुरुष एवं स्त्री इत्यादि जैसे बिन्दु मनोविश्लेषणात्मक समाजशास्त्र के विषयवस्तु बने हैं। बाद में अश्वेत नारीवादियों ने नारीवाद के पश्चिमी प्रारूप की यह कहकर आलोचना की कि पश्चिम की श्वेत स्त्रियों की स्थिति शेष-विश्व, विशेषकर अफ्रीका की अश्वेत महिलाओं जैसी नहीं है, इसलिए उनके सन्दर्भ में नारीवाद के सन्दर्भ एवं विषय भी पृथक् एवं भिन्न है। श्वेत इसकी आलोचना बेल हुक्स, एन्जेला डेविस और चन्द्रा मोहनी जैसे लेखकों ने एक साधारण यूरोप केन्द्रित नारीवाद के रूप में की है। बाद में इसके अल्पसंख्यक, सजातीय और औपनिवेशिक काल के बाद की स्थितियों पर आधारित संस्करण भी उभरने लगे हैं। नारीवाद की अश्वेत आलोचना को उत्तर-आधुनिकता एवं उत्तस्संरचनावादी विमर्श से भी जोड़ कर देखा जाता है। साथ ही, कुछ सन्दर्भ में इसे पाश्चात्य नारीवाद (Western Feminism) से ले कर आधुनिक प्रबोधन परियोजना (Modern Enlightenment Project) से जोड़ कर भी देखा जाता है। 1990 के दशक से नारीवाद ने 'नारीत्व' एवं 'पुरुषत्व' के बहुवचनीय संस्कारों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया हैं। उदाहरण के तौर पर, विशेषकर 2005 से दक्षिण एवं पश्चिम जगत के देशों में राजनीति के क्षेत्र में नारीवादी मुद्दों की लोकप्रियता बढ़ी है तथा नारीवाद के द्वितीय चरण के कई मुद्दों के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ है।

1.1.13.2.1.3. नारीवाद का तृतीय चरण (Third Wave Feminism)

नारीवाद के द्वितीय चरण के अतिवादी संस्करण की विसंगतियाँ बीसवीं शताब्दी के अस्सी के दशक में क्रमशः स्पष्ट होने लगी थी। इसकी कमियों के आधार पर इसकी आलोचनाएँ भी प्रारम्भ हो गईं थीं। उदाहरण के

तौर पर इसकी अतिवादी मान्यताओं तथा इनके प्रभाव में विघटित होने लगे परिवारों, विवाह-विच्छेदों और स्त्री-पुरुष के बीच निरन्तर पनपते जा रहे अविश्वास के वातावरण ने तार्किक स्तर पर इसके एक समन्वयकारी स्वरूप की वकालत प्रारम्भ की। इसने अस्सी के दशक के अन्त में तब और भी अधिक बल प्राप्त कर लिया जब वैश्विक व्यवस्था के साथ अपना समन्वय स्थापित नहीं कर सकने के कारण एक झटके से मार्क्सवाद का मिथक बिखर गया। तब तक इस मान्यता कि "बिना विवाह के स्त्री-पुरुष सहवास सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक साथ रह सकते हैं", जिसे नारीवाद के द्वितीय चरण की एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक स्थापना के रूप में देखा जाता है, भी क्रमशः अस्वीकृत एवं अमान्य की जाने लगी थीं। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि स्त्री-पुरुष के बीच ऐसे सम्बन्ध मिथकीय हैं तथा वास्तविकता से इनका कुछ भी लेना-देना नहीं रहा है। ऐसी मान्यताओं से परे हटकर, एक नवीन परिवेश में जब निरन्तर सामाजिक एवं आर्थिक विकास की उपलब्धियाँ हासिल की जा रही थीं तथा सम्पूर्ण व्यवस्था में नारीवाद तथा अन्य स्त्री-प्रोत्साहन प्रक्रियाओं, वैचारिकियों एवं आन्दोलनों के प्रभाव में स्त्रियों की सामाजिक दशा अपेक्षाकृत सुधरने लगी थी और अतिवादी नारीवाद के प्रभाव में बिखरी सामाजिक संस्थाओं यथा विवाह, परिवार इत्यादि के दुष्परिणाम स्पष्ट परिलक्षित होने लगे थे, नारीवाद का एक नवीन संस्करण उभरा। इसमें नारीवाद को पूर्व की भाँति एक विशुद्ध 'वाद' या 'आन्दोलन' के रूप में नहीं देखकर स्त्रियों की स्थिति में क्रमिक एवं गुणात्मक (qualitative) परिवर्तन लाने वाली एक प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। साथ ही, इसके माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि स्त्री-पुरुष परस्पर विपरीत और विरोधी नहीं हो कर एक-दूसरे के सन्दर्भ में 'पूरक' हैं और किसी भी सामाजिक व्यवस्था में दोनों का विकास एक दूसरे की पारस्परिकता में ही निहित है। यह नारीवाद का एक समन्वयवादी चरण है जिसमें अतिरंजनाओं, विसंगतियों एवं व्यावहारिक व्यतिक्रमों को किनारे कर पारस्परिक स्वीकार्यता, सहयोग, प्रोत्साहन एवं भूमिकाओं की साझेदारी (role sharing) के आधार पर एक बेहतर समाज बनाने की व्यावहारिक कल्पना की गई है। नारीवाद का तृतीय चरण पूर्व के दो चरणों की अपेक्षा कहीं अधिक सुव्यवस्थित, शान्त, प्रभावी एवं उपलब्धियों भरा रहा है। हालाँकि इसमें भी समय-समय पर, विशेषकर स्त्रियों के प्रति अत्याचार, शोषण, कन्या-भ्रूण हत्या, वेश्यावृत्ति इत्यादि जैसी नकारात्मक प्रक्रियाओं एवं घटनाओं के आलोक में, स्त्री-असंतोष एवं अतिवाद के मुद्दे उभरते रहे हैं तथापि इस चरण की विशेषता यह रही है कि इसमें निरन्तर ऐसी प्रकृतियों, प्रक्रियाओं एवं घटनाओं को समाप्त करने की दिशा में पहल भी किया जाता रहा है। नारीवाद के पूर्व वर्णित संस्करणों एवं चरणों के विश्लेषण के क्रम में प्रसिद्ध समाजशास्त्री एन्टोनी गिडेन्स कहते हैं कि "पिछले कुछ दशकों में स्त्रियों को जो स्वतन्त्रता मिली है उसे वो छोड़ना नहीं चाहेंगी, परन्तु इनका तात्पर्य यह नहीं है कि वे प्रत्येक स्तर पर अतिवादी होकर एकांकी एवं असमन्वयकारी प्रवृत्तियों का ही साथ दें।" नारीवाद के विश्लेषण के सन्दर्भ में यह एक अत्यन्त ही सटीक एवं सन्तुलित उक्ति प्रतीत होती है। सम्पूर्ण नारीवाद के बीच स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के प्रति पारस्परिक समझ, श्रम-विभाजन के स्थान पर श्रम के साझाकरण जैसी कोमल प्रवृत्तियों एवं सहज प्रक्रियाओं में निहित है क्योंकि जिन रास्तों पर, जिस गति के साथ अतिवादी नारीवाद चलने की बातें करता रहा है उनमें 'वापसी के विकल्प' नहीं हैं।

1.1.13.2.2. आलोचना

हालाँकि इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं कि नारीवाद ने समाज में 'स्त्री की स्थिति', 'दशा' एवं 'अधिकारों' के सन्दर्भ में कतिपय पारम्परिक व्यवस्थागत मान्यताओं एवं सामाजिक स्थितियों को नकारते हुए लोगों का ध्यान सम्पूर्ण व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों की दशा में सुधारने हेतु आकर्षित करने तथा इस सन्दर्भ में आवश्यक सुधारों की दिशा में कार्य करने में योगदान दिया है तथापि इसके विभिन्न रूपों तथा उपागमों को लेकर इसे एक विवादास्पद 'वाद', 'सिद्धान्त' एवं 'वैचारिकी' भी माना जा रहा है। कुछ आलोचकों के अनुसार यह विरोधाभासों, भ्रान्त तर्कों, अन्तर्विरोधों एवं असन्तुलित तथा समाज विरोधी मान्यताओं से भरा पड़ा है। नारीवाद की आलोचना के निम्नांकित बिन्दु इसकी कुछ उल्लेखनीय आलोचनाओं को चिह्नित करते हैं –

(1) नारीवाद परिवार, विवाह, नातेदारी इत्यादि जैसी मौलिक एवं अनिवार्य सामाजिक संस्थाओं को नकारता तो है परन्तु इनका कोई ठोस उपयोगी एवं सर्वमान्य विकल्प प्रस्तुत नहीं कर पाता है। एक बार प्रमाणित हो जाने के कुछ समय पश्चात् नारीवाद के समर्थक स्वयं को एक ऐसे विकल्पहीन, एकाकी और अनजान जगत में पाते हैं जहाँ उनके परम्परागत सन्दर्भ खो चुके होते हैं और नये सन्दर्भों का स्वरूप अनिश्चित और प्रायः अस्थायी होता है।

(2) नारीवाद वस्तुतः नगरीय समाजों पर आधारित एक वैचारिकी, उपागम, आन्दोलन एवं सिद्धान्त रहा है तथा इसके केन्द्र में विशेषकर मध्यम, उच्च-मध्यम तथा उच्च वर्ग की स्त्रियाँ ही रही हैं। अपने मौलिक रूप में इसका ग्रामीण परिवेश और संस्कृति तथा निम्न वर्ग की स्त्रियों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है।

(3) सामान्य तौर पर एक आन्दोलन के रूप में नगरीय संस्कृति एवं परिवेश तक सीमित रहने के साथ-साथ नारीवाद स्त्रियों की प्रजाति एवं सजातीयता (Race and Ethincity) के सन्दर्भ में भी विभाजित दिखता है क्योंकि इसके प्रारम्भिक समय से ले कर अब इसके केन्द्र में विशेषकर यूरोपीय एवं तक श्वेत महिलाएँ ही रही हैं। अफ्रीकी एवं अश्वेत महिलाएँ तथा तृतीय विश्व की महिलाएँ यदा-कदा ही इसके दायरे में आ पाई हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यदि अफ्रीकी एवं अश्वेत तथा तृतीय विश्व के समाजों की महिलाओं पर यदि नारीवाद के प्रभाव दिखते हैं तो वो एक प्रकार के स्वाभाविक एवं विलम्बित प्रभाव मात्र हैं।

(4) नारीवाद का अतिवादी संस्करण (Radical Version) वस्तुतः सामाजिक विभाजन एवं वैयक्तिक विघटन की प्रक्रियाओं को प्रोत्साहित करता है। सामाजिक स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक उन्मुक्त एवं स्वच्छन्दता में अन्तर होता है। यह स्त्रियों को स्वतन्त्रता की अनुभूति प्रदान करने के स्थान पर उनमें उन्मुक्त एवं स्वच्छन्दता के भाव भरता है। जो सामाजिक संस्थाओं में भ्रम, ऊहा-पोह एवं अराजकता की स्थिति निर्मित कर उनको क्रमिक विघटन की ओर ले जाता है।

(5) चरम नारीवादी विचारकों ने इनका अतिरंजित स्वरूप प्रस्तुत करते हुए "पुरुष मुख्य शत्रु है" जैसे कथनों के रूप में उद्धृत किया है। इसके अनुसार स्त्रियों को अपने अधिकारों की प्राप्ति के प्रयासों की दिशा में पुरुषों के साथ किसी भी प्रकार के सहयोग की सम्भावना को सिरे से नकार देना होगा।

(6) एड्रिन रिच (Adriene Rich) जैसे नारीवादियों ने अनिवार्य विषम लैंगिकता की आलोचना करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया है कि “नारीवादी महिलाओं को ‘रूम मैजिक’ हो जाना चाहिए।” माईकल बैरेट और मैरी मैक्टोश (Michele Barrett and Mary McIntosh) जैसे समन्वयवादी नारीवादियों ने इसकी तीक्ष्ण आलोचना यह कहते हुए की है कि “यह एक समाज एवं परिवार विरोधी आन्दोलन है।”

(7) शुलामिथ (Shulamith) के अनुसार कि पितृ-सत्तात्मकता वस्तुतः लैंगिक द्वन्द्व-लिंग की अवधारणा में निहित है, इसलिए चरम नारीवादियों की सोच एक प्रकार से जैविकीय वास्तविकताओं से पलायन जैसा ही है। नारीवादी सिद्धान्त एवं विमर्श के व्यापक परिप्रेक्ष्य में हालाँकि यह संतोष का विषय है कि भारत में अत्यन्त ही समृद्ध एवं प्राचीनता के सुसज्जित सांस्कृतिक एवं सामाजिक विरासतों के सन्दर्भ में नारीवाद किसी आन्दोलन की तरह न होकर निरन्तर सामाजिक सुधार के एक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी उपकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय समाज एवं स्त्रियाँ अतिवादी नारीवाद की विसंगतियों एवं वर्जनाओं से प्रायः सुरक्षित रह सकीहैं। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रियात्मक उपलब्धि है जिसकी प्रशंसा करते हुए समाजशास्त्री आन्द्रे बेत्ते कहते हैं कि “स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में महिला शिक्षा के सन्दर्भ में क्रान्ति हुई है और यही उनकी दशा में सुधार की कुंजी रही है।”

1.1.13.3. भारतीय महिला आन्दोलन

भारत में महिलाओं के आन्दोलन का लम्बा और समृद्ध इतिहास रहा है। भारत के महिला आन्दोलन एक विशिष्ट महिला संस्कृति और सकारात्मक प्रेरणादायक झाँकी भी प्रस्तुत करते हैं। भारतीय महिला आन्दोलन के इतिहास को हम तीन महत्त्वपूर्ण तरंगों / लहरों में विभाजित कर सकते हैं – पहली लहर 1850 से 1915 तक, दूसरी लहर 1915 से 1947, तीसरी लहर 1947 से आज तक।

1.1.13.3.1. भारत में पहली नारीवादी लहर (1850 से 1915 तक)

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही नवजागरण की लहर के साथ पूरे भारत वर्ष में स्त्री विषयक प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाने लगा था। स्त्रियों के जीवन को विषाक्त करने वाली कुप्रथाओं यथा – सतीप्रथा, बालविवाह, देवदासी प्रथा जैसी कुरीतियों को समाप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुई। इस लहर में पढ़े-लिखे मेधावी नेताओं, विचारकों और समाजसेवियों ने निरन्तर महिलाओं की सामाजिक स्थिति को बदलने का प्रयास किया। उन्होंने विभिन्न प्रकार के कानून पारित किए, कानूनों से संशोधन किया और जागृति का प्रसार किया। पुरुषों ने सुधारवादी आन्दोलन चलाए और बुद्धिजीवी पुरुषों के समूहों ने भी अपने स्तर पर विभिन्न महिला सुधार आरम्भ किए। इसमें विभिन्न संगठन जैसे आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन इत्यादि भी जुड़ने लगे। समाज के हर वर्ग से जुड़ने की कोशिशों में पत्र, पत्रिकाओं, निबन्धों का लिखना आरम्भ किया गया। विभिन्न कुरीतियों और पाखण्डों का घोर विरोध किया गया। निचले तबके की महिलाओं को महिला समूहों से जोड़ने का कार्य भी किया गया।

भारत में पहली नारीवादी लहर की शुरुआत पुरुष समाज सुधारकों से हुई जिनमें महत्त्वपूर्ण नाम हैं – राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, डॉ० धोंडो, केशव कर्वे (महर्षि कर्वे), स्वामी विवेकानन्द, सैयद अहमद खान, बदरूद्दीन तैयब जी, रानाडे के अतिरिक्त ज्योतिबा फुले और उनका सत्यशोधक समाज, पेरियार और उनका स्त्री-पुरुष-समानता आन्दोलन तथा बाबा साहेब अम्बेडकर और उनकी सामाजिक राजनैतिक गतिविधियों ने स्त्रियों की मानवीय गरिमा की रक्षा के लिए समाज को जगाने का प्रयास किया। इस लहर का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों, रूढ़िवादी मानसिकता और परम्पराओं को बदलना था। इसमें सतीप्रथा का उन्मूलन, बालविवाह को रोकना, विधवा पुनर्विवाह करना, महिलाओं के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करना इत्यादि मुद्दे प्रमुख थे। भारत में नारी विकास की इस लहर को काफी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। महान् समाज सुधारकों के दृढ़निश्चय, तत्परता और कोशिशों के कारण वह महिलाओं के लिए एक उन्नत जीवन की कल्पना का सपना साकार कर पाए।

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति बहुत निम्न थी। सतीप्रथा, बालविवाह, बहुविवाह जैसी कई कुरीतियाँ समाज को खोखला करती जा रही थीं। परम्पराओं और धर्म के नाम पर महिलाओं का निरन्तर शोषण किया जा रहा था। इस अन्याय और क्रूरता के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने सबसे पहले आवाज उठायी। उन्होंने 1818 में सतीप्रथा पर प्रहार किया। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति को मजबूत करने के लिए सम्पत्ति के अधिकारों की भी वकालत की। सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने महिलाओं की दशा सुधारने का प्रयास किया। उन्होंने 1828 में ब्रह्मसमाज की स्थापना की जिसके द्वारा उन्होंने सतीप्रथा को समाप्त करने के लिए सतीप्रथा निषेध अधिनियम बनाया गया। राज राममोहन राय ने महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए सम्पत्ति के अधिकार, बालविवाह समाप्ति और महिलाओं के शिक्षा के प्रसार में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। ब्रह्मसमाज अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन भी करता था। 1832 में ब्रह्मसमाज की स्थापना के बाद कई संस्थाएँ भारत में महिलाओं की उन्नति के लिए स्थापित होती चली गईं। सन् 1848 में गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी की स्थापना हुई। ब्रह्मसमाज संगठन के द्वारा महिलाओं के लिए बोधिनी पत्रिका की भी शुरुआत की गई थी। इस संगठन के प्रयासों से 1872 में नागरिक विवाह कानून पारित किया गया, जिससे अन्तर्जातीय विवाह एवं तलाक को कानूनी अधिकार दिया गया और शादी के लिए स्वीकृत आयु महिला एवं पुरुष के लिए क्रमशः 14 और 18 वर्ष निश्चित की गई। 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्यसमाज की स्थापना की गई। इसके द्वारा धार्मिक पाखण्डों पर प्रहार किया गया और समाज में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए बालविवाह, जातिप्रथा और सतीप्रथा जैसी कुरीतियों का विरोध किया गया। 1867 में एम.जी. रानाडे एवं भण्डारकर के प्रयासों से प्रार्थनासमाज की नींव रखी गई। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य महिलाओं के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करना था। 1887 में इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेस तथा बाद में अन्य संस्थाएँ अस्तित्व में आती गईं जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से महिलाओं की स्थिति को सुधारने एवं उनके मार्ग के अवरोधों को धराशायी करने का प्रयास किया। इस समय तक भारत में महिलाओं के समाज-सुधार के कार्य तथा पुनरुत्थान के लिए परिवर्तन की मानसिक भूमि पूरी तरह तैयार हो चुकी थी।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी विधवाओं का जीवन सुधारने का बीड़ा उठाया । ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने व्यक्तिगत स्तर पर ही महिलाओं की दशा सुधारने के लिए विधवा पुनर्विवाह पर बल दिया, बहुपत्नी विवाह का विरोध किया और महिलाओं की शिक्षा पर बल दिया । विद्यासागर ने जब प्रथम बार विधवा का पुनर्विवाह करवाया, तब उनके अनेक मित्रों ने उनका समर्थन किया और विधवा-विवाह के समर्थन में दिए गए आवेदन-पत्र पर इक्कीस हजार हस्ताक्षर भी करवाये। उन्होंने 'विधवा-पुनर्विवाह' पर पुस्तक भी लिखी, जिसका बाद में मराठी और गुजराती में अनुवाद भी हुआ। इसके अलावा, उन्होंने अपने पुत्र की शादी भी एक विधवा स्त्री से करा कर आदर्श प्रस्तुत किया। उनके प्रयत्नों से 1856 में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पास हो सका। शिक्षा के क्षेत्र में भी विद्यासागर बहुत सक्रिय रहे । कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रथम महिला स्नातक चंद्रमुखी बसु बैथ्थुन महाविद्यालय की छात्रा थी।

1857 ई. में महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना कर हिन्दू समाज को वैदिक आदर्शों की ओर ले जाने का कार्य किया। इस संस्था द्वारा उन्होंने भारत में महिलाओं के लिए शिक्षा का प्रचार किया, पर्दाप्रथा और बालविवाह का प्रतिबन्ध लगाया । 1857 के विद्रोह के दौरान, भारतीय शासक वर्ग की महिलाएँ एक स्वतन्त्र भारत की अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए पुरुषों के साथ-साथ आगे बढ़ीं। उनमें महत्त्वपूर्ण नाम हैं – महारानी अहिल्याबाई होलकर, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और अवध की बेगम हजरतमहल । झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने स्वतन्त्रता सेनानियों के लिए एक अद्भुत वीरता, साहस और महान नेतृत्व का उदाहरण प्रस्तुत किया। अपने पति की मृत्यु के बाद, अंग्रेजों के विरुद्ध वे शूरवीरों की तरह लड़ीं। उन्होंने पुरुषों के कपड़े पहनकर अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में अपने सैनिकों का नेतृत्व किया। घायल अवस्था में भी उन्होंने आत्मसमर्पण करने से इनकार कर दिया और एक शूरवीर सेनानी की तरह अन्त तक लड़ती रहीं। उनकी विशिष्ट बहादुरी ने भारत में अनेक पुरुषों और स्त्रियों को विदेशी शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने की प्रेरणा दी। अवध की बेगम हजरतमहल ने अंग्रेजों के विरुद्ध लखनऊ राज्य की रक्षा की सक्रिय भूमिका निभायी। बेगम हजरतमहल ने भी रणभूमि में जाकर अंग्रेजों का सामना किया और पूरे साहस से लड़ीं।

मुंबई के एक पारसी सुधारक बेहराम जी मालाबारी ने दस से बारह वर्ष आयु के विवाह के सम्बन्ध में सम्मति को कड़ा करने के लिए एक अखिल भारतीय अभियान आरम्भ किया। कुछ वर्षों बाद मालाबारी द्वारा प्रस्तावित विवाह अधिनियम सम्बन्धी सम्मति 1891 में पारित की गई । बेहराम जी मालाबारी की पहचान महिलाओं के अधिकारों के संरक्षक के रूप में की जाती है। उन्हें मुख्य रूप से हिन्दू महिलाओं की समस्या, जैसे विवाह और विधवाओं के पुनर्विवाह में अपने योगदान के लिए याद किया जाता है।

डॉ० धोंडो केशव कर्वे, महर्षि कर्वे के नाम से लोकप्रिय हैं। भारत में महिलाओं की शिक्षा और कल्याण के क्षेत्र में उन्होंने महात्मा फुले और सावित्रीबाई फुले के साथ मिलकर काम किया। कर्वे ने 1893 में विधवाओं के ज़रूरतमंद बच्चों की मदद की और विधवाओं के पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डली की स्थापना भी की। 1896 में उन्होंने एक हिन्दू विधवा होम एसोसिएशन की भी स्थापना की। 1907 में

महिला विद्यालय की शुरुआत की और इसके अगले वर्ष उन्होंने विधवा होम और महिला विद्यालय के कार्यकर्त्ताओं को शिक्षण देने के लिए 'निष्काम कर्ममठ' समाज सेवा सोसाइटी को भी आरम्भ किया।

डॉ॰ धोंडो केशव कर्वे ने 1916 में पुणे में महिलाओं का पहला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। 1917-1918 के दौरान, उन्होंने कर्वे प्राथमिक स्कूल शिक्षक और लड़कियों के लिए ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की। 1931 में एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय, मुंबई में अपने पहले कॉलेज की स्थापना की। 1936 में जिला गाँव में प्राथमिक स्कूलों को खोलने के लक्ष्य के साथ महाराष्ट्र गाँव प्राथमिक शिक्षा सोसाइटी की शुरुआत भी की। 1944 में उन्होंने समता संघ की स्थापना की। भारत में महिलाओं के उत्थान के लिए अपना जीवन समर्पित करने के अलावा, कर्वे जाति व्यवस्था और हिन्दू समाज में अभिशाप के उन्मूलन के लिए जीवन भर प्रयासरत रहे।

स्वामी विवेकानन्द ने 1897 में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। स्वामी जी ने विशेष रूप से भारत में महिलाओं की स्थिति में आयी गिरावट के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की। उन्होंने भारत में शिक्षा की योजना में, महिलाओं और आम जनता के उत्थान को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। विवेकानन्द के अनुसार, भारतीय समाज में दो बुराइयाँ व्याप्त थीं – एक महिलाओं का भारतीय समाज में पराधीन स्थान तथा दूसरी हिन्दू समाज में असमानता एवं जाति व्यवस्था। उन्होंने महिलाओं की पराधीनता के ऐतिहासिक कारणों को जानने की चेष्टा की। उनका मानना था कि न केवल समग्र राष्ट्र में वरन् विश्व के उत्थान में शिक्षित भारतीय महिलाएँ निश्चित ही अपना सहयोग दे सकेंगी।

पर्दाप्रथा तथा बहु-पत्नीत्व प्रथा ने मुस्लिम महिलाओं को पतन के गर्त में धकेल दिया। मुस्लिम समाज सुधारकों में सबसे पहला नाम सैयद अहमद खान का आता है। उन्होंने महिलाओं को शिक्षित करने पर बल दिया। इनके अलावा बदरूद्दीन तैयब का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने पर्दाप्रथा समाप्त करने का समर्थन किया। सैयद इमाम ने जनाना मदरसे स्थापित करने में मदद की तथा इस बात पर जोर दिया कि जब तक महिलाओं की प्रगति नहीं होगी, तब तक भारत की जनता अन्य देशों की जनता के समकक्ष नहीं हो सकेगी। श्री हैदरी ने महिला शिक्षा की वकालत की और कहा कि एक महिला की शिक्षा सारे परिवार के मानस और नैतिक जीवन को प्रगति की ओर ले जा सकती है।

1.1.13.3.2. भारत में दूसरी नारीवादी लहर (1915 से 1947 तक)

भारत में नारीवाद की दूसरी लहर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गई है क्योंकि इसी लहर के द्वारा भारतीय महिलाएँ जागृति और राष्ट्रवाद जैसी स्वतन्त्रता आन्दोलन की विशेषताओं को समझ पाईं। एक तरफ इस लहर के द्वारा विभिन्न राष्ट्रवादी और समाज सुधारकों द्वारा महिलाओं की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए गए, वहीं दूसरी तरफ महिला संगठनों की संख्या में बढ़ोतरी हुई। 1917 में भारतीय महिला संघ (वीमेंस इंडियन एसोसिएशन) 1925 में भारतीय महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद् (नेशलन काउंसिल ऑव वीमेन) और 1927 में अखिल भारतीय महिला परिषद् उल्लेखनीय हैं। इसी बीच, प्रगतिशील महिला आन्दोलन ने 1929 में कुछ

राष्ट्रीय नेताओं के सहयोग से 'शारदा एक्ट' पास करवाया और बालविवाह के विरुद्ध कानून पास कराने में महिलाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1930 के दशक में, विवाह एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित हिन्दू महिलाओं के लिए सम्पत्ति एवं अन्य हिन्दू कानून पास किए गए। महिलाओं के समर्थन में जो अन्य कानून पास किए गए उनमें शामिल हैं – मुस्लिम पर्सनल लॉ, विनियोग अधिनियम, 1937 तथा मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939।

कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानीय महिला समूहों में प्रमुख थे – 1906 में मद्रास की तमिल माथार संगम, तमिल संगठन, 1908 में अहमदाबाद में गुजराती स्त्री मण्डल, 1909 में बंग-महिला समाज, चाय बगान पर महिला कामगारों की मदद के लिए बंगाल में 1910 की अगोरे कामिनी राय की समिति, 1910 में सरला देवी चौधरानी का भारत का स्त्री महामण्डल। स्थानीय साम्प्रदायिक समूहों में बॉम्बे में 1903 में स्त्री जारथोशटी मण्डल (पारसी महिलाओं के सम्मेलन), अंजुमन-ए-ख्वातीन-ए-इस्लाम (मुस्लिम महिलाओं के सम्मेलन), कट्टरपंथी लेखक रोकैया सखावत हुसैन द्वारा 1914 में स्थापित युवा महिलाओं के क्रिश्चियन एसोसिएशन (वाई.डब्ल्यू.सी.ए.) के रूप में जाना जाता है। वाई.एम.सी.ए. के सहायक महिलाओं के समूह, 1917 में महिलाओं का भारतीय संघ, 1925 में महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद् और 1927 में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन शामिल हैं। राजकुमारी अमृत कौर, सुचेता कृपलानी, सरला देवी चौधरानी, मुथुलक्ष्मी रेड्डी, सुशीला नायर, अरुणा आसफ अली, विजयलक्ष्मी पंडित, स्वर्णकुमारी घोषाल, महिला उपन्यासकार कादंबरी गांगुली, सरोजिनी नायडू इत्यादि महिलाओं ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में देकर राजनैतिक क्षेत्र में इतिहास रचा।

नारीवाद की दूसरी लहर में भारत की प्रबुद्ध, बुद्धिजीवी, मेधावी महिलाओं ने बड़े-बड़े समाज सुधारकों और महापुरुषों के सानिध्य में रहकर देश की प्रगति, विकास और सुधार कार्यों में अपना सहयोग दिया। विभिन्न भारतीय महिलाओं के लिए एक नये युग की शुरुआत हुई। इस युग में महिला नेता स्थानीय स्तर पर महिलाओं की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने वाली साबित हुईं। स्थानीय महिलाओं के जुड़ाव से महिला शिक्षा, कामगार महिलाओं के लिए बेहतर जीविकोपार्जन, नीतियों के निर्माण पर जोर दिया गया। साथ ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलनों की संगठनात्मक गतिविधियाँ भी चलती रहीं। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में ऑल इण्डिया वूमेन कांफ्रेंस, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ी। यह लहर इसलिए भी महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इस लहर के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन ने महिलाओं को घर की चारदीवारी से निकाल कर सार्वजनिक सरोकार से जोड़ा। इस लहर ने राष्ट्रवादी आन्दोलनों की चेतना को अग्रसर किया और गाँधी, अंबेडकर इत्यादि नेताओं के साथ मिलकर सहयोग की भावना को बढ़ाया। कई प्रसिद्ध महिला सुधारकों ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में पुरुषों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर अपना सहयोग दिया और भारत की हर महिला को आन्दोलन में शामिल करने के लिए प्रेरित भी किया। इन महिलाओं का बलिदान इतिहास में अविस्मरणीय रहेगा। यह लहर महिलाओं की स्थिति के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के रूप में देखी जा सकती है।

इस युग की महिला समाज-सुधारकों में ज्योतिबा फुले, ताराबाई शिंदे, पंडिता रमाबाई, स्वर्णकुमारी देवी, सिस्टर निवेदिता, सरोजिनी नायडू, एनी बेसेंट, कमला नेहरू, रोकैया सखावत हुसैन, डॉ० मुथु लक्ष्मी रेड्डी, दीदी

सुब्बुलक्ष्मी, अरुणा आसफ अली, कमला देवी, विजयलक्ष्मी पंडित आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर व महात्मा गाँधी के विचारों ने भारत में महिलाओं के तरह-तरह के उत्पीड़न का विरोध किया एवं महिलाओं में आत्मविश्वास का संचार का और उन्हें सार्वजनिक जीवन की मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास किया।

1.1.13.3.3. भारत में तीसरी नारीवादी लहर (1947 से आज तक)

1948 में तेलंगाना में महिलाओं ने मार-पीट, ज़मींदारों, महाजनों और निजामों द्वारा किए जाने वाले शोषण का आक्रामक रूप से विरोध किया। इस आन्दोलन में मुख्य रूप से कामरेड स्वराज्यम्, अखला कमाला देवी, सरोजनी, चकली, इलामा, प्रमिला, जुमालुन्निसा बेगम इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने मुख्य रूप से विभिन्न महिला संगठनों जैसे – आन्ध्र महिला सभा, आन्ध्र युवती मण्डल, महिला संघम् का निर्माण भी किया। वह प्रमुख रूप से सैन्य शक्ति के विरोध में, लिंग समानता घरेलू हिंसा रोकने, बाल-विवाह और बहुविवाह रोकने हेतु सक्रिय हुई। 1950 के दशक में महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए भूदान आन्दोलन में भी महिलाओं ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। अरुणा आसफ अली 1958 में दिल्ली नगरनिगम की प्रथम महापौर चुनी गई। उन्होंने नगरनिगम में यथेष्ट सुधार किए। वह विभिन्न संगठनों से भी जुड़ी रहीं, जिसमें प्रमुख हैं – इंडो-सोवियत कल्चरल सोसायटी, ऑल इंडिया पीस कांउसिल तथा नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वूमेनइत्यादि।

1970 में महिलाओं ने महाराष्ट्र के ग्रामीण क्षेत्रों में मूल्यवृद्धि के खिलाफ आन्दोलन में 'यूनाइटेड वीमेंस एंटी प्राइस राइज फ्रंट' की स्थापना की। चूँकि मूल्यवृद्धि का सीधा असर महिलाओं पर हो रहा था इसलिए महिलाओं ने इसका प्रभावी रूप से विरोध करना आरम्भ कर दिया। इसके लिए उन्होंने थाली और बेलन को अपने आन्दोलन के घोषणा-चित्र के रूप में इस्तेमाल भी किया। विरोध के रूप में हजारों गृहिणियाँ सड़कों पर उतर आयीं। पूरे देश में इसे महिलाओं के सामाजिक परिवर्तन के लिए सक्रिय आन्दोलन के रूप में देखा गया। 1973 में मुंबई में समाजवादी पार्टी की मृणाल गोरे और सी.पी.आई. (एम.) की अहिल्या रांगणेकर ने महिला उपभोक्ताओं के लिए जनआन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आदिवासी भूमिहीन मजदूर, गैर-आदिवासी स्थानीय ज़मींदार, साहूकारों के अत्याचार इन सभी मुद्दों में महिलाओं ने अपनी विशेष भूमिका निभायी। उन्होंने शराब विरोधी आन्दोलन, शारीरिक हिंसा, ऋणग्रस्तता इत्यादि के विरोध में रैलियाँ निकालीं। सभी आन्दोलनों में महिला मजदूरों ने विशेष भूमिका निभायी। स्त्रियों का जुझारूपन बढ़ता ही चला गया। चाहे मुद्दा 1972-73 का शराब विरोधी आन्दोलन हो या घरेलू हिंसा का महिलाओं ने इस सभी मुद्दों पर अपनी आवाज़ तेज की।

1975 में मार्क्सवादी लेनिनवादी समूह जैसे 'स्त्री जागृति समिति' अथवा स्वचेतन नारीवादियों जैसे महिला केन्द्रों द्वारा अपनाए गए तरीकों से एक भिन्न रूप में कामकाजी महिलाओं एवं परिवारों को सक्रिय करने के लिए मुंबई में 'अन्नपूर्णा महिला मण्डल' का उदय हुआ। अन्नपूर्णा से अभिप्राय ऐसी महिलाओं से है जो गृहणियों

की सुरक्षा का बीड़ा उठाए। अन्नपूर्णा महिला मण्डल ने खनन करने वाली महिलाओं को एक कोष संग्रह स्थापित करने में मदद की। जिसके द्वारा वे निजी साहूकारों से ऊँचे ब्याज पर ऋण की अपेक्षा कम ब्याज पर ऋण लेने में समर्थ हुई। इस संगठन का उद्देश्य महिलाओं को आर्थिक, सामाजिक और पारिवारिक सुरक्षा प्रदान करना था।

इला रमेश भट्ट की स्वकार्यरत महिला एसोसिएशन की संस्थापक हैं। पेशे से वे एक वकील हैं। और अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता श्रम और महिलाओं के वित्तीय आन्दोलन का हिस्सा हैं। उन्होंने कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार जीते हैं। सुश्री इला भट्ट पहले टी.एल.ए. की महिला शाखा से जुड़ी और बाद में 1972 में अरविंद बुके, जो उस समय सेवा के अध्यक्ष थे, वे कहने पर 1972 में स्वरोजगार महिला संगठन के साथ जुड़ गई। उस समय अरविंद बुके अध्यक्ष के रूप में और इला भट्ट ने महासचिव के रूप में संगठन को अपनाया। इला भट्ट ने महिलाओं के पूर्ण रोजगार और आत्मनिर्भरता के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यकताओं को संगठित करने अपना जीवन समर्पित किया है। उन्होंने मात्र छह सौ महिलाओं के साथ 1972 में 'सेवा' की स्थापना की थी। आज सत्रह लाख से ज्यादा महिलाएँ इसका हिस्सा हैं।

अखिल भारतीय लोकतान्त्रिक (जनवादी) महिला संगठन (एडवा) एक महिला उन्मुख संगठन है जो लोकतन्त्र, समानता और महिलाओं के उद्धार के लिए प्रतिबद्ध है। यह समाज से वर्ग, जाति-समुदाय के भेदभाव की परवाह किए बिना समाज के सभी वर्गों से सम्बन्धित है। 2007 में संगठन तेइस राज्यों और दस लाख से अधिक लोगों का प्रतिनिधित्व करता था। इन संगठनों में दो-तिहाई गरीब ग्रामीण और शहरी महिलाएँ सम्मिलित हैं। एडवा महिलाओं के जनसंगठन के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर 1981 में स्थापित किया गया था। यह भारत में महिलाओं की मुक्ति के लिए भौतिक प्रणालीगत परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देता है। यह धर्मनिरपेक्षता में विश्वास रखता है। अखिल भारतीय लोकतान्त्रिक महिला संगठन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवाद) की महिला शाखा है। यह संगठन महिलाओं के अधिकारों, उनकी शिक्षा, रोजगार, को सशक्त बनाने के लिए कार्य करता है। साथ ही यह संगठन जातिवाद, साम्प्रदायिकता, बाल अधिकार और आपदा सहायता के लिए भी प्रयासरत है। एडवा के पहले राष्ट्रीय सम्मेलन में 5,90,000 सदस्य थे। एडवा के आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन 22-25 नवंबर 2013 को बोधगया बिहार में आयोजित किया गया। एडवा के क्षेत्रीय सहयोगी संगठनों में पश्चिम बंगाल गणतान्त्रिक महिला समिति, गणतान्त्रिक नारी समिति (त्रिपुरा में) और जनवादी महिला संगठन महाराष्ट्र में है। क्रान्तिकारी आदिवासी महिला संगठन भारत में एक प्रतिबन्धित महिला संगठन है जो कि आदिवासी महिला संगठन की एक उत्तराधिकारी शाखा है। आदिवासी महिला संगठन के पंजीकृत सदस्यों की संख्यानब्बे हजार तक पहुँच गई थी। यह संगठन भारत में पाँच सर्वोच्च महिला संगठनों में से है। यह संगठन महिलाओं के समक्ष विभिन्न सामाजिक मुद्दों को सम्बोधित करता है। इनके उद्देश्यों में महिलाओं के अपहरण, बहुपत्नीत्व, जबरदस्ती शादी इत्यादि मुद्दों के खिलाफ अभियान चलाना है। इसने आदिवासी परम्पराओं के खिलाफ भी अभियान चलाया जिसमें आदिवासी महिलाओं को उनके मासिक धर्म के दौरान गाँव से दूर रखने की प्रथा थी। इस संगठन ने आदिवासी महिलाओं को रूढ़िवादी विचारों और अन्धविश्वासों परम्पराओं से मुक्त कराया। महिला आत्मरक्षा समिति का गठन 1942 में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बंगाल में अकाल के दौरान किया गया था। कलकत्ता

महिलाओं के यौन शोषण का स्थल बनता जा रहा था और बड़ी संख्या में लोग बंगाल के अकाल से बचने के लिए दूसरे क्षेत्रों में प्रवास कर रहे थे। कलकत्ता में वेश्यालयों में महिलाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। अमेरिकी सैनिकों द्वारा यौन शोषण या स्थानीय महिला अपहरणों की घटनाएँ तेजी बढ़ रही थीं।

इन सभी घटनाओं के फलस्वरूप कम्युनिस्ट महिलाओं के एक समूह, महिला आत्मरक्षा समिति का गठन 1939 में कलकत्ता में हुआ। इस संगठन में रानी मित्रा दासगुप्ता, मणिकुंतला सेन और रेणु चक्रवर्ती कम्युनिस्ट नेता और रानी महालनोबिस (प्रशान्त चंद्र महालनोबिस की पत्नी) और लीला मजूमदार जैसी प्रमुख गैरकम्युनिस्ट, उदार महिलाएँ सम्मिलित हुईं। महिला आत्मरक्षा समिति ने भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष में महिलाओं को आत्मरक्षा के लिए निर्देश दिए, फासीवाद के खिलाफ अपना नाला बुलंद किया, राजनैतिक कैदियों की रिहाई की माँग की, भुखमरी से लोगों की रक्षा की माँग उठाई और अकाल से, त्रस्त समुदायों के लिए राहत की गतिविधियाँ जुटायीं। 17 मार्च 1943 को महिला आत्मरक्षा समिति ने खाद्य वस्तुओं पर मूल्य वृद्धि के विरोध में बंगाल विधानसभा तक पाँच हजार महिलाओं ने पैदल मार्च किया। इस संगठन के पहले सम्मेलन का आयोजन अप्रैल 1943 में मोहिनी देवी सचिव के रूप में और इला रीड की अध्यक्षता में किया गया। इस संगठन ने बंगाल के हर जिल में शाखाएँ स्थापित कीं और विरोध प्रदर्शन किए गए। 1944 तक इसकी सदस्य संख्या 43,500 तक पहुँच गई। 1947 के बाद इस संगठन का नाम बदलकर पश्चिम बंगाल महिला आत्मरक्षा समिति रखा गया। अप्रैल 1954 तक कई सारे जूट किसान इस संगठन से जुड़ गए। दो महीने के बाद, इस संगठन ने राष्ट्रीय भारतीय महिला संघ की नींव रखी।

भारतीय महिलाओं का राष्ट्रीय संघ, भारत की कम्युनिस्ट विचारधारा पार्टी की महिला शाखा है। यह अरुणा आसफ अली सहित महिला आत्मरक्षा समिति के कई नेताओं के साथ मिलकर 1954 में स्थापित की गई थी। भारतीय महिलाओं के राष्ट्रीय संघ संगठन पहली बार बड़े पैमाने पर महिलाओं और बच्चों के लिए देश के निर्माण में महिलाओं को जुटाने में प्रयासरत थे। इसमें कई दिग्गज बड़े नेता, स्वतन्त्रता सेनानियों के योगदान शामिल हैं जिनमें अरुणा आसफ अली, पुरूपा पुष्पामोए बोस, रेणु चक्रवर्ती, हजारा बेगम, गीता मुखर्जी, अनसुइया ज्ञानचंद, विमला डांग, विमला फारूखी इत्यादि शामिल हैं। इनके अलावा रामेश्वरे नेहरू, हन्ना सेन, राजकुमारी अमृतकौर, कमला देवी चट्टोपाध्याय, सुभद्रो जोशी और अन्य लोगों का समर्थन और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

नारी मुक्ति संघ बिहार और झारखण्ड में एक महिला संगठन है जो कि 1990 में महिलाओं के शोषण, उत्पीड़न और उसके विरुद्ध अत्याचारों के खिलाफ महिलाओं को संगठित करने के लिए तालेकोचा गिरिडीह में आयोजित महिला सम्मेलन के दौरान गठित किया गया। वर्तमान में नारी मुक्ति संघ के सदस्य बिहार, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, पश्चिम बंगाल और दिल्ली तक फैले हुए हैं। यह संगठन मार्क्सवादी, लेनिनवादी और माओवादी विचारधारा से प्रभावित है और राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए स्वतन्त्रता, समानता, मुक्ति, समाजवाद जैसे सिद्धान्तों को अपनाता है। यह संगठन महिलाओं को आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों की गतिविधियों और प्रक्रियाओं का हिस्सा बनाना चाहता है। पुरुषों और महिलाओं के बीच समान कार्य वेतन,

बेहतर वेतन, स्वास्थ्य सेवाएँ इत्यादि उपलब्ध कराना इसका उद्देश्य है। स्वर्ण कुमारी देवी उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में बंगाल की अग्रणी महिलाओं में से एक थीं। उन्होंने गरीब विधवाओं और असहाय महिलाओं को सहायता प्रदान करने की दृष्टि से 1886 में पहली बार महिलाओं के लिए सखी समिति संगठन की स्थापना की। स्वर्णकुमारी देवी और कादम्बिनी गांगुली1890 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली महिला प्रतिनिधि बनने वाली महिलाएँ थीं। स्वर्णकुमारी देवी विदर्भ शिल्प मेला की अध्यक्ष थीं। उनकी पुत्री हिरोनमोई देवी ने विधवाओं के लिए कला और शिल्प के केन्द्र का आयोजन किया। भारत के विभिन्न हिस्सों से महिलाएँ अपने कुटीर उद्योगों के उत्पादों का प्रदर्शन करने पहुँचीं। 1910 में सरला देवी ने भारत स्त्री महामण्डल की स्थापना की।

तत्त्वबोधिनी सभा देवेन्द्रनाथ टैगोर की महिलाओं के अधिकारों की वकालत पर स्थापित की गई थी। समाजोन्नति विद्यायनि सुहृद समिति सामाजिक सुधारों के लिए 1854 में निर्मित की गई थी। यह बहुविवाह और बालविवाह जैसी प्रथाओं के खिलाफ कार्य कर रही थी। भाभाबोधिनी सभा का गठन 1863 में महिला प्रबोधिनी पत्रिका के माध्यम से शिक्षा का प्रसार किया गया। उत्तरपारा हितकारी सभा का गठन 1864 में बालिकाओं के विद्यालयों के प्रसार के लिए किया गया था। बारीसाल महिला सुधार एसोसिएशन (1871) और विक्कर्मपुर सम्मिलानी (1879) बंगाल में महिला के कल्याण के लिए बनायी गई थी। बामा हितैषिनी सभा (1871), आर्य नारी समाज (1879), बंगाल महिला समाज (1879), ये सभी संगठन बंगाल में महिलाओं के सामाजिक, मानसिक नैतिक और अध्यात्मिक विकास के लिए स्थापित किए गए थे।

भारत स्त्री मण्डल का उद्देश्य था, भारत में हर जाति, धर्म, वर्ग और पार्टी की महिलाओं को उनकी नैतिक और आर्थिक प्रगति के लिए साझा हित के आधार पर एक साथ लाया जाए ताकि वे मानवता की प्रगति के लिए महिला एसोसिएशन में आपसी सहायता की भावना के साथ काम कर सकें। बंगाल महिला शिक्षा लीग का गठन 1928 में शिक्षा में सुधार करने के उद्देश्य से किया गया था।

महिलाओं के लिए वामाबोधिनी पत्रिका ब्रह्मसमाज द्वारा 1863 में शुरू की गई। इसमें विधवाओं के जीवन से सम्बन्धित लेख छापे जाते थे। 1882 में स्वर्गाकुमारी देवी के द्वारा डे लेडीज थियोसोफिकल सोसाइटी और सखी समिति (1886) की स्थापना की। पंडिता रमाबाई ने 1892 में शारदा सदन की स्थापना की। 1894 ऐनी बेसेंट ने सेंट्रल हिन्दू स्कूल कॉलेज की स्थापना की और 'न्यू इंडिया' नामक पत्र के सम्पादन द्वारा नारी जागृति के लिए कार्य किया।

भारतीय महिला मताधिकार : संघर्ष और आन्दोलन – 1917 में मार्गरेट कजिन्स ने राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की राजनैतिक गतिविधियों को संचालित करने के लिए 'इंडियन वीमेंस एसोशिएन' की स्थापना की। इसी वर्ष 'सेक्रेटरी स्टेट फॉर इंडिया' मांटेग्यू भारत आए, तभी सरोजिनी नायडू के प्रतिनिधि मण्डल ने महिला मताधिकार की माँग पेश की। 1911 में इंग्लैंड की संसद में इसी मताधिकार को लेकर चर्चा हुई। सन् 1921 में विधान सभाओं के लिए स्त्रियों को मताधिकार दिया गया था। इसी को आगे बढ़ाते हुए 1923 में मध्यप्रदेश, 1925 में

बंगाल में, 1926 में पंजाब में, 1929 में बिहार में नवनिर्वाचित विधानसभा के सदस्यों ने महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया।

1.1.14. समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य लेखन

हिन्दी में स्त्री चिन्तन की परम्परागत दृष्टि से मुक्त वाद, विवाद और संवाद की शुरुआत 'शृंखला की कड़ियाँ' से मानी जाती है, किन्तु महादेवी वर्मा के समकालीन निराला के स्त्री-केन्द्रित आलेखों पर विचार किया जाना भी जरूरी है। निराला स्वकीया, कला और देवियाँ, समाज और स्त्रियाँ, हिन्दू-अबला, राष्ट्र और नारी, रूप और नारी, सरदा बिल का विरोध, नौकरशाही का महिलाओं पर हमला, वर्तमान आन्दोलन में महिलाएँ, विवाह के विचार पर बनार्ड शॉ, हमारी महिला प्रगति, हिन्दू विधवाओं पर अनधिकार-चर्चा, सौन्दर्य और विवाह, विवाह की उम्र, चीनी महिलाओं का भारतीय आदर्श, साड़ी की महिमा, रूस की स्त्रियाँ जैसे आलेखों के माध्यम से (देखिए, निराला रचनावली, भाग-6, राजकमल प्रकाशन, 1992) उस वक्त न केवल स्त्री से जुड़े विविध आयामों पर चर्चा कर रहे थे वरन् वे अपने समय से बहुत आगे आकर भी बात कर रहे थे। इसी तरह से विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े (निधन 1922) यद्यपि विचार भारतीय विवाह संस्था के इतिहास पर कर रहे थे किन्तु उनकी दृष्टि आने वाले वक्त की नब्ज़ पर लगातार जमी रही। सिलसिलेवार स्त्री पर चिन्तन का अबाध रस्म अस्सी के आसपास से देखने मिलता है। उनमें से महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के परिचय के माध्यम से स्त्री चिन्तन पर उसके विविध आयामों पर वाद, विवाद, संवाद की गुंजाइश बन सकती है। इन पुस्तकों में इस अवधि में विश्व साहित्य से हिन्दी में अनूदित होकर आयी कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी शामिल हैं।

(1) नारी शोषण, आइने और आयाम – आशारानी व्होरा नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली – यह पुस्तक स्त्री-शोषण के विविध आयामों पर विस्तार से विचार करती है। शोषण के मूल में हमारे नैतिक मूल्यों को पाती है। लेखक स्त्रियों को भी इस स्थिति के लिए बराबर का जिम्मेदार पाती हैं। सदियों की कंडीशनिंग के बाद स्त्रियाँ यह समझ ही नहीं पाती कि वे अपने खिलाफ क्या कार्य कर रही हैं।

(2) देह की राजनीति से देश की राजनीति तक – मृगाण पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987 – यह पुस्तक इस विचार को केन्द्र में लाती है कि विश्व की अधिकांश आबादी चूँकि महिलाएँ और बच्चे हैं इसलिए राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक किसी भी क्षेत्र में असन्तुलन का ब्योरा स्त्री और बच्चों की अवहेलना करके नहीं बिठाया जा सकता। मृणाल पांडे घर, परिवार, श्रमजीवी स्त्री, वेश्या, स्त्री-शिक्षा, स्त्री-हिंसा, खबरों में स्त्री, अश्लीलता का विरोध करती स्त्री आदि स्थितियों और उनके दृष्टिकोण पर चर्चा करती हैं।

(3) स्त्री उपेक्षिता – सिमोन दी-बोउआर, (अनु.) प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक, संस्करण 1998 – सिमॉन द बॉउवार की विश्वचर्चित कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' का हिन्दी रूपान्तर स्त्री-प्रश्नों पर विश्वस्तरीय महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। सिमॉन सामान्य स्त्री को केन्द्र में रखकर उनसे संवाद करती हैं। "स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है" – कहने वाली सिमॉन स्त्री के सामाजीकरण के प्रत्येक पहलू पर अपनी गहरी नजर रखती हैं। पूर्व में वर्तमान व्यवस्था की टूट-फूट के बीच सुधार की सम्भावना स्वीकार करने वाली सिमॉन अपने

परवर्ती समय में व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन की हिमायती हो गई थीं। स्त्री चिन्तन पर बात करते हुए सिमॉन द बॉउवार को अलग रखकर बात करना सम्भव नहीं है। यद्यपि आज स्त्रीत्ववादी चिन्तन बहुत आगे निकल गया है किन्तु सिमॉन के वक्त का स्त्री के बारे में इतना प्रमाणिक चित्रण दूसरा उपलब्ध नहीं है। स्त्री की अधीनस्थ की भूमिका को तथ्य और मिथ तथा आज की स्त्री उपखण्डों के माध्यम से प्रभा खेतान ने अनुवाद में प्रस्तुत किया हैं।

(4) आज की आम्रपाली – सरला मुद्‌गल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1993 – 'आज की आम्रपाली' देह व्यापार की त्रासदी पर केन्द्रित पुस्तक है जिसमें गहन शोध, साक्षात्कारों एवं विशद् अध्ययन के आधार पर वेश्यावृति के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण ढंग से रेखांकित किया गया है। ऐतिहासिक सर्वेक्षण के माध्यम से गणिकाओं के इतिहास से लेकर आज की कॉलगर्ल तक ही पुस्तक सीमित नहीं, पुरुष वेश्या, हिजड़ों पर चर्चा के साथ ही, वेश्याओं की सन्तानों के पुनर्वास को भी वे अपनी कलम का विषय बनाती हैं।

(5) औरत होने की सजा – अरविन्द जैन, विकास पेपर बैक्स, मेन रोड, गाँधी नगर, दिल्ली-31, 1994 वर्ष, राजकमल पेपर बैक्स, 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2 – (लॉ) को लॉ अगेन्स्ट वीमेन मानने वाली अरविन्द जैन की इस पुस्तक में कानूनी प्रावधानों की चीड़फाड़ करते और अदालती फैसलों पर प्रश्नचिह्न लगाते लेख हैं जो कानूनी अन्तर्विरोधों और विसंगतियों का प्रमाणिक खोजी दस्तावेज हैं। ये लेख गम्भीर अध्ययन, मौलिक चिन्तन और गहरे मानवीय सरोकारों के बिना सम्भव नहीं हो सकते। पन्द्रह आलेखों की मात्र सौ पृष्ठों वाली यह पुस्तक भीतर तक प्रहार करते हुए कानूनी लूप होल्स का खुलासा करती है जिनसे स्त्री का निकल पाना लगभग असम्भव है।

(6) स्त्री के लिए जगह – सम्पादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02, 1994 – पुस्तक अपने लिए रास्ता बनाती, स्त्री और शोषण का शिकार होती स्त्री, स्त्री स्वातन्त्र्य के तात्पर्यों और गुलामी की जंजीरों पर विचार करती हुई इस बात को केन्द्र में लाती है कि स्त्री क्या चाहती है ! महत्त्वपूर्ण स्त्री प्रश्नों पर घरेलू स्त्रियाँ, बलात्कार, धरती और बीज, शूद्र पशु नारी, हिन्दू विवाह की तानाशाही, पुरुष के कब्जे में स्त्री कानून आदि विषयों पर यह पुस्तक भिन्न-भिन्न कोण से विचार करती है।

(7) औरत के हक – तसलीमा नसरीन, वाणी प्रकाशन, 1994 – स्त्री होने को 'चरम लज्जा' समझने वाली पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति देश, काल, वातावरण बदल जाने पर भी नहीं बदली है। बांग्लादेश के दिक् काल के मध्य स्त्री के शाश्वत प्रश्नों को तसलीमा नसरीन ने दैनिक जीवन के छोटे-छोटे तल्ख़ अनुभवों के माध्यम से व्यक्त किया है।

(8) परिधि पर स्त्री – मृणाल पांडे, राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996 – 'परिधी पर स्त्री' स्त्री से जुड़े विभिन्न समस्याओं पर लिखे गए लेखों का संकलन है। मृणाल पांडे का विचार है कि हमारे समय में एक या अनेक लोग नारीवाद का गलत इस्तेमाल करते हुए उसे भले ही अपने अहंकार प्रक्षेप या उपभोक्तावादी स्वार्थ-साधना या फिर सीधे वोट की उगाही का जरिया क्यों न बनाते रहें, इस विचारधारा को मात्र एक चमत्कार के रूप में ही अंगीकार करने वाले ज्यादातर मौकापरस्त गुट या लोग समय की कसौटी पर कुछ समय बाद नारीवाद के स्वस्थ प्रतिनिधि नहीं, बल्कि ही भावना से ग्रस्त अराजक और

मौकापरस्त अहंवादी ही साबित होते हैं। मृणाल पांडे के ये लेख गरीबी, महिला वोटर, असमानता, पुलिस और लोकतन्त्र, भँवरी, महिला शरणार्थी, नारी का टारगेट बन जाना, छोटे पर्दे, अपराध के महिमामण्डन, आबादी नियन्त्रण, आत्मनिर्भरता और सहकारिता जैसे विषयों पर केन्द्रित हैं।

(9) समान नागरिक संहिता – सरला महेश्वरी, राधाकृष्णन प्रकाशन, 1997 – पुस्तक का केन्द्रीय विषय समान नागरिक संहिता है, जिसे बार-बार निजी कानूनों के सामने घुटने टेकने पड़े हैं। अन्य विषयों पर एकविध कानून बनने के बावजूद सिर्फ विवाह और उत्तराधिकार से जुड़े प्रश्न, जो सीधे-सीधे स्त्री-प्रश्न हैं, को निजी कानून की गिरफ्त से बाहर न निकालने की पितृसत्ता और साम्प्रदायिक तत्त्ववादियों की मंशा का खुलासा है। इस पुस्तक में भेदभावपूर्ण निजी कानून, सुप्रीम कोर्ट और सरकारों की भूमिका पर तथ्यपरक विमर्श प्रस्तुत किए गए हैं।

(10) आधी ज़मीन – उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, 1997 – अपनी पूरी पुस्तक में स्त्री के लिए आधी सदी के कथा क्षेत्र में कार्य कर रही कहानी लेखिकाओं के 'सरसरी जायजे' के बाद अश्क प्रश्न उठते हैं कि कृष्णा सोबती के अलावा कोई और ऐसी कहानी लेखिका क्यों नहीं हैं जो प्रतिष्ठित हिन्दी पुरुष लेखकों की भाँति ज़िन्दगी भर लिख सकती। उनका मानना है कि लेखिकाएँ परिवार से बँधी हैं, कटु यथार्थ की अभिव्यक्ति का निर्मम साहस उनमें नहीं है। लेखन को समर्पित लेखक जहाँ माता-पिता, घर-द्वार छोड़ देते हैं, इसके अभाव में स्त्रियों अच्छी रचनाकार नहीं बन पातीं। अश्क मानते हैं कि सीमित अनुभव और कुण्ठाएँ लेखिकाओं को महान् कथाकार नहीं बना पाई हैं।

(11) दुर्ग द्वार पर दस्तक – कात्यायनी, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ 1997 – 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' में कात्यायनी स्त्री के श्रम और शोषण को केन्द्र में लाती हैं। पूँजी पर पुत्राधिकार को स्त्री की हीन स्थिति का जिम्मेदार मानती हैं। वे बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन और भूमण्डलीकरण के समय को स्त्री के पक्ष में नहीं पातीं। कात्यायनी विश्व बैंक को तीसरी दुनिया के खिलाफ पाती हैं।

(12) अश्लीलता का हमला – सम्पादक : राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1998 – 'आज के प्रश्न' शृंखला की यह पुस्तक अश्लीलता, मुक्त देह के आखेट, कामुकता की संस्कृति, सौन्दर्य का षड्यन्त्र, इलेक्ट्रानिक तरंगों की मनमानी, प्रिंट मीडिया, कला, अर्थनीति, सौन्दर्य और उत्तर संस्कृति के माध्यम से अश्लीलता के हमलों का साक्षात् कराती है। सम्पादक का विचार है कि हमारे समय में अश्लीलता समस्या न होकर हमला है। एक अश्लील संस्कृति लगातार हमारी सम्वेदना पर चोट कर रही है। राजकिशोर इसके मूल में यौन क्रान्ति को पाते हैं।

(13) नारी प्रश्न – सरला माहेश्वरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1998 – पुस्तक नारीवादी आन्दोलन की अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और उसके आधार पर निर्मित दृष्टि की रोशनी में नारी-जीवन से जुड़े प्रश्नों पर गम्भीर विमर्श प्रस्तुत करती है। नारीवाद की परस्पर विरोधी धाराओं के बावजूद स्त्री-मुक्ति से जुड़े महत्त्वपूर्ण समान प्रश्न जैसे – नारीवाद का पश्चिमी सन्दर्भ, विवाह, तलाक और मार्क्स, नवम्बर क्रान्ति, औरतों की कम होती आबादी, राष्ट्रीय महिला आयोग, महिला आरक्षण, नौकरशाही, सती महिमामण्डन जैसे विषय पुस्तक के केन्द्र में हैं।

(14) उठो अन्नपूर्णा साथ चलें – उषा महाजन, हिमाचल पुस्तक भण्डार, 1998 – 'उठो अन्नपूर्णा साथ चलें' बदलते दाम्पत्य सम्बन्धों को रेखांकित करती महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। दाम्पत्य सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण कारकों पर उँगली रखती यह कृति उन सुलगते सवालों को विमर्श का मुद्दा बनाती है, जो दाम्पत्य सम्बन्धों को प्रभावित और परिचालित करते हैं। दहेज, दहेज सम्बन्धी कानून, हिन्दू विवाह, हिन्दू विवाह का बदलता स्वरूप, बदलता सामाजिक परिदृश्य, साथ रहते अविवाहित जोड़े (लिव इन टुगेदर) विवाह की बेड़ियों, एड्स जैसे विवाह से जुड़े सभी प्रश्नों पर दाम्पत्य की विकट स्थितियों से गुजर रहे पति-पत्नियों के केस अध्ययनों, न्यायाधीशों, वकीलों, मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों, यौन विशेषज्ञों, पुलिस अधिकारियों एवं महिला संस्थानों के संचालकों से साक्षात्कारों, पत्र-पत्रिकाओं में छपी सामग्री के सहारे विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

(15) चुकते नहीं सवाल – मृदुला गर्ग, सामयिक प्रकाशन, 1999 – यह पुस्तक मूलतः स्त्री-केन्द्रित नहीं है किन्तु इसके कुछ आलेख, स्त्री-प्रश्नों पर बात करते हैं। साहित्य में स्त्री-छवि, कहानी में नारीचेतना, सत्ता और स्त्री, देसी फेमिनिस्ट और मैं और मेरी समझ (आत्मकथ्यपरक आलेख) वर्गों में बाँट दी गई स्त्री की साहित्य में किस रूप में प्रस्तुति, स्वीकृत हुई है, विविध रचनाओं के माध्यम से भिन्न-भिन्न और बदलती छवियों पर विचार किया गया है। स्वचेती स्त्री को कहानी में नारी चेतना के माध्यम से देखा-परखा गया है। बदलती हुई स्त्री के पास विकास के जो प्रतिमान हैं क्या उसे मर्द बना रहे हैं ! सजा पाकर क्या स्त्री पुरुष हो रही है, पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक व्यवस्था के क्या गुण-दोष हैं पर विचार करती हुई मृदुला गर्ग देसी फेमिनिज़्म को भी अपने विमर्श में शामिल करती हैं, ज़मीन से जुड़ी स्त्रियों और उनके प्रश्नों के माध्यम से वे साबित करना चाहती हैं कि भारत में फेमिनिज़्म का अर्थ अन्नपूर्णा और शक्ति का समन्वय है, वे इसे नारीमुक्ति के स्थान पर दृष्टि के रूप में देखती हैं।

(16) स्त्रीत्व का मानचित्र – अनामिका, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1999 – 'स्त्रीत्व का मानचित्र' स्त्री चिन्तन पर प्रकाशित उन विरली हिन्दी पुस्तकों में से है, जो स्त्रीवादी आन्दोलनों को पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने का गम्भीर प्रयत्न करती है। परम्परागत नारी छवि को पुख्ता करने वाली रचनाओं से भिन्न यह समय से संवाद करती पुस्तक है। स्त्रीवादी आन्दोलन की राजनैतिक यात्राओं से प्रारम्भ होकर पश्चिमी दार्शनिक निकायों, भारतीय आर्षग्रन्थ, लोक-साहित्य, स्त्रीत्ववादी चिन्तन एवं आलोचनाओं की धाराओं पर विचार करते हुए अनामिका स्त्रीत्व और भाषा, स्त्री कथाकारों की स्त्रियाँ, तीसरी दुनिया की स्त्रियों, संक्रमण काल में भारतीय स्त्री, उत्तरवाद और साहित्याध्ययन की चुनौतियों के माध्यम से स्त्री-प्रश्नों पर अनेक कोणों से विचार करती हैं। इस पुस्तक में महत्त्वपूर्ण यह भी है कि स्त्री केन्द्रित विश्व साहित्य की अंग्रेजी में सूची तथा पश्चिमी दार्शनिक निकायों पर परिशिष्ट संलग्न हैं, जो महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं।

(17) स्त्री का समय – क्षमा शर्मा, मेधा बुक्स, 1998 – 'स्त्री का समय' में भयावह रूप से हिंसक और अमानवीयता की हद तक खतरनाक हो गए स्त्री के समय की बात करते हुए क्षमा शर्मा का विचार है कि किसी भी अन्य अधिकार से पहले लड़कियों को जीवित रहने का अधिकार मिलना चाहिए। पुस्तक में देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लिखे लेख और टिप्पणियाँ हैं इसलिए किसी एक

तारतम्य को खोजना यहाँ व्यर्थ होगा। हमारे समय के गम्भीर और जटिल मुद्दों यथा – कन्याभ्रूण-हत्या, दहेज-हत्या, सतीप्रथा, बलात्कार, पारिवारिक हिंसा, शोषण, उत्पीड़न, नैतिकता, मर्यादा, संस्कार, फैशन, सौन्दर्य प्रतियोगिता, परिवार और विवाह संस्था पर केन्द्रित ये आलेख बदलती स्त्री छवि को देखने समझने की दृष्टि से समर्थ हैं।

(18) हव्वा की बेटी – दिव्या जैन, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2000 – पुस्तक के बारे में सुधा अरोड़ा का विचार है कि औरत जात के इस तथाकथित 'अछूत' तबके के बीच जाकर उनके दर्द से रूबरू होते हुए स्याह अक्षरों का यह त्रासद यथार्थ दिव्या जैन की किताब 'हव्वा की बेटी' में बेहद प्रामाणिक और सशक्त रूप में उभरा है। इसे पढ़ना एक घुटन और सीलन के तहखाने से गुजरना है, जहाँ हवा के लिए कोई सुराख नजर नहीं आता। 'हव्वा की बेटी' में देहव्यापार से जुड़ी स्त्रियों के साक्षात्कार पर आधारित लेख हैं, जिन्हें पास से देखने का मौका दिव्या जैन को इंडियन हैल्थ अर्गनाइजेशन और 'सहेली' संस्था से जुड़कर प्राप्त हुआ। जनसत्ता के कॉलम के रूप में पूर्व प्रकाशित इन स्तम्भों को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। इन आलेखों की विशेषता है कि ये उन कारणों पर भी प्रकाश डालते हैं, जो स्त्रियों को वेश्यावृत्ति की ओर प्रवृत करते हैं। गरीबी के कारण बेटियों को बेच देने वाले माता-पिता तो यहाँ हैं ही, प्यार और विवाह के झाँसे में बरगलायी जाकर बेच दी गई किशोरियों के अनुभव सर्वाधिक हैं; ज्यादातर स्त्रियाँ या तो वेश्याओं की बेटी होने के कारण वेश्याएँ बनी हैं या कोई और उन्हें यहाँ अपने फायदे के लिए छोड़ गया है। इनमें इस जीवन से निकलने की छटपटाहट अवश्य है किन्तु पुनर्वास के सीमित साधनों, सरकारी तन्त्र और लालफीताशाही, कानून का साधनहीनों के लिए उपलब्ध न होना, पुस्तक में महत्त्व के साथ रेखांकित है।

(19) औरत, अस्तित्व और अस्मिता – अरविन्द जैन, सारांश प्रकाशन, 2000 – पुस्तक की पीठ पर उद्धृत अरविन्द जैन का वक्तव्य समकालीन स्त्री चिन्तन में पुरुष की भूमिका पर महत्त्वपूर्ण टीप प्रस्तुत करता है। "मैंने महसूस किया है कि मैं भोक्ता नहीं हूँ तो क्या हुआ, साक्षी और अधिवक्ता तो हूँ। हो सकता हूँ। अगर इस समय और समाज में मेरी भूमिका एक स्त्री के अधिवक्ता की ही है तो क्या उसकी हार, मेरी अपनी हार नहीं ? उसकी जीत ही मेरी जीत नहीं। मैंने संकल्प ले कहा, 'आई हैव टू जस्टिस विद माई ब्रीफ एंड रोल देअर इज नो अदर वे। यस माई लार्ड्स !' 'औरत के हक में' मैं बहस करने की इजाजत चाहता हूँ। कृपया बिना दलील सुने ही, अपील का फैसला न करें।" प्रभा खेतान इसे महिला लेखन पर साहित्य की ऐसी पुस्तक मानती है जिस लाँघकर समकालीन साहित्य जगत में स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में कुछ कहना असम्भव नहीं तो कठिन जरूर होगा। अरविन्द जैन महिला लेखन के समाजशास्त्रीय अध्ययन में स्त्री केन्द्रित साहित्य उपन्यास, आत्मकथ्य, विचारपरक पुस्तकों पर विचार करते हुए उसमें उपस्थित स्त्री से संवाद स्थापित करते हैं। उनकी मूल स्थापना पूँजीवाद और विवाह संस्था के माध्यम से पितृसत्ता स्त्री का शोषण करती है। सभी कृतियों के अध्ययन की आधार भूमि बनती है। इस पुस्तक में पुरुष लेखक के स्त्री-लेखन 'मर्दवादी स्त्री-विमर्श' पर भी विचार किया गया है। जिन पुस्तकों को अरविन्द जैन ने चुना है उसमें केन्द्रीय-विषय अस्मिता की तलाश, संघर्ष अथवा उसे सम्पादित करती स्त्री है अथवा उससे इनकार करना पितृसत्ता। अपनी अन्य रचनाओं की भाँति यहाँ भी अधिवक्ता अरविन्द जैन अपने

लेखन को तीन धरातलों पर जीते हैं – साहित्य, कानून और जीवन। विषयानुसार यहाँ साहित्य मुख्यधारा और कानून अन्तर्धारा की तरह बह रही है।

(20) स्त्री देह के विमर्श – सुधीश पचौरी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, लखनऊ, 2000 – सुधीश पचौरी यह मानते हैं कि ये टिप्पणियाँ स्त्रीत्व के पक्ष में एक सत्तामूलक विमर्श हैं। जिनमें स्त्रीत्व के सवालों को जैव और स्त्री-देह के सवालों की तरह पढ़ा गया है। सभी आलेखों त्वरित टिप्पणियाँ हैं, जिन्हें दैनिक और तात्कालिक आकुलता से लिखा गया है। सौन्दर्य प्रतियोगिता, स्त्री-श्रम, समकालीन संस्कृति में माधुरी दीक्षित बनने की चाहवाली लड़की, स्त्री-देह के कथन, स्त्री-लेखन, सेक्स क्रान्ति और बाज़ार, विज्ञापन और उसके पीछे की बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मंशा, स्त्री को त्वचा में बदलने का बाज़ारी षड्यन्त्र, छेड़छाड़, आरक्षण, स्त्रियों के लिए लागू ड्रेस कोड, इलेक्ट्रानिक मीडिया के सांस्कृतिक प्रभाव, देह और राजनीति, कंडोम कल्चर, स्त्रीत्ववाद में पुरुष की जगह जैसे विषयों पर उत्तर आधुनिक दृष्टि से विचार किया गया है एवं विखण्डन के माध्यम से स्त्री विषयों का पाठ प्रस्तुत किया गया है।

(21) आदमी की निगाह में औरत – राजेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, 2001 – राजेन्द्र यादव भूमिका में स्वीकार करते हैं कि ये चालीस वर्ष के समयकाल में फैले आलेख हैं, कि स्त्री हमारा अंश और विस्तार है जिसे हमने अपना उपनिवेश बना लिया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दुनिया-भर के जो उपनिवेश भौतिक और मानसिक रूप से स्वतन्त्र हुए उनमें 'स्त्री' नाम का उपनिवेश भी है। स्त्री हमारे भीतर है इसलिए उसका संघर्ष ज्यादा जटिल है कि विचारों की दुनिया में नितान्त मौलिक कुछ नहीं होता। जाने-अनजाने विचारों का समाहार होता चलता है जिसे हम अपनी तरतीब देते हैं। पुस्तक विमर्श और लेखन दो भागों में विभाजित है। लेखन खण्ड में महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, जैनेन्द्र की 'सुनीता', फणीश्वरनाथ रेणु, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, जया जादवानी पर केन्द्रीय लेख हैं वहीं समग्र महिला उपन्यास लेखन पर केन्द्रित अभिलेख भी हैं। लोलिता, ओ की कहानी, कॉल्ड यू ये बियेत्रिस पर लिखकर राजेन्द्र यादव फलक को विस्तार देते है। विमर्श खण्ड में स्त्री से जुड़ी तात्कालिक घटनाओं पर टिप्पणियाँ हैं। प्रायः सभी लेख हंस के सम्पादकीय हैं। इनमें वह विवादित आलेख 'होना / सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ में' भी है जिनमें राजेन्द्र यादव अपनी समस्त विकृतियों को 'आयरनी' का जामा पहनाकर जस्टीफाई करते नजर आते हैं।

(22) बन्द गलियों के विरुद्ध – सम्पादन - मृणाल पांडे एवं क्षमा शर्मा, 2001 – बन्द गलियों के विरुद्ध महिला पत्रकारिता की यात्रा पर आधारित है। इसमें तैतीस स्त्री रचनाकारों के एक-एक स्त्री-केन्द्रित और एक-एक इतर विषय पर केन्द्रित लेख को स्थान दिया गया है। ऐसा करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में लिखने वाली स्त्री-रचनाकार इतर विषयों पर लिखने में भी उतनी ही सक्षम हैं। आलेख महत्त्वपूर्ण है किन्तु प्रायः पूर्व प्रकाशित हैं। बन्द गलियों के चक्रव्यूह के विरुद्ध कलम चलाना स्त्री के लिए कैसे नये क्षितिज खोलता है – इसकी ओर संकेत करना सम्पादकों का मन्तव्य है।

(23) इक्कीसवीं सदी की ओर – सम्पादक - सुमन, कृष्णकाल, राजकमल प्रकाशन, 2001 – सम्पादक की स्त्रीजगत से अपेक्षा है कि यदि महिलाओं को नयी सहस्राब्दि का परिवर्तनकारक प्रतिनिधि बनना है तो उन्हें बदलते हुए समय की चुनौतियों को स्वीकार करना होगा तथा इस दिशा में स्वयं सक्रिय भूमिका

निभानी होगी। स्त्री और पुरुष रचनाकारों के भेदभाव के बिना इस सम्पादित पुस्तक में स्त्री केन्द्रित तैतीस आलेखों को लिया गया है। विशेष बात यह है कि सभी सामयिक प्रश्न नयी सहस्राब्दि को केन्द्र में रखते हैं। कुछ स्त्री-शोषण और संघर्ष पर केन्द्रित हैं तो कुछ आलेख बेहतर कल की सम्भावना के लिए जगह तलाशते हैं। यह स्त्री-विषयों पर एक अच्छी पुस्तक है।

(24) संघर्ष के बीच : संघर्ष के बीज – सम्पादक - इलीना सेन, सारांश प्रकाशन, 2001 – जनआन्दोलनों में स्त्रियों की भागीदारी पर यह पुस्तक अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद है (अ स्पेस विदिन द स्ट्रगल, सम्पादक - इलीना सेन, कॉली फॉर वूमेन, नई दिल्ली, 1990) वायनाड, श्रीकाकुलम, महँगाई विरोधी आन्दोलन, बोधगया का भूमि संघर्ष, चिपको आन्दोलन, उत्तराखण्ड की जाग्रत महिलाएँ, धूलिया में आदिवासी संघर्ष, छत्तीसगढ़ के मजदूर आन्दोलन, केरल के मछुआरों का संघर्ष, निपाणी के बीड़ी कामगार, तमिलनाडु निर्माण मजदूर संगठन, असम का आन्दोलन, महाराष्ट्र का किसान आन्दोलन, भोपाल में गैस पीड़ित महिलाओं का संगठन, सेवा संगठन ही नहीं आन्दोलन भी – विषय और क्षेत्र का वैविध्य रेखांकन योग्य है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये जनआन्दोलन प्रत्यक्षतः स्त्री केन्द्रित प्रश्नों को लेकर नहीं हुए हैं किन्तु ये आन्दोलन महिला आन्दोलन को समृद्ध करते हैं। परम्परागत नारीवादी मानदण्डों से इन आन्दोलनों को नहीं परखा जा सकता किन्तु महिलाएँ अपनी उपस्थिति से अपने लिए जनाधार बनाने में सफल हुई हैं। जनआन्दोलन के बहाने स्त्री की महत्त्वपूर्ण भागदारी और प्रश्नों पर उनके हस्तक्षेप जनआन्दोलन एवं इस पुस्तक कीमहत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

(25) विद्रोही स्त्री – जर्मेन ग्रीयर, अनु. - मधु. बी. जोशी, राजकमल प्रकाशन, 2001 – (सर्वप्रथम प्रकाशन मैकगिब्बन एंड की लि., ग्रेट ब्रिटेन, 1970) इक्कीसवें संस्करण के प्राक्कथन में जर्मेन ग्रीयर लिखती हैं कि " 'बीस साल पहले द फीमेल यूनक' के परिचय में मैंने लिखा था कि मेरे विचार से यह किताब जल्दी ही डेटेड होकर गायब हो जाएगी। मुझे आशा थी कि धरती पर औरतों की एक ऐसी नस्ल आ आएगी जिसके लिए बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित जगत के यौन दमन का मेरा विश्लेषण एकदम असंगत होगा। संसार की ज्यादातर औरतें अब भी डटी हुई है, अब भी भूखी, अब भी गूंगी और धर्म द्वारा तमाम तरह की बेड़ियों से जकड़ी है, उनके चेहरे पर नकाबें हैं, मुँह पर मुँहासे, उनके अंगभंग हैं, वे पिटी हुई हैं।" स्त्री के प्रश्न आज भी कहाँ बदले हैं, इस दृष्टि से ग्रीयर की पुस्तक आज भी प्रासंगिक है। स्त्री-प्रश्नों को यह पुस्तक देह, आत्मा और प्रेम के उपशीर्षकों को विभाजित करती है। स्त्री से जुड़े जैविक, पारिवारिक, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक प्रश्नों पर सामयिक दृष्टि से विचार किया गया है।

(26) नारीवादी विमर्श – राकेश कुमार, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2001 – विगत दशक में स्त्री-प्रश्न साहित्य के केन्द्र में रहे हैं जबकि जीवन में स्त्री हाशिए पर है। यह पुस्तक साहित्य की अनवरत धारा के मध्य स्त्री-विमर्शवादी साहित्य की भूमिका की तलाश करती है। हिन्दी में स्त्री-लेखन की दशा और दिशा पर विचार के साथ-साथ स्त्रियों की दोयम दर्जे की स्थिति के लिए जिम्मेदारी राकेश कुमार पितृसत्तात्मक समाज की दोहरी मानसिकता पर डालते हैं। साथ ही, कृष्णा सोबती और उदय प्रकाश के कृतित्व का स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करते हैं।

(27) 'न्याय क्षेत्रे : अन्याय क्षेत्रे' – यह पुस्तक अरविन्द जैन की तीन पूर्व पुस्तकों 'औरत होने की सजा', उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार', यौन हिंसा और न्याय की भाषा' के आलेखों को एक साथ देखने का सुख प्रदान करती है। इसमें कानून की दृष्टि से स्त्री से जुड़े लगभग सभी सवाल उठाने की ईमानदारी कोशिशें की गई हैं। पुरुष वर्चस्व, लिंग परीक्षण, सत्ता संस्थानों की भूमिका, बालविवाह, कन्यादान, कामकाजी स्त्री, उनका यौन शोषण, बच्चे पर माँ का अधिकार, कोख सम्बन्धी कानून और क्रूरता, गुजारा भत्ता, दूसरी औरत, सौतेला होना, पितृत्व परीक्षण, आत्महत्या, वधू-दहन, अश्लीलता, व्यभिचार, देह-शोषण, कैबरे, बलात्कार, यौन-हिंसा, धर्मान्तरण, उत्तराधिकार सभी प्रश्नों के कानूनी पक्षों को उसकी तमाम कमजोरियों के साथ उघाड़ते हैं। अपने समर्थन में नजीरें पेश करते हैं, जीवन और साहित्य से समर्थन जुटाते हैं।

(28) जीवन की तनी डोर पर ये स्त्रियाँ – नीलम कुलश्रेष्ठ, मेधा बुक्स, 2002 – इस पुस्तक में स्त्रियों के आत्मकथ्यपरक आलेख हैं जिनमें कचरा बीनने वाली स्त्रियों से लेकर रानियों तक के अनुभव हैं। स्त्री-जीवन के विस्तृत फलक और विविध आयाम यहाँ देखे जा सकते हैं। यहाँ वृन्दावन की विधवाएँ हैं, सर्कस में काम करने वाली लड़कियाँ है, मछुआरिनें हैं। विवाह के स्थान पर सेवा करार करती स्त्रियाँ हैं, कल की रानियाँ हैं और आज की कचरा बीनती लड़कियाँ। देवी से मानवी में तब्दील होती स्त्री यहाँ देखी जा सकती है। जीवन के अनजाने, अनछुए पहलुओं से साक्षात् कराती यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण है।

(29) स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार, (अनुवाद) वाणी प्रकाशन, 2002 – इलीना सेन की पुस्तक से भिन्न यह पुस्तक विभिन्न आन्दोलनों के माध्यम से स्त्री-प्रश्नों की उठाती है। राधा कुमार का मानना है कि आन्दोलनों के बीच उठे कई स्त्री-प्रश्नों और स्त्री का अपने लिए सोचने का विचार इन आन्दोलनों के माध्यम से क्रमशः गति पकड़ता गया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्व के आन्दोलनों से स्त्री-संघर्ष के इतिहास का प्रारम्भ करते हुए यह पुस्तक स्त्री-केन्द्रित आन्दोलनों, दहेज, बलात्कार, स्त्री की साम्प्रदायिक छवि, रूपकुँवर, शाहबानो प्रकरण, पर्यावरण, आरक्षण आदि सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है।

(30) स्त्रीत्ववादी विमर्श : समाज और साहित्य – क्षमा शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 2002 – क्षमा शर्मा का मानना है कि स्त्रीत्ववादी विमर्श समग्र आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, भाषिक और सांस्कृतिक विमर्श है। पुस्तक में संकलित सभी आलेख समय-समय पर की गई टिप्पणियाँ है। जो एक जागरुक, पढ़ी-लिखी, स्वयंचेती स्त्री की स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ हैं। कुछ आलेख विचारपरक हैं और कुछ समीक्षात्मक। क्षमा शर्मा जहाँ एक ओर बचपन, मातृत्व, बेटियों, स्त्री-पुरुष भेदभाव पर बात करती हैं वही मुस्लिम औरतों, पत्रकारिता, पंचायत, विज्ञापन, स्त्री छवि के प्रश्नों को भी केन्द्र में लाती है। अपने आसपास उठ खड़े हुए दैनिक प्रश्न और उन पर सजग स्त्री की प्रतिक्रियाएँ यहाँ देखी जा सकती हैं।

(31) स्वागत है बेटी – विभा देवसरे, मेधा बुक्स, 2002 – 'स्वागत है बेटी' बालिकाओं से जुड़े प्रश्नों पर एक आधिकारिक पुस्तक है जो बालिका विषय पर समाजशास्त्रीय समीक्षा और साहित्यिक सम्वेदना के साथ विचार करती है। एक ओर वर्तमान सन्दर्भों में बालिका की अधिकारहीनता को रेखांकित करती है तो भविष्य की सम्भावनाओं पर भी उँगली रखती है। विभा देवसरे बालिकाओं की सामाजिक स्थिति,

बालश्रम, स्वास्थ्य, शिक्षा, विकास, संरक्षण, यौन शोषण को उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सन्दर्भों से संयुक्त करके देखती हैं। आँकड़ों, रपटों के माध्यम से आलेखों को प्रमाणिकता मिलती है वहीं लोकगीतों, प्रचलित रीति-रिवाजों के इस्तेमाल से भी कोई परहेज नहीं किया गया है। संवैधानिक, कानूनी, योजना सम्बन्धी प्रावधानों, कार्यक्रमों का निष्पक्ष मूल्यांकन पुस्तक मेंसम्भव हो सका है।

(32) हम सभ्य औरतें – मनीषा, सामयिक प्रकाशन, 2002 – मनीषा के 'कॉलम' 'हम सभ्य औरतें' की शक्ल में एक पुस्तक का आकार पा सके हैं जिसमें लगभग चौहत्तर त्वरित टिप्पणियाँ है। मनीषा हर उस संस्था पर उँगली उठाती हैं जो स्त्री के शोषण पर चुप है। वे स्त्रियों की कमजोरियों की बात करती हैं, पुरुषों को आत्मनिरीक्षण के लिए उकसाती हैं। वे रो-पीटकर चुप हो जाने वाले विमर्श नहीं खड़ा करतीं, बाकायदा लड़ने और डटे रहने का आह्वान करती हैं। विचार और भाषा की आक्रामकता के मध्य मनीषा आसानी से पहचानी जा सकती हैं।

(33) स्त्रियों की पराधीनता – जॉन स्टुअर्ट मिल, (अनुवाद) राजकमल पेपर बैक, 2002, (मूलतः द सब्जेक्शन ऑफ विमेन, 1861 में लिखित एवं 1869 में प्रकाशित) – स्त्री की पराधीनता में जॉन स्टुअर्ट मिल उन सभी रूढ़ मान्यताओं संस्कारों को अस्वीकार करते हैं जो पुरुष वर्चस्ववाद के लिए कार्य करती हैं। वे प्रचलित कानून, परिवार और विवाह संस्था का स्त्री-विरोधी, स्त्री-उत्पीड़क रूप बेनकाब करते हैं। वे इस दोहरी मानसिकता पर उँगली उठाते हैं जो स्त्री से पवित्रता और निष्ठा की माँग करती है और पुरुष को अपनी रंगरेलियों के असीम अवसर सौंपती है। वे स्त्री-पुरुष समानता की तरफदारी करते हैं और पुरुष वर्चस्ववाद को पुरुष और स्त्री को मनुष्य बनने की दिशा में अवरोधक पाते हैं।

(34) औरतों के लिए औरत – नासिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, 2003 – नासिरा शर्मा अपने आरम्भिक वक्तव्य में ही यह साफ कर देती हैं कि सभी पुरुष बुरे नहीं हैं और सभी स्त्रियाँ अच्छी नहीं। वे मुद्दों पर विचार करते हुए स्त्री-पुरुष को खाँचों में बाँटने के बजाय अत्याचार के विरुद्ध, स्वतन्त्रता के समर्थन में रूढ़िवादिता और जड़ता पर प्रहार करना चाहती हैं। आज की जटिल समस्याओं का हल सामूहिक प्रयासों में खोजती हैं। औरत के लिए औरत का एक खण्ड आलेखों का और दूसरा अपेक्षाकृत छोटा खण्ड साक्षात्कारों का है। प्रेमराग में औरत, रिश्तों के बीच औरत, घरेलू औरत के तेवर, औरत, सियासत में औरत, समाज और स्वतन्त्रता मर्द का बदलना जरूरी, भारतीय नारी और नई औरत शीर्षकों के अन्तर्गत नासिरा शर्मा अपना विमर्श प्रस्तुत करती हैं। वे मानती हैं कि साहित्य में स्त्री-विमर्श शब्द नया है कि स्त्री के प्रति चिन्ता पुरानी है।

(35) उपनिवेश में स्त्री – प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, 2003 – उपनिवेश में स्त्री-मुक्ति कामना की दस 'घोषित' वार्ताएँ हैं। प्राक्कथन में नव-उपनिवेशवाद पर चर्चा के बाद श्रम और भूमण्डलीकरण, स्त्री-लेखन की जगह और आलोचना के भीष्म पितामह, बौद्धिक सरोकार, राष्ट्रवाद, नारीवाद की ज़मीन, संस्कृतिवाद के छल-कपट, नारीवादी ज्ञान मीमांसा के छल-कपट, स्त्रीत्व का सारतत्त्व, यौनिकता की राजनीति, सामाजिक सरोकार उर्फ आक्रामकता की खोज, क्रान्तिचेतना के नारी नये, भाषा विमर्श और विमर्श का संजाल जैसे भारी-भरकम शीर्षकों के साथ उतना ही भारी-भरकम विमर्श दो सौ इकत्तीस पृष्ठों में बिखरा है। "नये शब्दों को गढ़ने और विषय को क्लिष्ट बनाकर प्रस्तुत करने से ही क्या विद्वता का

प्रदर्शन हो सकता है। मुझे लगता है कि बड़ी से बड़ी बात, गहरी से गहरी बात आसान शब्दों में कही जानी चाहिए, ताकि वह अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच सके।" परन्तु स्त्री-केन्द्रित इन लगभग चालीस पुस्तकों में से सिर्फ यही पुस्तक गरिष्ठ साबित हुई। हो सकता है कि चूँकि प्रभा खेतान ने उन दार्शनिक विचारधाराओं के सहारे स्त्री-प्रश्नों पर बात करनी चाही है जिनका प्रभाव उन पर बचपन से पड़ा, ऐसी स्थितियाँ निर्मित हुई हों। प्रभा खेतान एक ओर व्यवस्था के स्त्री रचनाकारों के खिलाफ षड्यन्त्रकारी भूमिका पर बात करती हैं, वही हर बार घर से बाहर निकली स्त्री को मौका मिलते ही या काम निकल जाने पर वापिस घर लौटने वाली पुरुष सत्ता पर सवालिया निशान लगाती है। नारीवाद पर लगी परिवार-भंजक की छवि की काट से प्रभा खेतान का विचार है कि परम्परागत समाज व्यवस्था में स्त्री परिवर्तन चाहती है, पर बदलाव को टूटना नहीं कहा जा सकता। अर्थात् प्रभा खेतान आमूल-चूल परिवर्तन के स्थान पर रिपेयरिंग से काम चलाना चाहती हैं। वे परम्पराओं को इस बात के लिए दोष देती हैं कि उसने स्त्री को स्वास्थ्य, शिक्षा, राजनैतिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक भागीदारी यहाँ तक कि व्यक्ति-बोध जैसे मौलिक अधिकारों से भी वंचित रखा।

(36) परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति – फ्रेडरिख एंगेल्स, प्रकाशन संस्थान, 2003 – प्रस्तुत पुस्तक एवं एंगेल्स का सम्पूर्ण कार्य का अध्ययन एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जिससे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन एवं इतिहास के अनेक प्रश्नों पर नयी रोशनी डाली जा सकती है। यह पुस्तक संस्कृति की प्रागैतिहासिक अवस्थाओं, परिवार, (इसके अन्तर्गत स्त्री से जुड़े अनेक प्रश्नों) इरोक्वा गोत्र, यूनानी गोत्र, एथनी राज्य के उदय, जर्मनी के राज्य निर्माण, बर्बरता और सभ्यता के माध्यम से परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की भूमिका पर विचार किया है।

(37) ओ उब्बीरी – मृणाल पांडे, राधाकृष्णन प्रकाशन, 2003 – मृणाल पांडे की प्रस्तुत पुस्तक स्त्री स्वास्थ्य पर केन्द्रित महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। यह पुस्तक स्त्री के यौन व प्रजनन स्वास्थ्य पर केन्द्रित होते हुए भी, स्त्रियों की गर्भ, स्त्री-पुरुष शारीरिक सम्बन्ध, जन्म देने के सुख, बाँझपन और उसके डर, गैरकानूनी गर्भपात, विषयक अवधारणाओं, विश्वासों की आधारशिला पर तैयार यह पुस्तक सरकारी विकास योजनाओं, उनके क्रियान्वयन पर विचार करती है साथ ही स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिकाओं से आश्वस्त बेहतर भविष्य की गुंजाइश भी तलाशती है।

अरविन्द जैन, सुधीश पचौरी, कात्यायनी, मृणाल पांडे, विभा देवसरे, दिव्या जैन, सरला मुद्गल, अनामिका, सरला माहेश्वरी, राजकिशोर द्वारा सम्पादित पुस्तकें और उषा महाजन, इलीना सेन, राधा कुमार, नीलम कुलश्रेष्ठ द्वारा लिखित पुस्तकें विशेष मोर्चों पर अपना दायित्व बखूबी निभा रही हैं। इन्हीं पुस्तकों के माध्यम से स्त्री-प्रश्नों पर आगे भी बहस जारी रहेगी और संवाद की सम्भावना जीवित रहेगी।

1.1.15. पाठ सार

स्त्री-विमर्श का अर्थ लैंगिक विभाजन से आक्रान्त मनुष्य की मुक्ति की साझा लड़ाई है। स्त्री-विमर्श एक अस्मिता आन्दोलन है। जहाँ हाशिए पर धकेल दी गई अस्मिताओं को पुनः केन्द्र में लाने का प्रयास किया जाता है। स्त्री को समाज का दोयम दर्जा मिलने का एक कारण हमारी जेंडर सम्बन्धी अवधारणा है जो हमें स्त्री व पुरुष दोनों की सामाजिक भूमिका में विभाजित करता है। पितृसत्तात्मक समाज की संरचना जेंडर विभेद पर आधारित होती है। जेंडर सामाजिक भेदभाव को समझने का नजरिया देता है। यही कारण है कि नारीवादी चिन्तक लिंग व जेंडर के विभेद पर विशद् चर्चा करता है। नारीवादी चिन्तकों ने महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल पितृसत्तात्मक संरचना की पहचान की और पितृसत्तात्मक विचारधारा को सामने लाकर नये सिरे से सोचने की दिशा दी। इसी क्रम में स्त्री विचारकों ने यौनिकता, सत्ता, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, समानता व सशक्तीकरण की अवधारणाओं पर भी अपने-अपने नजरिए से विचार किया। जहाँ पितृसत्ता ने परिवार शिक्षा व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, धर्म व मीडिया के माध्यम से स्त्री-विरोधी नियम, वर्जनाएँ, आचार संहिताएँ, रीति-रिवाज एवं दण्ड-संहिताओं पर स्वीकृति की मुहर लगाकर पुरुष की वर्चस्ववादी स्थिति मजबूत की वही यौनिकता, सत्ता आदि अवधारणाओं ने स्त्री की ‘सेकेण्ड सेक्स’ की स्थिति को और मजबूत किया। अतः विभिन्न स्त्रीवादी चिन्तकों ने अपने-अपने सोचने के ढंग व सिद्धान्त के आचार पर स्त्री-जीवन की इन शृंखला की कड़ियों की पहचान की एवं उससे बाहर निकलने का उपाय सुझाया। विभिन्न प्रकार की चिन्तन धाराओं के आधार पर नारीवाद के विभिन्न प्रकार अस्तित्व में आए। मसलन उदारवादी नारीवाद, उग्रनारीवाद, मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद, समाजवादी नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, उत्तर आधुनिक नारीवाद, पारिस्थितिक नारीवाद, काला नारीवाद, उत्तर औपनिवेशिक नारीवाद आदि। नारीवाद के इन विभिन्न प्रकारों का विकास एक साथ व अचानक नहीं हुआ। कुछ परिस्थितियों में इनका विकास परिस्थितिजन्य एवं क्रमबद्ध रूप में हुआ जिसे हम नारीवाद के विभिन्न चरण कह सकते हैं। इन विभिन्न चरणों को हम First wave Feminism, Second wave Feminism और Third wave Feminism के नाम से जानते हैं। भारत में स्त्री सम्बन्धी चिन्तन का आरम्भ पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भिन्न रूप में हुआ जिसे हम महत्त्वपूर्ण तीन लहरों में विभाजित करके जान सकते हैं – पहली लहर 1850 से 1915 तक, दूसरी लहर 1915 से 1947 तक और तीसरी लहर 1947 से अब तक।

नारीवादी सिद्धान्त सम्बन्धी उपर्युक्त मुद्दों को जिन सन्दर्भ ग्रन्थों से भली-भाँति समझा जा सकता है जिसे हम समकालीन हिन्दी स्त्री-विमर्शमूलक साहित्य लेखन कह सकते हैं उसका आरम्भ महादेवी वर्मा की पुस्तक ‘शृंखला की कड़ियाँ’ से मान सकते हैं। इसके बाद इस तरह की पुस्तकों का क्रम अनवरत जारी है जिसमें मुख्य रूप से प्रभा खेतान की पुस्तक ‘स्त्री उपेक्षिता’, अरविन्द जैन की पुस्तक ‘औरत होने की सजा’, मृणाल पाण्डे की ‘परिधि पर स्त्री’ और श्रद्धा सिंह की पुस्तक ‘आधी आबादी : सन्दर्भ एवं प्रसंग’ आदि को गिन सकते हैं।

1.1.16. बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. स्त्री-विमर्श की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए स्त्री-विमर्श के सरोकारों का वर्णन कीजिए।
2. लिंग तथा जेंडर में क्या अन्तर है ? जेंडर शब्द के प्रयोग के सन्दर्भ में विभिन्न मतों का उल्लेख कीजिए।
3. "पितृसत्ता की विचारधारा ने स्त्री को दोयम दर्जा प्रदान किया।" इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
4. एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में नारीवाद की उत्पत्ति का जिक्र करते हुए नारीवाद के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
5. भारत में महिला आन्दोलन किस उद्देश्य को लेकर प्रारम्भ हुआ ? भारतीय महिला आन्दोलन के विभिन्न चरणों की चर्चा कीजिए।
6. पाश्चात्य महिला आन्दोलन के विभिन्न चरणों बदलती परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
7. समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्शमूलक प्रमुख साहित्य लेखन का परिचय दीजिए।
8. "स्त्री-विमर्श अपने मूल-स्वर में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध करता है।" स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित शब्दों की स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में संक्षिप्त व्याख्या कीजिए–
   (i) यौनिकता (ii) सत्ता (iii) हिंसा (iv) समानता।
2. निम्नलिखित अवधारणाओं का तुलनात्मक विवेचन कीजिए–
   (i) लिंग तथा जेंडर (ii) स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व
3. नारीवाद की तीन प्रमुख प्रपत्तियों का उल्लेख कीजिए।
4. पितृसत्ता क्या है ?
5. एक महत्त्वपूर्ण नारीवाद सिद्धान्तवादी के विचारों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
6. एक भारतीय पर्यावरणविद् नारीवाद के विचारों की चर्चा कीजिए।
7. लिंग और जेंडर क्या है ?
8. नारीवाद क्या है ?
9. 'द सेकेण्ड सेक्स' का प्रकाशन कब हुआ था ?
10. गाँधी जी के स्त्री विषयक विचारों की चर्चा कीजिए।
11. नारी अधिकारवाद के द्वितीय चरण का क्या अभिप्राय है ?
12. किसी एक मार्क्सवादी नारीवादी के योगदान की विवेचना कीजिए।
13. महिला सशक्तीकरण से क्या अभिप्राय है ?
14. महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए संसद द्वारा पास किए गए पाँच अधिनियमों के नाम लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'द सेकेण्ड सेक्स' पुस्तक किसने लिखी है ?
   (क) प्रभा खेतान
   (ख) सीमोन द-बोउआर
   (ग) इस्मत चुगताई
   (घ) इरोम शर्मिला

2. वन्दना शिवा हैं –
   (क) उग्र नारीवादी
   (ख) पारिस्थतिक नारीवादी
   (ग) उदारवादी नारीवादी
   (घ) समाजवादी नारीवादी

3. निम्नलिखित में से कौन-सा नारीवाद नस्लवाद के विरोध में जन्मा –
   (क) उग्र नारीवाद
   (ख) काला नारीवाद
   (ग) उत्तर आधुनिक नारीवाद
   (घ) मार्क्सवादी नारीवाद

4. निम्नलिखित में कौन जेंडर निर्माण के लिए उत्तरदायी है –
   (क) जाति प्रथा
   (ख) वर्ग
   (ग) पितृसत्ता
   (घ) परिवार

5. भारत की पहिला महिला शिक्षिका कौन हैं ?
   (क) भगिनी निवेदिता
   (ख) सावित्रीबाई फुले
   (ग) एनी बेसेन्ट
   (घ) सरोजिनी नायडू

6. भारत में 'ऑल इंडिया वीमेन कांग्रेस' की स्थापना कब की गई ?
   (क) 1927
   (ख) 1917
   (ग) 1916
   (घ) 1840

1.1.17. कठिन शब्दावली

1. Sex and Gender – 'सेक्स' से अर्थ 'लिंग' यानी पुरुष और स्त्री के बीच का जैविक फर्क है। नारीवाद समझ में यह 'जेंडर' से भिन्न है, जिसका अर्थ सामाजिक लिंग यथा संस्कारी लिंग से है।
2. Sexism – लिंग के आधार पर श्रेष्ठता या प्रभुता का दावा ।
3. Sexual Divison of Labour – लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन। घर व बाहर पुरुष व स्त्री द्वारा किए जाने वाले अलग-अलग काम, जो कि 'औरतों के काम' और 'पुरुषों के काम' कहे जाते है । यह विभाजन ऐसी सोच पर आधारित है जिसके अनुसार घर के भीतर के सभी काम जैसे कि खाना बनाना, साफ-सफाई, बच्चों एवं बड़े-बूढ़ों की देखभाल इत्यादि, जिन्हें घरेलू काम भी कहा जा सकता है, औरतों के जिम्मे मढ़ दिए जाते हैं और घर के बाहर के काम जैसे परिवार के लिए कमाना इत्यादि पुरुष की जिम्मेदारी मानी जाती है। इसी प्रकार श्रम विभाजन घर में ही नहीं 'सार्वजनिक' दायरे में भी मिलता है जहाँ नर्सिंग, अध्यापन (विशेषकर निचले स्तरों पर) जैसे देखभाल व लालन-पालन के कामों में औरत अधिक जुटी हुई है और ये कम वेतन वाले कार्य भी हैं। स्त्री को इस प्रकार के कामों के लिए उपयुक्त माना जाता है। हालाँकि वास्तव में समाजीकरण व सांस्कृतिकरण की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा औरत को इस प्रकार के कामों के लिए तैयार किया जाता है। इस प्रकार का श्रम विभाजन परिवार, समाज, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था में पुरुष और स्त्री में अधीनता के सम्बन्धों का निर्माण करता है, स्त्रियों की संसाधनों और निर्णय लेने वाली संस्थाओं तक पहुँच को सीमित करता है।
4. Socialisation – समाजीकरण, संस्कारीकरण। रोजमर्रा के व्यवहार, धार्मिक रीति-रिवाजों, परिवार व शिक्षण संस्थाओं, प्रचार माध्यमों इत्यादि द्वारा व्यक्ति का प्रशिक्षण जो उसे समाज के मुख्यधारा मूल्यों में प्रवृत्त कर दे।
5. Natural – स्वाभाविक, प्राकृतिक, सहज – इन तीनों शब्दों का हिन्दी में इस्तेमाल किया जाता है। परन्तु 'स्वाभाविक' का इस्तेमाल एक नारीवाद समझ से किया जाना उचित है जिसके अनुसार जो 'प्राकृतिक' है जरूरी नहीं कि वह स्वाभाविक हो। 'स्वाभाविक' से तात्पर्य समाजीकरण की उन सब प्रक्रियाओं से है जो हमारे व्यवहार को इस प्रकार निर्देशित करती हैं कि वह 'स्वाभाविक' लगने लगता है।
6. Reproduction – नारीवादी चिन्तन में इस शब्द के दोनों अर्थों यानी प्रजनन और पुनरुत्पादन को समझने की ज़रूरत है। प्रजनन से अर्थ बच्चे पैदा करना है जबकि पुनरुत्पादन का अर्थ बच्चे पैदा करने के अतिरिक्त पालन-पोषण और घर व परिवार की देखभाल से जुड़े सारे कामों से है क्योंकि ये सारे काम

अक्सर घर के अन्दर ही होते हैं, मुख्यधारा चिन्तन में इसे काम की श्रेणी में नहीं माना जाता है। औरतों का यह काम 'उत्पादन' है या नहीं, यह लगातार विवाद का विषय रहा है जबकि नारीवादी चिन्तन ने हमेशा इस उत्पादक श्रम का दर्जा देने पर जोर दिया है।

7. Personal is Political – जो व्यक्तिगत है वह राजनैतिक है। यह नारा महिला आन्दोलन के द्वारा, उस सोच को चुनौती देता है जो राजनैतिक को केवल राजसत्ता और 'सार्वजनिक' के क्षेत्र में देखती है। जैसे कि ऊपर 'पुनरुत्पादन' प्रजनन और लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन के सन्दर्भ में बताया गया है।
8. Radical – Radical का अर्थ है आमूल परिवर्तनकारी। हालाँकि साधारणतया इसे अतिवादी और उग्रवादी की तरह भी इस्तेमाल किया जाता है। वस्तुतः रेडिकल का अर्थ मूलभूत परिवर्तनों से है जिसका अपना दार्शनिक इतिहास है।
9. Chauvinism – श्रेष्ठता का आक्रामक दावा।
10. Paternalism – पैतृकवाद। यह सिद्धान्त पितृसत्ता के तहत विकसित हुए पारिवारिक सम्बन्धों से पैदा हुआ है और पितृसत्ता के उपभाग के रूप में समझा जा सकता है। पैतृकवाद प्रभुत्वशाली और अधीन समूह के बीच एक ऐसे सम्बन्ध की ओर संकेत करता है जहाँ अधीन समूह को अधीनता के पहले उसे संरक्षण और अवैतनिक श्रम के बदले भरण-पोषण मिलता है। इस प्रकार का सम्बन्ध पितृसत्ता के सबसे कठोर बिन्दुओं को नरम करता है और प्रभुता और अधीनता के सम्बन्धों को ढक देता है।
11. Paternalistic Dominance – पैतृकवादी वर्चस्व।
12. Patriliny – पितृवंशात्मक, पिता से पुत्र को मिलने वाले सम्पत्ति, नाम व वंश चलाने सम्बन्धी अधिकारों की व्यवस्था।
13. Biological Determinism – जैविक निर्धारणवाद यानी ऐसी सोच जिसके अनुसार तमाम तरह के उत्पीड़नों को कुदरती या प्राकृतिक कह कर वैध ठहराया जाता है।
14. Eco-Feminism – पारिथितिकी-नारीवाद।
15. Homophobia – समलैंगिकता के प्रति घृणा / विरोध / डर।

1.1.18. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मेनन, निवेदिता, 1999, जेंडर एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली
2. पाण्डे, मृणाल, 2006, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
3. अनामिका, कविता में औरत, इतिहास बोध प्रकाशन
4. कस्तवार, रेखा, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, 2013, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. खेतान, प्रभा, (अनु.) स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकेट बुक्स
6. यादव, राजेन्द्र एवं वर्मा, अर्चना, 2001, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, राजकमल प्रकाशन
7. अश्क, उपेन्द्र नाथ, 1997, आधी ज़मीन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
8. यादव, राजेन्द्र, 2001, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना

9. किशोर, राज, 1998, अश्लीलता का हमला, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
10. महाजन, उषा, 1998, उठो अन्नपूर्णा साथ चलें, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली
11. जैन, अरविन्द, 2001, उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार, राजकमल पेपर बैक्स
12. पचौरी, सुधीश, 1994, उत्तर आधुनिक परिदृश्य, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली
13. जैन, अरविन्द, 1999, औरत होने की सजा, राजकमल पेपर बैक्स सं., नई दिल्ली
14. जैन, अरविन्द, 2000, औरत : अस्तित्व और अस्मिता,सारांश प्रकाशन, दिल्ली
15. शर्मा, नासिरा, 2001, औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
16. कृष्णकांत, सं. सुमन, 2001, इक्कीसवीं सदी की ओर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
17. वर्मा, महादेवी, 1995, शृंखला की कड़ियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
18. महेश्वरी, सरला, 1998, नारी प्रश्न, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
19. पांडे, मृणाल, 1996, परिधि पर स्त्री, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
20. ऐंगलस, फेद्रिक, 2003, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
21. पांडे, सं. मृणाल एवं शर्मा, क्षमा, 2001, बंद गलियों के विरुद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
22. जैन, सं. प्रतिभा एवं शर्मा, संगीता, 1980 भारतीय स्त्री (सांस्कृतिक सन्दर्भ), रजत पब्लिकेशंस, जयपुर एवं नई दिल्ली
23. आपटे, डॉ० प्रभा, 1996, भारतीय समाज में नारी, क्लासिक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर
24. सक्सेना, प्रगति, (अनु.) 2000, स्त्रियों की पराधीनता ‘सब्जेक्शन ऑफ वूमेन’, जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना
25. कुमार, राधा एवं सिंह, सं. रमाशंकर, 2002 स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800-1990) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
26. अनामिका, 1999, स्त्रीत्व का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली
27. सीमॉन द बोउवार, 1998, स्त्री उपेक्षिता पुस्तक द सेकेण्ड सेक्स का हिन्दी अनुवाद, हिन्द पॉकेट बुक्स
28. शर्मा, क्षमा, 2002, स्त्रीत्ववादी विमर्श समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना
29. पचौरी, सुधीश, 2000, स्त्री देह के विमश्र, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, लखनऊ
30. किशोर, राज, 1994, स्त्री के लिए जगह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
31. किशोर, राज, 1999, स्त्री परम्परा और आधुनिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
32. महेश्वरी, सरला, 1997, समान नागरिक संहिता, राधाकृष्ण प्रकाशन,
33. मनीषा, 2002, हम सभ्य औरतें, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
34. सिंह, श्रद्धा, 2014, आधी आबादी, कला-मन्दिर, दिल्ली
35. मेन इन फेमिनिज़्म : स्टीफन हीथ
36. पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, ए.एस., अल्तेकरर, द कल्चर पब्लिकेशन हाउस, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस, 1938
37. डब्ल्यू. आई थॉमस, ‘सेक्स एंड सोसायटी’ लंदन, 1907

38. एशली मान्टेग्यू 'द नेचुरल सुपीरियारिटी ऑफ विमेन', लंदन, 1954
39. ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ वीमेन, जे.एल.ए. डेविस, लंदन, 1928
40. मधु किश्वर, गाँधी ऑन वीमेन
41. बार्बरा सदर्ड, 'द फेमनिज़्म ऑफ महात्मा गाँधी,' गाँधी मार्ग, अक्टूबर, 1981
42. मनमोहन कौर, 'रोल ऑफ वीमेन इन द फ्रीडम मूवमेंट, 1850-1947, स्टरलिंग पब्लिकेशन, 1968

पत्र-पत्रिकाएँ

1. 'अक्षरा' 48 अप्रैल-जून, 2000
2. 'आजकल', मई 1997
3. 'आधी दुनिया' सं. जी.बी. सिंह, 2001
4. 'आउटलुक, 19 जून, 1996
5. 'आउटलुक' अक्टूबर, 2002
6. इंडिया टुडे, साहित्यिक वार्षिकी, 1997
7. इंडिया टुडे 28 जुलाई, 1997
8. इंडिया टुडे मई 1999
9. इंडिया टुडे, जून 2002
10. कथादेश, अगस्त, 2000
11. कथाक्रम, अप्रैल-जून, 2000
12. कथाक्रम, अक्टूबर-दिसम्बर, 2001
13. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 15-21 जुलाई 1990
14. हंस, नवम्बर-दिसम्बर, 1994
15. हंस, जनवरी 1995 औरत उत्तर कथा अंक 2
16. हंस, अप्रैल, 1997
17. हंस, जनवरी, 1998
18. हंस, फरवरी, 1998
19. हंस, जनवरी, 1999
20. हंस, जनवरी-फरवरी, 2000
21. हंस, भूमण्डलीकरण विशेषांक, मार्च 2001
22. हंस, नवम्बर, 2002
23. हंस, अप्रैल, 2003
24. मेन स्ट्रीम, वार्षिकी, 1999
25. प्रतियोगिता दर्पण, सितम्बर, 2006-2007, सामाजिक लेख, पृ. 288

26. उत्तरप्रदेश, स्त्री-विमर्श, विशेषांक, मई 2003, पृ. 206
27. हंस (सं. यादव, राजेन्द्र) अक्टूबर 1969, खेतान प्रभा स्त्री-विमर्श के अन्तर्विरोध, पृ. 7
28. हंस, सक्सेना, प्रगति, मार्च 2002, इक्कीसवीं सदी का नारीवाद, पृ. 75
29. हंस, यादव, राजेन्द्र, नवम्बर, 2002, तेरी मेरी उसकी बात, पृ. 4
30. आउट लुक, सितम्बर, 2003, शर्मा नासिरा, साक्षात्कार, पृ. 41

1.1.19. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. जैन, प्रतिभा, शर्मा, संगीता, (सं.) 1998, भारतीय स्त्री : सांस्कृतिक सन्दर्भ, नई दिल्ली, रावत पब्लिकेशन्स, ISBN - 81-7033-470-6, पृ. 40
2. अग्रवाल, रोहिणी, साहित्य की ज़मीन और स्त्री मन के उच्छवास, पृ. 15
3. खेतान, प्रभा, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 11
4. सिंह, सुधा, 2000 स्त्री अस्मिता : साहित्य और विचारधारा कोलकाता, आनन्द प्रकाशन, पृ. 12
5. वर्मा, महादेवी, तृतीय संस्करण, 2001, शृंखला की कड़ियाँ, पृ. 19
6. अनामिका, 1999, स्त्रीत्व का मानचित्र, नई दिल्ली, सारांश प्रकाशन, पृ. 53
7. सिंह, श्रद्धा, 2014, आधी आबादी, सन्दर्भ एवं प्रसंग, नई दिल्ली, कला मन्दिर, ISBN- 81-89463-13-6, पृ. 65, 81-87
8. कस्तवार, रेखा, 2013, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 24-28
9. चतुर्वेदी जगदीश्वर, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ. 10
10. परमार, शुभ्रा, 2015, नारीवादी सिद्धान्त और व्यवहार, नई दिल्ल, ओरियन्ट ब्लैकस्वॉन प्रा.लि., ISBN : 978-81-2506048-2, पृ. 18, 33, 216
11. मेनन, निवेदिता, 2001, नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय
12. जोशी, गोपा, 2011, भारत में स्त्री असमानता, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, ISBN : 978-93-80172-43-9, पृ. 25
13. मेनन, निवेदिता, 2008, 'पावर' राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सपांदक) पॉलिटिकल थियरी : ऐन इन्ड्रोडक्शन पियर्सन लोंगमेन, नई दिल्ली
14. बी.बैरी. (सम्पादक) 1976, पॉवर एण्ड पॉलिटिकल थियरी, विली, लंदन।
15. स्टीवन ल्यूक्स (सम्पादक) 1980, पॉवर ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड।
16. रार्बर्ट डाहल 1956, अ प्रिफेस टू डेमोक्रेटिक थियरी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो, प्रेस शिकागो।
17. Beauvoir, Simone de (1989) [1952]. The Second Sex. Hormondswrath, Penguine, 1949

18. Rowbotham, Sheila, Women, Residence and Revolution: A History of Women in the Modern World, Vintage, New York, 1974
19. Firestone, S., The Dialectic of Sex, Bantam, New York, 1980
20. Giddens, Anthony, Beyond Left and Right, Polity Press, Cambridge, 1996
21. Maria Meis (Ed.), Women: The Last Colony, Zed Books, London, 1988
22. Friedan, Betty, The Mistaken Choice, The Feminine Mystique, W.W, Norton, 1963
23. Woolf, Virginia, A Room of One's Own
24. Greer, Germaine, The Female Eunuch, Harper Perennial Modern Classics, 2006
25. Wollstonecraft, Mary, A Vindication of the Rights of Women, Peter Edes, Boston, 1792
26. Walles, A. Rath and Wolf, Alison, Contemporary Sociological Theory: Cintinuing the Classical Tradition, Prentice-Hall, Inc. New Jersey, 1980

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : विमर्शों की सैद्धान्तिकी

इकाई – 2 : दलित विमर्श : दलित साहित्य की अवधारणा, स्वरूप, वैचारिकता, दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता, दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मान्यताएँ, दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ : भाषा, बिम्ब, प्रतीक, मिथक; हिन्दी काव्य में दलित पीड़ा की अभिव्यक्ति, दलित-काव्यधारा, हिन्दी समीक्षा और दलित साहित्य, समकालीन हिन्दी साहित्य में दलित विमर्शमूलक साहित्य परिदृश्य

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. दलित साहित्य की अवधारणा, स्वरूप और वैचारिकता
1.2.3. दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता
1.2.4. दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मान्यताएँ
1.2.5. दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ
    1.2.5.1. दलित साहित्य की भाषा
    1.2.5.2. दलित साहित्य में बिम्ब और प्रतीक
    1.2.5.3. दलित साहित्य में मिथक
1.2.6. दलित हिन्दी कथा-साहित्य
1.2.7. हिन्दी समीक्षा और दलित साहित्य
1.2.8. पाठ सार
1.2.9. बोध प्रश्न

1.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आप दलित विमर्श के विषय में निम्नलिखित सन्दर्भों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे –

i. दलित साहित्य की अवधारणा, स्वरूप एवं वैचारिकता क्या है !
ii. दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता क्या है !
iii. दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मान्यताएँ क्या हैं !
iv. दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ क्या हैं ! इसके अन्तर्गत भाषा, बिम्ब, प्रतीक तथा मिथक को किस रूप में ग्रहण किया गया है !
v. हिन्दी काव्य में दलित पीड़ा की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है ! दलित काव्यधारा क्या है !
vi. हिन्दी समीक्षा में दलित साहित्य का क्या स्थान है !
vii. समकालीन हिन्दी दलित विमर्शमूलक परिदृश्य को समझ सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप दलित विमर्श के सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन करेंगे। सिद्धान्त एक विचारधारा को अभिव्यक्त करता है जिसमें उसका व्यावहारिक पक्ष समाविष्ट होता है। दलित विमर्श आधुनिक सामाजिक चेतना का प्रतीक है। सदियों से समाज का एक वर्ग दलित वर्ग में रहते-रहते विकास की मुख्य धारा से बिछुड़ गया। भारतीय समाज में चतुर्वर्ण की व्यवस्था समाज को सुगठित एवं सुव्यवस्थित करने के लिए ही सृजित हुई थी। उसमें मूल रूप से ऊँच-नीच या दलित का भाव नहीं था। सभी को अपने विकास की स्वतन्त्रता प्राप्त थी किन्तु मानवीय समाज में ऊँच-नीच का भाव अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने वाले वर्ग ने स्थापित कर दिया। परिणामस्वरूप एक ही समाज में रहने-सहने और जीवन जीने वाला एक बड़ा वर्ग विकासोच्युत होकर दलित बन गया। प्रभुता और महिमामण्डन किसी एक उच्च वर्ग तक सीमित हो गया। आधुनिक जन-जागरण, शिक्षा और अनेक समाज सुधार-आन्दोलनों के फलस्वरूप दलित चेतना का प्रसार हुआ। यह चेतना साहित्य, समाज, संस्कृति और भाषा के स्तर पर अभिव्यक्त हुई। यही दलित विमर्श के रूप में आज हमारे समक्ष प्रस्तुत है।

1.2.2. दलित साहित्य की अवधारणा, स्वरूप और वैचारिकता

दलित शब्द उत्पीड़ित, शोषित, उपेक्षित, घृणित, वंचित आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति का स्थान प्राप्त वर्ग दलित है। दलित वह वर्ग माना गया है जो विकास के मार्ग में पिछड़ गया है। पिछड़ा वर्ग और दलित वर्ग में एक विशेष अन्तर यह है कि पिछड़ा वर्ग आर्थिक-सामाजिक कारणों से पिछड़ा है और दलित वर्ग सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से पिछड़ कर मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द का समानार्थी बन गया किन्तु दलित शब्द की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक शोषण का अन्तर्भाव है, सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। पिछड़ा वर्ग सर्वहारा के अधिक निकट है। भारतीय समाज में अतीत में जिसे अस्पृश्य माना जाता रहा है वह वर्ग दलित है। दुर्गम पहाडों, जंगलों के बीच जीवन-यापन करने के लिए बाध्य जन-जातियाँ और आदिवासी, जरायमपेशा घोषित जातियाँ सभी इस दायरे में आती हैं। इन सभी वर्गों की स्त्रियाँ दलित हैं। बहुत कम श्रम-मूल्य पर चौबीसों घंटे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं। अत: दलित शब्द समाज-व्यवस्था के तहत सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति या वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है। वर्ण व्यवस्था ने जिस वर्ग को अछूत या अन्त्यज की श्रेणी में रखा उसका दलन हुआ। इस वर्ग को भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियाँ कहा गया है। ये जन्मना अछूत माने जाते रहे।

साहित्य के साथ जुड़कर दलित शब्द एक ऐसी साहित्यिक विधा की ओर संकेत करता है जो मानवीय सरोकारों तथा सम्वेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है। इसे ही दलित साहित्य कहा गया। दलित साहित्य में स्वयं दलितों ने अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने बहुविध जीवन-संघर्षों की अनुभूतियों को दलित-साहित्य में अभिव्यक्त किया गया है। दलित साहित्य, कला के लिए कला न होकर जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की श्रेणी में आता है।

यह साहित्य मानवीय मूल्यों की पृष्ठभूमि में सामन्ती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोशजनित संघर्ष से उत्पन्न हुआ है।

वास्तव में प्रत्येक मानवीय समुदाय का स्वतन्त्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक अस्तित्व की धारणा समता, स्वतन्त्रता और विश्वबन्धुत्व के प्रति निष्ठा निर्धारित होनी चाहिए। यही दलित साहित्य का आग्रह है। चमार, पासी, कसाई, भंगी जैसी जातियों की स्थितियों के प्रश्नों पर विचार एवं रचनाओं द्वारा उसे प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। इसके अन्तर्गत नवयुग का एक व्यापक, वैज्ञानिक तथा यथार्थपरक सम्वेदनशील साहित्यिक हस्तक्षेप है। सामाजिक स्तर पर जातिभेद का जो लोग शिकार हुए हैं, उनकी छटपटाहट ही शब्दबद्ध होकर दलित साहित्य बनी है। यह सामाजिक क्रान्ति का साक्षात्कार है। यह सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर अधिक से अधिक स्थापनाओं का आग्रह करते हुए विरोध की अभिव्यक्ति का प्रतीक बन जाता है। सामाजिक परिवर्तन और अम्बेडकरवादी विचार ही उसकी एक मात्र प्रेरणा है। इसमें वंश, वर्ण और जाति की श्रेष्ठता का प्रबल विरोध है।

आजादी के पहले 'सरस्वती' में प्रकाशित हीरा डोम की कविता को कई विद्वान पहली हिन्दी दलित कविता मानते हैं। अछूतानन्द के आन्दोलन और उनकी रचनाओं में सामाजिक उत्पीड़न को स्पष्ट देखा जा सकता है। आजादी के बाद भी अनेक दलित कवि हुए जिस पर गाँधीवाद का प्रभाव अधिक है। उनमें हरित जी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। माताप्रसाद, मंशाराम आदि ने अत्यधिक दलित लेखन किया है। सातवें दशक में शिक्षित होकर कार्यक्षेत्र में उतरे दलित लेखकों की जद्दोजहद तथा संघर्ष ने हिन्दी दलित साहित्य की जो पृष्ठभूमि तैयार की उस ओर गैर-दलितों का ध्यान कुछ विलम्ब से पहुँचा। 'निर्णायक भीम' पत्रिका (कानपुर) ने दलित लेखकों को एक बड़ा मंच प्रदान किया। इसके आधार पर हिन्दी के कई नाम उभरकर आगे आए। 31 जुलाई 1992 को 'हंस' पत्रिका ने 'दलित चेतना : विशिष्ट सन्दर्भ प्रेमचंद' विषय पर नई दिल्ली में वार्षिक गोष्ठी का आयोजन किया जिसकी चर्चा लम्बे समय तक चली। इसका लाभ यह हुआ कि प्रेमचन्द, नागार्जुन, धूमिल, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर, यहाँ तक कि तुलसीदास भी दलित कवियों की श्रेणी में आने लगे। 'समकालीन जनमत', 'कथानक', 'इंडिया टुडे', 'प्रज्ञा साहित्य', 'सुमन लिपि', 'युद्धरत आम आदमी', 'पश्यन्ति' आदि पत्र-पत्रिकाओं में दलित कहानियाँ प्रकाशित हुई और दलित अंक प्रकाशित हुए। राष्ट्रीय सहारा ने 'हस्तक्षेप' साप्ताहिक परिशिष्ट के दो अंक निकाले। राजकिशोर ने आज के प्रश्न शृंखला में 'हरिजन से दलित' पुस्तक का सम्पादन किया।

17 अगस्त 1998 को जनवादी लेखक संघ, नई दिल्ली ने दलित आत्मकथा 'जूठन' (ओमप्रकाश वाल्मीकि) पर संगोष्ठी का आयोजन किया। इसमें दलित, गैर-दलित सभी विद्वानों ने भाग लिया। विगत वर्षों में दलित साहित्य आन्दोलन से हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों और विद्वानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन की प्रक्रिया का जो रूप उभरा है उससे दलित चेतना के प्रति एक नये प्रकाश की किरण, नयी आशा को जन्म देती है। फिर भी साहित्य एवं समाज का एक वर्ग अभी भी ऐसा है जो दलित वर्ग पर जातिवादिता तथा सामाजिक विघटन का आरोप लगाता रहता है। एक वर्ग यह कहता है कि दलित साहित्य लिखने के लिए क्या दलित परिवार में जन्म लेना जरूरी है ? अर्थात् बिल्कुल जरूरी नहीं है। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि सम्वेदना पर किसी का

एकाधिकार नहीं है। मानवीय सम्वेदना एक सार्वभौमिक सत्य है। यह कभी भी किसी को भी प्रभावित कर सकती है और कोई भी दलित लेखन में योगदान कर सकता है। दलित साहित्य में जहाँ प्रारम्भिक दौर कविताओं तक सीमित था, आज अनेक विधाओं में काम हो रहा है। कविता, कहानी, उपन्यास, समीक्षाएँ, पत्रकारिता, आत्मकथा, संस्मरण, साहित्यिक टिप्पणियाँ, नाटक आदि विधाओं में अनेक रचनाएँ आ चुकी हैं। अपने समय के संघर्ष के साथ आने वाले कल की आशावादी तस्वीर पेश करने के प्रति प्रतिबद्ध है दलित साहित्य।

दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ॰ अम्बेडकर का जीवन-संघर्ष है। इस दिशा में ज्योतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार है। ब्राह्मणवादी सोच तथा वर्चस्व के प्रति ज्योतिबा फुले ने ही सशक्त आन्दोलन खड़ा किया था। डॉ॰ अम्बेडकर दलित समाज के लिए एक ऐसा शक्तिपुंज थे जिनसे सदैव लेखन तथा चिन्तन की वैचारिक ऊर्जा ग्रहण की जाती है। दलित साहित्यकारों के माध्यम से अम्बेडकर के विचार गाँव-गाँव तक प्रचारित एवं प्रसारित हुए। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का प्रमुख तत्त्व है, दलित चेतना की वैचारिक अभिव्यक्ति जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध डॉ॰ अम्बेडकर के दर्शन एवं चिन्तन से है। प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का सौन्दर्य विधान है। वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है। हिन्दी साहित्य के अनेक प्रगतिशील, जनवादी माने जाने वाले साहित्यकार वर्तमान सामाजिक ढाँचा, धार्मिक रूढ़िवादिता, जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था, अछूतों पर अत्याचार का विरोध करने में कमजोर सिद्ध होते हैं। निराला जैसे प्रगतिशील तथा वर्ग-चेतना के गम्भीर कवि-लेखक भी अपने निबन्ध 'चाबुक' में वर्ण-व्यवस्था के प्रबल समर्थक हैं। किसी भी रचना का मूल्यांकन उसके प्रयोजन एवं अभिप्राय पर निर्भर है।

दलित जीवन और समस्याओं पर अनेक गैर दलित लेखकों ने प्रभावोत्पादक रचनाएँ साहित्य जगत को प्रदान की हैं। लेकिन एक वास्तविकता यह भी है कि अर्जित अनुभव तथा स्वानुभूति में अन्तर होता है। वास्तव में 'विषय' साहित्य का बाह्यतत्त्व होता है और अन्तर्वस्तु अन्तःतत्त्व होता है। 'विषय' रचनाकार के अनुभव से जुड़कर 'अन्तर्वस्तु' में रूपान्तरित होता है। दलित साहित्यकारों की स्वानुभूत रचनाओं में भारतीय समाज के ऐसे रोंगटे खड़े कर देने वाले यथार्थ की अभिव्यक्ति है जिस पर पहले पर्दा डाल दिया जाता था। श्यौराजसिंह बेचैन की कहानी 'अस्थियों के अक्षर', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'प्रमोशन', प्रेमकुमार मणि की 'जुगाड़', चन्द्रशेखर कर्ण की 'सुरंग से गुजरते हुए' आदि कहानियों में सामाजिक अवसादग्रस्त अपमानों की कचोट है। पाठक हतप्रभ हो जाता है। तथाकथित सभ्य समाज के नकली मुखौटों के पीछे की असली तस्वीर पेश हो जाती है। दलित साहित्य की वैचारिकता भारतीय समाज के वर्ग-संघर्ष की उपज है।

1.2.3. दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता

दलित कविता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जीवन की ज़मीन से है। यह एक सामाजिक आन्दोलन का सामाजिक प्रतिफलन है। अन्य काव्यधाराओं तथा साहित्यिक परम्पराओं की तुलना में दलित साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति की ज़मीनी हकीकत से है। भारतीय समाज में दलित उत्पीड़न का हजारों साल का इतिहास है। एक लम्बे

समय से सामाजिक विषमता, भेदभाव तथा शोषण को झेलते-झेलते दलित वर्ग के मन-मस्तिष्क में एक गहरी वेदना की रेखाएँ खिंची हुई हैं। इन्हीं विसंगतियों की प्रतिक्रियास्वरूप दलित साहित्य का सृजन हुआ है। यह दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करता है। इस आधार पर दलित जीवन का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। दलित साहित्य में साधारण परिस्थितियों में साधारण चरित्रों का वास्तविक पुनर्सृजन है। इसमें पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन नहीं बल्कि पाठक की चेतना को प्रभावित करने वाली गहन सम्वेदना की अनुभूति अभिव्यक्त हुई है।

साहित्य के इतिहास का प्रत्येक काल अपने सामाजिक परिवेश के अनुसार साहित्य-सृजन की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रकृति के समान साहित्य और समाज का चिन्तन भी परिवर्तनशील है। इसीलिए सौन्दर्य-मूल्य निर्धारण के कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं है। मानव-मस्तिष्क अपने सामाजिक जीवन से प्रभावित होता रहता है। साहित्यिक रचनाएँ इन्हीं प्रभावों से उद्भूत होती हैं। यदि कोई समीक्षक दलित समाज के जीवन से परिचित नहीं है उसके उत्पीड़ित हुए हृदयविदारक परिदृश्यों से परिचित नहीं है तो वह दलित साहित्य की निष्पक्ष समीक्षा नहीं कर सकता। एक अच्छे समीक्षक को भारतीय समाज-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, भारतीय संस्कृति आदि का गहन अध्ययन करना आवश्यक है।

भारतीय समाज-व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था एक ऐसा लाइलाज रोग है जो तमाम नीतियों, सुधारवादी आन्दोलनों के बाद भी निरन्तर विद्यमान है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था समाज के चतुर्दिक विकास के लिए ही बनी थी किन्तु मानवीय स्वार्थ, अहं एवं वर्चस्व की मानसिकता के कारण यह विकृत होती चली गई। बीसवीं सदी में सबसे बड़ा सुधारवादी दृष्टिकोण डॉ॰ अम्बेडकर ने प्रस्तुत किया। उन्होंने ही बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित किया। वास्तव में साहित्यकार भी समाज का ही एक व्यक्ति है। समाज से अलग उसका अस्तित्व नहीं होता। दलित साहित्य की मूल भावना यही है। इसीलिए वह सामाजिक प्रतिबद्धता का साहित्य है। किसी भी साहित्यिक कृति में चेतन या अचेतन रूप में उसी वर्गीय मानसिकता की अभिव्यक्ति होती है जिस वर्ग का स्वयं रचनाकार होता है।

दलित साहित्य की मान्यता है कि अचेतन रूप में वर्गीय मानसिकता अवश्य ही साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। जैसे नागार्जुन की कविता 'हरिजनगाथा' में भाग्य, मनु, ऋचाएँ आदि अनेक शब्द प्रतीक बनकर उभरते हैं जो अचेतन रूप से कवि की सोच तथा संस्कार वृत्ति को उजागर करते हैं। किसी भी रचना की सामाजिक प्रतिबद्धता ही उसे वैचारिक आधार देती है। इसीलिए साहित्यिक रचना में सामाजिक अन्तश्चेतना के प्रभाव का विश्लेषण आवश्यक है। दलित साहित्य की मान्यता है कि भारतीय संस्कृति में ऐसी कई अवधारणाएँ हैं जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करती हैं। दलित साहित्य वर्चस्व की संस्कृति से जुड़े सन्दर्भों पर प्रश्न-चिह्न उठाता है। उनसे संवाद के साथ टकराने की चेष्टा भी करता है। दलित साहित्य की सौन्दर्य-दृष्टि में उत्पीड़न, पीड़ा, धार्मिक पाखण्ड, स्वार्थजन्य शोषण तथा सामाजिक अन्याय के प्रति विद्रोह, सामाजिक परिवर्तनों के प्रति आस्था तथा घृणित व्यवस्थाओं के विच्छेदन का भाव अभिव्यक्त हुआ है। दलित जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति रससिक्त कोमल पदावली में सम्भव ही नहीं है। दलित साहित्य की आक्रोशजनित अभिव्यक्ति को खुरदरापन माना जाता है। कारण यह कि दलित जीवन सीधा-सपाट न होकर खुरदरा ही है। समाज में अकेले अलग पड़ जाने की पीड़ा ने ही दलित साहित्य को कर्कश बना दिया है। उनकी चेतना का कलारूप यथार्थवाद तक ही सीमित रह गया है।

हिन्दी साहित्य प्रायः आध्यात्मिक सौन्दर्य, प्रेम और वासना के रासरंग में ही अधिक डूबा रहा है। सामाजिक सरोकारों को उसमें स्थान नहीं मिला। यह सब कुछ सामन्ती समाज की अभिजात प्रवृत्तियों तथा अवधारणाओं का प्रतिफल था। हो सकता है कि पारम्परिक सौन्दर्य दृष्टि में दलित साहित्य शिल्पहीन हो किन्तु वह सामाजिक सरोकारों से जुड़ा एक उपेक्षित दस्तावेज अवश्य प्रस्तुत करता है। यह उस 'दस्तावेज' का खुलासा है जो समाज में 'पवित्र' और 'उत्कृष्ट' नहीं माना जाता रहा है। उनकी माँग, मान्यता तथा संघर्ष को नियति मानकर तिरस्कृत ही किया गया।

मनुष्य की स्वतन्त्रता की भावना और उसकी अभिव्यक्ति दलित साहित्य की प्राथमिकताओं में है। मानव मुक्ति के सभी रूपों तथा अन्तरंगों का दर्शन दलित साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। स्वतन्त्रता धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक भी होती है, केवल राजनैतिक ही नहीं। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का आधार मानवीय समानता, बंधुत्व तथा स्वातन्त्र्य-चेतना जैसे मूल तत्त्व ही हैं। दलित साहित्य जाति-व्यवस्था के दासत्व से मुक्ति-संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। यही उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता है।

1.2.4. दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मान्यताएँ

अधिकांश समीक्षकों की यह धारणा बन गई है कि दलित साहित्य प्राचीन संस्कृति, कला, साहित्य आदि का तिरस्कार करता है तथा पूर्ववर्ती साहित्यकारों की आलोचना करता है। उन्हें सवर्ण साहित्यकार बताकर उनके साहित्य की उपेक्षा करता है। वास्तव में यह तथ्य सही नहीं है। वास्तविकता यह है कि दलित साहित्य पूर्व साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की बात करता है। यह मानव विरोधी प्रस्थापनाओं की पुनर्व्याख्या करता है। दलित साहित्य में अन्धविश्वास का खण्डन करके गहन विश्लेषण की बात कही गई है। साहित्यिक कृतियों को धर्म पुस्तक बना देने का विरोध दलित साहित्य में किया गया है। दलित साहित्य किसी भी समस्या से रूबरू होते समय उसके वस्तुगत तथ्यों को सर्वप्रथम देखता है। भारत में उपेक्षित दलितों का बहुत बड़ा विश्व है। दलित साहित्य उनकी वेदना को समझकर उनके जीवन को उज्ज्वल बनाने की कोशिश करता है। यह मानवता की सच्चाई को इंगित करता है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के रैदास और कबीर आज भी प्रासंगिक बनकर दलित चेतना के प्रेरणास्रोत हैं लेकिन रहस्यवाद, भक्तिवाद, निर्गुणवाद आदि अपने समय की परम्परा से जुड़कर उनकी क्रान्ति की आवाज भी कहीं विलीन हो गई। यह हिन्दी साहित्य की ऐसी विडम्बना है कि उसे सवर्णवादी साहित्य की श्रेणी में ही रखा जाता है। इसके विपरीत दलित साहित्य की मान्यताएँ नैतिक मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित हैं। इसीलिए उसके दार्शनिक आख्यानों में बुद्ध की गहन मानवीय सोच उसे मानव केन्द्रित करती है।

दलित साहित्य की मान्यता है कि ब्राह्मणवादी मानसिकता और बौद्धिक विमर्श ने अवतारवाद की अवधारणा समाज में स्थापित की और अवतारों को नायक के रूप में साहित्य ने खड़ा किया। ये नायक दलित विरोधी हैं। स्त्रियों के प्रति उनका रवैया सामन्ती है। ब्राह्मण के वे रक्षक हैं। ये तमाम नायक युद्धोन्मत्त हैं। सत्ता हासिल कर अपना वर्चस्व हासिल करना ही इनका लक्ष्य है। दलित साहित्य ऐसे नायकत्व का विरोधी है। समाज की जड़ता को तोड़कर वह मनुष्य की पक्षधरता को सर्वोपरि मानता है। सामाजिक बदलाव के द्वारा वह सामाजिक

समरसता चाहता है। भाईचारे और स्वतन्त्रता की बात दलित साहित्य की अभिव्यक्ति है। हिन्दी साहित्य में दलित पात्र की मानवीय सम्वेदनाएँ केवल दासतामूलक और हीनताबोध से भरी हुई हैं। उन्हें गहन अभिव्यक्ति नहीं मिली। इस कारण वे हाशिए के चरित्र बनकर रह गए। उच्च वर्ण के तमाम लोग दलितों के श्रम और संघर्ष से अपनी समृद्धि में संलग्न रहे। 14 अक्टूबर 1956 के दिन डॉ॰ अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म त्यागकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते समय 22 प्रतिज्ञाएँ की थीं, वही दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यताओं का आधार है।

आर्थिक मान्यताओं की दृष्टि से दलितों का जीवन सामाजिक उत्पीड़न, शोषण और दमन से भरा हुआ है। आर्थिक विवशताओं और विसंगतिपूर्ण स्थितियों ने दलित जीवन को नर्क बनाया है। ग्रामीण परिवेश के जातीय उत्पीड़न से पलायन कर शहरों, महानगरों की ओर आने वाले दलितों के भीतर गहन हीनता का भाव भरा होता है। पंचायतीराज दलितों के लिए अभिशाप होता है। बेगारी प्रथा ने दलितों को घोर विपन्नता दी है। बेगार यानी बिना मूल्य का श्रम। यह आर्थिक शोषण भारतीय ग्राम-व्यवस्था का हिस्सा रहा है। दलित साहित्य ने इन प्रश्नों को गम्भीरता से लिया है। दलित रचनाओं में आर्थिक समस्याओं को प्रमुखता से अभिव्यक्ति मिली है। डॉ॰ धर्मवीर ने अपनी कविता में आर्थिक विपन्नता का जो चित्र उकेरा है, वह उल्लेखनीय है –

> शोषण की अमरबेल, दमन की महागाथा
> यातना के पिरामिड
> उत्पीड़न की गंगोत्री
> ऋणों के पहाड़ ब्याज के सागर,
> निरक्षरों के मस्तिष्क,
> महाजनों की बही रुक्कों पर अंगूठों की छाप
> ऊटपटांग जोड़ घटा, गुणा भाग देना सब एक।

अछूत प्रथा, सामाजिक ऊँच-नीच का भाव मूलत: आर्थिक ऊँच-नीच के भाव से ही जुड़ा है। दलितों को सम्पत्ति जमा करने के अधिकार से वंचित किया गया। आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए गए। दण्ड-विधान में दोहरे नियम रखे गए। दलितों की आर्थिक विपन्नता निम्नतर होती गई। डॉ॰ अम्बेडकर के अनुसार, सभ्यता के विकास में एक ऐसी अवस्था आई जब लोग अपने-अपने स्थानों पर बस गए और खेती, गो-पालन आदि के साथ नियमित जीवन बिताने लगे। लेकिन अनेक लोग अनेक कारणों से सभ्यता की दौड़ में पीछे छूट गए। इन खानाबदोश और छितरे हुए लोगों ने सभ्य बस्तियों का हिस्सा बनने की कोशिश की तो बसे हुए लोगों ने इन्हें अपने समाज का अंग मानने से इनकार कर दिया क्योंकि समय के साथ बसे हुए और छितरे हुए लोगों के आचार-व्यवहार में बहुत अन्तर आ चुका था। बसे हुए लोग ऊँचे और छितरे हुए लोग नीचे स्तर के माने गए। आर्थिक आधार पर पिछड़ते जाने के कारण समाज में इनके साथ अमानवीय व्यवहार हुआ। यही वर्ग अछूत हो गया। दलित साहित्य में यह विचार उदात्त रूप से अभिव्यक्त हुआ है। वर्तमान में सरकारी नौकरियों में दलितों के एक अंश को जो आर्थिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है उससे दलितों में आर्थिक सबलता की ओर जाने की जिजीविषा प्रबल हुई है। यह प्रोत्साहन भी वर्तमान दलित साहित्य का एक अंग बना है।

1.2.5. दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ

भाषा और शिल्प को लेकर दलित साहित्य को खारिज करने वाले आलोचक हिन्दी में भरे पड़े हैं। वे यह भूल जाते हैं कि एक समय था जब रचना की गुणवत्ता छन्द, रस, अलंकार आदि के मानकों के आधार पर तय होती थी किन्तु वर्तमान रचनाओं ने वे पारम्परिक मानक तोड़ दिए हैं। इस सदी के प्रारम्भ में खड़ी बोली को कविता के लिए घोर अनुपयुक्त माना जाता था किन्तु आज कविता खड़ी बोली में ही लिखी जाती है। दलित साहित्य ने अपने लिए सरल, सहज और आम बोलचाल की भाषा को अपनाया है।

1.2.5.1. दलित साहित्य की भाषा

पारम्परिक संस्कृतनिष्ठ, साहित्यिक काव्यशैली को न अपना कर दलित साहित्य में सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। इसमें दलितों की पीड़ा, अपमान एवं व्यथा की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध की भाषा है। इसमें युगों-युगों की यातनाएँ साकार हो उठी हैं। कुछ आलोचक दलित साहित्य पर गन्दी और अश्लील भाषा के प्रयोग का आरोप लगाते हुए कहते हैं कि साहित्य का पाठ 'पवित्र' होना चाहिए। उसके लिए आभिजात्य संस्कारों में रची-बसी भाषा होनी चाहिए। दलित साहित्य जीवन के कटु यथार्थ से रूबरू होकर ही अनुभूति को अभिव्यक्ति देता है। इसलिए वह आभिजात्य संस्कारों के कल्पना लोक में नहीं विचरता। यातनाओं से उपजी आक्रोशित भाषा एक तेज औजार की तरह पाठक को झकझोर देती है। दलित साहित्य की बोली-बानी के अनेक शब्द साहित्य के लिए नये हैं। यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता टूटती है। समाज की गन्दी-मलिन बस्तियों में नंग-धड़ंग घूमते बच्चे, दूषित वातावरण, वहाँ के परिवेश में जीवन जीने को विवश दलित परिवारों के चित्रण की भाषा अभिजात्य क्यों कर हो ! उसके यथार्थ को आलोचक नहीं जानते। उस परिवेश की भाषा ही दलित जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है।

दलित साहित्य की भाषा गद्यात्मक है। उसमें विरोध का स्वर प्रखर है। यथा –

> शब्द ही तो थे
> जो मनुस्मृति में लिखे गए
> रामराज चला गया
> पर शम्बूक की चीख़ की अनुगूँज अभी बाक़ी है
> जैसे दलितों की पीठ पर चोट के निशान

'शब्द' की मारक-क्षमता से दलित भली प्रकार परिचित हो चुका है। मोहनदास नैमिशराय की उपर्युक्त कविता में व्यक्तिनिष्ठा नहीं, समूहनिष्ठा है। यह दलित रचनाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता को प्रतिष्ठित करती है।

सामाजिक सन्दर्भों से जुड़कर दलित साहित्य अपनी अभिव्यक्ति एक आह्वान करता है। डॉ० सी. बी. भारती की कविता 'चुनौती' में छिपी वेदना के साथ ललकार भी है –

तुमने चुरा लिये
हमारे विकास के रास्ते
शिक्षा पर लगा दिये प्रतिबन्ध
आखर पर आज रख दी है तुमने
हमारी भागीदारी के लिए
योग्यता की शर्त

पर कब तक फेंकोगे तुम
अपना यह मकड़जाल हम पर ?
घबराओ नहीं
समय आ रहा है
जब हम भी बदेंगे तुमसे
दौड़ने की शर्त
जीतेंगे बाज़ी
तोड़ेंगे तुम्हारा दर्प

नकार, विरोध, प्रतिरोध, विद्रोह को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त दलित कवि की भाषा में शब्द चयन, जनसामान्य की चेतना को सजीवता तथा प्रवाहपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करता है। दलित साहित्य की भाषा का सीधा सम्बन्ध दलित जीवन से है। दलित साहित्य की भाषा बिना किसी लाग-लपेट के सीधे-सीधे समाज के दग्ध अनुभवों को व्यक्त करती है। इसमें परिवर्तन की छटपटाहट है, अपनी अस्मिता की खोज है, यथा –

ओ, मेरे अज्ञात, अनाम पुरखो
तुम्हारे मूक शब्द जल रहे हैं
दहकती राख की तरह
राख : जो लगातार काँप रही है
रोष में भरी हुई

दलित साहित्य की भाषा में वेदना और आक्रोश के साथ वैचारिक प्रतिबद्धता भी है।

1.2.5.2. दलित साहित्य में बिम्ब और प्रतीक

साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण होता है। प्रतीक विचार-बोध के माध्यम होने के साथ ही अर्थ की गुणवत्ता की भी वृद्धि करते हैं। दलित साहित्य में भी पीड़ा, बेबसी, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध आक्रोशात्मक अभिव्यक्ति हेतु प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। दलितों की क्षत-विक्षत स्थितियों को कवि लालचन्द राही ने 'वृक्ष' के माध्यम से व्यक्त किया है –

अब वृक्ष की कटी-छँटी टहनियाँ
पुनः पुस्फुटित होने लगी हैं

द्रुत गति से
बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में।

सम्पूर्ण सामन्ती और शोषक समाज की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रकृति को अपनी ‘सैलाब’ शीर्षक कविता में कर्मशील भारती ने ‘घड़ियाल’ के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। यथा –

समूचा शिकार निगलने के बाद
खूँखार व मक्कार घड़ियाल
जल से निकलकर
किनारे पर बैठा
आहार का रसास्वादन
बड़े मजे
बड़े आराम से लेता है।

दलित कवि का स्वर कटु होता है। उसमें हजारों सालों के घावों की पीड़ा है। ‘पेड़’, ‘लोकतन्त्र’, ‘भेड़िए’, ‘जंगली सूअर’, ‘कुत्ते’ शोषण, दमन तथा गुलामी के प्रतीक हैं।

दलित कविता में बिम्ब-विधान दलित जीवन की त्रासदी और उसके यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। अन्धकार, गंदगी, सड़ाँध, सीलन, तंग मकान, तंग गलियाँ आदि दलित जीवन के यथार्थ हैं। उन वस्तुओं को दृश्य बिम्ब के स्थान पर रखकर दलित कवि इन्हीं वस्तुओं में अपने जीवन के प्रतिबिम्ब ढूँढता है। ‘झाड़ूवाली’ कविता में प्रयुक्त बिम्ब देखिए –

रामेसरी के हाथ में थमी बाँस की मोटी झाड़ू।
सड़क के ऊबड़-खाबड़ सीने पर
श्श-श्श की ध्वनि से तैरती है।
उड़ाती है धूल का गुबार
धूल जो सैकड़ों वर्षों से
जम रही है पर्त-दर-पर्त
फेफड़ों में रामेसरी के
रंग रही है श्वास नली को चिमनी-सा
कारखाने से उठते धुएँ-सा।

इन पंक्तियों में झाड़ू, धूल, धुआँ दलित जीवन का यथार्थ है, जो दलित-जीवन-सन्दर्भों से जुड़े हैं। डॉ॰ सुशीला टाकभौरे की निम्नलिखित पंक्तियों में नारी विद्रोह का स्वर मुखरित हुआ है–

पिंजरे में बन्द मैना को
क़िस्सागोई पाठ पढ़ाते रहे
लाज-शर्म का हिसाब लगाते रहे
तालाबन्दी का हक़ जताते रहे

जो तुमने पाया वह
तुम्हारा सामर्थ्य
नारी ने स्वयं कुछ किया
तो बेहयाई
अब बताओ
तुम्हें क्यों शर्म नहीं आयी ?
गल चुकीं
बहुत मोमबत्तियाँ
आज
वह जंगल की आग है
बुझाए न बुझेगी
बन जाएगी
आग का दरिया

उसके नये तेवर पहचानो
श्रद्धा शर्म दया धर्म
किसमें खोजते हो ?
सँभालो अपने
पुराने ज़ेवर
थान के थान
परिधान

आज ये ख़ुद्दार औरत
नंगेपन पर उतरकर
परमेश्वर को लजाएगी
पुरुष के सर्वस्व को नकारकर
उसे नीचा दिखाएगी !!

ये पंक्तियाँ आवेगपूर्ण अनुभवों की अभिव्यक्ति है। दलित कविता में राजनैतिक बिम्ब भी गहरे सरोकारों से जुड़े हैं। मोहनदास नैमिशराय की कविता द्रष्टव्य है जिसमें राजनैतिक प्रपंच भय उत्पन्न करते हैं –

वे आ गये
हाथों में बरछी
रिवॉल्वर
नंगी तलवारें
कट्टे लिये
राजनीति के अलम्बरदारों से भरी जीप गाड़ी
* * *

आते ही सीढ़ियाँ ले
चुनावी नारों से पटी दीवारों से
पोस्टर उतारना आरम्भ कर देते
उछलते
गीत गाते
ढोल बजाते
उनमें नायक से खलनायक तक सभी होते
वे चम्बल, भिंड मुरैना के बीहड़ों की
पैदाइश नहीं होते,
प्रतिक्रियाओं के बीच जन्मे, पले
महानगरीय संस्कृति के मुखौटे होते
उनका शोर सुनकर
घरों में माताओं के स्तन मुँह में डाले
बच्चे चौंक उठते
पिता खिड़की पकड़ते
सांकल, सिटकनी को चेक करते
कमज़ोर दरवाज़ों को छूकर
उनकी ताक़त का एहसास करते
उनके आने पर जाग हो जाती
कुत्ते सतर्क हो उठते
और आदमी
अपने-अपने भुतहा-कठघरों में
अपनी-अपनी धड़कनों को ही
सुनने का प्रयास करते ।

ये बिम्ब उस आजादी के लिए हैं जिसमें करोड़ों दलित आज भी गुलाम हैं।

1.2.5.3. दलित साहित्य में मिथक

दलित साहित्य में मिथकों का भी भरपूर प्रयोग हुआ है । कर्ण, एकलव्य, शम्बूक आदि नायक की भूमिका में प्रतिष्ठित हुए हैं । प्राचीन और पौराणिक मिथकों द्वारा विद्रोह तथा विरोधात्मक स्वर को अभिव्यक्ति मिली है। यथा –

अँधेरे की गहन गुफ़ा को घाव सहने दो
जाओ द्रोण जाओ, दर्द को हरियाने दो
एकलव्य मैं पहले था, आज भी हूँ
अब जान गया हूँ
अँगूठा दान क्यों माँगते हो ?

डॉ॰ दयानन्द बटोही की इस कविता में द्रोणाचार्य की परम्परा और एकलव्य की पीड़ा को अतीत से वर्तमान तक जोड़ा गया है। आज भी अनेक एकलव्यों की प्रतिभाएँ क्षत-विक्षत हो रही है। दलित कवियों ने ऐतिहासिक, पौराणिक मिथकों द्वारा दलित जीवन की विसंगतियों और सामाजिक सन्दर्भों की वास्तविकता को रेखांकित किया है। विद्रोह, विक्षोभ, अस्मिता की तलाश तथा अस्तित्व के लिए जूझते सरोकारों को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यथा –

शम्बूक, तुम्हारा रक्त ज़मीन के अंदर
समा गया है जो किसी भी दिन
फूटकर बाहर आएगा
ज्वालामुखी बनकर!

(– शम्बूक का कटा सिर, ओमप्रकाश वाल्मीकि)

मिथकों की पुनर्व्याख्या दलित कविताओं की विशेषता है। हिन्दू दर्शन समस्त मानव की ही नहीं, जीव मात्र की आत्मा को एक ही ब्रह्म का अंश मानता है। किन्तु दलितों के प्रति उनकी निर्ममता अमानवीय है। यथा –

तुम्हारे रचे शब्द
तुम्हें ही डसेंगे साँप बनकर
गंगा किनारे
कोई वटवृक्ष ढूँढ़कर
भागवत का पाठ कर लो
आत्मतुष्टि के लिए
कहीं अकाल मृत्यु के बाद
भयभीत आत्मा
भटकते-भटकते
किसी कुत्ते या सुअर के मृतदेह में
प्रवेश न कर जाये
या फिर से पुनर्जन्म की लालसा में
किसी डोम या चूहड़े के घर
पैदा न हो जाये।

(– बस्स! बहुत हो चुका, ओमप्रकाश वाल्मीकि)

वास्तव में दलित साहित्य ने नये बिम्ब गढ़े, पौराणिक मिथकों की परिभाषा तथा व्याख्या बदल डाली। अनुभवों की प्रामाणिकता से नया तेवर उभरा और सीधे मन को छू गया। इसमें जुल्मों से जूझते हुए, मरते हुए और जीते हुए के बीच स्त्री-पुरुषों के जीवन की अभिव्यक्ति है। उसकी भाषा जटिल संरचना के साथ उन स्थितियों को उभारती है जो मनुष्य का शोषण कर उसे गुलामी की ओर ले जाती हैं। प्रचलित सौन्दर्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं से अलग दलित साहित्य ने अपना रास्ता चुना है जो पौराणिक खलनायकों को नायकत्व प्रदान करता

है । साथ ही, दलित साहित्य ने पारम्परिक सोच की विसंगतियों को खंगाला है जो भारतीय जनमानस को हजारों साल से प्रभावित करते आ रहे हैं ।

1.2.6. दलित हिन्दी कथा-साहित्य

दलित साहित्य के प्रारम्भिक दौर में कविताएँ ही लिखी गईं। सातवें दशक में दलित लेखकों द्वारा लिखी कहानियाँ प्रकाश में आईं। प्रकाशित न होने के बावजूद लेखकों ने रचनाकर्म एक आन्दोलन की तरह जारी रखा। मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'सबसे बड़ा सुख', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'अँधेरी बस्ती' आदि कहानियाँ दलित अस्मिता के सरोकारों के साथ दलित चेतना की बेचैनी को तीखे स्वर में अभिव्यक्त करती हैं । समकालीन दलित कहानियों का परिदृश्य आठवें दशक में तेजी के साथ उभरा । यह सामाजिक परिवेश की गम्भीर चुनौतियों से भी टकराया । यथार्थ चित्रण की एक विशिष्ट धारा प्रवाहित हुई जिसकी ओर हिन्दी समीक्षकों का ध्यान विलम्ब से गया । हिन्दी में नयी कहानी, अकहानी, समान्तर कहानी, और फिर जनवादी कहानी आदि पड़ावों से गुजरते हुए वर्तमान हिन्दी कहानी का रुझान मध्यमवर्गीय जिजीविषा के यथार्थ चित्रण से जुड़ गया । पूर्ववर्ती कहानियों के कल्पनालोक एवं मायावी संसार से निकल कर कहानी लेखन में ताजगी का अनुभव होने लगा ।

आठवें दशक में भी सम्पादकों और समीक्षकों के पूर्वाग्रह एवं उपेक्षा से दलित रचनाएँ चर्चा से बाहर रहीं । फिर भी दलित रचनाकारों के संघर्ष से यह तिलस्म भी टूटा । अब दलित कहानियाँ दलित पत्रिकाओं के साथ 'गरिमा भारती', 'कुरुक्षेत्र', 'संचेतना', स्वतन्त्र भारत' आदि में भी छपीं । ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ 'पंजाब केसरी', 'जनसत्ता', 'नवभारत', 'निष्कर्ष' आदि में छपकर एक विशाल पाठकवर्ग तक पहुँचने में सफल रहीं ।

नवें दशक में भी दलित कहानियों ने एक नवीन पहचान निर्मित की । हिन्दी की कई महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ मराठी दलित साहित्य पर अपने विशेषांक प्रकाशित कर चुकी थीं । हिन्दी के दलित कथाकार, समाज की संकीर्णता, जाति भावना आदि ढके-दबे भ्रमजाल को उखाड़ फेंक रहे थे । फलस्वरूप पहली बार 'हंस' (सम्पादक – राजेन्द्र यादव) ने उन्हें एक मंच दिया । नवें दशक में ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराजसिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, डॉ० सुशीला टाकभौरे आदि की कहानियाँ 'हंस' में छपीं । अनेक कथा-संकलन भी आए । 'आवाजें', 'सुरंग', 'कफनखोर', 'यातनाओं के जंगल', 'टूटता वहम', 'सलाम' आदि कहानी संग्रहों ने दलित कहानी-यात्रा का एक अहम पड़ाव पार किया है । वामपंथी मजदूर संगठनों में विद्यमान अन्तर्विरोध, सरकारी कार्यालयों में दलित कर्मियों के प्रति बरती जाने वाली मानसिकता, बहुविध सामाजिक भेदभाव, पंचायतीराज की विडम्बना आदि इन दलित कहानियों की विषयवस्तु थीं । दलित कथाकार अपने प्रामाणिक अनुभवों को कथा में पिरोकर गहन अनुभूति से जब प्रस्तुत करता है तो साहित्य की भूमिका भी स्पष्ट हो जाती है । दलित मात्र उपभोग की वस्तु है, उसका मान-सम्मान अर्थहीन है । यही दलित चेतना की विकास-यात्रा भी है । दलित जीवन की नारकीय यातनाएँ जहाँ दलित कहानियों को जीवन से जोड़ती हैं, वहीं ये कहानियाँ मानवीय सरोकारों को प्रतिबद्धता के साथ प्रस्तुत भी करती हैं । सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ और अन्तर्विरोध दलितों

में भी हैं जिनके प्रति दलित कथाकार उतने ही निर्मम हैं, जितने गैर-दलितों के प्रति। हिन्दी दलित कहानी धीरे-धीरे अपना स्वरूप ग्रहण कर विकास की ओर अग्रसर है। सामाजिक जीवन के अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता ने जो खाई पैदा की है, उसे पाटने का काम भी दलित कहानियों की प्राथमिकताओं में है।

1.2.7. हिन्दी समीक्षा और दलित साहित्य

हिन्दी समीक्षा विधा में व्याप्त सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि समीक्षकों की राय और मान्यताओं में विरोधाभास भरे पड़े हैं। 'उत्कृष्टता' एवं 'पवित्रता' के नाम पर जातीय संकीर्णता और साम्प्रदायिक मूल्यों को स्थापित किया जा रहा है। वास्तव में आलोचना की मुख्यधारा जो वास्तविक अर्थ में सवर्ण मुख्यधारा है, वह अपनी रचनात्मक स्वायत्तता को लेकर सदैव आत्ममुग्ध होती रही है। उसकी आत्ममुग्धता की सबसे प्रबल मान्यता है कि जिसे वह अपनी सौन्दर्य-बोधता समझते हैं, वही मूल्य सार्वभौम होता है। कला एवं शिल्प के प्रति भी यही धारणा है। इस धारणा में स्त्री जाति या दलित जातियों के लिए कोई अलग स्थान या मान्यता नहीं है। अधिक से अधिक उन्हें आश्रित जाति के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। हिन्दी साहित्य दसियों साल तक दलित जातियों एवं उनकी समस्याओं का नोटिस ही नहीं लेता। हिन्दी समीक्षा की भी यह एक वैचारिक त्रासदी है। गूढ़ भाषा, आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान से भरी रचना ही समीक्षकों की दृष्टि में श्रेष्ठ है। आम आदमी की भाषा, सुख-दुःख, व्यथा व्यक्त करने वाली सामाजिक अभिव्यक्ति समीक्षकों को अपरिपक्व लगती है।

हिन्दी में प्रयोगवाद के नाम पर अकविता, अकहानी आदि जो भी दौर आए उन्हें समीक्षकों ने जनोन्मुख भावना के विरुद्ध ही मानते हुए नकार दिया। उनका नकारात्मक रुख मानव-विरोधी ही रहा है। डॉ० नामवर सिंह, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, परमानन्द श्रीवास्तव और सुधीरकुमार सिंह आदि ने जनवादी और प्रगतिवादी मूल्यों के नाम पर कुछ ऐसे मूल्यों का प्रचास्प्रसार किया जो ऊपर से तो बहुत आकर्षक प्रतीत हो रहे थे किन्तु भीतर ही भीतर वे सामन्ती, पूँजीवादी एवं वर्ण व्यवस्था के समर्थक मूल्यों को ही स्थापित करने में लगे थे। ऐसे ही समीक्षकों ने उन रचनाओं को श्रेष्ठ कृतियों के रूप में स्थापित किया जो मानवीय मूल्यों के नकारात्मक पक्ष को उजागर करती थीं। चाहे प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' हो या अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल', निराला की 'राम की शक्तिपूजा', कविता हो या फिर गिरिराज किशोर का उपन्यास 'परिशिष्ट'। हिन्दी में उन रचनाकारों को निम्न माना जाता है जो वर्तमान के अन्तर्द्वन्द्वों, संघर्षों से टकराने का साहस पैदा करते रहे हैं। इस प्रकार की समीक्षा का प्रभाव पाठक पर भी सही नहीं पड़ता। हिन्दी समीक्षकों ने साहित्य और राजनीति का ऐसा भ्रम पैदा कर दिया है जो किसी भी रचनाकार को वर्तमान के संघर्षों से विमुख कर देता है।

पारम्परिक समीक्षा में अन्तर्निहित मानदण्डों से दलित साहित्य की समीक्षा सम्भव नहीं है। समीक्षा से सामान्यतया यह अपेक्षा की जाती है कि समीक्षक रचनाकार की दृष्टि, मन्तव्य तथा मानदण्डों को सुनिश्चित करे। जो रचना जिस उद्देश्य से रची गई है, उसी के आधार पर उसकी समीक्षा हो। दलित साहित्य का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं है। वर्ण तथा जातिप्रथा के अनुसार फैलायी गई विषमता के विरुद्ध उसने संघर्ष की भूमिका अपनायी है। दलित साहित्य की स्थापना से सवर्ण या 'उत्कृष्ट' या 'पवित्र' साहित्य माने जाने वाले पाठ पर आँच आएगी,

इसीलिए हिन्दी के समीक्षक दलित साहित्य को शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रम में लाने से बचते दिखाई देते हैं। उनके सवर्ण नायक दलित नायकों के आगे निम्न कोटि के कैसे हो सकते हैं ? इसलिए हिन्दी समीक्षक को सवर्ण सापेक्ष दृष्टि अपनानी अनिवार्य शर्त है। दलित साहित्य अतीत से वर्तमान तक सामाजिक खोखलेपन को प्रस्तुत करता है। हाशिए पर कर दिए गए दलित वर्ग की पीड़ा जब शब्द बनकर सामने आती है तो सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों से दबा आक्रोश आग बनकर फूटता है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ उसे सीमाबद्ध करने में असमर्थ हो जाती हैं। दलित रचनाकार लुक-छिपकर या घुमा-फिराकर बात कहने का पक्षधर नहीं है। यह काल्पनिकता से परे यथार्थ की अभिव्यक्ति है।

सामाजिक विषमता परस्पर लूट-खसोट, सत्ता के गलियारों की चमचागिरी, भ्रष्टाचार, शिक्षा-संस्थानों की धाँधलियों से बचकर, कन्नी काटकर हिन्दी के रचनाकार सीधे-सीधे समस्याओं से जूझने के बजाय 'कला' के मुखौटे पहनना क्यों जरूरी समझते हैं ? हिन्दी समीक्षा इन स्थितियों को रेखांकित करने के बजाय इनमें सहयोग देती है। इसीलिए राष्ट्रीय समस्याओं पर हिन्दी लेखक लगभग मौन धारण किए रहते हैं। हिन्दी साहित्य में समाजशास्त्रीय समीक्षा का सर्वथा अभाव है। समाजशास्त्रीय एवं भौतिकवादी दृष्टि से ही जीवन के प्रश्न, उनका भीषण स्वरूप, उनके विरुद्ध संघर्ष, इन सबकी पड़ताल साहित्य में सम्भव होगी।

1.2.8. पाठ सार

दलित शब्द उत्पीड़ित, शोषित, उपेक्षित, घृणित, वंचित आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति का स्थान-प्राप्त वर्ग दलित है। यह वर्ग विकास में पिछड़ गया है। वास्तव में प्रत्येक मानवीय समुदाय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाना चाहिए।

दलित साहित्य का वैचारिक एवं दार्शनिक आधार डॉ॰ अम्बेडकर का जीवन-संघर्ष है। इस दिशा में ज्योतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार है। वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है। दलित जीवन और समस्याओं पर अनेक दलित साहित्यकारों ने अपनी चेतना-सम्पन्न दीप्ति साहित्य के रूप में प्रज्ज्वलित की है। दलित साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जीवन और ज़मीन से है। यह एक सामाजिक आन्दोलन का सामाजिक प्रतिफलन है। समाज में व्याप्त ब्राह्मणवादी सोच और कला-संस्कृति विषयक परम्परावादी मान्यताएँ ही दलित समाज की आर्थिक विपन्नता तथा पिछड़ेपन का मूल कारण है। दलित साहित्य इन्हीं विसंगतियों को अपने लेखन में सीधे-सीधे उजागर करता है, उसे पारम्परिक शैली में परिष्कृत करके काल्पनिक कलात्मकता के साथ स्वर्ण पात्र में प्रस्तुत नहीं करता। उसके बिम्ब, प्रतीक और मिथक भी काल्पनिक न होकर यथार्थबोध ही व्यक्त करते हैं। हिन्दी समीक्षा की परम्परावादी दृष्टि दलित साहित्य के मूलभाव के साथ न्याय नहीं कर पाती। उसे समाजशास्त्रीय एवं भौतिक्तावादी दृष्टि अपनानी चाहिए तभी वह दलित साहित्य में निहित मानवीय मूल्यों की पड़ताल कर सकेगा।

1.2.9. बोध प्रश्न

1. दलित साहित्य की अवधारणा एवं वैचारिकता को स्पष्ट कीजिए।
2. सामाजिक प्रतिबद्धता की दृष्टि से दलित साहित्य का विवेचन कीजिए।
3. दलित साहित्य की धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ क्या हैं?
4. दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
5. हिन्दी समीक्षा में दलित साहित्य का स्थान निर्धारित कीजिए।

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : विमर्शों की सैद्धान्तिकी

इकाई – 3 : आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप; जल, जंगल, ज़मीन और अस्मिता का सवाल, आदिवासी चेतना, मौखिक और लिखित साहित्य परम्परा, सांस्कृतिक विशिष्टताएँ, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, आदिवासी दर्शन एवं वैचारिकता, आदिवासी भाषाएँ और बोलियाँ; समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्शमूलक साहित्य-लेखन

इकाई की रूपरेखा

1.3.00. उद्देश्य कथन
1.3.01. प्रस्तावना
1.3.02. आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप
1.3.03. जल, जंगल, ज़मीन और अस्मिता का सवाल
1.3.04. आदिवासी चेतना
1.3.05. मौखिक और लिखित साहित्य परम्परा
1.3.06. सांस्कृतिक विशिष्टताएँ
1.3.07. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
1.3.08. आदिवासी दर्शन एवं वैचारिकता
1.3.09. आदिवासी भाषाएँ और बोलियाँ
1.3.10. समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्शमूलक साहित्य-लेखन
1.3.11. पाठ सार
1.3.12. बोध प्रश्न
1.3.13. उपयोगी और सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.3.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आदिवासी विमर्श के अवधारणात्मक, ऐतिहासिक, वैचारिक, भाषाई और साहित्यिक पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

i. उत्तरआधुनिक समय में विकसित होते विमर्शों के बीच आदिवासी विमर्श के उभार के कारणों को जान पाएँगे।
ii. अन्य विमर्शों के बरअक्स आदिवासी विमर्श के वैशिष्ट्य से परिचित हो सकेंगे।
iii. आदिवासी और गैर-आदिवासी परम्पराओं में सृजित आदिवासी साहित्य के अन्तर को चिह्नित कर सकेंगे।

iv. इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे कि आदिवासी समाज के लिए प्राकृतिक संसाधन सिर्फ उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए आवश्यक कच्चा माल नहीं है प्रत्युत जल-जंगल-ज़मीन के लिए उनकी लड़ाई उनके अपने अस्तित्व और सम्पूर्ण धरती के अस्तित्व की लड़ाई है।

v. आदिवासियों पर जबरन थोप दी गई गैर-आदिवासी पहचानों में निहित आदिवासी विरोधी सत्ता-विमर्श से रूबरू हो सकेंगे। साथ ही आप समझ पाएँगे कि आदिवासी न तो 'ट्राइब' हैं और न ही 'पिछड़े हिन्दू'।

vi. आप समझ पाएँगे कि किन कारणों से आदिवासियों की मौखिक साहित्य-परम्परा को लोक-साहित्य के बट्टेखाते में नहीं डाला जा सकता !

vii. आप समझ सकेंगे कि आदिवासी चिन्तक और साहित्यकार आदिवासियों के मौखिक साहित्य को अब पुरखा साहित्य कहने पर बल क्यों दे रहे हैं। पुरखा साहित्य के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे।

viii. गैर-आदिवासी संस्कृति विशेषतः पुंसवादी हिन्दू आर्य संस्कृति से आदिवासी संस्कृति के अन्तर और आदिवासी संस्कृति के अपने वैशिष्ट्य को भी जान पाएँगे।

ix. साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में भारतीय आदिवासी समुदायों के इतिहास को समझ सकेंगे

x. वर्तमान में लिखित आदिवासी साहित्य की प्रतिरोधी चेतना को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण कर पाएँगे

xi. योग्यतम की उत्तरजीविता पर टिके गैर-आदिवासी दर्शनों की तुलना में समन्वय, सहयोग और सहअस्तित्व के सिद्धान्तों में यकीन करने वाले आदिवासी दर्शन का महत्त्व समझ पाएँगे।

xii. आप इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे कि आदिवासी विमर्श में भाषा का सवाल किस प्रकार एक केन्द्रीय स्थान रखता है और किस प्रकार आजाद भारत में भी आदिवासी भाषाओं-बोलियों की व्यवस्थित उपेक्षा की गई है।

xiii. आदिवासी लेखक-लेखिकाओं द्वारा विभिन्न विधाओं में रचित समकालीन हिन्दी साहित्य से परिचित हो सकेंगे।

1.3.01. प्रस्तावना

आदिवासी जीवन पर लिखित साहित्य में चाहे हाल के सालों में अकादमिक जगत का ध्यान गया हो किन्तु आदिवासी समुदायों के अपने मौखिक साहित्य की परम्परा सुदीर्घ है। राजनैतिक स्तर पर और मीडिया में नक्सलवादी-माओवादी आन्दोलन के आदिवासी पहलुओं पर लम्बे समय से चर्चा चली आ रही थी। एक विमर्श के रूप में आदिवासी साहित्य के इस उभार के पीछे आदिवासी आन्दोलनों के कारण बने आदिवासी केन्द्रित राज्यों की असफलता का बड़ा हाथ रहा है। आदिवासियों के नाम पर बने राज्यों में यथावत जारी विकास के गैर-आदिवासी मॉडल के खिलाफ आदिवासियों और नागरिक समाज की लामबंदी ने आज विकास के उपभोग केन्द्रित पूँजीवादी मॉडल पर असंख्य सवाल उठाते हुए संसाधनों की अन्धी लूट, पर्यावरण प्रदूषण और पारिस्थितकीय असन्तुल के बीच खत्म होती आदिवासी सभ्यता और साथ ही खत्म होती इस धरती को बचाने

की ज़रूरत रेखांकित करते हुए वैकल्पिक आदिवासी दर्शन की प्रासंगिकता साबित कर दीहै। आदिवासी साहित्य साम्राज्यवाद के खिलाफ वैदिक काल से लेकर नव-उदारवादी दौर तक चले आ रहे दीर्घकालीन आदिवासी संघर्ष और वैकल्पिक आदिवासी जीवन-दर्शन को सामने लाता है।

1.3.02. आदिवासी विमर्श : अवधारणा और स्वरूप

सोवियत संघ के पराभव के उपरान्त आज के उत्तर-आधुनिक समय में मुक्ति के महाख्यानों में लोगों की रुचि नहीं रह गई है। हमारे देश में भी आजादी के 70 सालों बाद भी जब हाशिए के लोगों के हालात बहुत ज्यादा नहीं बदल पाए हैं तब राष्ट्रवाद के महाख्यान पर सवाल उठाए गए हैं और ये सवाल लाजिमी भी हैं। साहित्य के क्षेत्र में वंचित तबकों द्वारा उठाये जा रहे इन्हीं सवालों और बहसों से निकले हैं विभिन्न प्रकार के विमर्श। इन विमर्शों में अब दलित और स्त्री विमर्श अपनी एक पुख्ता पहचान बना चुके हैं। विमर्शों के इस शोरगुल में आदिवासी विमर्श सबसे नया होकर भी सबसे ज्यादा सम्भावनाओं से भरा नज़र आता है। शेष अन्य विमर्शों से यह विमर्श इस मायने में अलग है कि आदिवासी समाज तथाकथित मुख्यधारा से अलग कटा हुआ समाज है जबकि चाहे वर्णाश्रम व्यवस्था में दलितों के साथ योजनाबद्ध ढंग से अमानवीय दुर्व्यवहार और शोषण किया जाता रहा हो किन्तु दलित समाज हिन्दू समाज का ही एक हिस्सा है।

दलित और स्त्री साहित्यकार मुख्यधारा के समाज में ही अपने समुदाय और लिंग की हिस्सेदारी चाहते हैं जबकि आदिवासी साहित्यकार अपनी वैकल्पिक आदिवासी दुनिया को बचाए रखना चाहता है। वह मुख्यधारा द्वारा चलाए जा रहे विकास के दुष्प्रचार के खिलाफ खड़ा है। आदिवासी विमर्श पूँजीवादी औद्योगिक विकास से पैदा हो रही विषमताओं, पर्यावरण प्रदूषण और हिंसा के बरअक्स एक समतामूलक दुनिया का सपना हमें दिखाता है जहाँ मनुष्य प्रकृति के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में रहता है। आदिवासी अस्मिता का सवाल सिर्फ आदिवासी समुदायों को बचाने का सवाल नहीं है बल्कि आदिवासी अस्मिता के साथ इस धरती का भविष्य भी जुड़ा हुआ है। आदिवासी विमर्श के साथ जुड़ा है, भाषाओं का सवाल। आदिवासी विमर्श आदिवासी भाषाओं को बचाने की लड़ाई भी है क्योंकि आदिवासी के लिए भाषा सिर्फ सम्प्रेषण का जरिया भर नहीं होती अपितु हर आदिवासी भाषा अपने बोलने वाले आदिवासी समाज के ज्ञान, जीवन-दर्शन, इतिहास और संस्कृति का आधार होती है।

आदिवासी विमर्श का सम्बन्ध कांग्रेस के नेतृत्व वाले केन्द्र के कमजोर पड़ने और क्षेत्रीय अस्मिताओं के उठ खड़े होने से भी देखा जा सकता है। कांग्रेस जैसी स्वघोषित राष्ट्रीय पार्टी के कमजोर पड़ने के कारण ही दिकू राज्यों में होने वाली उपेक्षाओं के खिलाफ सदियों से जारी आदिवासी संघर्ष को सफलता मिली और मध्यभारत में दो नये आदिवासी राज्यों का जन्म हुआ – छत्तीसगढ़ और झारखण्ड। इसी मध्यभारत, जिसे हिन्दू मिथकों में दण्डकारण्य कहा गया है, का आदिवासी समाज आज आदिवासी विमर्श के केन्द्र में है। यद्यपि आदिवासियों के नाम पर बने हुए इन राज्यों में भी दिकू शासन-तन्त्र द्वारा आदिवासियों का शोषण जारी है। किन्तु आदिवासी

पहचान का मुद्दा अब इन राज्यों में मुख्य सवाल बन चुका है। आदिवासियों की पढ़ी-लिखी नयी पीढ़ी में अपनी पहचान को लेकर सवाल खुदबुदा रहे हैं।

सन् 1990 ई. के बाद नव-उदारीकरण का जो दौर शुरू हुआ, उसमें दण्डकारण्य में ग्लोबल गाँव के गिद्धों के लिए हवाईपट्टी बिछाने का काम सरकार के संरक्षण में जोर-शोर से शुरू हुआ। अपने ही देश के नागरिकों के खिलाफ सुरक्षाबलों को उतारा जाना अफसोसनाक है। किन्तु सरकारी दमन के बाद भी जल-जंगल-ज़मीन की इस नव-उदारवादी लूट के खिलाफ आदिवासियों का जबर्दस्त प्रतिरोध जारी है और इसी के समान्तर जारी है सुरक्षा बलों के खिलाफ माओवादियों का हिंसक अभियान। हिंसा-प्रतिहिंसा के इस दौर मीडिया में दण्डकारण्य लगातार सुर्खियों में छाया रहता है। आदिवासी साहित्यकारों के साथ-साथ गैर-आदिवासी साहित्यकारों की सम्वेदना को भी इस राज्य-प्रायोजित हिंसा-प्रतिहिंसा ने झकझोर कर रख दिया है।

आदिवासी साहित्य आदिवासियों की इसी अस्तित्व रक्षा की लड़ाई से निकला विमर्शमूलक साहित्य है। किन्तु आदिवासी साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से कोई बौद्धिक विलास नहीं कर रहे हैं, वे तो नव-उदारवादी राष्ट्र राज्य द्वारा आदिवासियों पर थोपे गए युद्ध के बीच अस्तित्व रक्षा की लड़ाई में अपनी कलम के माध्यम से योगदान दे रहे हैं। इस आदिवासी विमर्श में सक्रिय योगदान दे रहे आदिवासी और गैर-आदिवासी साहित्यकार उस आदिवासी समाज को लेकर चिन्तित हैं जो अभी भी मुख्यधारा से दूर अपनी स्वायत्त पहचान के साथ जी रहा है और इसी स्वायत्त पहचान और स्वायत्त सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को बचाए रखने के लिए आज संघर्षरत है। आदिवासी समाज की त्रासदी यह है कि उनके अधिवास प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध हैं और उपभोग केन्द्रित नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था राष्ट्रहित के नाम पर इन संसाधनों को लूटने पर आमादा है किन्तु इस लूटतन्त्र का परिणाम आदिवासियों के विस्थापन के रूप में हो रहा है। अपने जल-जंगल-ज़मीन से विस्थापित होकर आदिवासी अपनी संस्कृति, अपनी जीवन-पद्धति, अपनी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से वंचित हो अन्ततः खत्म हो जाता है। यही कारण है कि पूँजीवादी लूटतन्त्र और तज्जनित विस्थापन के खिलाफ आज सम्पूर्ण आदिवासी विमर्श एक आन्दोलन के रूप में अपना प्रतिरोध दर्ज़ कराता दिख रहा है।

ऐसा नहीं है कि आदिवासी जीवन पहले कभी साहित्य का हिस्सा हुआ ही न हो। हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के लेखन की पृष्ठभूमि में भी गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी जीवन पर लिखे गए आरम्भिक उपन्यासों को देखा जा सकता है। स्वाधीनता-उपरान्त लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था में गाँवों और इसी तरह के पिछड़े अँचलों की ओर ध्यान गया। देश के मैले-कुचले अँचलों को भी राजधानियों से बड़ी उम्मीद थी किन्तु शासन-व्यवस्था उनकी उम्मीदों पर खरी नहीं उतर सकी। अति-आधुनिकता से ऊबा हुआ हिन्दी लेखकों का एक समूह (पर्यटक की नज़र से भी) जब-तब आदिवासी इलाकों की सैर पर जाता रहा है। किन्तु पहला तो यह कि आदिवासियों पर लिखने वाले गैर-आदिवासी थे और दूसरा यह कि आदिवासियों के प्रति उनकी कलम तमाम तरह के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होती थी। पहले का गैर-आदिवासी लेखक आदिवासी जीवन पर लिखते समय आदिवासियों की अछूती जीवन पद्धति, गीत-संगीत, खान-पान, रीति-रिवाजों और मान्यताओं के टटकेपन से ज्यादा आकर्षित रहता था। वह स्वयं को आदिवासियों का उद्धारक समझने का भ्रम पाले रहता था। तुलसी के

रामचरितमानस में भी सबरी के झूठे बेर खाने वाले राम को उद्धारक दिखाया गया है। राष्ट्रवादी विमर्श से संचालित ऐसे साहित्यकार राष्ट्र-निर्माण में आदिवासियों की भी भागीदारी सुनिश्चित करवाना चाहते थे। आदिवासियों की स्वायत्त सांस्कृतिक-राजनैतिक-धार्मिक और सामाजिक पहचान के प्रति उनका आग्रह नहीं ही होता था। विकास के राष्ट्रवादी मॉडल के प्रति भी वे शायद ही कोई सवाल उठाते हों। आदिवासियों के पर्व-त्योहार, बोली-बानी, उनके परिवेश की प्राकृतिक सुषमा में ही उन उपन्यासकारों का मन रमता था। आदिवासी जीवन के नाम पर आदिवासी ललनाओं के मांसल शरीर का कामुक चित्रण किया जाता था। योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वनलक्ष्मी' उपन्यास एक ऐसा ही उपन्यास था जिसे डॉ॰ वीर भारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'झारखण्ड के आदिवासियों के बीच – एक एक्टिविस्ट के नोट्स' में रामायणकालीन आर्यवाद का नया संस्करण कहा है। आदिवासियों के धर्मान्तरण के मुद्दे पर दक्षिणपंथी ताकतों द्वारा आदिवासियों के साम्प्रदायीकरण की जो नयी मुहिम आज दिख रही है, गैर-आदिवासी साहित्यकारों के यहाँ पहले भी इस मुद्दे को गलत ढंग से उठाया गया है।

झारखण्ड और छत्तीसगढ़ न सिर्फ खनिज संसाधनों की दृष्टि से बहुत सम्पन्न हैं अपितु वैविध्यपूर्ण आदिवासी जीवन की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध हैं। प्राकृतिक संसाधनों की सम्पन्नता और समृद्धि के कारण इसी क्षेत्र को औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक हमले सबसे ज्यादा झेलने पड़े हैं। आज तो राष्ट्र राज्य का संरक्षण पाकर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इसे अपना चारागाह बना डालना चाहती हैं। स्वाभाविक है कि अपनी पहचान और अस्तित्व पर छाये इस संकट को लेकर यहीं के आदिवासी समुदाय सबसे ज्यादा चिन्तित और संघर्षशील हैं। आदिवासी विमर्श में भी मुख्य आवाजें इसी मध्यभारत के आदिवासी क्षेत्र की सुनाई देती हैं। वैसे देशभर के आदिवासी अपनी-अपनी भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी और अंग्रेजी में लिख रहे हैं। इस समग्र आदिवासी लेखन को ही आदिवासी साहित्य कहा जाता है।

ध्यातव्य है कि दलित विमर्श सदृश स्वानुभूति और सहानुभूति का सवाल आदिवासी विमर्श में नहीं है। जहाँ मुख्यधारा के तथाकथित व्यापक दृष्टि-सम्पन्न और तथाकथित उदार लोग अन्य विमर्शों पर संकीर्ण सोच रखने का आरोप लगाते हैं, वहीं आदिवासी विमर्श पर कोई इस प्रकार का आरोप नहीं लगा सकता। किन्तु दलित विमर्श के कारण साहित्य से बेदखल हो चुके तथाकथित मुख्यधारा के लेखकों का यकायक आदिवासी जीवन की ओर रुख़ कर लेना आदिवासी विमर्श में विभ्रम की स्थिति भी जब-तब खड़ी करता रहता है।

1.3.03. जल, जंगल, ज़मीन और अस्मिता का सवाल

आदिवासी समुदायों के लिए जल, जंगल और ज़मीन अर्थात् प्रकृति जहाँ अपने अस्तित्व का आधार है, वहीं उनकी मूल पहचान की निर्धारक भी है। दिकू समाज की तरह आदिवासी न तो प्राकृतिक संसाधनों को बेचकर मुनाफा कमाने की स्वार्थी मनोवृत्ति से ग्रसित रहते हैं और न ही वे स्वयं को प्रकृति का स्वामी ही मानते हैं। प्रकृति उनके लिए भरण-पोषण का आधार है और पूर्वजों से प्राप्त प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करना, प्रकृति के साथ सहअस्तित्व में रहना ही आदिवासीपन है। वे इस धरती के आदि निवासी हैं किन्तु वे धरती को अपनी निजी मिल्कियत नहीं समझते। जल, जंगल और ज़मीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर सामूहिक स्वामित्व के अधिकार में

विश्वास रखते हैं और प्रकृति से उतना ही लेते हैं, जितना जीवन-निर्वाह हेतु न्यूनतम रूप से आवश्यक होता है। ऐसा नहीं है कि आदिवासी समाज बाज़ार से बिल्कुल कटा रहा हो। अपने इस्तेमाल के उपरान्त जो थोड़ा-बहुत बच जाता था, उसे आदिवासी लोग आस-पास के हाट-बाजारों में ले जाते थे और बदले में ज़रूरत की वैसी चीजें ले आते थे, जो उनके पास नहीं होती थी। किन्तु आदिवासी न तो मुद्रा-व्यवस्था का अंग रहा और न ही मुनाफाधर्मी बाज़ारवाद का।

धरती और पहाड़ आदिवासी के लिए बेशुमार आर्थिक मूल्य रखने वाले निर्जीव संसाधन मात्र नहीं होते, वे उनके लिए जीवित आस्था के प्रतीक हैं। आदिवासी प्रकृति के पूजक हैं। प्रकृति पर विजय पाने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले दिकू देवी-देवता उनके देवी-देवता नहीं हो सकते। उनकी सरना माई सखुआ गाछ में ही निवास नहीं करती बल्कि प्रकृति के समस्त जीवों से उन्होंने अपने गोत्र जोड़े हैं। उनके करमा और सरहुल त्योहारों में प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतरंगता देखी जा सकती है।

लेकिन मध्यकाल से लेकर आज तक बाहरी लोग विभिन्न रूपों में आकर जल-जंगल और ज़मीन के लिए आदिवासी इलाकों पर बर्बर हमले करते आए हैं। कभी वे साहूकार बनकर आए और आदिवासियों को कर्ज के जाल में उलझाकर खून-पसीने से तैयार की गई उनकी उपजाऊ ज़मीनों को हड़प गए। साम्राज्यवादी औपनिवेशिक ताकत के रूप में अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवादी-व्यावसायिक हितों के लिए जंगल के कानून बनाकर आदिवासियों को उनके परम्परागत सामूहिक वन्य अधिकारों से वंचित कर दिया। हिन्दू और ईसाई धर्मप्रचारकों ने भोले-भाले आदिवासियों को गुमराह करके उन्हें उनके प्राकृतिक धर्म से दूर करने की कुत्सित कोशिशें भी की ताकि उनके प्राकृतिक संसाधनों को लूटने में सुविधा हो। अपने जल, जंगल और ज़मीन को, इनसे परिभाषित होने वाले अपने अस्तित्व को बचाने के लिए समय-समय पर आदिवासियों ने बाहरी आक्रान्ताओं के खिलाफ विद्रोह भी किए। आदिवासी भूमि को गैर आदिवासियों के हाथों में जाने से रोकने के लिए मध्यभारत के आदिवासियों ने 'हूल' और 'उलगुलान' किया था जिसके चलते अंग्रेज सरकार को 'छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम, 1908' और 'संथाल परगना काश्तकारी अधिनियम, 1876' जैसे कानून बनाने पड़े थे। आज़ादी के बाद उम्मीद थी कि आदिवासी क्षेत्रों का समुचित संरक्षण किया जाएगा और जल-जंगल-ज़मीन की यह लूट खत्म होगी, आदिवासियों की पहचान पर जारी दिकू आक्रमणों पर रोक लगेगी किन्तु राष्ट्रहित के नाम पर नेहरूवादी विकास के मॉडल ने आदिवासी इलाकों में विकास के जो मन्दिर बनाये, उन मन्दिरों ने बड़ी संख्या में आदिवासियों को अपनी ही ज़मीन से, अपने पहाड़ों से, अपने जंगलों से बेदखल होने पर मजबूर कर दिया।

आजादी के बाद स्वतन्त्रता-समता-बन्धुत्व के आदर्शों पर टिके संविधान के लागू होने से और लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था की स्थापना से दलितों की तरह ही आदिवासियों में भी कुछ बदलाव और बेहतरी की उम्मीद जगी किन्तु जब राष्ट्रीय विकास के नाम पर आदिवासियों को एक बार फिर नये सिरे से उनके प्राकृतिक अधिवासों से वंचित किया जाने लगा तो आजाद भारत की सरकारों से उनका मोहभंग होता चला गया। इसी बीच पश्चिम बंगाल के एक छोटे से गाँव नक्सलवाड़ी से आरम्भ हुए नक्सलवाद आन्दोलन की ओर वे खिंचते चले गए जिसे माओवाद के नाम से भी जाना जाता है। नक्सलवादी और माओवादी गुरिल्ला लड़ाकों की ओर

आदिवासियों के झुकाव के ठोस कारण भी हैं क्योंकि इनके विद्रोही संगठन आदिवासियों के वन्य अधिकारों की आवाज़ उठाते रहे हैं। आदिवासियों पर होने वाले पुलिस और सुरक्षाबलों के अत्याचारों का विरोध करते रहे हैं। नब्बे के बाद जब भारत ने नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों को अंगीकार कर लिया तो दण्डकारण्य की धरती के गर्भ में छिपे बहुमूल्य खनिज संसाधनों को हथियाने के लिए देशज और विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की गिद्ध दृष्टि भी यहाँ के आदिवासी इलाकों पर पड़ गई। विकास की आड़ में सरकारी संरक्षण में देशी उद्योगपतियों और बहुराष्ट्रीय निगमों के नव-उपनिवेशवाद का प्रचार-प्रसार आज छत्तीसगढ़, झारखण्ड, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश और पश्चिम बंगाल के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में बृहद पैमाने पर हो रहा है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पैरों तले कुचले गए आदिवासी आज अपने ही आजाद देश के सुरक्षा-तन्त्र और राज्यसत्ता के हाथों बेमौत मारे जाने को अभिशप्त हैं। उनके नदी-नाले और जंगल बेचे जा रहे हैं। उनके प्राकृतिक जल-स्रोतों को सभ्य समाज ने अपनी खदानों, कारखानों और शहरों की ओर मोड़ दिया है और अपने विकास की कीमत पर उनके जल-जंगल-ज़मीन को प्रदूषित करके जहरीला बना दिया है।

स्पष्ट है कि आदिवासी समाज पारम्परिक रूप से जल-जंगल-ज़मीन पर निर्भर रहने वाला स्व-निर्भर समाज है किन्तु वर्तमान उपभोगवादी पूँजीवादी व्यवस्था अपने मुनाफे को विकास का नाम देकर आदिवासियों को विकास-विरोधी साबित करने में लगी है। गैरआदिवासी बाहरी लोगों की तो पूरी ज्ञानमीमांसा ही आदिवासी पहचान को विकृत करने की रही है। औपनिवेशिक काल में विदेशी प्रभुवर्ग ने जहाँ नृतत्त्वशास्त्र का इस्तेमाल आदिवासियों के सन्दर्भ में अपने औपनिवेशिक हितों के निर्धारण हेतु किया, तो वहीं उत्तर-औपनिवेशिक काल में दक्षिणपंथी राजनीति उनके हिन्दूकरण के माध्यम से अपने वोटों की रोटियाँ सेंकने में लगी है। किन्तु चाहे विदेशी राजसत्ता हो या तथाकथित भारतीय हिन्दुत्ववादी सांस्कृतिक विचारधारा, दोनों की शक्तिमीमांसा के लिए आदिवासी एक वस्तु मात्र होते हैं। इन दोनों के यहाँ कमोबेश रूप से क्रमशः नस्ल और धर्म के चश्मे से आदिवासियों को देखने की प्रवृत्ति रही है। यद्यपि एक श्रेणी के रूप में 'जनजाति' औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा की सृष्टि है किन्तु इसकी जड़ें विदेशी साम्राज्यवाद के आगमन से कहीं ज्यादा पीछे तक फैली हुई हैं। जनजाति पद से व्यंजित मानक-छवि और उसके निहितार्थ मूलतः तथाकथित भारतीय सभ्य समाज द्वारा पहले से ही विशिष्ट समुदायों और समूहों के सन्दर्भ में इस्तेमाल होते आए हैं। पाश्चात्य नृतत्त्वशास्त्रियों ने औपनिवेशिक सत्ता से संचालित होकर इस पद का प्रयोग जंगलों-पहाड़ों में अलग-थलग पड़े उन लोगों को सम्बोधित करने के लिए किया था जो तथाकथित रूप से आदिम और बर्बर जीवन जीते हैं। श्वेत नस्ल के प्रभुवर्ग द्वारा स्वयं को सभ्य-सुशिक्षित और आदिवासियों को जंगली-जाहिल घोषित करने की यह नस्लभेदीय परम्परा भारतीय इतिहास-संस्कृति में भी साफ देखी जा सकती है। संस्कृत और हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों और परम्पराओं में इसी तर्ज पर सभ्य मनुष्यों ने गिरा-कन्दरानिवासी आदिम जनों का वर्णन-चित्रण किया है। यहाँ आदिवासियों के लिए प्रयुक्त शब्द किसी भी तरह से नस्लीय भेदभाव और पूर्वाग्रहों से कमतर नहीं हैं, जैसे – दस्यु, दैत्य, राक्षस और निषाद आदि। इस प्रकार आदिवासियों को लेकर प्राच्यवादी औपनिवेशिक सत्ता और पौर्वात्यवादी धार्मिक सत्ता, दोनों एक ही धरातल पर खड़ी हैं।

1.3.04. आदिवासी चेतना

भारत में आज आदिवासी समाज के लिए जिस अँग्रेजी शब्द 'ट्राइब' (हिन्दी में 'जनजाति' पद) का इस्तेमाल किया जाता है, वह भारतीय सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्य में विवादास्पद हो चुका है क्योंकि पश्चिमी जगत के नृतत्त्वशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय अध्येताओं ने जिन पूर्वाग्रहों के साथ भारतीय आदिवासियों के लिए 'ट्राइब' शब्द का इस्तेमाल किया था, उन पूर्वाग्रहों के साथ आज यहाँ के आदिवासियों की परिवर्तित वर्तमान दुनिया के साथ तालमेल नहीं बैठता। कुछ सुनिश्चित लक्षणों के विवरणों के आधार पर औपनिवेशिक नृतत्त्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने भारतीय ट्राइब की अवधारणा समय और स्थान से परे जड़ीभूत इकाई के रूप में निर्धारित की थी। उन्होंने ट्राइब को समांगी और समरूप श्रेणी के रूप में दिखाने की कोशिश की थी। आजादी के बाद भी हम जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में अँग्रेजों के ज़माने की चीजों को ढोये जा रहे हैं, वैसे ही ट्राइब के प्रसंग में भी हमारा राष्ट्र राज्य औपनिवेशिक अकादमिक अवधारणा से मुक्त नहीं हो पाया है। यद्यपि अब कुछ मौलिक ढंग से सोचने वाले अध्येता ट्राइब को समांगी और समरूप श्रेणी के रूप में देखने पर सवाल उठाने लगे हैं क्योंकि जनजातीय समाज भी शेष भारतीय समाज की तरह ही है। वह कोई जड़ समाज नहीं है, वहाँ भी आज की बदली हुई परिस्थितियों में आर्थिक स्तर भेद देखे जा सकते हैं किन्तु जनजातियों की राजनीति करने वाले बुर्जुआ जनजातीय नेता भी इस यथार्थ को स्वीकारने को तैयार नहीं हैं।

उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में औपनिवेशिक नृतत्त्वशास्त्रियों ने एक श्रेणी के रूप में ट्राइब को भारत में रूपाकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना के साथ ही इस देश के शासित समाज को समझने की दिशा में अँग्रेज प्रशासकों, मिशनरियों और नृतत्त्वशास्त्रियों ने व्यवस्थित प्रयास किए। उन्होंने जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले असभ्य आदिम समाजों के जीवन और उनकी संस्कृति पर आँकड़े जुटाये। यहाँ की भूमि और उसके लोग जैसे थे, वैसे ही वर्णनात्मक विवरण तैयार करने का प्रयास किया गया। जिस प्रकार यूरोप के नृतत्त्वशास्त्री गैर-ईसाई और गैर-आधुनिक मध्य एशिया और अफ्रीका के कबीलों को नृजातीय अध्ययन का विषय मानते थे, वैसे ही यहाँ भी उन्होंने देश की दूसरी सामाजिक श्रेणियों की प्रतिलोम सत्ता के रूप में आदिवासी समाजों की रूपरेखा प्रस्तुत की। इन आदिम समाजों के अध्ययन का आधार उन्होंने नाते-रिश्तेदारी, सामाजिक संरचना और धार्मिक मान्यताओं आदि को बनाया और अपने अध्ययनों में दिखाया कि कैसे ये आदिवासी समाज उनके ट्राइब के तयशुदा अवधारणात्मक खाँचे में सटीक बैठते हैं। ट्राइब उनके लिए हिन्दू 'जाति' नामक तथाकथित सभ्य और आधुनिक अवधारणा के विपरीत असभ्यता और आदिमता की सूचक अवधारणा थी। उन्होंने हमें बताया कि ट्राइबल लोग भारतीय समाज की दूसरी श्रेणियों से जन्मजात भिन्न होते हैं।

आजादी के उपरान्त भारतीय राष्ट्र राज्य ने भी राजकीय स्तर पर आधारभूत पाँच लक्षणों के आधार पर ट्राइब को परिभाषित किया है। इन लक्षणों के अन्तर्गत ट्राइब को एक विशिष्ट सामाजिक इकाई मान लिया गया है जिसके कुछ स्थिर और स्थायी लक्षण बताये गए हैं, जैसे – आदिम प्रवृत्तियाँ, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक एकाकीपन, बाहरी लोगों से सम्पर्क से बचना और पिछड़ापन। इन जड़ीभूत लक्षणों के आधार पर ट्राइब को

परिभाषित करने पर विद्वानों के बीच असहमति हो सकती है किन्तु हमारे यहाँ मुद्दा वैज्ञानिक आधार पर ट्राइब को परिभाषित करना है ही नहीं क्योंकि ट्राइब हमारे देश में मूलतः राजनैतिक और प्रशासनिक श्रेणी है। ट्राइब के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आयाम किसी के लिए यहाँ यथार्थ में कोई मायने अब नहीं रखते हैं। एक नृजातीय समूह के रूप में ट्राइब को देखने की जो परिपाटी औपनिवेशिक नृतत्त्वशास्त्रियों ने यहाँ चला दी, औपनिवेशिक सत्ता ने इस देश में अपने शासन की प्रासंगिकता सिद्ध करने के क्रम में अपने राजनैतिक हितों के लिए उसे प्रशासनिक आयाम दिया। उसने कुछ आदिम समूहों को ट्राइब का दर्ज़ा देकर उन्हें कुछ विशेष सहूलियतें दीं और ईसाई मिशनरियों ने भी उनके उत्थान की दिशा में कदम उठाए। औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत आदिमता और असभ्यता का सूचक रहा ट्राइबल समाज भारतीय परिस्थितियों से अनजान विदेशी शासक वर्ग के लिए चाहे समांगी रहा हो लेकिन आजादी के इतने सालों बाद भी आज उसे समांगी ही मानकर देखना समय की गतिशीलता से आँखें चुराना है।

कल तक जो आदिवासी समाज किसी मुद्दे पर एक समान विचार रखता था, वही आज अपने वर्गीय हितों अनुसार सोचने लगा है। एक ही ट्राइबल समाज के अमीर और गरीब लोगों में अब किसी विषय पर आसानी से मतैक्य नहीं बन पाता। समान वर्गीय हितों के चलते उच्च वर्ग के ट्राइबल लोगों के बीच जहाँ 'एका' (ऐक्य) नज़र आता है, वहीं उनके हित निम्न वर्ग के अपने ही समुदाय से मेल नहीं खाते जबकि गैर-ट्राइबल लोगों के साथ भी वे अपने आर्थिक हितों के लिए एक मंच पर आने को तैयार दिखाई देने लगे हैं। अपने ही निर्धन ट्राइबल भाइयों की ओर से अगर उनके आर्थिक सरोकारों को खतरा पैदा होता है तो वे उच्च वर्ग के अपने समकक्ष गैर-ट्राइबल धनी किसानों और शहरी लोगों के साथ हाथ मिलाने से नहीं झिझकते। वास्तव में भूमि पर निजी अधिकार, श्रम को नगद पूँजी में भुनाने के अवसर और बाज़ार के प्रति अनुकूलन आदि के कारण ट्राइबल समाज में भी वर्गीय संरचना पनपने लगी है। गुजरात के चौधरी ट्राइबल समुदाय के सन्दर्भ में इस प्रकार के अध्ययन हुए हैं। ऐतिहासिक-राजनैतिक कारणों से अपेक्षाकृत किंचित् समृद्ध हो चुकी छोटी-सी मध्यवर्गीय ट्राइबल आबादी बाज़ार और राज्य द्वारा प्रदत्त अवसरों को हड़पकर बहुसंख्यक वंचित पिछड़ी ट्राइबल आबादी का हक मारकर और ज्यादा पैसे वाली होती जा रही है। शिक्षा, पेशे, आय और सम्पत्ति के पैमानों पर ये लोग अपने समाज के गरीब-पिछड़े लोगों से कहीं उच्चतर वर्ग में आ चुके हैं। अपेक्षाकृत समृद्ध हो गए ट्राइबल लोगों में उच्च जातीय हिन्दू संस्कृति को अपनाने की प्रवृत्ति भी साफ देखी जा सकती है और इसके चलते ट्राइबल समाज में सांस्कृतिक वैषम्य की स्थितियाँ भी अब पैदा होने लगी हैं। राजस्थान के मीणा आदिवासियों के सन्दर्भ में यह स्थिति स्पष्टतया देखी जा सकती है। ट्राइबल लोगों का ईसाईकरण भी इसी समस्या का एक आयाम है।

स्पष्ट है कि ट्राइब शब्द के औपनिवेशिक निहितार्थों से बाहर निकलकर आज हमें वर्गीय विषमताओं और सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर भेदों की वास्तविकताओं के सन्दर्भ में कल के आदिम-असभ्य समाजों पर विचार करना होगा। ट्राइबल लोगों के लिए बनायी जाने वाली सरकारी-गैरसरकारी नीतियों और योजनाओं का अनुकूलन आज के ट्राइबल समाज की भिन्नताओं और विषमताओं के मद्देनज़र करना होगा तभी सम्पूर्ण ट्राइबल

समाज का समावेशी विकास सम्भव हो पाएगा। आदिवासी विमर्श में भी इस चीज का नोटिस लिया जा रहा है। इस सन्दर्भ में अनुज लुगुन की 'आदिवासी' शीर्षक कविता को पुनः पढ़ना महत्त्वपूर्ण है –

वे जो सुविधाभोगी हैं
या मौक़ा परस्त हैं
या जिन्हें आरक्षण चाहिए
कहते हैं हम आदिवासी हैं,
वे जो वोट चाहते हैं
कहते हैं तुम आदिवासी हो,
और वे जो नंगे पैर
चुपचाप चले जाते हैं जंगली पगडंडियों में
कभी नहीं कहते कि
हम आदिवासी हैं।

आदिवासी के धर्म को लेकर फिरंगी नृतत्त्वशास्त्री और औपनिवेशिक प्रशासक जहाँ पर अपनी बात समाप्त करता है, वहीं से हिन्दुत्ववादी मेधा अपनी भावी आदिवासी रणनीति के सूत्र चुनती है। अभी तक नृतत्त्वशास्त्री और समाजशास्त्री आदिवासी और गैर-आदिवासी समाजों के मध्य विद्यमान जिस मूलभूत पार्थक्य पर बारम्बार बल देते आए थे, उसी की अवहेलना करते हुए गोबिंद सदाशिब घुर्ये अब तक के चिन्तन को उलटते हुए आदिवासी को हिन्दू साबित करने की जिहादी जिद पकड़ लेते है। घुर्ये ने 'तथाकथित मूल निवासी और उनका भविष्य' एक पुस्तक लिखी थी जो कई संस्करणों के पश्चात् 'भारत की अनुसूचित जनजातियाँ' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इन्होंने हिन्दू समाज के साथ आदिवासियों के समायोजन के आधार पर उन्हें तीन श्रेणियों में वर्गीकृत करते हुए उन्हें 'पिछड़ा हुआ हिन्दू' साबित करने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। इनके सारे तर्क-बाण एक ही धनुष से निकलते हैं जो आदिवासियों के जीववादी धर्म और हिन्दू धर्म की तथाकथित मूलभूत समानता के ख्याली तत्त्वों से बना है। घुर्ये 1891 से 1931 के मध्य मर्दुमशुमारी आयुक्तों द्वारा किए गए पर्यवेक्षणों और उनके द्वारा की गई टिप्पणियों के आधार पर सारा प्रपंच रचते हैं। उन्होंने स्वयं आदिवासी समाज के मध्य जाकर धरातली सच्चाइयों से कोई साक्षात्कार नहीं किया था। इतना ही नहीं घुर्ये ने बहुत ही अपर्याप्त साक्ष्यों का हवाला दिया है जिनके चयन के पीछे भी उनका आदिवासी विरोधी पूर्वाग्रह काम कर रहा था। किन्तु घुर्ये की लेखनी ने आदिवासियों के सन्दर्भ में साम्प्रदायिक राजनीति की राह आसान कर दी। अब घुर्ये की मार्फत उनके लिए आदिवासियों को हिन्दू सिद्ध करके उनके हिन्दूकरण की मुहिम को तर्क का जामा पहनाना किंचित् आसान हो गया। घुर्ये की इस आदिवासी हिन्दूकरण की अनुगूँज नियोगी समिति की रपट में भी साफ सुनाई देती है। यह समिति अविभाजित मध्यप्रदेश में ईसाई मिशनरियों की तथाकथित धर्मान्तरण की गतिविधियों की जाँच करने के लिए गठित की गई थी। समिति ने आदिवासियों को हिन्दू और पिछड़ा हिन्दू बताते हुए घुर्ये के रटे-रटाये कुतर्कों का सहारा लेकर आदिवासियों के ईसाईकरण पर अपनी चिन्ता जाहिर की। किन्तु सच तो यह है कि जीववादी आदिवासी धर्म और हिन्दू धर्म में कोई समानता नहीं है और यदि कहीं किसी स्तर पर किसी को किंचित् सादृश्य भी नजर आता है, तो उसका कारण यही है कि हिन्दू धर्म भी अपने आरम्भ में प्राकृतिक धर्म ही रहा है।

आदिवासी चेतना आदिवासी की वास्तविक पहचान को समझने और परिभाषित करने से ही तय होती है। आदिवासी न 'ट्राइब' है और न 'पिछड़ा हिन्दू'। पूर्वोत्तर के आदिवासियों में चर्च द्वारा स्वयं को ट्राइब कहने की जो अलगाववादी भावना भर दी गई है, वह स्वयं वहीं के आदिवासी समुदायों की अपनी पहचान और बाज़ारवाद तथा नव-उदारवाद के खिलाफ जारी अस्तित्व-रक्षा की लड़ाई को कमजोर करने वाली है। मध्यभारत के आदिवासियों को एक विशेष राजनैतिक विमर्श के तहत वनवासी भी कहा गया किन्तु उनकी स्वायत्त आदिवासी चेतना ने कभी वनवासी के इस ठप्पे को स्वीकार नहीं किया। सच्चाई यह है कि आदिवासी इस धरती का मूल निवासी है किन्तु उसे इस आदिवासी पहचान के साथ स्वीकारने की ईमानदारी दिखाने की हिम्मत मुख्यधारा प्रायः नहीं कर पाती। कारण कि आदिवासी को आदिवासी कहने पर आर्य राष्ट्रवाद भरभरा कर गिर जाता है। और यही कारण है कि स्वतन्त्र आदिवासी चेतना रखने वाले आदिवासी लेखकों, कार्यकर्त्ताओं और नेताओं पर राष्ट्रविरोधी होने के आरोप जड़ दिए जाते हैं। महादेव टोप्पो की कविता गैर आदिवासियों द्वारा दिए गए गैर-आदिवासी नामों को, संज्ञाओं को, उनकी उतरन को ढोने को तैयार नहीं है –

उन्होंने मुझे जो कहा
मैंने कर दिया मानने से उसे इंकार
क्योंकि उस शब्द से लगती है मेरे आत्मसम्मान को चोट
आखिर मैं वह क्यों कहलाऊँ ?
जो कहलाना नहीं चाहता

(– पहचान का सवाल)

1.3.05. मौखिक और लिखित साहित्य परम्परा

ऐतिहासिक कारणों से आदिवासी समाज में लिपि का आविष्कार बहुत बाद में हुआ है और आज भी बहुत सारे आदिवासी समुदाय हैं, जिनके पास अपनी भाषाओं को लिखने के लिए लिपि नहीं है। औपचारिक शिक्षा से भी यह समाज महरूम रहा। इन्हीं सब कारणों से आदिवासी साहित्य की लिखित परम्परा बहुत पीछे तक नहीं जाती। लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि आदिवासी समुदायों का अपना कोई साहित्य रहा ही नहीं है। हर आदिवासी समुदाय के पास मौखिक साहित्य की एक समृद्ध परम्परा रही है जो पुश्त दर पुश्त चली आ रही है। अपनी-अपनी भाषा-बोली में आदिवासी समुदाय मौखिक साहित्य का सृजन करते आए हैं। किन्तु आदिवासी समुदायों के साहित्य को वर्ग विभाजित समाज के साहित्य की तर्ज पर शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य के खाँचों में नहीं बाँटा जा सकता और न बाँटना चाहिए। गैर-आदिवासी समाज में लोक-साहित्य का बड़ा ही गर्हित अर्थ लगाया जाता है। वहाँ अनपढ़, गँवार और उज्जड़ जनता द्वारा रचित साहित्य ही लोक-साहित्य कहा जाता है जबकि शिष्ट साहित्य उसे कहा जाता है जिसे पढ़े-लिखे सभ्य व्यक्ति ने गम्भीर चिन्तन-मनन के पश्चात् रचा होता है। स्पष्ट है कि शिष्ट और लोक के इस विभाजन में सामूहिक मेधा और श्रम को कमतर और हेय मानने का पूर्वाग्रह छिपा हुआ है। दूसरी बात, लोक शब्द से हिन्दू सांस्कृतिक दर्शन का भाव ध्वनित होता है। लोक शब्द मूलतः परलोक, त्रिलोक, नरकलोक जैसी हिन्दू अवधारणाओं से नाभि-नाल सम्बन्ध रखता है।

आदिवासी चिन्तक और साहित्यकार वन्दना टेटे अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन' में मानती हैं कि आदिवासी समाज के मौखिक साहित्य को लोक-साहित्य के बट्टेखाते में न डाला जाए। आदिवासी समाज हिन्दू लोक की अवधारणा में यकीन नहीं रखता बल्कि वे गण, विश और जन हैं। आदिवासी साहित्य लोक-साहित्य की भाँति तथाकथित अनपढ़ और कच्चा साहित्य नहीं है। वन्दना टेटे सुप्रसिद्ध केन्यांई आदिवासी साहित्यकार न्यू गी वा थ्यों गो की तर्ज़ पर मौखिक आदिवासी साहित्य को 'ऑरेचर' संज्ञा से परिभाषित करती हैं और हिन्दी में उसे पुरखौती साहित्य कहने की हिमायती हैं। आदिवासियों का यह पुरखौती साहित्य गैर-आदिवासी समाजों की तरह किसी नायकत्व में विश्वास नहीं करता बल्कि यह सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व में विश्वास करता है। गैर-आदिवासी साहित्यिक प्रतिमानों पर यह पुरखौती साहित्य खरा नहीं उतर सकता क्योंकि वहाँ साहित्य के केन्द्र में नायक होता है, कोई व्यक्ति-विशेष होता है जबकि आदिवासी पुरखा साहित्य के केन्द्र में समष्टि है, प्रकृति है। वन्दना टेटे आज लिखे जा रहे आधुनिक आदिवासी साहित्य को पुरखौती साहित्य की परम्परा से दूर देखती हैं। वास्तव में आज के लिखित आदिवासी साहित्य में विशेषतः गैर-आदिवासी लेखकों के द्वारा लिखित आदिवासी साहित्य में मुख्य स्वर असहमति और प्रतिरोध का है। यह असहमति और प्रतिरोध अन्यायमूलक शोषक पूँजीवादी सत्ता के खिलाफ है किन्तु आपका मानना है कि शासित करने वाली सत्ता के लिए आदिवासी पुरखा साहित्य में कोई स्थान नहीं है। आदिवासी समाज में श्रम का विभाजन नहीं होता अतः वहाँ कवि-कलाकार की कोई विशिष्ट पृथक् श्रेणी भी नहीं होती। आदिवासी गायक-नर्तक-गीतकार-चित्रकार कलम और कुदाल के साथ-साथ छेनी, हथौड़ी, रंग, कूँची सब कुछ चलाता है।

निश्चय ही आदिवासी पुरखा साहित्य के दो ही स्थायी भाव हैं – प्रेम और प्रकृति। वन्दना टेटे ने, डब्ल्यूसी जी. आर्चर द्वारा मुंडा, खड़िया, हो, उरांव और संताल आदिवासियों के जिन दस हजार गीतों का संकलन किया गया था, उनका अध्ययन करके बताया है कि इनमें से मात्र दस प्रतिशत गीत ही ऐसे हैं जिनमें दुःख और क्षोभ है। असल में असहमति और प्रतिरोध के भावों को सामने रखने वाला यह पुरखा साहित्य अंग्रेजी उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित शोषणमूलक व्यवस्था की प्रतिक्रिया में रचा गया था। अस्तु, देशी-विदेशी साम्राज्यवाद और आज की नव-उदारवादी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट के खिलाफ आज आदिवासी विमर्श में काफी कुछ लिखा जा रहा है, जैसे वैश्विक होती दुनिया में आदिवासियों के जल-जंगल-ज़मीन पर आँख गड़ाये बैठी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लुटेरी व्यवस्था के प्रतिरोध में रणेंद्र का उपन्यास आता है 'ग्लोबल गाँव के देवता'। बाज़ार केन्द्रित देशी-विदेशी साम्राज्यवाद का विरोध करने वाला बिरसा और गैर झारखंडियों के हाथों झारखण्ड की लूट के खिलाफ आन्दोलन चलाने वाले मूल झारखंडी आज बाज़ार द्वारा बिरसा और झारखण्ड को एक ब्रांड, उत्पाद बना बेचे जाने से हक्के-बक्के हैं। बाज़ार किस प्रकार राजनैतिक-सांस्कृतिक प्रतिरोधों को उनकी सारी क्रान्तिकारिता-तेजस्विता से अलगा कर मुनाफा कमाने का जरिया बना लेता है या दूसरे शब्दों में उनके मूल प्रतिरोधी अर्थ को विस्थापित करके उनमें बाज़ार के अनुरूप 'ब्रांड' की छवि भर देता है, इसे ही हमारा आदिवासी कवि समझाने की कोशिश कर रहा है। जिस झारखण्ड आन्दोलन में देशी-विदेशी वणिकों की बाजारू लूटों का विरोध किया गया, आज उसी झारखण्ड के नाम पर नया बाज़ार खुल गया है, जहाँ झारखण्ड के नाम पर सब बिक रहा है –

झारखण्ड के नाम पर
खुल गया
एक बाजार नया
बिक रहा है जहाँ
झारखण्ड के नाम पर
झारखण्ड का लेबल लगा
ताजा, सड़ा-गला, पुराना
हर प्रकार का माल

(– बाज़ार का झारखण्ड, महादेव टोप्पो)

किन्तु आदिवासियों की सारी समस्याओं का हल वर्ग-संघर्ष में ही देखने वाले कॉमरेड साथियों से आदिवासी साहित्यकार मतैक्य नहीं रखते। वे यह जानते हैं कि उसकी आदिवासी कविता वामपंथी कॉमरेडों को रास भी नहीं आने वाली क्योंकि वर्ग संघर्ष की लाइन पर चलने वाले कॉमरेडों को कवि का दलित-आदिवासियों पर लिखना सिर्फ उन्हीं के लिए लिखना लगेगा और वे उसकी कविता पर अमेरिकी साम्राज्यवाद का असर कहेंगे। असल में संकीर्णता चाहे धर्म की हो या विचारों की, हर संकीर्णता लोकतान्त्रिक खुले स्पेस को नकारती है।

1.3.06. सांस्कृतिक विशिष्टताएँ

आदिवासी समाज को औपनिवेशिक नृतत्त्वशास्त्रियों, ईसाई मिशनरियों और अंग्रेज प्रशासकों ने 'ट्राइब' संज्ञा से परिभाषित किया था और अपने-अपने हितों के मद्देनज़र इन्हें हिन्दू 'जाति' नामक तथाकथित सभ्य और आधुनिक अवधारणा के विपरीत असभ्यता और आदिमता की सूचक अवधारणा के रूप में दिखाया। किन्तु स्वायत्त आदिवासी संस्कृति और शासन व्यवस्था में निष्ठा रखने वाली इनमें से कई जनजातियाँ विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ समय-समय पर हिंसक प्रतिरोध प्रस्तुत करती आई थीं अतः औपनिवेशिक सत्ता के लिए यह मुनाफे का सौदा था कि इन्हें अपराधी घोषित करके बदनाम कर दिया जाए और इनके स्वतन्त्र आवागमन और क्रिया-कलापों पर पुलिसिया पहरा बैठा दिया जाय। भूमिहीन घुमक्कड़ जनजातियों के पैरों में आपराधिक जनजाति अधिनियम की बेड़ियाँ डालकर ब्रिटिश सरकार ने एक तरफ इन जनजातियों की आजादी पर पुलिस थाने का कानूनी नियन्त्रण स्थापित कर दिया और दूसरी तरफ इन जनजातियों पर अपराधी होने का ठप्पा लगाकर उसने आम भारतीय विशेषतः सवर्ण आभिजात्य समाज में इनके प्रति पूर्वाग्रह के बीज बो दिए। ये ही वे पूर्वाग्रह हैं जिनके चलते विदेशी साम्राज्यवाद से लड़ने वाली इन जनजातियों को भारतीय इतिहास में आज तक स्वाधीनता सेनानियों का दर्ज़ा हम नहीं दे पाए हैं।

विदेशी साम्राज्यवाद ने आदिवासी समाजों को भारत की मुख्यधारा से अलगाने के लिए चाहे ट्राइब शब्द गढ़ा हो किन्तु श्वेत नस्ल के प्रभु वर्ग द्वारा स्वयं को सभ्य-सुशिक्षित और आदिवासियों को जंगली-जाहिल घोषित करने की यह नस्लभेदीय परम्परा भारतीय इतिहास-संस्कृति में भी साफ देखी जा सकती है। संस्कृत और हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों और परम्पराओं में इसी तर्ज पर सभ्य मनुष्यों ने गिरा-कन्दरानिवासी आदिम जनों का वर्णन-चित्रण

किया है। यहाँ आदिवासियों के लिए प्रयुक्त शब्द किसी भी तरह से नस्लीय भेदभाव और पूर्वाग्रहों से कमतर नहीं हैं, जैसे – दस्यु, दैत्य, राक्षस और निषाद आदि। इस प्रकार आदिवासियों को लेकर प्राच्यवादी औपनिवेषिक सत्ता और पौर्वात्यवादी धार्मिक सत्ता, दोनों ही एक ही धरातल पर खड़ी हैं।

लेकिन अगर तटस्थ होकर हम आदिवासी इतिहास और संस्कृति का अध्ययन करेंगे तो पाएँगे कि आदिवासियों के अपने समृद्ध राज्य रहे हैं। रणेंद्र अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में बताते हैं कि हो आदिवासी पत्थर गलाकर लोहा निकालने और लोहे के औजार बनाने की कला जानते थे। किन्तु आदिवासी संस्कृति प्रकृति को रौंदकर मनुष्य के अहंकारी जयघोष में यकीन नहीं करती और यही कारण है कि मुख्यधारा को भौतिक आधार पर वे पिछड़े-जाहिल दिखाई देते हैं। प्रकृति के साथ समन्वय में उनका विश्वास है किन्तु विकास के पैरोकार बने लोग उन्हें आलसी और पौरुषहीन साबित करते रहते हैं।

आदिवासी समाज और संस्कृति में स्त्री को प्रेम और विवाह करने की आजादी होती है। आदिवासी समुदाय उत्सवधर्मी होते हैं। उनमें पुंसवादी समाजों की तरह स्त्री के नाचने-गाने और घर से बाहर स्वच्छन्द विचरण करने पर रोक नहीं लगाई जाती। आदिवासी युवक-युवती बिना किसी रोक-टोक के आदिवासी उत्सवों और मेलों में नाच-गान और मौज-मस्ती के साथ भाग लेते देखे जाते हैं। अपनी पसंद-नापसंद के आधार पर साथी चयन की विभिन्न परम्पराएँ यहाँ मिलती हैं, जैसे मामा भील और गरासियों की भगोरिया प्रथा और मुड़िया आदिवासियों की घोटुल प्रथा। किन्तु आदिवासी संस्कृति के प्रति पूर्वाग्रह रखने वाले यौन शुचितावादी पुंसवादी समाजों ने आदिवासियों की इन प्रगतिशील प्रथाओं को बड़े ही नकारात्मक ढंग से दिखाया है। गैर-आदिवासी समाजों में युवक-युवती पर लगायी गई पुंसवादी संहिताओं के कारण तमाम तरह की यौन विकृतियाँ और छेड़छाड़ से लेकर बलात्कार तक के अपराध पनपते हैं किन्तु आदिवासी समाज का सांस्कृतिक खुलापन आदिवासी स्त्री को अपना जीवन जीने का स्पेस मुहैया कराता है। किन्तु मुख्यधारा ने सदैव आदिवासियों के सामाजिक रीति-रिवाजों का तिरस्कार किया है और विशेषतः उनके समतामूलक लैंगिक सम्बन्धों का। मुख्यधारा के सम्पर्क में आने वाले आदिवासी समाजों में भी आज दिकू संस्कृति की छूत के कारण युवक-युवतियों के घुलने-मिलने, उनके नाच-गान पर आपत्ति की जाने लगी है।

आदिवासी समाज में जाति जैसी कोई अवधारणा नहीं होती और न ही व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसी कोई चीज ही कभी रही थी। यही कारण है कि आदिवासी समाज समतामूलक समाज रहा है। किन्तु आदिवासियों के हिन्दूकरण के कारण और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के सम्पर्क में आने के कारण आज आदिवासी समाजों में भी स्तरीकरण जोर पकड़ता जा रहा है। ब्राह्मणवादी संस्कृति आदिवासी संस्कृति को पिछड़ी-गँवार-जाहिल संस्कृति कहकर यूरोपीय ज्ञानोदय का हिन्दूवादी संस्करण निकालने के षड्यन्त्र में लगी हुई है। आदिवासियों को सुसंस्कृत करने के नाम पर संघपरिवार और उसके तथाकथित सांस्कृतिक संघटनदण्डकारण्य में जेहाद छेड़े हुए हैं। वनवासी स्कूल और हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ गढ़ी जा रही हैं। ईसाई चर्चों पर आदिवासियों के धर्मान्तरण का आरोप लगाकर संघपरिवार उनके हिन्दूकरण की मुहिम चलाये हुए है। किन्तु आदिवासियों को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने की मुहिम छेड़ बैठे ये लोग भूल जाते हैं कि आदिवासियों की अपनी निजी संस्कृति-सभ्यता-धर्म है। दलितों की

तुलना में आदिवासियों को अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं पर गर्व भी है। वे आधुनिक उखड़ी हुई जड़विहीन शहरी संस्कृति का जमकर प्रतिरोध करते हैं। दलित जहाँ अपनी सांस्कृतिक पहचान यथासम्भव मिटा देना चाहता है क्योंकि दलित पर यह सांस्कृतिक बोझ सवर्णों ने लादा है, एक दलित की मुक्ति इसी में है कि सवर्णवादी-सामन्ती संस्कृति के जुए को उतार फेंके। वहीं आदिवासी अपनी अस्मिता बचाने के लिए प्राणपन से संघर्षरत रहता है। दिकू व्यापारियों के द्वारा अपने आर्थिक स्वार्थों के लिए आदिवासी क्षेत्रों में बाजारू सिनेमाई संस्कृति का विपणन किया जाता है और भोले-भाले आदिवासियों में सस्ती उपभोक्तावादी वस्तुओं के इस्तेमाल की लत डाली जाती है। किन्तु अगर आदिवासी आज अपनी संस्कृति को भूमण्डलीकरण के हमलों से नहीं बचा पाया, तो उसकी निजी अस्मिता ही समाप्त हो जाएगी।

1.3.07. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

आज का हमारा समय संघर्षों का समय है जब कई जगह छोटे-बड़े संघर्ष चल रहे हैं। इन लड़ाइयों में जो सबसे बड़ी लड़ाई आज है, वह है संसाधनों की लूट के खिलाफ आदिवासियों की लड़ाई, औद्योगिक प्रदूषण और पर्यावरण विनाश के खिलाफ आदिवासियों के आन्दोलन। नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था में आदिवासियों को विस्थापित होने के लिए बाध्य किया जा रहा है और आदिवासी इस विस्थापन के खिलाफ अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। किन्तु हमें इस गलतफहमी में नहीं रहना चाहिए कि आदिवासी की यह लड़ाई सिर्फ आज की लड़ाई है। आदिवासियों की यह लड़ाई ढाई-तीन हजार साल से चली आ रही है जब पहले-पहल विदेशी आक्रमणकारी के रूप में आर्य यहाँ पर आये। आर्यों से शुरू हुई ज़मीन की वह लूट मध्यकाल में तुर्कों और मुगलों की लूट-मार तक आती है। हिन्दी पट्टी से दिकू साहूकार आदिवासी इलाकों में घुसपैठ करके पूँजीवाद के शुरुआती गुंजलक में आदिवासियों को उलझाता है। आगे चलकर सस्ते मजदूर, उपजाऊ ज़मीन और वन्य संसाधनों की भूख अंग्रेजी साम्राज्यवाद को भी आदिवासी के जल-जंगल-ज़मीन पर आक्रमण के लिए उकसाती है। आजादी के बाद राष्ट्रीय विकास के नाम पर पुनः आदिवासी को ही बलि का बकरा बनाया जाता है। नेहरूवादी विकास के मन्दिरों का बोझ आदिवासी को ही उठाना पड़ता है। नब्बे से शुरू हुये नव-उदारवादी अर्थतन्त्र में तो पूँजीवाद अपने नग्न रूप में सामने आता है और सुरक्षा बलों के संरक्षण में बहुराष्ट्रीय निगमों के सामने दण्डकारण्य के खनिज संसाधन परोस दिये जाते हैं। तमाम वन कानूनों और भूमि कानूनों को ताक पर रखकर आदिवासी को विकास विरोधी प्रचारित कर उसे बलात् विस्थापित होने को मजबूर किया जा रहा है ताकि अबाध रूप से आदिवासियों की ज़मीन और जंगलों-पहाड़ों में दबे पड़े बहुमूल्य खनिज संसाधनों का दोहन किया जा सके। आज आदिवासी अपने ही देश में उपनिवेश बनने की नियति झेल रहे हैं।

आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों को हथियाने के लिए जो साम्राज्यवाद ढाई-तीन हजार साल से अलग-अलग रूपों में हमलावर रहा है, उसका एक रूप सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भी है। साम्राज्यवाद अपनी पाशविक ताकत से इस देश के मूल वाशिंदों के ऊपर अपनी सत्ता, अपना उपनिवेश कायम करता आया है। वह आदिवासियों के संसाधनों को छीनता आया है। जल-जंगल-ज़मीन की इस लूट पर, अपनी बर्बरता पर पर्दा डालने के लिए साम्राज्यवादी ताकतें धर्म, कला, संस्कृति, दर्शन आदि का भी सहारा लेती रही हैं। आदिवासियों पर

आज भी धार्मिक-सांस्कृतिक हमले जारी हैं। इन हमलों की शुरुआत आर्यों के आक्रमणों के साथ ही शुरू हो जाती है। बाहर से आकर आदिवासी इलाकों को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए आर्यों ने मूल आदिवासियों से जो हिंसक युद्ध किए, उन्हें देव-असुर संग्राम का नाम दे दिया गया। अश्वमेध यज्ञ के बहाने अपनी साम्राज्यवादी हिंसा का बचाव किया गया। आदिवासियों में राजा-प्रजा जैसी कोई अवधारणा कभी नहीं रही है। आदिवासियों के मुखिया, मांझी या हड़ाम सिर्फ प्रतीकात्मक होते थे। इन्हें सर्वसम्मति से मुखिया-मांझी जरूर मान लिया जाता था किन्तु इन्हें भी आम आदिवासी की जैसे ही अपने खेत में, जंगल-पहाड़ में काम करना होता था। किन्तु अंग्रेजों के समय परम्परागत आदिवासी मुखिया आदि को संस्थाबद्ध ज़मींदारी का रूप देने की कोशिशें की गईं।

लार्ड हेस्टिंग के समय में स्थायी बंदोबस्त लागू करके आदिवासियों की आजादी पर अंकुश लगाया गया। आदिवासियों के परम्परागत जंगलात के सामूहिक अधिकारों को भी वन कानूनों के द्वारा बाधित किया गया। ज़मींदारी व्यवस्था को मजबूत करके परम्परागत आदिवासियों की परम्परागत मांझी-मुखिया की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को खत्म करने की कोशिश की गई। आदिवासियों को राजस्व के दायरे में लाया गया। अकाल आदि प्राकृतिक आपदा के समय भी लगान बहुत सख़्ती से वसूला जाता था। इन सब कारणों से आदिवासियों में व्यापक असंतोष व्याप्त हो गया और उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ अनेक विद्रोह किये, जैसे – तिलका मांझी के नेतृत्व में पहाड़िया आदिवासियों का विद्रोह (1771-1784), कोल विद्रोह (1832), सिद्धो-कान्हू के नेतृत्व में संथाल हूल विद्रोह (1855), सरदारी लड़ाई (1860-1895) बिरसा मुंडा का उलगुलान (1897-1900) और गुंडाधूर का भूमकाल विद्रोह (1910) आदि। मध्यभारत के इन आदिवासी विद्रोहों के अलावा भी देशभर के आदिवासियों ने न सिर्फ विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ बल्कि देशी साम्राज्यवाद के खिलाफ भी संघर्ष किया है, जैसे – खासी विद्रोह (1772), कुकी विद्रोह (1777-78), पिंडारियों के विद्रोह (1810-1818), मिश्मीद विद्रोह (1827), टंट्या भील का विद्रोह (1845-60), गारो विद्रोह (1857), अरबडीन (अंडमान) की लड़ाई (1859), नागा विद्रोह (1879), मिजो रानी रौपुइलियानी का विद्रोह (1893), गोविंद गिरी का धूमाल (1913), जारवा विद्रोह (1921), नागा रानी गाइदिल्यूम का आन्दोलन (1932) आदि। इन आदिवासी विद्रोहों-आन्दोलनों की सूची बहुत लम्बी है।

ऐसा भी नहीं है कि देश की आजादी के बाद आदिवासियों की लोकतान्त्रिक सरकारों के दौर में आदिवासियों के जल-जंगल-ज़मीन महफूज़ हो गए हों और उनकी समस्याएँ हल हो गई हों। देश आजाद ज़रूर हुआ लेकिन आदिवासी इलाकों में संसाधनों पर आदिवासियों का नियन्त्रण स्थापित नहीं हो पाया। राष्ट्रहित के नाम पर विकास के तमाम बड़े मन्दिर आदिवासी क्षेत्रों में ही स्थापित किए गए। इन नेहरूवादी विकास परियोजनाओं के कारण बड़ी संख्या में आदिवासियों का विस्थापन हुआ। आज के नव-उदारवादी दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों की औपनिवेशिक लूट में गुणात्मक वृद्धि हो गई है। सरकारी सुरक्षाबलों की बंदूकों और संगीनों के सामने आज भी आदिवासी प्रतिरोध का स्वर बुलंद कर रहे हैं। विस्थापन के खिलाफ, देशी-विदेशी कंपनियों के खिलाफ, पुनर्वास की और मुआवजे की माँग को लेकर तथा

औद्योगिक प्रदूषण को लेकर वे सड़कों पर आन्दोलनरत हैं। सब तरफ से निराश हो वे नक्सलवादी-माओवादी आन्दोलन में राज्य के खिलाफ हिंसक संघर्ष में भी संलग्न रहे हैं।

1.3.08. आदिवासी दर्शन एवं वैचारिकता

आदिवासी दर्शन प्रकृति-केन्द्रित है, मनुष्य-केन्द्रित नहीं। गैर-आदिवासी समाजों में मनुष्य की श्रेष्ठता में यकीन किया जाता है और किसी मूर्त-अमूर्त ईश्वर को सृष्टि का नियन्ता और मालिक बताया जाता है। लेकिन आदिवासी समाज इस धरती को मनुष्य मात्र की बपौती नहीं मानता। उसके अनुसार यह धरती प्राणिमात्र की है, मनुष्यमात्र की नहीं। कोई ईश्वर इसका खुदा नहीं है। इंसान भी दूसरे जीव-जन्तुओं में से एक है। आदिवासी समुदाय जल-जंगल-पहाड़ की अपनी स्वायत्त व्यवस्था में यकीन रखते हैं। आदिवासी प्रकृति को अपना दुश्मन नहीं मानता, वह प्रकृति पर विजय का दम्भ नहीं भरता। आदिवासी समाज सहजीविता, सहअस्तित्व और सामूहिकता में जीता है। गैर-आदिवासी समाज योग्यतम की उत्तरजीविता अर्थात् प्रतिस्पर्धा में यकीन रखता है। आदिवासियों के बीच धर्मों की होड़ भी नहीं होती है।

आदिवासियों में न तो जाति और वर्णगत स्तर-भेद हैं और न ही रंगभेद और अस्पृश्यता ही इनमें मिलती है। लैंगिक भेदभाव और हिंसा के लिए भी आदिवासियों में कोई स्पेस नहीं होता। सत्ता जैसी कोई अवधारणा आदिवासी समुदायों में विकसित नहीं हो पाई है और इसीलिए गैर-आदिवासियों की तरह आदिवासियों ने कभी धरती को राष्ट्र की दीवारों और सीमाओं में नहीं बाँटा। वैयक्तिक उपभोग-केन्द्रित अर्थव्यवस्था के विपरीत आदिवासी अर्थव्यवस्था संसाधनों के सामूहिक इस्तेमाल में यकीन रखती है और उपभोग की जगह आधारभूत ज़रूरत पर यहाँ बल दिया जाता है। प्रकृति के साथ समन्वयात्मक उत्सवधर्मिता आदिवासी समुदायों की आम विशेषता है।

जहाँ गैर-आदिवासी दुनिया वर्गीय आधार पर अमीर और गरीब के खाँचों में बँटी हुई है और संसारभर के संसाधनों पर मुट्ठीभर ताकतवर लोगों का कब्जा है, वहीं आदिवासी समाज में समतामूलक दर्शन में विश्वास किया जाता है। मुद्रा जैसी अवधारणा और बाज़ारवाद से यह समाज मूलतः दूर रहा है। यही कारण है कि आदिवासी समाजों में लालच और सब कुछ हड़प जाने की भूख नहीं दिखाई देती, सम्पत्ति के लिए झगड़े के मामले नहीं मिलते। प्राकृतिक वस्तुओं का दोहन करके अधिकाधिक उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करना गैर-आदिवासी समाजों में चाहे विकास माना जाता हो, चाहे इसे प्रगति का पर्याय माना जाता हो किन्तु आदिवासी विकास की ऐसी उपभोग-केन्द्रित अवधारणा में यकीन नहीं रखते। गैर-आदिवासी समाज सभ्यता के विकास का चाहे कितना ही दम्भ भरते हों किन्तु उनके यहाँ सत्य, अहिंसा और शान्ति की तलाश आज तक पूरी नहीं हो पाई और न कभी हो पाएगी क्योंकि गैर-आदिवासी दर्शनों के मूल में ही विषमता की स्वीकृति मिलती है, मनुष्य की श्रेष्ठता का अहंकार मिलता है। विकास का कोई भी गैर-आदिवासी मॉडल भूख, गरीबी और असमानता के खात्मे का, हिंसा पर शान्ति की स्थापना का दावा ईमानदारी के साथ नहीं कर सकता। औद्योगिक उत्पादन और मनुष्य-केन्द्रित सत्ता के मद और उपभोग की अन्धी दौड़ में आज पर्यावरण असन्तुलन की भयावह स्थिति पैदा हो गई है। धरती खत्म

होने के कगार पर जा पहुँची है। अपने कर्त्ता होने का अहं पाले मनुष्य को याद रखना चाहिए कि जब धरती ही नहीं रहेगी तो उसका अस्तित्व भी नहीं बचेगा। व्यक्ति को उपभोक्ता बना देने वाली अर्थव्यवस्था से हमें आज पूछना चाहिए कि हमारी भावी पीढ़ियों और मानवेतर प्रकृति के प्रति क्या उसका कोई दायित्व नहीं है ! अस्तु, नष्ट होती धरती और खत्म होते जीवन को बचाने का एकमात्र रास्ता है सहजीवी-सामूहिकता वाला आदिवासी दर्शन। नैसर्गिक प्रेम, अहिंसा, शान्ति, सद्भाव और सत्य के आदर्श हैं आदिवासी। यह बात अलग है कि गैर-आदिवासी तथाकथित मुख्यधारा की छूत आज इन्हें भी लगती जा रही है।

1.3.09. आदिवासी भाषाएँ और बोलियाँ

दलितों और सवर्णों की भाषा समान होती है। हाँ ! शैलीगत भेद अवश्य मिलता है, जैसे – सवर्ण लोग संस्कृतनिष्ठ भाषा बोलते हैं जबकि दलितों को चूँकि संस्कृत पढ़ने का अधिकार ही नहीं होता था, अतः उनकी भाषा सवर्णों की तरह सभ्यता-संस्कृति का परिष्कृत चोला पहने नहीं होती। दलितों को मनुवादी ताकतों द्वारा जी-हजूरी की भाषा बोलने को बाध्य किया जाता रहा है। किन्तु जहाँ तक आदिवासियों की बात है,तो अपनी संस्कृति की ही तरह उनकी अपनी निजी भाषाएँ भी रही हैं। झारखण्ड में लगभग तीस आदिवासी समुदाय मिलते हैं जिनकी अपनी-अपनी भाषा-बोलियाँ हैं। इनमें से छह को तो अब व्यापक स्वीकृति भी मिल चुकी है, यथा – संताली, हो, मुंडा, खड़िया, कुडुख और मालतो। इन भाषाओं में लिखित साहित्य भी आज मिलता है। इनमें से कुडुख और मालतो द्रविड़ परिवार अन्तर्गत आती हैं जबकि शेष चार आस्ट्रिक परिवार अन्तर्गत। छत्तीसगढ़ के आदिवासियों द्वारा जिन भाषाओं और बोलियों का प्रयोग किया जाता हैं, वे हैं – गोंडी, दोरली, हल्बी, भतरी, आख्यकी, छत्तीसगढ़ी। गोंडी और दोरली, दोनों द्रविड़ परिवार की भाषा-बोली हैं जबकि शेष आर्यभाषा परिवार की। मध्यप्रदेश के आदिवासी गोंडी, भीली, कोरकू, सहरिया और बैगा आदि भाषाएँ बोलते हैं। पूर्वोत्तर के आदिवासियों द्वारा जिन भाषाओं का प्रयोग किया जाता है, वे तिब्बती-बर्मी और ऑस्ट्रे-एशियाई परिवार की भाषाएँ हैं। वैसे तो आदिवासी समुदाय भाषाई वैविध्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है किन्तु पूर्वोत्तर तो विशेष रूप से भाषाई विविधता के लिए जाना जाता है। यहाँ की प्रमुख आदिवासी भाषाएँ हैं – मिसिंग, बोडो, दिमासा, गारो, कार्बी, खासी, मिजो, नागा, रभा, तिवा, कोक बोरोक आदि। लक्षद्वीप में महल नामक आर्यभाषा का प्रयोग हो रहा है। अंडमान-निकोबार द्वीप समूह में ओंगे, जरबा, सेंटीनिलीज़ और निकोबारी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिण भारत में आदिवासी समुदाय मुख्यतः नीलगिरी की पहाड़ियों में सम्केन्द्रित हैं। ये आदिवासी द्रविड़ परिवार में आने वाली आदिवासी भाषाएँ बोलते हैं, जैसे – तोड़ा, कोटा, कुरुम्बा और पनिया।

वास्तव में गैर-आदिवासी आर्यों और द्रविड़ों के सम्पर्क में आने पर व्यावहारिक सम्प्रेषण की आवश्यकता और सांस्कृतिकरण के कारण आर्य और द्रविड़ परिवार की बड़ी गैर-आदिवासी भाषाओं और बोलियों का प्रचलन भी आदिवासियों में हुआ है और हो रहा है। इसके कारण कई जगह द्विभाषिकता की स्थिति पैदा हो गई है। इसी क्रम में कुछ मिश्रित सम्पर्क भाषाओं का भी जन्म हुआ है, जैसे – सदानी, जेलियांग्रोंग जेमी, लियांगमेई, चकेसैंग आदि।

हर आदिवासी भाषा के पास अपनी समृद्ध साहित्यिक विरासत भी रही है। हाँ ! लिपि के स्तर पर ज्यादातर आदिवासी भाषाएँ मौखिक परम्परा में ही आती हैं। लेकिन यही आदिवासी भाषा-साहित्य की जीवन्तता है। इसमें बोलने वाले की अस्मिता झलकती है। लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ब्राह्मणवादी परम्परा के साहित्यिक इतिहास के ग्रन्थ आज तक आदिवासियों की भाषा-संस्कृति-साहित्य को साँस-भर का स्पेस देने के लिए भी तैयार नहीं हैं। शासन और संविधान तक में आदिवासी भाषाओं की घनघोर उपेक्षा हो रही है। आठवीं अनुसूची की भाषाओं में बोडो और संताली को छोड़कर कोई अन्य आदिवासी भाषा नहीं है। मुख्यधारा की भाषाओं की वर्चस्ववादी नीति और शिक्षा के माध्यम के रूप में आदिवासी भाषाओं की उपेक्षा ने आज लगभग सभी आदिवासी भाषाओं के सामने अस्तित्व रक्षा का संकट पैदा कर दिया है। रोजगार और शिक्षा का माध्यम न बन पाने के कारण आदिवासी समाज अपनी मातृभाषाओं-बोलियों को लेकर हीनता के शिकार देखे जा सकते हैं। पढ़-लिख जाने पर शहरी आदिवासी लोगों में अपनी आदिवासी भाषाओं के प्रति हिकारत का भाव देखा जाता है। अपने प्राकृतिक अधिवासों से विस्थापित किए जा रहे आदिवासी भी अपनी भाषाओं को बचाए रखने की चुनौती झेल रहे हैं। वास्तव में भाषा सिर्फ सम्प्रेषण और रोजगार का विषय नहीं है। हर भाषा के साथ उसकी अपनी संस्कृति-सभ्यता जुड़ी होती है। अगर आदिवासी भाषाएँ खत्म हो गई तो आदिवासी भी नहीं बचेंगे। हमें अपने देश की इन भाषाई धरोहरों को बचाने के लिए सम्वेदनशीलता का परिचय देना चाहिए।

1.3.10. समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्शमूलक साहित्य-लेखन

आदिवासी भाषाओं में आदिवासी साहित्य की लम्बी परम्परा रही है और पढ़-लिख जाने पर आदिवासी समुदायों के लेखक-लेखिकाओं द्वारा इनमें लिखित साहित्य भी पिछले कुछ अर्से से प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है। किन्तु हिन्दी में अपेक्षित मात्रा में इसका अनुवाद नहीं हो पाया है। हिन्दी का अपना आदिवासी साहित्य अभी शैशव अवस्था में ही है।

आदिवासी कविता – हिन्दी के आदिवासी कवियों में प्रमुख हैं – महादेव टोप्पो (काव्य संकलन : 'जंगल-पहाड़ के पाठ'), हरिराम मीणा (काव्य संकलन : 'हाँ चाँद मेरा है' और 'सुबह के इंतजार में'), रामदयाल मुंडा, ग्रेस कुजूर, निर्मला पुतुल (हिन्दी काव्य संकलन : 'अपने घर की तलाश में' और 'फूटेगा एक नया विद्रोह'), अनुज लुगुन (लम्बी कविता : 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी'), वहरु सोणवणे, जसिन्ता केरकेट्टा (काव्य संकलन 'अंगोर' और 'जड़ों की ज़मीन') आदि। निर्मला पुतुल को अपने संताली काव्यसंकलन के हिन्दी अनुवाद 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' से काफी चर्चा मिली। भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार से सम्मानित अनुज लुगन की कविताएँ हिन्दी की लगभग सभी सम्मानित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं – 'यह पलाश के फूलने का समय है', 'हमारी अर्थी शाही हो नहीं सकती', 'अघोषित उलगुलान' आदि।

आदिवासी उपन्यास – पीटर पॉल एक्का-कृत 'जंगल के गीत', हरिराम मीणा-कृत 'धूणी तपे तीर', मंगल सिंह मुंडा-कृत 'छैल संदु' और वाल्टर भेंगरा 'तरुण'-कृत 'लौटते हुए'। 'जंगल के गीत' और 'छैल संदु' – इन दोनों उपन्यासों की कहानी आदिवासी प्रेमी युगल के इर्द-गिर्द घूमती है किन्तु साथ ही आदिवासी जीवन के विविध पक्ष

भी सामने आते हैं। 'धूणी तपे तीर' के केन्द्र में है इतिहास द्वारा नोटिस ही नहीं लिया गया भील-मीणा आदिवासी विद्रोह । सन् 1913 ई. में राजस्थान के बाँसवाड़ा जिले के मानगढ़ पर्वत पर अंग्रेज सेना द्वारा भील-मीणा आदिवासियों का नरसंहार किया गया, जलियाँवाला बाग में हुए नरसंहार से भी ज़्यादा तादाद में किए गए इस नरसंहार की कहीं चर्चा तक नहीं की जाती। 'लौटते हुए' में रोजगार की तलाश में पलायन को मजबूर आदिवासी स्त्रियों की व्यथा-कथा है। यहाँ ध्यातव्य है कि गैर-आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यास भी काफी ज्यादा चर्चित रहे हैं, जैसे संजीव-कृत 'जंगल जहाँ शुरू होता है', राकेश कुमार सिंह का 'पहाड़ पर कोहरा', मनमोहन पाठक-कृत 'गगनघटा गहरानी', विनोद कुमार-कृत 'समर शेष है', पुन्नी सिंह का 'सहराना', महुआ मांझी रचित 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ', रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' और अश्विनी कुमार पंकज का 'माटी-माटी अरकाटी'आदि।

आदिवासी कहानियाँ – प्रमुख आदिवासी कहानियाँ इस प्रकार हैं – रोज केरकेट्टा की 'भँवर', पीटर पॉल एक्का की 'राजकुमारों के देश में', शंकरलाल मीणा की 'कुज्जीव' और 'बूढ़ी शाखों का वार्तालाप', केदारप्रसाद मीणा की 'कॉमरेड मीणा', हरिराम मीणा की 'सांवलिया' और 'पांच्या के भूत' आदि।

आदिवासी नाटक – सुनील कुमार 'सुमन' का 'एक बार फिर' और प्रभात का 'कालीबाई'।

यात्रा वृतान्त – हरिराम मीणा लिखित 'साईबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक की यात्रा' और 'जंगल-जंगल जलियाँवाला'।

संस्मरण – हरिराम मीणा का 'खाकी में कलमकार'।

चिन्तनपरक आलेख – हिन्दी में रचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त चिन्तनपरक साहित्य के क्षेत्र में भी आदिवासी लेखक सक्रिय हैं। महादेव टोप्पो द्वारा आदिवासी जीवन से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर जो लेख समय-समय पर लिखे गए, उनका पुस्तक रूप में संकलन है – 'सभ्यों के बीच आदिवासी'। रामदयाल मुंडा लिखित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है – 'आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल'। वन्दना टेटे की पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन' में आदिवासी साहित्य के वैशिष्ट्य को बारीकी से समझाया गया है। झारखण्ड की आदिवासी स्त्रियों से जुड़े विषयों पर वासवी ने खूब लिखा है। अनुज लुगन प्रभात खबर में नियमित स्तम्भ लिखते हैं। हरिराम मीणा, केदार मीणा, गंगासहाय मीणा और सुनील कुमार 'सुमन' इधर जनसत्ता में काफी सक्रिय रहे हैं। लक्ष्मण गायकवाड़ और वाहरू सोनवणे आदि विद्वानों का भी सराहनीय योगदान है।

1.3.11. पाठ सार

विमर्शों के इस शोरगुल में आदिवासी विमर्श सबसे नया होकर भी सबसे ज्यादा सम्भावनाओं से भरा नज़र आता है क्योंकि वह एक मुकम्मल विकल्प देता है। जल-जंगल और ज़मीन के लिए आज आदिवासी जो संघर्ष कर रहे हैं, समकालीन आदिवासी साहित्य उसी अस्तित्व रक्षा की चिन्ता से विकसित साहित्य है।

आदिवासी जीवन और समाज पर साहित्य तो पहले भी लिखा गया था किन्तु उसमें स्वायत्त आदिवासी पहचान का आग्रह नहीं होता था। कैसी विडम्बना है कि जिस 'जल-जंगल-ज़मीन' पर आदिवासियों का जीवन और आदिवासियों की पहचान निर्भर है, विकास और राष्ट्रहित के नाम पर उन्हीं को उनसे छीना जाता रहा है। उन्हें विकास-विरोधी और असभ्य-बर्बर साबित किया जाता है। आदिवासी चेतना आदिवासी की वास्तविक पहचान से प्रसूत होती है। आदिवासी न ट्राइब है, न पिछड़ा हिन्दू और न ही वह वनवासी है।

आदिवासियों का मौखिक साहित्य शिष्ट और लोक के खाँचों में नहीं बाँधा जा सकता। लोक जैसा अनपढ़पन और कच्चापन आदिवासी मौखिक साहित्य में नहीं होता। इसका स्थायी भाव है, प्रेम और प्रकृति। पश्चिम और पूर्व, दोनों के लिए आदिवासी जंगली और जाहिल लोग हैं। किन्तु यदि तटस्थ होकर देखा जाए तो पाएँगे कि आदिवासियों के पास अपनी समृद्ध संस्कृति रही है और उन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व है। आदिवासी समाज प्रायः मातृसत्तात्मक रहे हैं। साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा प्राचीनकाल से लेकर आज तक भी आदिवासियों को विस्थापित किया जा रहा है, उनके संसाधन छीने जा रहे हैं। एक आदिवासी उपभोग केन्द्रित व्यक्तिवादी दर्शन में विश्वास नहीं करता। वह सहजीविता, सहअस्तित्व और सामूहिकता में जीता है। अपनी संस्कृति की समान ही हर आदिवासी समुदाय के पास अपनी भाषा भी होती है और प्रायः सभी आदिवासी भाषाओं के पास समृद्ध मौखिक पुरखा साहित्य की परम्परा रही है। समकालीन हिन्दी आदिवासी साहित्य भी धीरे-धीरे गति पकड़ता जा रहा है।

1.3.12. बोध प्रश्न

निम्नलिखित कथनों में सही / गलत की पहचान कीजिए –

i.	आदिवासी को पिछड़ा हिन्दू नहीं कहा जा सकता।	(सही /गलत)
ii.	'वनलक्ष्मी' उपन्यास रामायणकालीन आर्यवाद का नया संस्करण है।	(सही /गलत)
iii.	'हूल' और 'उलगुलान' अहिंसक सत्याग्रह अन्तर्गत आते हैं।	(सही /गलत)
iv.	ट्राइब (जनजाति पद) का इस्तेमाल अंग्रेजों ने आदिवासियों के लिए किया था।	(सही /गलत)
v.	पुरखा साहित्य का स्थायी भाव प्रेम और प्रकृति है।	(सही /गलत)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अन्य विमर्शों से आदिवासी विमर्श कैसे अलग है ?
2. जल, जंगल और ज़मीन के सवाल आदिवासी पहचान के साथ कैसे जुड़े हुए हैं ?
3. "ट्राइब और वनवासी नहीं हैं आदिवासी !" – स्पष्ट कीजिए।
4. आदिवासी मौखिक साहित्य पुरखा साहित्य क्यों है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आदिवासी विमर्श की मुख्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट कीजिए।
2. आदिवासी दर्शन और आदिवासी चेतना को समझाइए।
3. आदिवासी और गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा लिखे गए आदिवासी विषयक उपन्यासों तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए अध्ययन कीजिए।

1.3.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मीणा, हरिराम (2013), आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, ISBN 978-81-237-6672
2. मीणा, केदार प्रसाद (2015), आदिवासी विद्रोह, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, ISBN 978-93- 83962-14-3
3. टोप्पो, महादेव (2018), सभ्यों के बीच आदिवासी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, ISBN 978-93- 86810-31-1
4. वाङ्मय पत्रिका के आदिवासी विशेषांक
5. तलवार, वीर भारत (2008), झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, ISBN 978-81-263-1567-3
6. गुप्ता, रमणिका (सम्पा.) (2002), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली – 7, ISBN 81-7055-908-1
7. गुप्ता, रमणिका (सम्पा.) (2008), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली – 7, ISBN 978-8361-218-0
8. मुंडा, रामदयाल (2009), आदि धर्म, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN 13 : 9788126717514

उपयोगी लिंक :

1. https://www.youtube.com/watch?v=_UIIiJVikQw
2. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
3. http://www.hindisamay.com/
4. http://hindinest.com/
5. http://www.dli.ernet.in/
6. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड– 2 : काव्य

इकाई – 1 : स्त्रियाँ, बेजगह, तुलसी का झोला – अनामिका

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य कथन
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. 'स्त्रियाँ' कविता: रचनात्मक वैशिष्ट्य
2.1.3. 'बेजगह' कविता : रचनात्मक वैशिष्ट्य
2.1.4. 'तुलसी का झोला' कविता : रचनात्मक वैशिष्ट्य
2.1.5. पाठ-सार
2.1.6. बोध प्रश्न
2.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

2.1.0. उद्देश्य कथन

अपने गहन अध्ययन-चिन्तन-मनन और बेबाक अभिव्यक्ति शैली के कारण प्रख्यात कवयित्री अनामिका का नाम समकालीन स्त्री-विमर्शमूलक साहित्यकारों में अग्रणी है । प्रस्तुत पाठ अनामिका की कविताओं पर आधारित है । इस पाठ को पढ़ने के बाद आप –

i. अनामिका की रचनाधर्मिता और उनके स्त्री विषयक चिन्तन को समझ सकेंगे ।
ii. अनामिका की काव्यानुभूति को समझ सकेंगे ।
iii. स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में अनामिका की कविताओं का विश्लेषण कर सकेंगे ।
iv. अनामिका की कविताओं में प्रयुक्त लोक-भाषा, लोक-रंग, देशज शब्द, प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे-लोकोक्तियों आदि का वैशिष्ट्य समझ सकेंगे ।

2.1.1. प्रस्तावना

"कविता के बारे में हम सभी जानते हैं कि प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति की महीनियों के अलावा धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक बर्ताव की महीनियों का भी ऐसा चुस्त ग्राफांकन वह करती चलती है जैसा कोई दस्तावेज नहीं कर पाता ।" – अनामिका

कविता मानव मन की अभिव्यक्ति है । अनादिकाल से मानव का हर्षित, व्यथित, कातर, सुखी मन भावावेग के क्षणों में गा उठता है । कृत्रिमता उस गान से, गीत से कोसों दूर रहती है, वह चरम क्षण में अपने निविड़ रूप, प्राकृतिक रूप में होती है । यह प्राकृतिक चेतना सृजन के मिट्टी-पानी से बनी होती है । मानव बिना लाग-लपेट के जीवन के सत्य को गा उठता है ।

कविता के इतिहास में देखा जाए तो ईश्वर की वन्दना से लेकर प्रकृति के विभिन्न रूपों का गान उसके विषय रहे। राग-विराग, संयोग-वियोग, युद्ध-शान्ति सब कविता का भाव बने लेकिन बाद की सदी में जब अन्वेक्षण की प्रक्रिया शुरू हुई तो पाया गया सब कुछ है पर स्त्री नेपथ्य में है। स्त्री की बनायी हुई दुनिया है पर उसके व्याख्याकार पुरुष हैं। स्त्री, स्त्री के विषय, स्त्री की भाषा, चिन्तन, आलोचना लुप्त है। यदि कहीं विद्यमान है भी तो अदृश्य की भाँति ओट में है।

वैदिक काल में स्त्री ऋषिकाओं के रूप में प्रकट हुई फिर लम्बे समय बाद रासोकाल में उद्‌बोधन के लिए युद्ध के मैदान में प्रकट हुई। रीतिकाल ने उसे वर्ण्य-विषय बनाया लेकिन अपनी इस दुरावस्था पर वह मौन रही। भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में उसकी भागीदारी रही लेकिन उसकी 'नोटिस' कम की गई। अभिलेखन में भी उसके अवदान को सुरक्षित नहीं किया गया। स्वयं स्त्री ने अपने आपको सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में ही देखा अतएव नेपथ्य में रहने पर भी वह कभी आन्दोलित नहीं हुई। भक्ति और सम्बन्धों के ताने-बाने में उसने स्व को विसर्जित किया। उसका 'स्व' कभी उभर कर सामने नहीं आया।

इक्कीसवीं सदी में उसने अपनी भूमिका को परिवर्तित किया। भूमिका परिवर्तन के अनेक कारण थे। भौतिकता, उत्पादन, औद्योगिक क्रान्ति, आधुनिकता, औपनिवेशिकता, हिंसा, तनाव, अकेलापन, मूल्यों का क्षरण आदि तमाम ऐसे विषय थे जिसकी कसौटी पर बार-बार उसे कसा गया फलतः उसने अपनी उपस्थिति को कविता के माध्यम से पुरुषवादी, अहंवादी, मर्दवादी, सत्ता के सम्मुख प्रतिरोध का स्वर दिया। आत्माभिव्यक्ति के लिए उसने अपनी भाषा, बिम्ब, लय का निर्माण किया। जेंडर-आधारित संरचना को चुनौती दी। शोषण के पुरुषवादी व्याख्या को उसने पारिस्थितिक व्याख्या से समझाने कोशिश की। क्रूरता, अमानवीयता, शोषण और मातृशक्ति के क्षरण के खिलाफ़ इक्कीसवीं सदी की स्त्री-कविता उठ खड़ी हुई।

आज की स्त्री कविता सिर्फ अपनी बात नहीं करती वरन् विभिन्न अस्मिताओं के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। वैचारिक संघर्ष, सामाजिक जिम्मेदारी के बोध और लैंगिक राजनीति के शोषण के विरुद्ध प्रस्फुटित इक्कीसवीं सदी की स्त्री-कविता को यदि ध्यान से देखा जाय तो कविता का यह पक्ष लोकतान्त्रिक पक्ष का अनुमोदन करता दिखाई देता है। जाति, धर्म, संस्कृति, सामाजिक संरचना निर्मित छवि से बाहर प्रेम, प्रकृति, प्रौद्योगिकी की नयी व्याख्या करता है जिसमें किसी करिश्मे की बात नहीं बल्कि श्रम और परिवार से लेकर सामाजिक सरोकार तक में स्त्री की छवि को परखा गया है।

अनामिका की कविता शैली मुक्त छन्द की है। वे जीवन के सहज प्रसंगों से भाव ग्रहण करती हैं। 'लोक में स्त्री' उनकी कविता का चिन्तन है। इतिहास के प्रचलित प्रसंगों से वे विषय जरूर लेती हैं लेकिन उसकी समीक्षा वे घर-आँगन के मध्य करती हैं। आर्थिक आधार पर वे स्त्री की उपस्थिति को विश्लेषित नहीं करती बल्कि मनुष्यता का बोध आवश्यक मानती हैं। सृष्टि को लय में बाँधने की शक्ति स्त्री में है इसलिए सृष्टि को लयात्मक बनाए रखने के लिए समाज की संरचना और सोच को बदलने की आवश्यकता पर अनामिका लगातार बल देती हैं। बिना किसी परचम या नारे के, घरेलू बिम्ब के माध्यम से पुरुषवादी छवि को बदलने का आग्रह उनकी कविता

में साफ तौर पर देखा जा सकता है। मदन कश्यप के अनुसार, "अनामिका हिन्दी की ऐसी पहली स्त्री कवि हैं, जिन्होंने अन्तर्वस्तु से आगे बढ़कर भाषा, शिल्प, सौन्दर्य और आस्वाद के स्तर पर कविता को एक नया धरातल दिया है, स्त्री का अपना धरातल। इसके लिये उन्हें लम्बा संघर्ष करना पड़ा क्योंकि अन्तर्वस्तु में बदलाव तो आसान होता है मगर सौन्दर्य-बोध और आस्वाद को बदलना बहुत कठिन है और इसे स्वीकृति दिलाना और भी कठिन।"

अनामिका अपनी कविताओं में बीच-बीच में शब्दों से खेलती हैं। वे गप-शप की शैली अपनाती हैं और दादी की कहानियों की तरह भूमिका बाँधती नजर आती है। यह बतकही की अपनी स्त्री शैली है जिसके सौन्दर्य को पुरुषों के प्रतिमान पर नहीं आँका जा सकता। इसके लिये स्त्रियों के जीवन और कहन-शैली को परखना होगा तभी स्त्री की भाषा की खूबसूरती समझ में आएगी। अनामिका की एक कविता में जेठ की दुपहरी का चित्र है। इस कविता की विशेषता यह है कि इसमें प्रयुक्त सभी बिम्ब, सारे उपमान स्त्री के सक्रिय जीवन से लिए गए हैं। बच्चों की चानी तेल स्त्रियाँ ही थोपती हैं और मनिहारिनें ही घर के अन्दर जाकर गृहिणियों तक जरूरी सामान, खासकर सौन्दर्य प्रसाधन बेचती हैं। यह हिन्दी कविता का नया लोक है। इसका आस्वादन या पाठ स्त्री-जीवन के पाठ के साथ ही सम्भव है। गौरतलब है कि अनामिका भाषा, शिल्प और काव्य-सौन्दर्य के स्तर पर ही नहीं, अन्तर्वस्तु और अनुभूति के स्तर पर भी नयी चुनौतियाँ पेश करती हैं। 'मौनदासी' एक भयावह यथार्थ से परिचित कराती है तो 'बेजगह' अनुभूति के उस स्तर पर जा कर लिखी गयी है, जहाँ तक किसी पुरुष के लिये पहुँचना सम्भव ही नहीं है। हम उससे सहमत या असहमत हो सकते हैं, मगर दोनों ही स्थितियों में उसे महसूस नहीं कर सकते। इस तरह अन्तर्वस्तु-सम्वेदना और सौन्दर्य तीनों ही स्तर पर उनकी कविताएँ नयी चुनौतियाँ पेश करती हैं। प्रो॰ अवधेश नारायण मिश्र के अनुसार, "अनामिका की भाषा अमावट की जमावट की तरह है। भाषा की वह पौध जिसे लक्ष्मण-बूटी कहते हैं वह अनामिका के पास है। कहीं भी डाल दें बस मिट्टी की छुअन चाहिए वह विस्तीर्ण हो जाएगी, खिल जाएगी, खुल जाएगी 'दसबजिया फूल' की तरह टूपर-टापर, टुह- टुह लाल।"

अनामिका की कविता नयी सदी के नये विमर्श की कविता है। एक स्त्री पूरी सृष्टि को, घर के कोने से दूर अक्षांश तक को कैसे देखती है यह अनामिका की कविता को पढ़ते हुए समझा जा सकता है। अनामिका के कविता के विषय सम्पूर्ण गोलार्द्ध को समेटे हुए है। वैश्विकता के साथ निजता का समन्वय अनामिका की कविता की विशिष्टता है। इतिहाससम्मत विवेक, विकाससम्मत समझ, स्त्रीविषयक चिन्तन के साथ भूमण्डलीकरण की त्रासदी, उत्तर-आधुनिक व्याख्या का मायाजाल आदि अनामिका की कविता की अलगनी पर रखे कपड़े हैं। उनकी कविता की लय 'चुटपुटिया बटन' की तरह है जो चुट से लग और पुट से बंद हो जातीहै। कविता के घर में सूप और झाड़ू को वे जरूर रखती हैं। थोथा को उड़ाना और गन्दगी को बुहार देना उनके काव्यांगन को साफ-सुथरा रखता है। जितनी आसानी से अनामिका अन्य भाषाओं से अनुवाद कर लेती हैं उतनी सरलता से उनकी कविता का सन्तरण दूसरी काव्यभाषा में हो सकता है या नहीं, कहना कठिन है। भाषा के बटुए में शब्दों के संस्कार की अपार छटाएँ हैं जहाँ से वे शब्द-चित्र, शब्द-राग उकेरती हैं, कभी मिथिला पेंटिंग की तरह तो कभी विद्यापति

के गीतों की तरह। नव-सामाजिक विमर्श के पायदान पर अनामिका अपने चिन्तन का सोपान स्वयं निर्धारित करती हैं –

सच रेडीमेड नहीं मिलता,
सबको बुनना पड़ता है
अपने-अपने नाप का !

हाशिये पर धकेली गयी स्त्रियों की पक्षधरता में वे कहती हैं –

अलग पात है मेरी
अलग जात है मेरी
फिर भी समझने के लायक हूँ।

अनामिका की भाषा कद्दावर इंसान की भाषा है। वे भाषा के कोठार से गझिन स्मृतियों के शब्द, घर-गृहस्थी की आँच में तपी अभिव्यक्तियों को चुन लेती हैं। किसी के सहारे लड़ाई लड़ने की बजाय वे अपनी चिमटा, कलछुल से तथाकथित आधुनिकता के बिलाड़ को भगाना जानती हैं –

कितनी भी हो आधुनिक दुनिया
प्राचीन रहती है अभिव्यक्तियाँ।

'आम्रपाली' कविता में आम्रपाली के घर का रास्ता बताते हुए (ठिकियाते हुए) वे कहतीं हैं –

था आम्रपाली का घर
मेरी ननिहाल के उत्तर !

यहाँ आम्रपाली और अनामिका का ननिहाल एक स्ट्रेच पर चल पड़ता है। सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति, लिच्छवी गणराज्य की गणिका या फिर बौध भिक्षुणी आम्रपाली के लिए भाषा का मारक शब्द खदर-बदर कर उठता है और उसके भीतर का हहाता सत सूखती, टटाती हुई हड्डियों में तब्दील हो जाता है। काव्य-भाषा के सत को लेखिका निचोड़ लेती है, थोथे को उड़ा देती है।

'दण्डकारण्य' कविता में वे जनजातीय जीवन की पक्षधर बनकर चाहती हैं कि दांडयायन आये और अपनी ठस आवाज से सिकंदररूपी बहुराष्ट्रीय कंपनियों से कहे –

सामने से हट जाओ
तुम बाधित कर रहे हो धूप का रास्ता।

अनामिका के कविता के बिम्ब उन भारतीय महिलाओं के बिम्ब हैं जो साधारणतम जीवन-यापन करती हैं। उन्हें समझने के लिए भारत के खेत-खलिहान में काम करने वाली, झोपड़-पट्टी में रहने वाली महिलाओं के

जीवन को समझाना होगा। ऐसी काव्य-भाषा स्त्री-चेतना का ही हिस्सा हो सकती है, पुरुष के लिए यह अनजानी भाषा का देश है। ब्लाउज़ के हुक और फंदा के बरअक्स जीवन का संस्पर्श देखा जा सकता है। जुएँ चुन रही सखियों में घर के खटराग को देख पाना स्त्री-दृष्टि की गहनता है। 'मेरा ब्लाउज़, मेरे बच्चे का गुल्लक है' – यह माँ-भाषा का कमाल अनामिका ही व्युत्पन्न कर सकती हैं।

नायिका भेद के रसशास्त्र को दरकिनार करते हुए आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल की चारदीवारी को फलाँगते हुए तकनीक से जूझती, चीन की बांस की तरह धरती की छाती से दरक कर निकल सकने के साहस के साथ 'भाषा के शून्य महल' को अपनी निर्मितियों से गुलज़ार करने की कला अनामिका जानती हैं इसलिए उनकी कविताएँ हिन्दी कविता की अमराइयों को नये सौरभ से भर देती हैं। कुल मिलाकर पाठक और श्रोता के लिए अनामिका की कविताएँ नये परिप्रेक्ष्य में नव विमर्श को व्याख्यायित करती हैं।

2.1.2. 'स्त्रियाँ' कविता : रचनात्मक वैशिष्ट्य

'स्त्रियाँ' कविता के माध्यम से अनामिका पितृसत्ता के बरअक्स स्त्री के वजूद को तलाशती हैं। दाम्पत्य-सम्बन्ध प्रेम की कच्ची डोर से जुड़े होते हैं। यहाँ पारस्परिक त्याग, समर्पण, विश्वास और सम्मान की अपेक्षा की जाती है। किन्तु पुरुषप्रधान समाज ने हमेशा से औरत को स्वयं की सेविका, भोग्या और वंश बढ़ाने का माध्यम मात्र माना है इसीलिए सब कुछ जानते-बूझते-समझते हुए भी स्त्री की भावनाओं, अपेक्षाओं, अभावों तथा वेदनाओं को पुरुषवर्ग नज़रअंदाज़ करता रहा है। उसके सपनों और महत्त्वाकांक्षाओं को बहुत गम्भीरता से नहीं लिया जाता। उसकी भावनाओं को उस हद तक ही पढ़ा-समझा जाता है जितना कि एक चना बेचने वाला बच्चों की फटी कॉपियों के कागज़ों में चना डालते समय उस कागज़ पर लिखे शब्दों को पढ़ता होगा।

परिजनों की सेवा-सुश्रुषा में स्त्री अपना सम्पूर्ण जीवन हवन कर देती है लेकिन उसकी सेवा को उसका दायित्व, कर्त्तव्य मान लिया जाता है। उन कर्त्तव्यों के निर्वहन में जरा भी कमी रहने पर वह दोषी घोषित कर दी जाती है। शनैः शनैः उसके प्रति हिकारत का भाव इतना बढ़ जाता है कि पुरुषवर्ग को वह घृणास्पद और व्यर्थ का बोझ प्रतीत होने लगती है।

स्त्री चाहती है कि पुरुष उसके दुःख, तकलीफ़ और कष्टों के बारे में सुने और उसके प्रति सम्वेदना रखे लेकिन उसकी व्यथा-कथा को सुनने का समय पुरुषवर्ग के पास नहीं है और न ही उन पीड़ाओं के निराकरण का कोई उत्साह ही पुरुषवर्ग में दिखाई देता है। पुरुष मान लेता है कि स्त्री-जीवन का यथार्थ यही है इसलिए उसकी बातों को यों ही उड़ते मन से सुना जाता है जैसे किसी ठसाठस्स ठुँसी हुई बस के कोलाहल में सस्ते कैसेटों पर चलते फिल्मी गाने बिना किसी गम्भीरता के सुने जाते हैं।

फिर दाम्पत्य-सम्बन्धों में भी कुछ ही समय व्यतीत होने के उपरान्त वह शुरुआती दौर जैसी मधुरता कहाँ रह जाती है! तब प्रेम-सम्बन्धों में नीरसता घर कर लेती है, सम्बन्ध औपचारिक लगने लगते हैं, देह तक ही उनका

निर्वाह सिमट जाता है, आत्मा उस प्रतीति से अछूती ही रहती है जैसे बहुत दूर के रिश्तेदारों का दुःख हृदय को नहीं छूता।

स्त्री को बचपन से सिखाया जाता है कि उसे सहनशील होना चाहिए, धीमे बोलना चाहिए, प्रतिरोध नहीं करना चाहिए। स्त्री भी इसी अनुशासन को स्वीकार कर ताउम्र उसे निभाती है। लेकिन उसके दबे-कुचले मन-गह्वर में हमेशा यह भाव दबा रहता है कि मेरे सपनों और अभिलाषाओं को भी समझा जाए, घर-परिवार में मेरा महत्त्व भी स्वीकार किया जाय। 'अनहद' का नाद जैसे सम्पूर्ण दिगन्त में व्याप्त है उसी नाद की तरह मेरी अपेक्षाओं को सुना जाए, मेरी भावनाओं को ध्यानपूर्वक समझा जाए।

कविता के अन्त में 'परमपिता' और 'परमपुरुष' से बख़्श देने का जो आग्रह है वह वास्तव में पितृसत्ता के उस परमपिताओं और परमपुरुषों से आग्रह है जो 'ऑनर किलिंग', बलात्कार, ताना, फाँसी, जलाना, एसिड से हमला करना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं और अपने पौरुष को अनामिका की भाषा में 'बमपिलाठ' बन जाने से चुकते नहीं हैं।

अनामिका की कविताएँ भाषा की सहजता का बोध कराती हैं। सादगीपूर्ण भाषा में स्त्री-विषयक विमर्श को वे नया खेत-खलिहान देती हैं। उधार के चिन्तन से विमर्श का आस्वाद उनका लक्ष्य नहीं हैं। वे कविता में स्त्रियों की तरफ से आवाज उठाती हैं। इस पूरी कविता में स्त्री-लेखन और उसके माध्यम से स्त्री-जीवन के संघर्ष को समझने के नये दृष्टि-विस्तार को अनामिका आवश्यक समझती हैं। इस कविता में वे उस ओर भी इशारा करना नहीं भूलती जहाँ महिलाएँ अपनी उपस्थिति की प्रतिस्थापना में दूसरे के समझ कनखी, इशारे और कनखी से विशेषीकृत हो व्याख्यायित होती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ मर्दवादी व्याख्या से ऊबी हुई हैं। अनामिका 'स्त्री-चिन्तन' के परिदृश्य को समझने की नयी भाषा, नयी दृष्टि का आगाज़ करती हैं। उसे 'डेकोरम' में लाना चाहती हैं।

'बदलते वक्त के साथ बदलती गई तस्वीर जमाने की' – ये पंक्तियाँ इस कविता पर एकदम सटीक बैठती है। अनामिका ने स्त्री-जीवन के भीतर के भयावह सच को बहुत सहज ढंग से काव्यानुभूति में परिवर्तित कर एक नये रूप में, नये अर्थ के साथ आग्रह भरे स्वर में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। अनामिका बहुत पहले से ही कविता को कम शब्दों में अधिक कहने की विधा मानती है। हिन्दी साहित्य में स्त्री चाहे विषय के रूप में प्रस्तुत हुई हो चाहे विषयी के रूप में, उसका एक लम्बा इतिहास रहा है। गुजरी हुई शताब्दी पर परच दृष्टि डालें तो प्रागैतिहासिक भारतीय समाज में नारी की स्थिति का अनुमान वैदिक साहित्य में व्यक्त हुई ऐसी कई बातों से लगाया जा सकता है जो एक ओर मातृसत्तात्मक समाज में नारियों की विकसित और गौरवमयी स्थिति का परिचय कराती हैं, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों में नारियों की भूमिका के क्रमशः गौण होते सम्बन्धों को भी दर्शाती है। 'मनुस्मृति' इसका साक्षात् प्रमाण है। वैदिक वाङमय में सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 2006 मन्त्रों में से मात्र तीन मन्त्रों (दो लोपामुद्रा द्वारा और एकमात्र ऋचा रोमशा द्वारा) का नारियों द्वारा रचित होना और उसमें भी सेक्स को ही वर्ण्य-विषय बनाना उस काल में नारियों की दयनीय दशा

का स्वतः परिचय देता है। विद्वज्जन किस आधार पर वैदिक काल में नारियों के स्थान को ऊँचा घोषित करते हैं, क्योंकि ऋग्वेद के अन्य मण्डलों में भी जहाँ कहीं नारियों द्वारा ऋचाएँ कही गई हैं, उनके विषय रति, पति-प्रेम, सपत्नी-सम्बन्ध आदि ही हैं। स्त्रियों के विषय में ऋग्वेद में जो विवरण प्रस्तुत है उनके अनुसार स्त्री का मन चंचल होता है। उसे नियन्त्रण में रखना असम्भव है। उसकी बुद्धि भी छोटी होती है। पत्नी एक खेत के समान होती है जिसमें पुरुष अपना बीज बोता है। यही नहीं पारिवारिक सम्बन्धों में भी स्त्री मात्र भोग्या थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त में सहोदर भाई-बहन यम और यमी का संवाद है। जिसमें यमी यम से सम्भोग की याचना करती है, वहीं अथर्ववेद में प्रजापति का अपनी पुत्री के साथ सम्बन्ध (सम्भोग) का वर्णन है। पी.बी. कारो ने लिखा है, "ऋग्वेद, मैत्रयणी संहिता, निरुक्त, ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण आदि के अवलोकन से विदित होता है कि प्राचीनकाल में विवाह के लिए लड़कियों का क्रय-विक्रय होता था। रामायणकाल में सीता राम का छाया की तरह अनुसरण करने वाली थीं – पूर्णसमर्पिता। दूसरी ओर राम ऐसी एकनिष्ठ, पतिपरायणा सहधर्मिणी को बिना किसी अपराध के एक सामान्य नागरिक (धोबी) का ताना सुनकर जंगल में धोखे से निर्वासित कर देते हैं। अन्याय, अत्याचार और शोषण का इससे बड़ा उदाहरण क्या होगा कि और गर्भिणी सीता को यह बताना भी जरूरी नहीं समझा गया कि आखिर उनका अपराध क्या है ? लंका विजय के बाद भी राम ने सीता को अग्निपरीक्षा के बाद ही स्वीकार किया था। वास्तव में सीता के प्रति राम की यह कठोरता यौन नैतिकता के सन्दर्भ में आए कठोर सामाजिक नियमों का प्रतिफल है। आज दुनिया 'बाई वन गेट वन फ्री' की ही चल रही है। अनामिका इसी जुमले को स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में परिवार में स्त्रियों की स्थिति से जोड़कर कुछ इस प्रकार देखती हैं –

> खाये ही जाती हैं
> शाम से सुबह तक
> खूब मिर्चीदार गालियाँ
> ऊपर से थप्पड़, घूँसे, डाँट, ताने बोनस में
> बाई वन, गेट वन फ्री,
> और ज्यादातर तो सैम्पल में मुफ्त बँटी
> बस यों ही।

(– दूबधान, डॉ॰ अनामिका, पृष्ठ 77)

परिवार के लिये सर्वस्व होम करना और बदले में पुरस्कारस्वरूप गालियाँ, मारपीट मिलना ही भारतीय स्त्री का दुर्भाग्य है, शायद। कोई यह नहीं सोचता है कि पुरुष की सफलताओं के नीचे स्त्री दबती चली गई। हाथ में हथियार लेकर पुरुष और भी बड़ा हो गया है और भी शक्तिशाली जबकि स्त्रियाँ बच्चों को संभालकर रखने वाली अनुचर है। पुरुष ने नियम-परम्पराएँ बनायीं, स्त्री सिर्फ उनमें शामिल हुई। उसकी अपनी कोई परम्परा नहीं। उसके बनाये कोई नियम नहीं।

दोयम दर्जे में रह जाने की पीड़ा तथा समाज का स्त्री के प्रति उपेक्षित व्यवहार स्त्री-मन को व्यथित करता है। वह अपनी स्थिति से अनभिज्ञ नहीं है और इसकी अभिव्यक्ति अनामिका की कविताओं में स्पष्ट नजर आती है। समीक्षक हरदयाल के शब्दों में – "इन पंक्तियों में स्त्री-जीवन के उन अनुभवों, भावों और विचारों को व्यक्त

किया गया है जो पुरुष सत्तात्मक समाज में पुरुषाधीन स्त्री अनुभव करती है। जैसे स्त्री उपेक्षित है और उसमें अपनी स्थिति को लेकर विद्रोह का भाव है, लड़कियों की अपनी कोई जगह नहीं है, बच्चे और पति के बीच उसका व्यक्तित्व विभक्त होने के कारण वह आत्महत्या भी नहीं कर सकती इत्यादि।" अपनी पहचान के प्रति भले ही आज स्त्री जाग्रत है, लेकिन देश की अधिकांश आबादी आज भी स्त्री-पुरुष सन्दर्भ के उसी प्राच्य समीकरण को जी रही है, स्थिति आज भी नहीं बदली है।

कविता में स्त्री की उपस्थिति के बारे में चर्चा करना कोई नयी बात नहीं है। आदिकाल से लेकर आज तक की कविता में स्त्री की उपस्थिति तो दर्ज है लेकिन उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है, इसलिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी यही है कि पहले की कविताओं में स्त्री की उपस्थिति किस रूप में है और आज स्वयं स्त्रियाँ लिख रही है तो उनकी उपस्थिति किस रूप में है। आदिकालीन कविता में स्त्री का चित्रण युद्ध की प्रेरक तत्त्व, जीतने और भोग की वस्तु के रूप में है तो वहीं भक्तिकालीन कविता में वह प्रेमिका व दैवीय रूप में नजर आती है। कविता में स्त्री के लिहाज से रीतिकाल की बड़ी निर्मम आलोचना हुई है। रीतिकाल में स्त्री को भोग, विलास और सौन्दर्य की प्रतिमा के रूप में चित्रित किया गया है। बिहारी की नायिका से लेकर घनानन्द की सुजान तक में स्त्री का अपना अस्तित्व कहीं नजर नहीं आता है। लेकिन स्त्री का ऐसा चित्रण करने वाले सभी रचनाकार पुरुष थे।

आदिकाल में किसी स्त्री रचनाकार का पता नहीं चलता है लेकिन मध्यकाल में मरुधर-मन्दाकिनी मीरा और दक्षिण भारत की प्रसिद्ध सन्त आंडाल के अतिरिक्त कुछ लेखिकाओं की सूची नाभादास-कृत भक्तमाल में मिलती है, पर साहित्य में उनका अस्तित्व नदारद है। वहीं रीतिकाल में भी स्त्री-लेखन सिरे से गायब है जबकि सावित्री सिन्हा ने अपने शोध (मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ) में इस काल की कवयित्रियों की लम्बी सूची दी है लेकिन साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इनका उल्लेख कहीं-कहीं 'पिलर' के तौर पर दिखाई देता है इसलिये साहित्य में स्त्री की उपस्थिति पर विचार करते हुए साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों की पड़ताल करना और उनके मर्दवादी नज़रिये को भी देखना समीचीन होगा।

2.1.3. 'बेजगह' कविता : रचनात्मक वैशिष्ट्य

'बेजगह' कविता लिंगभेद के सत्य को उद्घाटित करती है। पितृ-व्यवस्था में लड़कियों को इस प्रकार के विशेष साँचे में ढालने का उद्देश्य यही है कि बिना किसी विरोध के पुरुष को अपने उपयुक्त स्त्री (सेविका, साँचे में ढली निर्जीव मांसल वस्तु) मिलती रहे और वह अपना प्रभुत्व कायम रख सके। अनामिका इस कविता के माध्यम से पुरुष सत्ता से लगातार प्रश्न करती हैं। लिंग भेद मानने वाले, बेटा-बेटी में अन्तर करने वाले पुरुष-समाज पर कवयित्री प्रश्नों का अम्बार लगा देती हैं।

प्रत्येक क्षण हमारे आस-पास कुछ न कुछ बदल रहा है लेकिन एक चीज है, जो कभी नहीं बदली और शायद न ही बदलेगी। वह है, स्त्री को देह मात्र समझने की मानसिकता। पुरुषप्रधान समाज में सर्वत्र स्त्री के प्रति दुराग्रह नज़र आता है। सदियों से समाज की एक इकाई के रूप में अपनी पहचान की निर्मिति के लिए संघर्षरत

नारी जिस अदम्य जिजीविषा एवं प्रबल इच्छा शक्ति का परिचय दे रही है, वह उसकी बौद्धिक जागृति का ही परिचायक है जो उसने धर्म, आस्था, परम्परा, मूल्य एवं व्यवस्था के प्रति प्रकट किया है। वर्तमान समय में नारी, पुरुष वर्ग से प्रतिस्पर्धा न करके केवल उसके समकक्ष एक मनुष्य होने के नाते प्राप्त होने वाले अधिकारों की माँग कर रही है। वह पुरुष के अस्तित्व को न नकार कर एक सहनागरिक की तरह अपनी पहचान स्थापित करना चाह रही है। इसके लिए उसका सारा जोर अब तक प्रयुक्त मिथकों का अस्वीकार और स्वतन्त्र इंसान के रूप में अपनी स्वीकृति का है। महादेवी वर्मा के शब्दों में, "संसार के मानव समुदाय में वही व्यक्ति स्थान और सम्मान पा सकता है, वही जीवित कहा जा सकता है, जिसके हृदय और मष्तिष्क ने समुचित विकास पाया हो और जो अपने व्यक्तित्व द्वारा मनुष्य समाज से रागात्मक के अतिरिक्त बौद्धिक सम्बन्ध भी स्थापित कर सकने में समर्थ हो। एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की सबको आवश्यकता है। कारण, बिना इसके न मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति और संकल्प को अपना कह सकता है, और न अपने किसी कार्य को न्याय-अन्याय की तुला पर तौल सकता है।

2.1.4. 'तुलसी का झोला' कविता : रचनात्मक वैशिष्ट्य

'तुलसी का झोला' कविता कई समानान्तर विमर्श प्रस्तुत करता है। कविता में रत्नावली तुलसी से संवाद करते हुए अपने अस्तित्व की तलाश करती हैं। रत्ना के माध्यम से स्त्री-जाति संवाद करती है इतिहास और वर्तमान से। कविता की शुरुआत में ही रत्नावली स्पष्ट कर देती हैं कि मैं 'रतन' जरूर हूँ किन्तु एक ऐसा रत्न जो गूदड़ में सिला हुआ है। भारतीय मनीषा में महिमामण्डन के चलन को अनामिका तुरन्त उघाड़ देती हैं। व्यक्ति से लेकर वस्तु जिसकी गौरवगाथा गानी हो, महिमामण्डित करना हो उसे ऐसी जगह स्थापित कर दें जिसकी पूजा हो, यशोगान हो लेकिन वह कुछ बोले नहीं, बाहर नहीं आए। शताब्दियाँ बताती हैं कि स्त्री-जाति का महिमामण्डन इसी प्रकार से किया गया है कि वह अपने खोल से बाहर नहीं निकले।

इतिहास के उस परिप्रेक्ष्य को 'रत्ना' बताना नहीं भूलती जिसमें उन्होंने लोक-लाजवश अतिशय प्रेम के कारण तुलसीदास को डाँटा था। रत्ना कहती है एक बार डाँटने से उन्होंने लम्बा इंतजार किया कि कोई तो आए उसे लिवाने, मनाने लेकिन कोई नहीं आया। स्त्रियाँ इस तरह की डाँट और इससे बदतर डाँट की अभ्यस्त होती हैं जैसे उनका कोई स्वाभिमान नहीं होता।

यह कविता 'जस्टअपोजीशन' में चलती है। एक तरफ स्वयं डाँट खाने और बर्दाश्त करने में वे पूरी स्त्री-जाति की भावना का अंकन कर जाती है। अनामिका 'घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा ॥' चौपाई की व्याख्या नैहर के साथ मिलाकर करती हैं। नैहर वह जगह है जहाँ चैन से कोई भी स्त्री रहना चाहती है, अपने जीवन के सारे दुःख, शोक, बैचेनी को दरकिनार कर अपने में डूब कर। इस थोड़े से क्षण में भी अतिशय भावावेश में तुलसी सर्प को रज्जू समझ उसे पकड़ रत्नावली तक पहुँच जाते हैं। स्त्री का फुर्सत भी उसका नहीं होता। उसका एकान्त सबका हो जाता है। 'फुर्सत' की तुलना अनामिका नमक से करती हैं जिसकी ज़रूरत हर स्त्री को होती है। नमक का संतुलित मात्रा में होना ही श्रेयस्कर है वह न कम हो न अधिक। लेकिन यह नमक भी पति, परिवार, समाज छीन लेना चाहता है।

नमक के बाद दूसरा बिम्ब साड़ी का है। साड़ी, जिसे कितना भी पटक साफ किया जाय, तार-तार हो लिपटी रहती है, अलगनी पर पड़ी रहती है। उड़ नहीं जाती। लेकिन रत्नावली को यह वियोग सहना पड़ा। वस्तुतः स्त्री जाति की यही दशा है। वे प्रश्न करती हैं कि तुम राम-नाम की प्राप्ति के लिए गलियों-चौबारे में भटके लेकिन मेरी सुध-बुध नहीं रही जहाँ हमेशा तुम्हें आराम मिलता था। अनामिका बताना चाहती है कि हर स्त्री की अपनी एक विनयपत्रिका है परन्तु कोई उसकी विनयशीलता को नहीं पढ़ता। पुरुष अपने अहं के साथ जीते हैं। स्त्री पूरी कोशिश करती है स्नेह को परिभाषित, पुनर्परिभाषित करने के लिए लेकिन पुरुष का अहंभाव उसके अंदर की अग्नि को बुझने नहीं देता।

अनामिका स्त्री की भूमिका को पुनर्परिभाषित करना चाहती है। अंशुमाली सूर्य की तरह अपने तेज को स्वयं के झोले में समेटने को कहती है क्योंकि अब उसे नया सन्धान करने की ज़रूरत है, नये संकल्प के साथ, नये पथ पर अग्रसर होना है, क्योंकि सबका सोचते हुए उसने स्वयं के लिए कभी नहीं सोचा। सारी मेधा को उसने पुरुष को मनाने, उसकी अनुनय-विनय करने में खपा दिया।

इतिहास से रत्नावली-तुलसीदास के प्रसंग को उद्धृत करते हुए अनामिका मायका, नमक, साड़ी, अलगनी के माध्यम से भारतीय स्त्री के चिन्तन का नया रूपक खड़ा करती हैं। आँख के आँसू का खारापन नमक की संज्ञा से अभिहित होते हुए चेहरे के नमक में निमज्जित हो बहा ले जाता है। पुरुष भक्ति का सहारा ले, लेखकीय आदर्श का सहारा ले अपनी दुनियावी चीजों से तटस्थ हो जाते हैं लेकिन स्त्री अनन्तकाल तक उसकी अनुगामिनी बनी आदर्श के पथ का अनुसरण करती रहती है। लेकिन, अन्ततः वह अपने झोले में अपने अस्तित्व को तलाशती है। बहुत कठिनाइयों के बाद वह कह पाती है – 'आपका झोला हो आपको मुबारक ! अच्छा बाबा, राम-राम !' "अच्छा बाबा, राम-राम !" यह पंक्ति उस खिन्न मन को व्यक्त करती है जिसमें 'बहुत हो गया' वाला भाव व्यंजित है।

नारी सृष्टि की नींव है, आधार है, सृष्टि की सृजन मार्गदर्शिका है एवं विस्तार का केन्द्र-बिन्दु है। वह करुणा की प्रतिमूर्ति, मातृत्व की साकार प्रतिमा, सृजन एवं धैर्य की प्रतिमूर्ति है। जब तक स्त्री की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति का विकास नहीं होगा तब तक समाज के विकास पर प्रश्न-चिह्न लगा रहेगा। कई सहस्राब्दियों से नारी को कुचला-रौंदा जाता रहा है। प्रकृति और संस्कृति में सदैव द्वन्द्व रहता है। जब सामाजिक व्यवस्था व्यक्तित्व को दबाने का प्रयास करती है तब व्यवस्था में विद्रोह होता है और नयी व्यवस्था उभरने लगती है। अनामिका रचित 'तुलसी का झोला' भी कुछ इसी प्रकार की कविता है। तुलसी द्वारा रत्नावली को त्याग दिया जाता है लेकिन करुणामयी रत्नावली तुलसी के आगे विवश और लाचार है। इसी को अनामिका कविताई में ढालती हैं। रत्नावली के माध्यम से अनामिका स्पष्ट करती हैं कि पुरुष भी नारी के बिना वैसे ही अधूरा है जैसे नारी पुरुष के बिना। अनामिका स्त्री को उपस्थिति को न केवल परम्परागत रूढ़ियों, मान्यताओं, आस्थाओं में विश्लेषित करती हैं बल्कि आधुनिक परिवेश में भी उसकी महत्ता और भूमिका को प्रतिष्ठापित करती हैं।

परित्यक्ता होने के बावजूद स्त्री के मन में विश्वास बना रहता है कि कभी तो उसका अपना आकर उसे ससम्मान पुनः लिवा ले जाएगा । समय बीतता जाता है परन्तु तुलसी नहीं आते । हम चाहे कितना ही गार्गी, अपाला, घोषा, मैत्रेयी व भारती जैसी विदुषियों का उदाहरण दे लें, पर यह सत्य है कि नारी कभी पुरुष का स्थान नही पा सकी है । क्योंकि प्रारम्भ से ही धार्मिक आचार-विचार और नियमन पर पुरुष का ही नियन्त्रण रहा है । सारे अधिकार और स्वतन्त्रता उसने अपने पास रखी है जबकि सारी जिम्मेदारी स्त्री को सौंप दी है । लेकिन अब यह भ्रम-पाल टूटने लगा है और स्त्री अपनी सत्ता को पहचानने लगी है ।

संस्कृति नैतिकता, परम्परा और मर्यादा की सुरक्षा के नाम पर सदियों से नारी उत्पीड़ित और दमित हो रही है । धार्मिक, सांस्कृतिक मिथकों और आख्यानों में अवस्थित ईश्वरीय विधि-विधानों का वास्ता देकर स्त्रियों को नियतिवादी, अन्धविश्वासी, रूढ़िग्रस्त बना दिया गया । पितृ-सत्तात्मक मूल्य-व्यवस्था में घर और बाहर दोनों जगह पुरुष संरक्षण के बीच आँकी जाती रहने के कारण उसे दोयम दर्जा ही हासिल हुआ । घर के अर्थहीन, मूल्यहीन कामों में बँधी वह स्वयं को 'कमतर' देखने को आदी होती गई । विडम्बना ही है कि उसने अपने जीवन का सारा 'तत्' अपने भीतर बैठाए गए 'सत्' से जुड़ा हुआ महसूस किया । उसकी अपनी न तो स्वतन्त्र गति थी, न ही दिशा । पातिव्रत्य, यौनशुचिता, सतीत्व उसकी जीवन-प्रक्रिया के नियामक तत्त्व बन गए और आज तक ये शब्द सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों को दबाने में अहं भूमिका निभाते आ रहे हैं ।

पितृसत्तात्मक रवैयों को दरकिनार करते ही एक अनोखे सुकून का अहसास होता है । इसी क्रम में तुलसी के व्यवहार से खिन्न और आत्मविश्वास से परिपूर्ण रत्नावली प्रतिज्ञाबद्ध होती है । आत्मनिर्भर स्त्री की छवि की स्थापना के साथ ही अनामिका ने स्त्री शुचिता के पारम्परिक मिथक को कटघरे में खड़ा किया है । स्त्री का दुर्भाग्य यही है कि 'कोख से लेकर चिता तक' वह अस्तित्वहीनता में ही जीती है, एक विशृंखल और अस्त-व्यस्त जीवन ।

2.1.5. पाठ-सार

अनामिका की कविता के सरोकार, स्त्री-दृष्टि एवं रचना संसार का विस्तार उन्हें अपने समय की सजग सम्वेदनशील कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठापित करता है । चाहे वे जुझारू नारीवादी नही हैं लेकिन भारतीय नारी के दुःखों, यातनाओं और संघर्ष को सही परिप्रेक्ष्य में समझने-समझाने वाली स्त्री-विमर्शकार अवश्य हैं । वे अपने समाज और संस्कृति को आलोचनात्मक ढंग से जाँच-पड़ताल कर उसके सकारात्मक पक्षों और स्त्री-भूमिका की पहचान के लिए स्पेस बनाने के लिए सतत संघर्षशील है । अनामिका के लिए नारी-मुक्ति से आशय नारी की परिवार से मुक्ति नहीं है । बदलते परिवेश, टूटते मूल्य और विखण्डित होते संयुक्त परिवार, अकेलेपन का संत्रास और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में संवेदनात्मक ऊष्मा, प्रगाढ़ता तथा कोमलता के अभाव को अनामिका ने अपनी कविताओं में बखूबी उकेरा है ।

अनामिका की कविता के कैनवास के केन्द्र में स्त्री अपने अनेक रूपों और रंगों में विद्यमान है। महानगर और जनपद, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, बालक और वृद्ध, परिवार और समाज तक अनामिका की सम्वेदना का विस्तार है। भद्र समाज और लोक-संस्कृति तक फैली कवयित्री की सम्वेदना उन विसंगतियों को भी देख लेती है जिसे मोहवश नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। प्रखर इतिहासबोध के कारण समय पर भी उनकी सजग दृष्टि है। उपेक्षित मानवीयता और उसकी विवशता भी उनकी कविताओं में प्रकट होती है। यह अनामिका की बड़ी विशिष्टता है कि वे खुली आँखों से सामाजिक दृश्यों का सामना करती हैं लेकिन वे दृश्य उनके निजी आभ्यन्तर सन्दर्भ में ढलकर आते हैं। जिस अर्थ में 'व्यक्तिगत ही राजनैतिक' होता है, उसी अर्थ में अनामिका का काव्य-संसार 'व्यक्तिगत ही सामाजिक' है। यह एक संयोग नहीं, परिघटना है। उनकी कविताएँ समाज में स्त्री की दशा का साक्षात्कार कराती हैं। वे सामाजिक सत्य का आभास भी कराती हैं और साथ ही कवयित्री के व्यक्तिगत सत्य का अहसास भी कराती हैं। श्री राजीव रंजन गिरि के शब्दों में "अपने व्यक्तित्व को पुरुष-सत्ता में विलय कर देना रचनाकार को स्वीकार्य नहीं। कविता के जरिये स्त्री-विमर्श में हस्तक्षेप करते हुए अनामिका स्त्री और पुरुष को भिन्न कोटि में रखते हुए भी, दोनों को एक-दूसरे का विरोधी बनाकर नहीं रचतीं। स्त्री और पुरुष की आपसी सम्बद्धता और पारस्परिक तनाव को अनामिका कलात्मक तरीके से सृजित करती हैं। यही खूबी इन्हें अनन्य बनाती है।"

2.1.6. बोध प्रश्न

1. 'स्त्रियाँ' कविता के सन्दर्भ में अनामिका की अभिव्यक्ति के अन्दाज को रेखांकित कीजिए।
2. 'बेजगह' कविता में निहित विशिष्ट स्वर को निरूपित कीजिए।
3. 'तुलसी का झोला' कविता का मूल स्वर स्पष्ट कीजिए।
4. "अपने व्यक्तित्व को पुरुष-सत्ता में विलय कर देना अनामिका को स्वीकार्य नहीं।" पठित कविताओं के आधार पर उक्त कथन की मीमांसा कीजिए।
5. अनामिका की काव्यानुभूति और रचनाशीलता का विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए।

2.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ
2. अनामिका : पचास कविताएँ, नयी सदी के लिए चयन, वाणी प्रकाशन, 2012
3. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्श – समाज और साहित्य
4. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकेट बुक्स
5. हरदयाल, स्त्री का काव्य-जगत

❖❖❖

खण्ड– 2 : काव्य

इकाई – 2 : इस स्त्री से डरो, सात भाइयों के बीच चम्पा, गार्गी – कात्यायनी

इकाई की रूपरेखा

2.2.00. उद्देश्य कथन
2.2.01. प्रस्तावना
2.2.02. साहित्य में स्त्री-विमर्श
2.2.03. 'सात भाइयों के बीच चम्पा' में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन
2.2.04. 'इस स्त्री से डरो' कविता की काव्य-सम्वेदना
2.2.05. 'गार्गी' कविता का मिथक एवं नये स्त्री-मूल्य
2.2.06. पाठ सार
2.2.07. बोध प्रश्न

2.2.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ कात्यायनी-कृत कविताओं पर आधारित है। कात्यायनीजी की कविताओं में स्त्री की वेदना एवं पीड़ा तथा उसका संघर्ष, जो वह सदियों से झेलती आ रही है, पूरी तरह मुखर है। कहीं-कहीं मिथकों को तोड़कर कविता को नया कलेवर प्रदान किया गया है। उनके लेखन में मार्क्सवाद का प्रभाव विशेष रूप से दिखलायी पड़ता है। इस पाठ का अध्ययन करने के बाद आप –

1. स्त्री विमर्श से सम्बन्धित विभिन्न सामाजिक गतिविधियों से परिचित हो सकेंगे।
2. साहित्य में वर्णित स्त्री विमर्श को जान सकेंगे।
3. कात्यायनी-कृत चर्चित कविताओं 'सात भाइयों के बीच चम्पा', 'गार्गी' तथा 'इस स्त्री डरो' में निहित स्त्री-जीवन से परिचित हो सकेंगे।
4. इस बात से भी वाकिफ हो सकेंगे कि यह समाज स्त्री और पुरुष जिन दो बिन्दुओं से निर्मित है, उस समाज में स्त्री तथा पुरुष की सोच तथा एक-दूसरे प्रति क्या अवधारणा है, साहित्य में स्त्री-पुरुष दोनों किस तरह से प्रस्तुत किए जाते हैं तथा स्त्री को लेकर नये आधुनिक मूल्य कैसे होने चाहिए।

2.2.01. प्रस्तावना

स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर एक दूसरे के सहयोगी हैं और सृष्टि में समान भूमिका निभाते हैं। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि पुरुष के साथ कभी कोई विमर्श नहीं चला जबकि स्त्री विमर्श राजनीति, समाज से लेकर साहित्य तक व्यापक रूप ग्रहण कर चुका है। वस्तुतः विमर्शों का इतिहास अत्यन्त जटिल है और सार्थक निष्कर्ष की माँग करता है।

निष्कर्ष तक कैसे पहुँचा जाए ! क्या इसके लिए पुरुषवादी मानसिकता बदलने की आवश्यकता है या स्त्री ही स्त्री को समझने में भूलकर रही है । जद्दोजहद में फँसी स्त्री और उसके विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो देखते हैं कि दुनिया की 98% पूँजी पर पुरुषों का कब्जा है । पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनैतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष लगेंगे । पितृसत्तात्मक समाज में अब तक यह पूँजी पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरुषों को पुत्राधिकार में मिलती रही है, आगे भी मिलती रहेगी । आश्चर्यनजक है कि श्रम के अतिरिक्त मूल्य को ही पूँजी माना जाता है । मगर श्रम की परिभाषा में घरेलू-श्रम या कृषि-श्रम को शामिल ही नहीं किया जाता । परिणामतः आधी दुनिया के श्रम का अतिरिक्त मूल्य यानी पूँजी को बिना हिसाब-किताब के ही परिवार के मुखिया या पुरुष जब्त कर जाते हैं । सारी दुनिया की धरती और उत्पादन और उत्पत्ति के सभी साधनों पर पुरुषों का सर्वाधिकार सुरक्षित है । उत्पादन के साधनों पर कब्जे के लिए उत्तराधिकार कानून और उत्पत्ति यानी स्त्री-देह पर स्वामित्व के लिए विवाह संस्था की स्थापना बहुत सोच-समझकर की गई है ।

स्त्री के व्यक्तित्व और बौद्धिक विकास में पुरुष (पिता, पति, पुत्र) अक्सर खलनायक की भूमिका में ही क्यों दिखाई देते हैं ! स्त्री परिवार या विवाह संस्था के बाहर स्वतन्त्र रूप से सम्मानजनक जीवन क्यों नहीं जी सकती ! विवाह के अलावा क्या कोई विकल्प हो ही नहीं सकता ! क्या औरत को हमेशा रक्त या यौन सन्बन्धों और सम्पत्ति के समीकरणों में ही पहचाना जाएगा । उसकी न अपनी कोई स्वतन्त्र पहचान और न कोई स्वतन्त्र निर्णय । मर्यादाओं के मकड़जाल में स्त्री के लिए 'प्राइवेट लाइफ' का मतलब व्यभिचार और सिन्दूरी सन्बन्धों के बाहर हर सम्बन्ध अनैतिक, पाप और अक्षम्य अपराध । एकल विवाह या सम्बन्ध के सारे प्रतिबन्ध सिर्फ स्त्री के लिए और पुरुष के लिए व्यभिचार की खुली वैधानिक छूट !

75 से 80 का दौर महिला आन्दोलन की चेतना का समय माना जा सकता है । यह वह समय था कि जब महिलाओं ने अपनी बात कहनी शुरू की । सन् 1971 में पहली बार दहेज-हत्या के खिलाफ दिल्ली की सड़कों पर महिलाओं ने रैली की और उपराज्यपाल के दफ्तर के बाहर धरना दिया । महिला संगठनों के प्रभावस्वरूप 'मथुरा बलात्कार काण्ड' को फिर से खोला जाना इस दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 1980 थी । यह महिलाओं के बलात्कार के खिलाफ इस दौर में चलाए गए सक्रिय और जुझारू आन्दोलन का नतीजा था । बलात्कार, दहेज, हत्या और पुलिस अत्याचार – इस दौर के महिला आन्दोलन के मुख्य मुद्दे थे । इनके खिलाफ उनकी रणनीति धरना-प्रदर्शन द्वारा सम्बन्धित पक्षों, दोषों, पुलिस व सरकार पर दबाव डालने की थी । ये आन्दोलनकारी महिलाएँ सिर्फ दोषियों को गिरफ्तार करने की माँग ही नहीं करती थीं अपितु कानूनों की कमियों को इंगित कर उनमें संशोधन की माँग भी करती थीं । दहेज कानून, विवाह कानून, अपराध कानून, सम्पत्ति कानून, समान वेतन अधिनियम में संशोधन पारिवारिक अदालतों की स्थापना, थानों में महिला पुलिस, महिलाओं के लिए अलग पुलिस थाने आदि उनकी मुख्य माँगें थीं । इन आन्दोलनों में वकील, डॉक्टर व लोकतान्त्रिक अधिकारों में विश्वास रखने वाले व्यक्ति व समूह व मीडिया ने भी उनका पूरा साथ दिया ।

स्त्री-मुक्ति आन्दोलन के प्रभावों-दबावों के कारण सुधारवादी, उदारवादी, संशोधनवादी मेकअप जरूर हुआ परन्तु उससे न सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिधि बदली और न स्त्री के संकट कम हुए । शिक्षा और

आर्थिक स्वतन्त्रता के आधार पर नारी-मुक्ति का सपना देखने वाले सिद्धान्तों की ही बलि चढ़ा दी गई। महिलाओं की समस्या पहले से अधिक गम्भीर और जटिल हो गई।

समाज में नारी को दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। पुरुष नारी से दो वस्तुएँ एक साथ चाहता है। वह चाहता है कि नारी उसकी पत्नी भी रहे और उससे अपरिचित भी। वह उसे सेविका और मन्त्रमुग्ध प्रेमिका दोनों रूपों में देखना चाहता है। समाज के सम्मुख तो वह पहली ही इच्छा प्रदर्शित करता है। दूसरी इच्छा तो उसके हृदय की गहराई में छिपी रहती है। यह नैतिकता और समाज के विरुद्ध है। पुरुष हमेशा अच्छे से ही संलग्न नहीं है, वह बुरे की ओर भी आकृष्ट होता है। इसके विपरीत नारी यदि समाज के नियमों का उल्लंघन करती है, नकारात्मक प्रवृत्तियों की ओर जाती है, तो उस पर भयंकर विपत्ति आती है।

स्त्री भी अन्य मानव प्राणियों की भाँति एक स्वतन्त्र और स्वायत्त जीव है, लेकिन पुरुषवादी समाज उसकी अतिक्रमण की क्षमता को समाप्त करके उसको हमेशा के लिए अन्तर्वर्ती अवस्था में रख देना चाहता है। स्त्री की जिन्दगी का नाटक इसी संगति में निहित है। एक ओर वह प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक चाह की तरह स्वयं के लिए तथा जगत के लिए अनिवार्य होना चाहती है तथा सर्वोपरिता की ओर अग्रसर होना चाहती है, और दूसरी ओर उसको उस परिस्थिति का सामना करना पड़ता है जो हमेशा उसे नगण्य बनाने पर तुली रहती है। प्रश्न उठता है कि कैसे एक व्यक्ति स्त्री की स्थिति में रहते हुए परितोष पा सकता है! कौन से रास्ते उसके लिए खुले होते है और कौन से बंद! वह कैसे उस आत्मनिर्भरता को प्राप्त करे, जिससे स्त्री की स्वाधीनता को सीमित करने वाली परिस्थितियों का सामना किया जा सके। ये कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न हैं, जिनका सम्बन्ध स्त्री के अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता से है।

2.2.02. साहित्य में स्त्री-विमर्श

नारी विषयक विमर्शों का इतिहास हजारों वर्षों से लगातार चला आ रहा है। हमारे यहाँ ऐसा माना जाता रहा है कि आरम्भ से ही पुरुषप्रधान सामाजिक व्यवस्था की उपस्थिति के कारण शायद नारी को उसका उचित स्थान कभी नहीं दिया गया। यह तथ्य तत्कालीन वर्णव्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के चलते व्यावहारिक रूप में बेशक दिखाई पड़ता रहा हो लेकिन जहाँ तक भारतीय सभ्यता, संस्कृति, चिन्तन और साहित्य का सवाल है वहाँ हमेशा नारी पुरुष के समकक्ष खड़ी दिखाई देती है।

वैदिक युग में गार्गी, अपाला, घोषा, मैत्रेयी व भारती जैसी विदुषी नारियों के भारतीय मनीषा में अपने विशिष्ट योगदान का वर्णन साहित्य में व्याप्त है। इसी प्रकार मध्यकाल में दक्षिण के सन्त शंकराचार्य के साथ वाराणसी के विद्वान मण्डन मिश्र की पत्नी उभय भारती देवी के साथ हुई शास्त्रार्थ की घटना भी अपना खास महत्त्व रखती है। यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र का भी उदाहरण लें तो हमारे यहाँ नाटकों के प्रदर्शन में स्त्री पात्रों के लिए अभिनेत्रियों की उपस्थिति को आरम्भ से ही अपरिहार्य समझा गया जबकि दुनिया के और किसी भी देश में रंगमंच पर एक अभिनेत्री के रूप में नारी का आना बहुत बाद में जाकर शुरू हुआ। बेशक हमारे यहाँ मध्यकाल में भी

बाहरी आक्रमणों के बाद नयी राजनैतिक व्यवस्था के कारण नारी पात्रों की मंच से उपस्थिति लगभग समाप्त हो गई लेकिन जहाँ तक नाट्य-लेखन और चिन्तन में नारी विमर्श की अहमियत का प्रश्न है उसमें कोई खास बदलाव नहीं आया। जिस वैदिक समाज और व्यवस्था में हम नारी के शोषण और उसके इस्तेमाल का उल्लेख करते नहीं अघाते, वहीं यह प्रसंग स्वयं नारी के दृष्टिकोण से एक ऐसी आधुनिकअवधारणा को सामने लाता है, जहाँ तक पहुँचने में पश्चिमी को हजारों वर्ष लगे हैं। उदाहरणार्थ महाकवि भास-कृत नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' को लिया जा सकता है। नाटक की कहानी में मन्त्री यौगन्धरायण महाराजा उदयन का विवाह मगध राजकुमारी पद्मावती से कराने के उद्देश्य को लेकर वासवदत्ता के अग्निकाण्ड में मारे जाने का झूठा प्रचार करा देते हैं और जब तक महाराजा उदयन का पद्मावती से विवाह नहीं हो जाता, तब तक वासवदत्ता को उन्हीं के महल में घूँघट की ओट में एक धरोहर के रूप में छोड़ जाते हैं। आज के आलोचक भले ही इसमें पुरुष द्वारा अपने स्वार्थ और सत्ता के लिए औरत को एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करने का जैसा तत्त्व खोज लिया है, लेकिन इस तरह की व्याख्याएँ अधूरी हैं। वासवदत्ता स्वयं अपनी इच्छा से मन्त्री यौगन्धरायण के इस षड्यन्त्र में शामिल है, क्योंकि इस बात को वह भी बखूबी समझती है कि मगध की सहायता से यदि उसके पति उदयन उज्जयिनी का अपना खोया हुआ राज्य दोबारा प्राप्त कर लेते हैं तो उसकी शक्ति दोगुनी हो जाएगी। नाटक एक ओर औरत के त्याग और उत्सर्ग का आदर्शवादी रूप प्रस्तुत करता जान पड़ता है तो दूसरी तरफ व्यावहारिक स्तर पर एक आधुनिक और समकालीन टिप्पणी भी करता है। यह टिप्पणी नाटक की कहानी और कथ्य में वासवदत्ता के मुख्य पात्र होने की वजह से ही सम्भव होती है। अकारण नहीं है कि नाटककार ने नाटक का शीर्षक भी वासववत्ता के नाम पर रखा है।

इसी की अगली कड़ी के रूप में कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' को रखा जा सकता है। वैसे तो कालिदास के दूसरे दो नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' और 'विक्रमोर्वशीयम्' भी प्रकारान्तर से नारी को ही केन्द्र में लाते है, लेकिन जिस तरह के चरित्र के रूप में शकुन्तला हमारे सामने आती है, वह अद्भुत है। इस नाटक की कहानी भी ऊपर से देखने में सामान्य-सी जान पड़ती है। राजा दुष्यन्त 'हिरण' का शिकार करते-करते महर्षि कण्व के आश्रम तक का पहुँचते हैं जहाँ उनकी मुलाकात शकुन्तला नामक तापस कन्या से होती है। वे दोनों पहली नजर में ही एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं और गन्धर्व रीति से परिणय सूत्र में बँध जाते हैं। दुष्यन्त शकुन्तला को परिणय के पहचान के रूप में अपनी अँगूठी देकर राजधानी लौट जाते हैं और शकुन्तला को बाद में महर्षि कण्व और आश्रम के दूसरे वासियों द्वारा राजधानी के लिए प्रस्थान करा दिया जाता है। रास्ते में नदी में नहाते समय वह अँगूठी उँगली से फिसलकर कहीं खो जाती है। दुष्यन्त शकुन्तला को दुर्वासा के शाप के प्रभाव के कारण पहचान नहीं पाता और शकुन्तला को राजदरबार से निष्कासित कर देता है। लम्बे समय तक शकुन्तला मारीच ऋषि के आश्रम में अकेली रहती है और दुष्यन्त की सन्तान को जन्म देती है। इस बीच दुष्यन्त को अपनी खोई हुई अँगूठी मिल जाती है और साथ ही शकुन्तला की स्मृति भी लौट आती है। दोनों की पुनः मुलाकात होती है। दुष्यन्त शकुन्तला को वही अँगूठी फिर से पहनाना चाहता है, लेकिन शकुन्तला इनकार कर देती है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व नारी की यह अस्वीकृति कितनी अग्रगामी दृष्टि का परिचय देती है अर्थात् स्त्री-पुरुष सन्बन्धों में अँगूठी, आभूषण, वस्त्र और दूसरी भौतिक चीजों की महत्ता नहीं होती इसके विपरीत यदि कोई स्थायी चीज है तो वह आपसी विश्वास, प्रेम, समझ और सम्वेदना।

स्त्रियों की चिन्तनीय दशा मध्यकालीन समाज की उपज है। मध्यकालीन समाज जो सामन्ती ढाँचे पर निर्भर था, धीरे-धीरे ह्रास की ओर जा रहा था। स्त्रियों की अवस्था दिन-प्रतिदिन बदतर होती जा रही थी। सामाजिक तौर पर स्त्रियों की अधिकारहीन स्थिति ने उन्हें ज्यादा से ज्यादा पुरुष की निर्भरता पर जीने के लिए मजबूर किया। बालविवाह, बहुविवाह एवं पर्दाप्रथा के कारण वह गुलामी की अवस्था में धकेल दी गई। स्त्री विलास की सामग्री, दासी या नौकरानी थी। यही वह समय है जब देशज भाषा में स्त्री साहित्य का उदय होता है। सामन्ती व्यवस्था ने स्त्री को जहाँ चहारदीवारी में कैद करने की तैयारियाँ मुकम्मल कीं तो वहीं दूसरी ओर स्त्रियों की तरफ से प्रतिरोध का स्वर भी सुनाई पड़ता है। स्वयं स्त्री द्वारा स्त्री-लेखन पितृसत्ता का निषेध है, उसका अस्वीकार है।

कतिपय मध्यकालीन सन्तों की स्त्री-विषयक रचनाओं में स्त्री-विरोधी लेखन को देखकर उनकी समाजगत मानसिकता ही व्यक्त होती है। उस समय में स्त्रियाँ किस परिवेश में जी रही थीं, यदि इसका थोड़ा-सा भी एहसास पुरुष कवियों को होता तो शायद स्त्री के प्रति उनका दृष्टिकोण भिन्न होता। मध्यकाल में ही सूफी कवियों की कविताओं में स्त्री-जीवन का यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। उन कवियों ने परमात्मा को स्त्री रूप में स्थापित करके अपने मंतव्य को किस प्रकार स्थापित किया है, इसका स्पष्ट उदाहरण जायसी-कृत पद्मावत है। पद्मावत में राजघराने की स्त्री-जीवन की उस त्रासदी का प्रामाणिक विवेचना किया गया है, जिसमें उसे सुन्दर वस्तु की तरह मानकर छीना-झपटी एवं युद्ध का कारोबार चल रहा था। प्रेमाख्यानक काव्यों में स्त्री को लेकर देशी-परदेशी राजाओं की टकराहट और टकराहटों में मृत्यु का वरण करने वाली राजघराने की रानियों की विवशता का करुण अंकन किया गया है। स्त्री-जीवन का यह चित्रण मध्ययुगीन राजनैतिक जगत का मार्मिक सत्य है।

रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि नारी के भोग्या रूप से आगे नहीं बढ़ सकी। यह वह दौर था कि जब नायिकाओं के नुपुरों ओर पायलों की झनकार से भव्य राजभवन झनझना उठते थे। ग्रीष्म का तपन और शिशिर का शीत दोनों के शमन के लिए सुरा और सुन्दरी महत्त्वपूर्ण उपकरण थे। रीतिबद्ध कवि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का एक ऐसा पृष्ठ खोलता है जिसमें सामाजिक अधोपतन का स्पष्ट लेखा-जोखा मिल जाता है। इसी युग में दूसरी ओर रीतिमुक्त कवियों की कविता में स्त्री के प्रति स्वच्छन्द प्रेम के भावोद्‌गार व्यक्त किए गए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। यहाँ नायक-नायिका भेद के साँचे में ढले हुए प्रेमी-प्रेमिका के दर्शन नहीं होते बल्कि हृदय के जीवन्त स्पन्दनों को काव्य में ढालने का प्रयास रीतिमुक्त कवियों ने किया है।

आधुनिककाल का समय साहित्य में लोकतान्त्रिक व्यवस्था के साथ उपजा और साहित्य सृजन में एक नया कलेवर लेकर उपस्थित हुआ जहाँ स्त्री भी अपनी पूरी गरिमा के साथ उपस्थित हुई। भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग तक जहाँ वह समाज सुधारों की परिक्रमा करती रही वहीं छायावाद युग में देवी बनकर जड़वत भी हुई। बीसवीं शताब्दी के बीच से ही स्त्री रचनाकारों में स्पन्दित नारी का मानवीस्वरूप प्रस्फुटित हुआ, लेकिन कहीं-कहीं पर ये स्त्री रचनाकार भी अतिशयता से नहीं बच सकीं जिनका लेखन भारतीय ढाँचे का अतिक्रमण करता हुआ पाश्चात्य सभ्यता का मुखौटा लगा कर समाज में एक भ्रम का वातावरण पैदा करने लगा। इसी भ्रम के ताने-बाने से गुँथे

मृदुला गर्ग-कृत 'चित्तकोबरा' और प्रभा खेतान-कृत 'छिन्नमस्ता' जैसे उपन्यास भारतीय सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं।

2.2.03. 'सात भाइयों के बीच चम्पा' में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन

यह निर्विवाद सत्य है कि बिना विजन अथवा दृष्टि के कोई रचना नहीं हो सकती लेकिन दृष्टि के स्तर पर एक बेहतरीन रचना की परख कैसे की जाय, यह एक गम्भीर मसला है। इसके सम्बन्ध में बहुत पहले मुक्तिबोध ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "रचनाकार को सामाजिक यथार्थ के मात्र उसी अंश को उठाना चाहिए जो उसे सृजन की बेचैनी पैदा करने की हद तक संवेदित करता हो। 'समूचे सूरज' अर्थात यथार्थ को आत्मा में उतारने के बजाय यदि उसकी कोई छिटकी हुई किरण भी अपनी-सी लगती है तो समझ लीजिये कि इसी किरण में रचना के बीज मौजूद हैं।" कात्यायनी के हृदय में नारी वेदना के बीज अंकुरित ही नहीं होते, समय और समाज को देखकर विचलित भी करते हैं। नारी मुक्ति के बीज उनकी कविताओं के केन्द्र में है। नारी का संघर्ष, उसकी सामाजिक अवहेलना और तिरस्कार। और उसी तिरस्कार के बीच नारी-शक्ति आज किस जद्दोजहद से गुजरकर अपनी राह खुद तलाश रही है। रास्ते में कितने संघर्ष और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उन्हीं संघर्षों से वह निखर भी रही है और अपनी महती भूमिका भी अदा कर रही है। अपनी कविता 'सात भाइयों के बीच चम्पा' के माध्यम से कात्यायनी नारी मुक्ति का सन्देश ही नहीं देती है प्रत्युत पितृसत्तात्मक व्यवस्था में अपनी ही सन्तान कितनी उपेक्षित और तिरस्कृत होती है, इसे उद्घाटित करते हुए सामाजिक सम्वेदना पर भी करारी चोट भी करती हैं।

'सात भाइयों के बीच चम्पा' कविता गहरे दर्द से गुजरती स्त्री-जीवन की गाथा है। कविता की चम्पा समाज में अकेली चम्पा नहीं है। न जाने कितने ही चम्पाओं की कहानी इसी तरह के दर्द से गुजरती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था भाइयों के बीच इकलौती बहन को जहाँ बहुत ही संजोकर निर्बल और कमजोर बनाने की पूरी कवायद करती है, वहीं उसकी युवावस्था आने पर शादी की रस्म अदा कर किसी दूसरे को दायित्व सौंपकर मुक्त भी होना चाहती है। जहाँ परिवार में भाइयों को पढ़ने-लिखने की पूरी आजादी है वहीं बहनों की शादी के लिए बेताब पिता की नींद तक हराम हो जाती है। सात भाइयों के सुरक्षा का घेरा, सामन्ती समाज के घेरे की ओर इंगित करता है। स्त्री (लड़की) घर की इज्जत है, उसे घर के बाहर नहीं जाना चाहिए। लड़की के कौमार्य का महत्त्व लड़की को जाने-अनजाने ही बचपन में ही सिखा दिया जाता है, शायद इसीलिए उसके सयानी होने पर पिता को उसके शिक्षा से ज्यादा शादी की चिन्ता व्याकुल करती है।

पिता की इच्छा के विपरीत कार्य करने पर तरह-तरह से प्रताड़ित बेटी का रूपक ओखल में कूटे हुए धान से दिया जाना उस स्वाभाविकता की ओर इंगित करता है, जहाँ धान कूटने के बाद भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता, उसी तरह से समाज में तरह-तरह की प्रताड़ना के बाद स्त्री-जीवन का अस्तित्व कभी समाप्त नहीं हुआ। कभी वह अमरबेल की तरह समाज की पगडंडियों पर उग आती है तो कभी कंटीले वृक्ष की तरह। वह सुगन्धित फूल की तरह नहीं बल्कि हमेशा काँटों के बीच ही उभरती है, अर्थात् स्त्री जीवन-संघर्ष और कष्टमय रास्ते से गुजरकर ही अपने को प्रमाणित कर पाती है, कहीं भी उसके लिए सीधा-सपाट रास्ता नहीं मिलता।

सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई।
बाँस की टहनी-सी लचक वाली,
बाप की छाती पर साँप-सी लोटती
सपनों में
काली छाया-सी डोलती
सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई।

ओखल में धान के साथ
कूट दी गयी
भूसी के साथ कूड़े पर
फेंक दी गयी।
वहाँ अमरबेल बनकर उगी।
झरबेरी के सात कँटीले झाड़ों के बीच
चम्पा अमरबेल बन सयानी हुई।
फिर से घर आ धमकी।

समाज की प्रताड़ना से तंग आकर कितनी ही ऐसी चम्पाएँ मौत को गले लगा लेती हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी अमानवीय समाज पाया जाता है, जहाँ कन्या पैदा होने पर उसे किसी बीहड़ स्थान में फेंक दिया जाता है या फिर गला दबाकर मार दिया जाता है अथवा विष चटा दिया जाता है। इतना ही नहीं, गर्भ में ही कन्याभ्रूण की सूचना मिलने पर उसे गर्भ ही मार दिया जाता है।

'पाश' कहते हैं, "मैं घास हूँ तुम्हारे किये-धरे पर उग आऊँगा।" फंदे पर न जाने कितनी ही चंपाएँ लटकीं, लेकिन आज भी वे हमारे सामन्ती समाज में ज़िन्दा हैं, संघर्षरत हैं –

सात भाइयों के बीच सयानी चम्पा
एक दिन घर की छत से
लटकती पायी गयी।
तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच
दबा दी गयी।
वहाँ एक नीलकमल उग आया।
जलकुम्भी के जालों से ऊपर उठकर
चम्पा फिर घर आ गयी,
देवता पर चढ़ायी गयी
मुरझाने पर मसलकर फेंक दी गयी,
जलायी गयी।
उसकी राख बिखेर दी गयी
पूरे गाँव में।

रात को बारिश हुई झमड़कर।
अगले ही दिन
हर दरवाज़े के बाहर
नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच
निर्भय-निस्संग चम्पा
मुस्कुराती पायी गयी।

समाज व परिवार से संघर्ष करती हुयी स्त्री को एक बार नहीं मारा जाता न जाने कितनी ही बार उसे दफन किया जाता है, कुचला जाता है उसके अस्तित्व को चुनौती दी जाती है किन्तु स्त्री हर बार पूरी ताकत से उभरती है। कभी वह जलकुम्भी में नीलकमल बन मुस्कुरा उठती है तो कभी नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच अपने पूरे अस्तित्व-बोध के साथ उठ खड़ी होती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिए स्त्री उसकी ताकत, उसकी सम्वेदना, एक गहरी चुनौती बनकर उठ खड़ी होती है। 'सात भाइयों के बीच चम्पा' कविता में कात्यायनी स्त्री-अस्तित्व की मार्मिक वेदना का चित्रण करते हुए कहीं उसके संघर्ष के लिए कंटीले झाड़ियों का रूपक बाँधती हैं तो कहीं फाँसी के फंदे का निर्माण कर सामन्ती समाज को आईना दिखाने का कार्य करती हैं। कविता में स्त्री का अस्तित्व अपनी पूरी ताकत से विद्यमान है। कहीं नीलकमल का रूपक स्त्री को चैतन्य करता हुआ नज़र आता है तो कहीं देवी के रूप में (बहू) ससुराल को सौंपी गई मशीन, जो जर्जर होने पर कूड़े की ढेर में फेंक दी जाती है। लेकिन जीवन के अनेक संघर्षों में स्त्री बार-बार उठ खड़ी होती है। कविता के स्वर में जहाँ एक तरफ सामन्ती समाज का फंदा है, वहीं दूसरी तरफ उस फंदे को तार-तार करती स्त्री-जीवन की संघर्षरत कहानी है।

कवयित्री नये अंदाज में नये मिथक गढ़कर स्त्री-विमर्श को नया कलेवर प्रदान करती है, जहाँ केवल स्त्री के संघर्ष की गाथा ही नहीं है बल्कि स्त्री को ताकत प्रदान करने की पूरी कवायद कविता में विद्यमान है। कविता में स्त्री-जीवन की विभिन्न समस्याओं का चित्रण है, कन्याभ्रूण-हत्या तथा अपने अनुसार निर्णय लेने की आजादी के बीच फाँसी का फंदा भी विद्यमान है। साथ ही, लड़की के युवा होने पर उसका विवाह करना ही पिता की पहली और अनिवार्य प्राथमिकता है। उस अनिवार्य प्राथमिकता की दहलीज पर पिता की मनःस्थिति का जीता-जागता चित्र 'सात भाइयों के बीच चम्पा' कविता में प्रस्तुत किया गया है।

कविता में सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल है स्त्री अस्तित्व का। क्योंकि पुरुष इस दुनिया को अपनी दृष्टि से देखता व महसूस करता है। वह स्त्री को अपने अनुसार साँचे में ढालने का प्रयास करता है। साँचे से बाहर जाने पर वह उसे कुचलता, ठेस पहुँचाता तथा तरह-तरह से प्रताड़ना देता है। सारी प्रताड़नाओं के बावजूद स्त्री अपने लिए, अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती हुई कविता के बीचोंबीच बड़ी ही दृढ़ता से खड़ी है।

'सात भाइयों के बीच चम्पा' कविता में समस्त स्त्री-जीवन का दस्तावेज पूरी ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया है। इसी कारण शिल्प में गुणवत्ता और ताजगी आ गई है। कविता की शैली वर्णनात्मक, भाषा भावानुकूल, तीक्ष्ण और गम्भीर है। नये-नये रूपकों का प्रयोग कविता में व्यक्त भाव-तत्त्व को अत्यन्त ही गम्भीरता से प्रस्तुत

करने में समर्थ हैं, जैसे – बाप की छाती पर साँप-सी लोटती, झरबेरी के साथ कंटीले झाड़ों के बीच, तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच, रात को झमककर बारिश का होना, नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच इत्यादि।

2.2.04. 'इस स्त्री से डरो' कविता की काव्य-सम्वेदना

'इस स्त्री से डरो' शीर्षक कविता सम्वेदनशील नारी की उन पाबन्दियों की ओर संकेत करता है, जहाँ पुरुष समाज के हाथों से निर्मित कई तरह के जाल हैं, जहाँ सम्वेदनशील नारी का दम घुटता है, वह उन सभी बंदिशों को तोड़कर मुक्त होने की कल्पना करती है। नारी की समस्या आर्थिक ही नहीं सामाजिक भी है। कवयित्री पुराने मिथकों को तोड़ती हुई, परम्परा से हटकर नारी की स्वायत्तता को स्वीकारती हुई, यथार्थ से नाता जोड़ती हुई नज़र आती है। यह कात्यायनी के रचना-संसार की सार्वभौमिकता है, जो स्त्री के भोगे हुए सच का वर्णन करती है। नारी-मुक्ति आन्दोलन वास्तव में अभिव्यक्ति और निर्णय की स्वतन्त्रता का आन्दोलन है। कात्यायनी मानवीय स्वतन्त्रता की पक्षधर हैं। उनका मानना है कि मानवीय स्वतन्त्रता ही मानव-मूल्यों के विकास में सहायक है और यह स्वतन्त्रता पुरुष और नारी, दोनों के सन्दर्भ में समान है।

कविता का स्वर व्यंग्यात्मक है। अन्ततः यही व्यंग्य स्त्री की पीड़ा भी है। स्त्री उन सभी यंत्रणाओं को भोग चुकी है, जहाँ तरह-तरह की बंदिशें है, यंत्रणा-गृह भी है और अनन्त आकाश में उड़ने की अदम्य चाहत भी। क्या यही सच है आजाद भारत का! जहाँ आधी आबादी गुलामी की जंजीरों में ही नहीं पीसी जा रही है बल्कि तरह-तरह की यंत्रणाओं की शिकार भी है। कहीं दहेज, तो कहीं पर्दाप्रथा, कहीं बलात्कार है तो कहीं बाज़ार, जो स्त्री के अंगों के प्रदर्शन के माध्यम से ही अपने वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर रहा है।

भारतीय परिवेश में स्त्री बाल्यकाल में पिता एवं भाई, विवाहोपरान्त पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहती है। अर्थात् वह एक वस्तु अथवा जड़ सम्पत्ति के रूप में तीनों अवस्थाओं में पिता, पति और पुत्र की सम्पत्ति है या यूँ कहें कि वे ही स्त्री के स्वामी हैं। क्या स्त्री-विमर्श स्त्री की अपनी इस स्थिति से मुक्ति का प्रयास है! विश्व स्तर पर सामाजिक मर्यादाओं के नाम पर सभी देशों में नारी को जकड़कर रखा गया है। भारत की स्थिति इसलिए और भी दयनीय हो जाती है कि यहाँ पर अन्य अनेक बंदिशों के साथ-साथ स्त्री से शिक्षा का अधिकार भी छीन लिया गया। हमारी प्राचीन परम्परा जो गार्गी, अपाला, घोषा, मैत्रेयी व भारती जैसी नारियों के उदाहरण से सशक्त थी, मध्यकालीन व्यवस्था ने उसे जर्जर बनाकर स्त्री के बन्धन से सम्बन्धित नयी-नयी परिभाषाओं का प्रचार किया।

कविता में स्त्री की उन्हीं तमाम बंदिशों का चित्रण है। जैसे शारीरिक बंदिशों के साथ-साथ उसकी सम्वेदना से भी खिलवाड़ किया गया। उसका दम घुट रहा है, वह प्रेम चाहती है, प्रसार चाहती है, पुरुष की तरह अनन्त विस्तार भी। कविता का उन्मुक्त स्वर आह्वान करता है कि जिस दिन स्त्री अपनी पूरी ताकत के साथ समाज के सामने आएगी, समाज को आवरण-मुक्त कर देगी क्योंकि कैदी कोई और नहीं, वह स्वयं है, जो कैद आधुनिक

समाज की तथाकथित आजादी के आवरण में वह झेल रही है। और तब, आजादी की परिभाषा जो सन् 1947 से आज तक स्त्री को अपने व्यामोह में जकड़ी रही, पर्दाफाश ही नहीं, तार-तार हो जाएगी।

कविता की शैली व्यंग्यात्मक और स्वर मुखर है। पिंजरा, यंत्रणा-गृह, जाल, समुद्र, अनन्त आकाश सब सेंटिंग मात्र है। कविता का मूल स्वर है, स्त्री की बंदिशें, उसकी वेदना; जो वह सदियों से झेलती आयी है। अब उसे भी मनुष्य बनना है। उसको भी अनन्त आकाश में विस्तार चाहिए। रिश्तों के नाम पर उसे भी प्यार और सम्वेदना चाहिए। अब वह सब कुछ जानती है। अब पुरुषसत्ता में सामाजिक आदर्शों के आवरण के निरावरण का भय व्याप्त होना चाहिए।

यह स्त्री
सब कुछ जानती है
पिंजरे के बारे में
जाल के बारे में
यन्त्रणा-गृहों के बारे में
उससे पूछो।
पिंजरे के बारे में पूछो,
वह बताती है
नीले अनन्त विस्तार में
उड़ने के
रोमांच के बारे में।
जाल के बारे में पूछने पर
गहरे समुद्र में
खो जाने के
सपने के बारे में
बातें करने लगती है।
यन्त्रणा-गृहों की बात छिड़ते ही
गाने लगती है
प्यार के बारे में
एक गीत।
रहस्यमय हैं इस स्त्री की उलटबासियाँ
इन्हें समझो।
इस स्त्री से डरो।

2.2.05. 'गार्गी' कविता का मिथक एवं नये स्त्री-मूल्य

आधुनिक बोध के केन्द्र में मनुष्य-चिन्ता का स्वर उसे सहज ही परम्परावादियों की दृष्टि से प्रशंसनीय बना देता है। जब वैदिककाल से होते हुए मध्यकालीन बोध की पारलौकिक चिन्ता को खारिज करके आधुनिक बोध ने

इहलोक को अपना चिन्तन-क्षेत्र बनाया तो अपने आप ही उसकी दृष्टि समाज की अर्द्धांश रूप में उपस्थित, शताब्दियों से शोषित नारी पर जा पड़ी । फलस्वरूप पितृसत्तात्मक समाज के निरंकुश अधिकार क्षेत्र में स्त्री को अपने असली स्वरूप को जानने-समझने का अवसर मिला बल्कि कहना यह है कि आधुनिक बोध ने उसे अपने अधिकारों के प्रति जागरुक कराया । उसी दिन से नारी-चेतना का विद्रोही स्वर समाज और साहित्य में सब जगह गूँजने लगा, विद्रोह के इस स्वर में सहज ही वह पुराने के अस्वीकार और नये की तलाश में बहुत कुछ छोड़ेगी भी और अपनाएगी भी । नये अर्थों में अपने अस्तित्व की पहचान भी दर्ज कराएगी । उसके ऐसा करने की प्रक्रिया में निःसन्देह बहुत-कुछ पुराना, पारम्परिक और काफी हद तक शाश्वत चरमराएगा ।

'गार्गी' कविता का स्वर व्यंग्यात्मक है । कविता के माध्यम से पुरुष समाज के उन सभी नियमों की बखिया उधेड़ते हुए स्त्री-जीवन के उस फ्रेम पर चोट की गई है, जो पुरुष समाज द्वारा निर्मित है । स्त्री चाहे जैविक धरातल पर मजबूत हो या शैक्षिक धरातल पर, उसे पुरुष द्वारा बनायी गई दीवारों को नहीं लाँघना है । सब कुछ जानने-समझने का अधिकार भी उसके पास नहीं है । 'पुरुष' (सर्वशक्तिमान्) जो अपने आपको शक्ति का पुंज मानता है, ज्ञान का पुंज मानता है, उसकी सभी शक्तियों को चुनौती देना भी स्त्री के लिए खतरा ही है । पुरुष प्रदत्त बहुत सारे नियम, सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों के लिए बनाए गए हैं । जैसे – घर से बाहर मत जाओ, किसी पर-पुरुष की ओर आँख उठाकर मत देखो, अपने से कोई निर्णय मत लो । अपनी निर्णय-शक्ति का उपयोग करने से स्त्री कुलटा की श्रेणी में गिनी जाती है और वही यदि पुरुष-प्रदत्त नियमों का पालन करती है तो वह अच्छी पत्नी, अच्छी बेटी स्वतः बन जाती है, इस अच्छाई के भार में भले ही उसे अपने अस्तित्व की बलि चढ़ानी पड़े ।

बहुत दूर मत जाओ गार्गी
सब कुछ मत पूछो
सभी सीमाओं को लाँघ जाओ
जब तक तुम्हारा सर न कट जाय
और ज़मीन पर न गिर पड़े
याज्ञवल्क्य को चुनौती मत दो
सर्वोच्च शक्ति को प्रश्न मत करो
वह भी एक मानव है
इन नियमों का उल्लंघन मत करो
सबसे अच्छी बेटी बनो

जैविक स्तर पर पुरुष उससे अपनी हर कामना की पूर्ति करता है । झूठे प्रेम के नाम पर स्त्री अपने गर्भ में पुरुष की सन्तति को धारण कर गर्व का अनुभव करती रहे । साथ ही, अपनी उस ताकत को भी बचाकर रखे जब बीमार बेटे के इलाज के लिए खुद को भी बेच देना पड़े । सम्वेदना और बाज़ार की इस ध्वनि पर वह युगों-युगों से नृत्य करती आ रही है । आधुनिक युग में जहाँ सब कुछ बदल रहा है लेकिन स्त्री के लिए उसी तरह के बलिदान की आवश्यकता आज भी महसूस की जा रही है । स्त्री अपने को आकर्षक बनाकर पुरुष को निमन्त्रण भी देती रहे और अपनी उन्नति को गँवाकर पुरुष के उन्नति के लिए प्रयास भी करती रहे । उसे देवि बनाकर छलावे की संस्कृति कम

नहीं पनपी। मानसिक रूप से देवत्व के छलावे में उसका अपना सब कुछ उससे छीन लिया गया। वह मन्दिर में बैठी पत्थर की मूर्ति ही बनकर रह गई जिसे हिलना-डुलना भी नहीं आता। नारी अर्द्धांगिनी बनी, माँ बनी, बहन बनी, सभी रिश्तों में पुरुष की पोषिता ही बनती रही जबकि स्त्री को बेबुनियाद और निरर्थक रिश्ते का छलावा देकर पुरुष पूरे सृष्टि पर विजय की कामना करता रहा। सभी मिथकों को तोड़ती हुई कविता व्यंग्य के माध्यम से पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पूरी बखिया उधेड़ डालती है। कविता कहीं मुखर है, कहीं व्यंग्य है, तो कहीं भोगा हुआ सच। कहीं पुरुष समाज द्वारा निर्मित नियम-कानून-कायदे हैं तो कहीं पुरुष प्रदत्त चरमरायी व्यवस्था किन्तु कविता के केन्द्र में नारी के अस्तित्व की तलाश है जो सदियों से सफलता और असफलता की धुरी पर पिसती चली आ रही है। स्त्री-जीवन में कहीं प्यार है तो कहीं प्रताड़ना; प्राचीन मिथकों के नाम पर पिसती स्त्री-समाज के सामने जो उदाहरण बार-बार प्रस्तुत किया जाता है, कवयित्री उन सभी मिथकों को ध्वस्त करती हैं। कभी रिश्तों के नाम पर, कभी सम्बन्धों के नाम पर, कभी अच्छाई के नाम पर और कभी पुरुष की महत्त्वाकांक्षा के लिए पुरुष की सीढ़ी बनकर स्वयं को विलय कर देना – नहीं ! अब और नहीं ! अब वह भुलावे का दंश नहीं झेलेगी।

किसी पुरुष के बिस्तर पर प्रशंसा करो
अपने गर्भ में पुरुष का बीज समाहित करो
अपने होने का नया तरीका मत सृजन करो
बहुत दूर मत जाओ गार्गी !
सब कुछ मत पूछो
बीमार बेटे के लिए खुद को बेच दो।
हमारी ध्वनि पर नृत्य करो गार्गी
थोड़ा आकर्षक बनने की कला सीखो
अनुशासन के तरीके सीखो
हमारी उन्नति की सीढ़ी बनो
गार्गी ! तुम एक देवी हो
तुम एक बेहतर अर्द्धांगिनी हो
समर्पित पत्नी हो
गार्गी ! हम तुम्हारे बिना अधूरे हैं
महान् बनने में हमारी मदद करो
संसार पर विजय हासिल करने में
हमारी मदद करो
और आकाश तक पहुँचो
मील का पत्थर बनो
तुम त्याग की देवी हो
परिवार कल्याण का मंथन करो
अपने घर का संरक्षण करो
सभी प्रश्नों को मत पूछो गार्गी !

2.2.06. पाठ सार

पुरुष ने स्वयं के सन्दर्भ में औरत को अन्य की कोटि में रखा। उसके चिन्तन में यह द्वैत भाव पहले इतना स्पष्ट नहीं था। पहले तो वह एक ही तत्त्व में स्त्री और पुरुष दोनों का अवतरण मान लेता था, किन्तु जैसे-जैसे औरत की भूमिका विस्तृत होती गयी, वह पुरुष के लिए सम्पूर्ण रूप से अन्या होती चली गयी। उसके नाना रूप उभरे। कभी पुरुष ने उसे देवी माना, तो कभी दानवी। वह प्रकट हुई पहाड़ों में, वन-प्रदेशों में, बहती रही झरनों में हर जगह; उसने जन्म दिया, उसी ने विनाश भी किया। मनमानी वैभवशालिनी प्रकृति की तरह क्रूर वह स्त्री एक ही साथ मांगलिक और अशुभ दोनों थी। कभी वह दुर्गा बनी, कभी काली।

स्वर्ग हो या नर्क, हर जगह स्त्री एक शक्ति बनी। उस शक्ति की पूजा की गई। वह पवित्रता की प्रतीक बनी, क्योंकि उसके पास प्रजनन की शक्ति थी। महान् मातृसत्तात्मक समाज अपने शिलालेखों और कालातीत परम्पराओं में उन स्मृतियों को संजोए हुए हैं, जब स्त्री को समाज में सर्वोपरि स्थान मिला हुआ था। ऋग्वेद के ऋचा गीतों में स्त्री की वन्दना है, उसमें उसे सत्ता और सम्मान प्राप्त है। किन्तु उत्तर वैदिककाल में उसकी स्थिति का ह्रास हुआ। रोमन सभ्यता के आगमन के साथ शनैः शनैः उसकी स्थिति हीन बना दी गई।

आदिकालीन समाज मातृसत्तात्मक समाज था। सच तो यह है कि स्त्री के लिए ऐसा स्वर्ण युग वास्तव में एक मिथक के अलावा और कुछ नहीं। स्त्री-शक्ति की जब-जब आराधना हुई तब-तब वह अतिमानवीय शक्ति थी, अतः पूजिता होकर वह मानवीय जगत से अलगाव की स्थिति में थी। समाज हमेशा पुरुषप्रधान रहा, राजनैतिक सत्ता हमेशा पुरुष के हाथ में रही। आदिम समाज के सम्पूर्ण अध्ययन के बाद लवीसत्रास ने कहा, "सत्ता चाहे सार्वजनिक हो या सामाजिक वह हमेशा पुरुष के हाथ में रही।" स्त्री हमेशा अलगाव में रही। उसे यदि पुरुष ने देवी का रूप दिया, तो इतना ऊँचा उठा दिया, निरपेक्ष रूप से इतनी पूज्या बना दिया कि मानव जीवन उसे प्राप्य ही नहीं हो सका। ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता गया, पुरुष में सत्ता का लोभ बढ़ता गया। वह अपनी सन्तान का स्वामित्व और सन्तान के माध्यम से अपनी परम्परा का विकास चाहने लगा। स्त्री में प्रजनन की क्षमता होते हुए भी पुरुष उसका स्वामी था। स्त्री की नियति थी पुरुष की अधीनता।

2.2.07. बोध प्रश्न

1. 'सात भाइयों के बीच चम्पा' कविता में अभिव्यक्त स्त्री सम्वेदना को उद्घाटित कीजिए।
2. 'इस स्त्री से डरो' कविता की भाषिक संरचना स्पष्ट कीजिए।
3. 'गार्गी' कविता में वर्णित मिथक बोध को समझाइए।
4. स्त्री विमर्श लेखन समाजोपयोगी है या नहीं ! अपना मत स्पष्ट कीजिए।
5. स्त्री विमर्श लेखन एक रिपोर्ट है या साहित्य ! स्पष्ट कीजिए।

❖❖❖

खण्ड– 2 : काव्य

इकाई – 3 : कैसा उदारवाद यह, छत की तलाश, सुनो ब्राह्मण ! – मलखान सिंह

इकाई की रूपरेखा

2.3.00. उद्देश्य कथन
2.3.01. प्रस्तावना
2.3.02. मलखान सिंह का परिचय एवं उनका रचना संसार
2.3.03. मलखान सिंह के समकालीन दलित कवि और उनकी कविताएँ
2.3.04. मलखान सिंह की कविताओं के प्रति समीक्षकों एवं साहित्यकारों के विचार
2.3.05. मलखान सिंह : व्यक्ति और विचार
2.3.06. 'कैसा उदारवाद यह', 'छत की तलाश', 'सुनो ब्राह्मण !' – सन्दर्भ और भावार्थ
2.3.07. मलखान सिंह की कविताओं का वैशिष्ट्य
2.3.08. मलखान सिंह की दलित साहित्य को देन
2.3.09. पाठ सार
2.3.10. बोध प्रश्न
2.3.11. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
2.3.12. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.3.00. उद्देश्य कथन

उत्तर-आधुनिक युग में अनेक विमर्श चर्चित हैं जिनमें दलित विमर्श, स्त्री विमर्श महत्त्वपूर्ण विमर्श हैं। मलखान सिंह की कविताएँ दलित विमर्श को केन्द्र में रखकर लिखी गई हैं। उनकी कविताओं को पाठ्यक्रम में पढ़ाये जाने का उद्देश्य है कि वर्तमान पीढ़ी के विद्यार्थी और शोधार्थी यह समझ सकें कि –

i. दलित आन्दोलन क्या है !
ii. दलित साहित्य लेखन की पार्श्वभूमि क्या है !
iii. दलित लेखन की विचारधारा क्या है !
iv. दलित लेखन का उद्देश्य क्या है !

दलित का अर्थ है, जिनका दलन और दमन हुआ है। ऐसे शोषित पीड़ित लोगों के द्वारा, अपने जीवन की व्यथा-वेदना को अपनी कलम से समाज के सामने प्रस्तुत करना ही दलित लेखन है। फुले-अम्बेडकर विचारधारा से जाग्रत होकर, दलित अछूत जाति के कवि-साहित्यकार, 1980 से ही अपने शोषित समुदाय की समस्याओं और उनके साथ किए जा रहे अन्याय, अत्याचार, भेदभाव और अपमान के विषय में लिख रहे हैं। दलित-मानवाधिकार की दृष्टि से दलित लेखन अब विश्व स्तर पर प्रसिद्धि और सम्मान प्राप्त कर रहा है। हिन्दी दलित साहित्य-लेखन देश की अन्य प्रान्तीय भाषाओं और विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित होकर विशाल रूप में

पाठकों तक पहुँच रहा है। दलित साहित्य वर्तमान में और भविष्य के लिए, समाज को समता, एकता और बन्धुत्व भाव का सन्देश दे रहा है। निश्चित रूप से ऐसे उद्देश्यनिष्ठ साहित्य का पठन-पाठन समाज के लिए सन्देशवाहक और अनुकरणीय है। प्रस्तुत पाठ में इसी दृष्टि से दलित कवि मलखान सिंह की कविताओं का अध्ययन किया जाएगा।

कवि मलखान सिंह के विचार, भावना, अनुभव और उद्देश्य की जानकारी के साथ, यह समझना आवश्यक है कि वे कौन सी स्थितियाँ हैं, जिनके मार्मिक प्रहार से इन कविताओं का जन्म हुआ है ? और विचारवान पाठक, संशोधक के रूप में, अब समाज और संस्कृति के प्रति, आपकी क्या जिम्मेदारी है ? इन स्थितियों को किस तरह बदला जा सकता है ? इस पर विचार करना भी नैतिक जिम्मेदारी है। "साहित्य समाज का दर्पण है।" इसे सत्य रूप में जानने के लिए, दलित साहित्य को पढ़ना और समझना आवश्यक है।

2.3.01. प्रस्तावना

अम्बेडकरवादी विचारधारा के साथ हिन्दी दलित साहित्य का प्रारम्भ 1980 से माना गया है। हिन्दी दलित लेखन के प्रारम्भ में दलित कविताएँ ही अधिक लिखी गई थीं। अनेक कविताएँ दलित और गैर-दलित पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं, जिससे 1990 तक हिन्दी दलित कविता-लेखन के क्षेत्र में अनेक कवियों के नाम चर्चित होने लगे थे। उन कवियों में वरिष्ठ कवि मलखान सिंह का नाम भी चर्चित हुआ। किसी भी साहित्यकार के लेखन में, उनके अपने विचार और अनुभव ही साहित्यिक रचना के रूप में समाज के सामने आते हैं। प्रत्येक साहित्यकार का अपना सामाजिक परिवेश होता है। इसके साथ उसके जीवन के आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक, नैतिक और राजनैतिक पहलू होते हैं, जिनसे होकर गुजरते हुए वह अच्छे और बुरे अनुभव पाता है। वह अपने साथ, अपने समाज या जाति समुदाय के लोगों के जीवन से भी, वेदना और सम्वेदना के आधार पर अनुभूति पाता है। यही भावानुभूति संवेग के साथ साहित्य रूप में प्रकट होती है। दलित कविता भी इसी रूप में लिखी जाने लगी थी। दलित कविता में भेदभावपूर्ण विषमतावादी सामाजिक व्यवस्था के प्रति नकार था, विषमतावादी सामाजिक रूढ़ि-परम्पराओं के प्रति विरोध और आक्रोश था। साथ ही विद्रोह के साथ पुरानी व्यवस्था और परम्पराओं को खत्म करके, उनके स्थान पर समतावादी व्यवस्था और परम्पराओं की स्थापना का सन्देश था। अल्मोड़ा की 'समता' पत्रिका और जलन्धर पंजाब की 'भीम पत्रिका' में दलित कविताएँ छपने लगी थीं।

सर्वप्रथम बिहारीलाल 'हरित' की कृति 'भीमायण' कविता 1973 में छपी थी। इसके बाद 80 और 90 के दशक में अनेक दलित कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। दयानन्द बटोही का 'यातना की आँखें', पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का 'सवालों के सूरज' काव्य-संग्रह छपा। 1985 में लक्ष्मीनारायण 'सुधाकर' की रचना 'भीम सागर' भावपक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से सशक्त रूप में छपी। रणजीत सिंह का कविता-संग्रह 'ललकार' 1985 में छपा। सुखवीर सिंह का 'बयान बाहर' 1985 में छपा। धर्मवीर का कविता-संग्रह 'हीरामन' छपा। सम्पादित कविता-संग्रह 'पीड़ा जो चीख उठी' तथा मंसाराम विद्रोही का 'दलित पचासा' इसी बीच छपे थे।

1985 में 'भारतीय दलित साहित्य मंच' के नाम से प्रथम केन्द्रीय मंच की स्थापना हुई। डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर, डॉ॰ कुसुम वियोगी, कर्मशील भारती, मंसाराम विद्रोही, लक्ष्मीनारायण 'सुधाकर', रामदास शास्त्री, राजपाल सिंह राज आदि ने मिलकर इसकी स्थापना की थी। इसके बाद बाबू जगजीवन राम के सहयोग से डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर ने 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' की स्थापना की। यह संस्था अभी भी दिल्ली में कार्यरत है। देश के लगभग सभी प्रान्तों में इसकी प्रान्तीय शाखाएँ हैं। दिल्ली में राष्ट्रीय स्तर पर दलित साहित्यकार सम्मेलन 1986 से लगातार प्रतिवर्ष आयोजित किए जा रहे हैं। यह संस्था दलित साहित्यकारों को पुरस्कृत भी करती है। राष्ट्रीय सम्मेलनों में विचार-विमर्श, मार्गदर्शन और भेंट-मुलाकात से प्राप्त प्रेरणा और प्रोत्साहन से अनेक दलित साहित्यकार लेखन के क्षेत्र में आगे बढ़े और चर्चित हुए हैं, उनमें डॉ॰ श्यामसिंह 'शशि' डॉ॰ धर्मवीर, डॉ॰ सुखवीर सिंह, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, मलखान सिंह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मलखान सिंह की कविताएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं एवं चर्चा के केन्द्र में रहीं। उनकी कविताएँ काव्य-संग्रह रूप में पहली बार 1996 में 'सुनो ब्राह्मण !' शीर्षक से छपीं। इसके पहले सूरजपाल चौहान का कविता-संग्रह 'प्रयास' 1994 में और सुशीला टाकभौरे के कविता-संग्रह 'स्वाती बूँद और खारे मोती' 1993 में, 'यह तुम भी जानो' 1994 में प्रकाशित हुए थे। ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'सदियों का संताप' 1994 में छपा था। दलित आन्दोलन और दलित साहित्य लेखन का इतिहास सुदीर्घ है। दलित साहित्यकार दलित आन्दोलन में अपना सहयोग देने के लिए ही लिख रहे थे। दलित लेखन आन्दोलनकारी लेखन है। दलित कवियों ने व्यवस्था के विरुद्ध अपनी कविताओं को शस्त्र रूप में रचा है। इस दृष्टि से मलखान सिंह की कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

2.3.02. मलखान सिंह का परिचय एवं उनका रचना संसार

मलखान सिंह दलित साहित्य के महत्त्वपूर्ण और प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। 1996 में उनका काव्य-संग्रह 'सुनो ब्राह्मण !' प्रकाशित हुआ था, जिसमें 16 कविताएँ संकलित थीं। मात्र 10 रुपये कीमत के इस काव्य-संग्रह की दलित कविताएँ दलित जीवन की वेदना और सरोकार से जुड़ी छटपटाहट को व्यक्त करने में सफल सिद्ध हुईं।

मलखान सिंह का जन्म 30 सितम्बर 1948 में, पश्चिमी उत्तरप्रदेश के गाँव वसई काजी, जिला हाथरस, (तत्कालीन जिला अलीगढ़) के दलित परिवार में हुआ। उनकी शिक्षा उच्च प्राथमिक तक गाँव की पाठशाला में हुई थी। अलीगढ़ और आगरा में उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। विद्यार्थी जीवन में वे 'समाजवादी युवक सभा' संस्था के सदस्य थे। बाद में वे इस संस्था के राज्य स्तरीय पदाधिकारी बने। पदाधिकारी के रूप में वे सामाजिक सुधार के कार्यक्रमों में अपनी सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे। 'मजदूर दिवस' के कार्यक्रमों में, अपनी विद्रोही और विचारोत्तेजक भूमिका के कारण वे दो बार तिहाड़ जेल भी गए थे।

1979 से 2008 तक वे बेसिक माध्यमिक शिक्षा विभाग में, विभिन्न पदों पर कार्यरत रहकर सेवाकार्य करते रहे। 2008 में सेवानिवृत्त होने के बाद वे समाज-सुधार और जन-जागृति के कार्यों में जुट गए। मलखान सिंह अम्बेडकरवादी आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्त्ता हैं। दलित साहित्य-लेखन के सेमिनार, सम्मेलन, विचार-गोष्ठी एवं

मीटिंग-बैठक जैसे कार्यक्रमों में उनकी सक्रिय सहभागिता देखी जा सकती है। नयी पीढ़ी के दलित कवियों के लिए वे प्रेरणादायी और मार्गदर्शक रहे हैं।

परिवारिक और सामाजिक रूप से वे आगरा में रहकर उत्तरभारत की दलित जन-जागृति की सामाजिक एवं साहित्यिक गतिविधियों से जुड़े हैं। ऐतिहासिक 'ताजमहल' से उनका निवास नजदीक है, फिर भी मलखान सिंह प्रेम के प्रतीक 'ताजमहल' को देखकर प्रेम कविताएँ नहीं लिख सके। वे दलित समाज में रहते हुए और दलित जीवन के कष्टों को सहते हुए, उन समस्याओं के निवारण के लिए, सतत् रूप से प्रयत्नशील रहे, दलित जागृति की सन्देशवाहक कविता लिखते रहे। अपने शोषित, अपमानित समाज के प्रति यह उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

'सुनो ब्राह्मण !' कविता-संग्रह में छपी कविताओं के बाद मलखान सिंह ने बहुत कम कविताएँ लिखी हैं। 'शब्दारम्भ प्रकाशन' द्वारा सन् 2016 ई. में मलखान सिंह के नये काव्य-संग्रह के प्रकाशन हेतु जब प्रकाशन ने बहुत आग्रह के साथ उनसे नयी कविताएँ माँगी, तब उन्होंने सिर्फ बाईस कविताएँ ही दी थीं। तब प्रकाशक ने मलखान सिंह की अनुमति से 'सुनो ब्राह्मण !' कविता-संग्रह की सोलह कविताओं को भी संकलित कर अड़तीस कविताओं का संग्रह 'ज्वालामुखी के मुहाने' नाम से प्रकाशित किया। इस काव्य-संग्रह में उनकी सम्पूर्ण कविताएँ संकलित हैं।

मलखान सिंह का कविता-संग्रह 'सुनो ब्राह्मण !' बहुत चर्चित हुआ। उनको लोकप्रिय और प्रतिष्ठित कवि माना गया। इसका प्रमुख कारण है, उनकी कविताओं में वेदना की अनुभूति के साथ, विरोध, आक्रोश और विद्रोह की अभिव्यक्ति का मुखर होना। उनकी कविताओं में भोगी हुई पीड़ा का दर्द है, साथ ही इस स्थिति से इनकार की हुंकार भी है। वे केवल अपने दर्द की बात नहीं करते, बल्कि सम्पूर्ण दलित, उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, अछूत और पिछड़े वर्ग की वेदना की बात कहते हैं। 'सुनो ब्राह्मण !' जैसे शीर्षक की कविताओं द्वारा कवि ने शोषक वर्ग के साथ संवाद बनाते हुए सम्बोधन शैली में अपनी भावनाओं को कविता रूप में प्रस्तुत किया है।

2.3.03. मलखान सिंह के समकालीन दलित कवि और उनकी कविताएँ

गौतम बुद्ध, कबीर, ज्योतिराव फुले और डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा के साथ मराठी दलित साहित्य का आरम्भ 1960 में और हिन्दी दलित साहित्य का आरम्भ 1980 में माना गया है। 1980 और 1990 में अनेक हिन्दी दलित कवियों की कविताएँ प्रकाशित हुईं। उनमें डॉ॰ मनोज सोनकर, डॉ॰ रामशिरोमणि होरिल, डॉ॰ सुखवीर सिंह, डॉ॰ चन्द्रकुमार वरठे, डॉ॰ प्रेमशंकर, माताप्रसाद, मलखान सिंह, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, डॉ॰ दयानन्द बटोही, डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर, मोहनदास नैमिशराय, रघुनाथ प्यासा, डॉ॰ एन. सिंह आदि की रचनाओं में वर्णभेद, जातिभेद, छुआछूत, अपमान, शोषण, अन्याय, अत्याचार के प्रति विद्रोह और अपनी उन्नति-विकास के अधिकारों के लिए संघर्ष की भावना व्यक्त हुई है। उनकी रचनाओं में धार्मिक आडम्बर और विषमतावादी सामाजिक रीति-परम्पराओं के प्रति भी आक्रोश और विद्रोह प्रकट हुआ है।

डॉ॰ सुखवीर सिंह की दलित कविता 'बयान बाहर' में गाँव से बाहर बसाये जाने की व्यथा है। सवर्ण समाज से अलग, दूर रहने पर मजबूर इन अछूतों के श्मशान भी अलग थे –

लड़खड़ाते कदमों से
चलना पड़ता है अलग-थलग
मरने के बाद भी जलना पड़ता है अलग-थलग।

(– दीर्घा, पृष्ठ 13)

अछूत वर्ग के विद्यार्थियों के साथ विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अभी भी भेदभाव किया जाता है और उन्हें आगे पढ़ने से छलपूर्वक रोका जाता है। डॉ॰ दयानन्द बटोही की कविता 'द्रोणाचार्य सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें' में इस बात को उजागर किया गया है। अब 'गुरु दक्षिणा' में एकलव्य जैसे दलित पात्रों का अँगूठा नहीं माँगते, बल्कि प्रेक्टिकल में कम नम्बर देकर उन्हें फेल करते हैं। डॉ॰ चन्द्रकुमार वरठे का कविता-संग्रह 'अधूरी चिट्ठी रोशनी की' में उनकी कविता है –

सूरज का बेटा हूँ
मिट्टी का जाया
सदियों से
अँधेरे की तानाशाही के खिलाफ
लड़ता हूँ आया।

(– अधूरी चिट्ठी रोशनी की, पृष्ठ 14)

इन कविताओं में दलित कवियों की चेतना, जागृति के साथ, उनके संघर्षों की व्यथा-कथा है। डॉ॰ महीपसिंह द्वारा सम्पादित 'संचेतना' पत्रिका का 'दलित विशेषांक' 1990 में प्रकाशित हुआ था। उसमें अनेक मराठी दलित कवियों की कविताओं में उनकी वेदना और चेतना का चित्रण था। इसी तरह हिन्दी दलित कवियों के भाव उनकी कविताओं में हैं। डॉ॰ एन. सिंह का विद्रोही भाव उनकी कविता में है –

उड़ रही हैं चिन्दियाँ कानून की
धार पैनी हो रही नाखून की
अर्थ बदले जा रहे हर शब्द के
व्याख्याएँ यूँ हो रहीं मजमून की।

दलितों पर हो रहे अन्याय-अत्याचार की घटनाओं से व्यथित हो ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं –

मेरे जिस्म के मानचित्र पर
उभर रहे हैं
बनकर फफोले
कहीं 'बेलछी'
तो कहीं 'शेरपुर'
कहीं 'पारस विधा'
तो कहीं नारायणपुर।

मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं –

जूझ रहा है
आज भी अम्बेडकरवाद
कहाँ हैं हम आजाद
आजादी का प्रजातंत्र
गुलामी के संस्कार
गुमराह है यहाँ समाजवाद।

पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी 'बेलछी' में हुए दलित अन्याय के सन्दर्भ में लिखते हैं –

राख हो जाती है, जिनकी हजारों चिताएँ
और हिलता नहीं पत्ता तक
आज ही नहीं, हजारों बार हुआ है 'बेलछी'।

सुखवीर सिंह 'बयान बाहर' में लिखते हैं –

हवा में फिर से
प्रश्न उछल रहे हैं
गरीबों की बहुसंख्या पर
थोड़े से सुविधाभोगी साँप क्यों पल रहे हैं।

यहाँ देखा जा सकता है कि कवि मलखान सिंह के समकालीन लगभग सभी दलित कवियों की कविताओं में विरोध आक्रोश और विद्रोह के भाव हैं।

2.3.04. मलखान सिंह की कविताओं के प्रति समीक्षकों एवं साहित्यकारों के विचार

कवि मलखान सिंह की रचनात्मकता ने पाठकों के साथ ही अपने समकालीन साहित्यकारों एवं समीक्षकों को भी गहरे प्रभावित किया है। मलखान सिंह की रचनाधर्मिता पर विचार करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार एवं आलोचक डॉ॰ ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है – "मलखान सिंह की कविताओं को पढ़ते हुए जो प्रभाव पैदा होता है, वह वैचारिक धरातल पर एक जनवादी विचार का प्रभाव है, जहाँ सामन्ती और ब्राह्मणवादी, पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध कवि का आक्रोश साफ दिखाई पड़ता है।" कवि की इन पंक्तियों में महाजनी और सामन्ती भय की अभिव्यक्ति ध्यान आकर्षित करती है –

लगता है कि अभी बस अभी
ठकुरासी की मेड़ चीखेगी
मैं अधशौच ही
खेत से उठ जाऊँगा
कि अभी बस अभी
हवेली घुड़केगी
मैं बेगार में पकड़ा जाऊँगा।

प्रख्यात साहित्यकार एवं आलोचक डॉ॰ कँवल भारती कहते हैं – "मलखान सिंह का कविता-संग्रह 'सुनो ब्राह्मण !' 1996 में प्रकाशित हुआ और जयप्रकाश कर्दम का कविता-संग्रह 'गूंगा नहीं था मैं' 1997 में प्रकाशित हुआ। इसी समय ओमप्रकाश वाल्मीकि का कविता-संग्रह 'बस्स बहुत हो चुका' भी प्रकाशित हुआ। इन तीनों कविता-संकलनों की विशेषता यह है कि इनमें दलित कविता के संघर्ष के साथ-साथ उनके कवियों का आत्मसंघर्ष भी अभिव्यक्त हुआ है।" (– 'सुनो ब्राह्मण !', रश्मि प्रकाशन 2018, पृष्ठ 15) कँवल भारती लिखते हैं – "उनकी हर कविता ब्राह्मण को सम्बोधित की गई है। कवि ने बहुत सोच-समझ कर संकलन का नाम 'सुनो ब्राह्मण !' रखा है। ..... ब्राह्मण और सामन्त का गठजोड़ है। ब्राह्मण से सामन्तवाद है और सामन्त से ब्राह्मणवाद है। मलखान सिंह ने इस मर्म को गहराई से समझा है और इन समाजवादियों को आईना दिखाया है।" (वही, पृष्ठ 16) मलखान सिंह जी के रचना वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए भारती जी लिखते हैं – "गाँव की सामन्तवादी अलोकतान्त्रिक व्यवस्था से दलित कविता का संघर्ष हमें पहली दफा 'सुनो ब्राह्मण !' में दिखाई देता है। मलखान सिंह 'सुनो ब्राह्मण !' संकलन की अपनी पहली कविता 'मैं आदमी नहीं हूँ' से अन्तिम कविता 'सुनो ब्राह्मण !' तक में पाठकों को दलितों के उसी गाँव से रू-ब-रू कराते हैं, जिसे डॉ॰ अम्बेडकर ने 'घेटो' की संज्ञा दी थी। मलखान सिंह इस दौर के पहले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने 'आम आदमी' और 'दलित' के बीच फर्क को उभारा और 'आम आदमी' के नाम पर लिखी जा रही, समकालीन जनवादी कविता को जबरदस्त चुनौती दी।" नागार्जुन जैसे मार्क्सवादी जनकवि में हमें दलित पीड़ा की वह अनुभूति नहीं मिलती, जो मलखान सिंह की इस कविता में मिलती है –

मैं आदमी नहीं हूँ
जानवर हूँ
दोपाया जानवर
जिसकी पीठ नंगी है
कंधो पर मैला है
गट्ठर है
मवेशी का ठट्ठर है
खाने को जूठन है
पोखर का पानी है
फूस का बिछौना है
चेहरे पर मरघट का रोना है।

(– 'सुनो ब्राह्मण !', रश्मि प्रकाशन, पृष्ठ 17)

कवि मलखान सिंह की रचनाशीलता के विविध पक्षों का आकलन करते हुए डॉ॰ बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं – "मलखान सिंह घनीभूत दलित सम्वेदना के कवि हैं। यह सम्वेदना चार स्तरों से होकर निर्मित हुई है। पहले स्तर पर दलित यातना का तीव्र बोध है। यातना वैयक्तिक नहीं, सामुदायिक है। सदियों से दलित समुदाय पर जो अत्याचार होते रहे हैं, वह सामूहिक स्मृतिकोश में मौजूद है। यातना के इस पुंजीभूत रूप को मलखान सिंह ने अपनी रचना की पूँजी बनाया है। दूसरे स्तर पर मलखान सिंह ने उन कारणों की पहचान की है, जो इस यातना के

जिम्मेदार रहे हैं। तीसरे स्तर पर उत्पीड़नकारी ब्राह्मण केन्द्रित समाज व्यवस्था का सम्पूर्णतः नकार है। चौथे स्तर पर उनका भास्वर आक्रोश व्यक्त है। यह आक्रोश उन ताकतों के बर खिलाफ है, जो दमन का सिलसिला टूटने नहीं देती और समतामूलक समाज बनाने की हर कोशिश को नाकाम करने में जुटी रहती है। असल में, मनुवादी समाज व्यवस्था के प्रति मलखान सिंह का गुस्सा इतना प्रबल है कि सावधान पाठकों को भी कई बार उनकी रचनाशीलता के अन्य पक्ष नहीं दिखते, सिर्फ आक्रोश का ज्वार उमड़ता नजर आता है। उनकी कविता में आक्रोश निश्चित ही केन्द्रीय तत्त्व है। लेकिन गुस्से को आक्रोश में बदलने की जद्दोजहद कुछ ही कवियों में दिखाई पड़ती है।" (– 'सुनो ब्राह्मण !', रश्मि प्रकाशन 2018, पृष्ठ 51) 'ज्वालामुखी के मुहानें' की भूमिका में, बजरंग तिवारी लिखते हैं – "मलखान सिंह की कविताओं में व्याप्त तल्खी दायित्व-बोध से उपजी है। वे जानते हैं कि उनकी आवाज उत्पीड़ित समाज की वाणी है। उनके व्यथापूरित अनुभव निरे वैयक्तिक नहीं हैं। वे दलित समाज की संचित पूँजी हैं। (– 'ज्वालामुखी के मुहानें', पृष्ठ 7)

कवि मलखान सिंह की रचनात्मकता के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए अजय तिवारी लिखते हैं – "सच्ची कविता जीवन के वास्तविक दृश्य दिखाती है और जड़ संस्कारों को तोड़ती है। वह अनुभव की मित्रता से पैदा होती है, जो इस सीमा का अतिक्रमण करती है, वैचारिकता, सामाजिकता और ऐतिहासिकता से सम्पन्न होने का प्रयास करती है, वह यथास्थिति से असन्तोष और आक्रोश व्यक्त करके नहीं रह जाती, उस यथास्थिति को बदलकर, अपने आदर्शों की एक दुनिया प्रस्तावित करती है। इसीलिए हर सच्ची कविता अपने रचयिता की स्थितिगत विशेषताओं और सीमाओं का ही निर्देशन नहीं करती, बल्कि उन सीमाओं को तोड़ने और व्यापक भूमि पर पहुँचने का संघर्ष भी व्यक्त करती है। स्पष्टतः उसे सीमित दायरों में बाँधने का प्रयास बहुधा निरर्थक होता है। हिन्दी में मलखान सिंह ऐसे ही कवि हैं, जो व्यापक साहित्य समाज में बहुचर्चित न होते हुए भी, कविता की इस कसौटी की विश्वसनीयता प्रमाणित करते हैं।" (– 'सुनो ब्राह्मण !', रश्मि प्रकाशन, 2018, पृ. 32)

प्रसिद्ध समीक्षक-आलोचक चौथीराम यादव मलखान सिंह के 'ज्वालामुखी के मुहानें' काव्य-संकलन के परिशिष्ट में लिखते हैं – "मलखान सिंह का पहला कविता-संग्रह 'सुनो ब्राह्मण !' लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच गया था और कविता की पंक्तियाँ लोगों की जुबान पर चढ़ गई थीं। दरअसल यह कविता-संग्रह एक प्रकार से दलित साहित्य का घोषणा पत्र साबित हुआ, जिसने दलित साहित्य के सांस्कृतिक आन्दोलन को वेगवान बनाया। मलखान सिंह के पाठकों की संख्या काफी बड़ी भी है, ठोस भी। वे जितने लोकप्रिय दलित पाठकों के बीच हैं, उतने ही गैर-दलित पाठकों के बीच भी। दलित कविताओं की विकास-परम्परा में यदि किसी एक कविता को क्लासिक कविता माना जाय, तो वह है – सुनो ब्राह्मण !" (– 'ज्वालामुखी के मुहानें', पृ. 111) मलखान सिंह की कविताओं का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए चौथीराम यादव लिखते हैं – "मलखान सिंह की कविताएँ दलित विमर्श का रचनात्मक भाष्य प्रस्तुत करती हैं। इनकी विशिष्टता यह कि यहाँ विमर्श सतह पर उतराता नहीं दिखाई देता, विचारधारा दृष्टि का उन्मेष करती है।" (वही, पृष्ठ 113)

2.3.05. मलखान सिंह : व्यक्ति और विचार

हिन्दी 'आउटलुक' पत्रिका के सन् 2012 के साहित्य-सर्वेक्षण में दलित साहित्य के सबसे लोकप्रिय कवि मलखान सिंह अपने पहले कविता-संग्रह 'सुनो ब्राह्मण !' के साथ 1996 में ही दलित कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे। पाठकों की जबर्दस्त माँग के चलते प्रकाशक को एक वर्ष के बाद ही इस कविता-संग्रह का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। 'सुनो ब्राह्मण !' के द्वितीय संस्करण की भूमिका 'कवि कथन' में मलखान सिंह लिखते हैं – (i) मैं नहीं जानता कि मैं कविता क्यों लिखता हूँ। हाँ, इतना अवश्य जानता हूँ कि जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-छात, पाखण्ड-शोषण और अत्याचार का शिकार जब मैं स्वयं होता हूँ या किसी सहोदर को होते देखता हूँ, तो मेरे अन्दर कुछ उबलने लगता है, कुछ घुमड़ने लगता है जिसे मैं शब्दों में पकड़ने की कोशिश करता हूँ। (ii) मेरी कविताएँ मेरी भोगी हुई यातनाएँ हैं। इन्हें लिखते समय कभी में रोया हूँ, कभी क्रोध से पागल हो उठा हूँ। (iii) 'सुनो ब्राह्मण !' में संकलित कविताएँ पढ़ने के बाद यदि आपके अन्दर कुछ कुलबुलाने लगे, उबलने लगे, घुमड़ने लगे, टूटने लगे, पुराना या नया जुड़ने लगे, तो मैं अपने सृजन को सार्थक समझूँगा।

डॉ॰ बजरंग बिहारी तिवारी द्वारा लिए गए साक्षात्कार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मलखान सिंह के विचार हैं – "काव्य-लेखन में जल्दबाजी करने से कच्चापन रहता है। ... मधुरता कविता का स्वभाव है लेकिन उस माधुर्य के अन्दर ही इतना तीखापन है कि दूसरा व्यक्ति आत्मसात करता जाए। उसे भी लगे कि यह तो मेरी ही बात है।" स्वयं के विषय में बताते हुए मलखान सिंह कहते हैं – "कविता ही मेरी आत्मकथा है। मेरे अनुभव उसमें हैं, मेरे संघर्ष भी उसमें हैं। एक कुरूप सामाजिक व्यवस्था हर पग हमारे आड़े आती है।"

बचपन के अनुभव के सम्बन्ध में मलखान सिंह कहते हैं – "जाति के आधार पर हमेशा भेदभाव किया जाता रहा है। ईश्वर, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा, कर्मवाद का अगर आपने एक तन्तु भी पकड़ा, तो पूरी व्यवस्था आपको स्वीकार करनी पड़ेगी। इस चेन को नकारना जरूरी है। सम्पूर्णतः नकार होना चाहिए।" जातिवाद के विरोध में उनके विचार हैं – "दलित साहित्य के कन्धों पर बड़ा दायित्व है, ब्राह्मणी प्रपंच को तोड़ना। ... दूसरा दायित्व है जाति के छोटे घेरे (उपजातिवाद) को नकारना।"

भारतीय वामपंथ के विषय में मलखान सिंह कहते हैं – "जब तक सामाजिक क्रान्ति नहीं करते, आर्थिक क्रान्ति सम्भव नहीं। ... डॉ॰ अम्बेडकर वर्गविहीन समाज से पहले वर्णविहीन समाज की बात करते थे।" मलखान सिंह की स्पष्ट विचारधारा है कि – "भूमण्डलीकरण का विरोध यदि नहीं हुआ तो दलितों की प्रगति शून्य की तरफ जाएगी। भूमण्डलीकरण पूँजीवादी साम्राज्यवाद का खुला मुखौटा है। बाहर से सुन्दर, अन्दर से इतना भयंकर कि हर दलित को निगल जाएगा।" ... "जातिविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना, दलित राजनीति का लक्ष्य होना चाहिए। उसी स्थिति में हम अम्बेडकरी समाज की स्थापना कर सकते हैं।" (भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिन्तन, बजरंग बिहारी तिवारी, पृ. 187-190)

2.3.06. 'कैसा उदारवाद यह', 'छत की तलाश', 'सुनो ब्राह्मण !' – सन्दर्भ और भावार्थ

मलखान सिंह दलित परिवार में जन्मे हैं । दलित जीवन के प्रति अपमान, भेदभाव, अन्याय और अत्याचार को उन्होंने स्वयं भोगा है । अम्बेडकरवादी सामाजिक चेतना के फलस्वरूप जाग्रति के साथ, वे अपने साथ हुए अत्याचारों का विरोध करते हैं । साथ ही वर्तमान पीढ़ी को जागृति और आत्मसम्मान का सन्देश देना चाहते हैं । इन्हीं अनुभवों, विचारों से उत्पन्न अपनी भावनाओं को उन्होंने कविता रूप में सृजित किया है । उनकी अधिकांश कविताओं में शोषक समाज से सीधा संवाद है, जिसमें उनकी कड़ी भर्त्सना के साथ, अपने लिए न्याय और सम्मान के अधिकार की बात कही है । उनकी कुछ कविताओं में उन स्थितियों का चित्रण है, जिनमें रहने के लिए दलित अछूतों को मजबूर किया जाता है । उस मजबूर स्थिति में अब वे क्रान्ति और संघर्ष का आगाज करना चाहते हैं, उन स्थितियों को खत्म करके समतावादी समाज-व्यवस्था की रचना करना चाहते हैं । इसी भावना के साथ उन्होंने 'कैसा उदारवाद यह', 'छत की तलाश' और 'सुनो ब्राह्मण !' जैसी कविताओं का सृजन किया है ।

'कैसा उदारवाद यह' कविता में वे समाज और राष्ट्र से सीधे प्रश्न करते हैं कि यह कैसा उदारवाद है और कैसा राष्ट्रवाद है, जो हमें हमारे हाल पर छोड़कर, मुफ़्तखोरों को लूट की खुली छूट दे रहा है, और अपनी तिजोरियाँ भरने का काम कर रहा है ।

यहाँ देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक – सभी क्षेत्रों में विषमतावादी उन स्थितियों की ओर संकेत है, जहाँ वर्णभेद, जातिभेद के कारण दलित अछूतों को हर क्षेत्र में पीछे रखा गया है । वे सामाजिक सम्मान, समता, स्वतन्त्रता, भाईचारा – सबसे वंचित, अधिकारहीन और अभावग्रस्त हैं । उन्हें विकास के अवसर और सुविधाओं से भी वंचित रखा गया है । आज भी षड्यन्त्रपूर्वक उनके अधिकारों का हनन किया जाता है । शिक्षा, नौकरी, अर्थोपार्जन, खनिज उद्योग, व्यापार सभी क्षेत्र में सुविधा, अवसर और अधिकारों से उन्हें वंचित किया जाता है । सारे अधिकार और उन्नति के अवसर सवर्णों के हाथों में सुरक्षित हैं । मलखान सिंह लिखते हैं–

आज !
देश की शिक्षा
देश की चिकित्सा
देश के बाजार
आकाश-पाताल
धरती की कोख तक
बस उन्हीं की सत्ता चलती है ।

(– ज्वालामुखी के मुहाने, पृष्ठ 15)

इसके साथ वे यह भी कहते हैं कि दलित अछूत हर जगह बेरोजगार हैं । नगर के चौराहों पर अपना श्रम सस्ते दामों में बेचने के लिए उनकी इतनी भीड़ है कि वहाँ पैर रखने के लिए भी जगह नहीं है । गाँव और शहरों में धन सम्पन्नता है, धन-धान्य, अनाज, फसलें सब कुछ हैं, मगर वह सब उच्च वर्णों के अधिकार में हैं । दलित

अछूतों के लिए गाँव बंजर हैं, जहाँ मेहनत करके भी उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता। उन्हें हर समय पेट की भूख से जूझना पड़ता है। वे शोषित और कुपोषित जीवन जी रहे हैं। मगर सत्ता के लोग, शासक वर्ग, मुफ्तखोरों की गर्दन की मोटाई को प्रगति का पैमाना बताकर, देश की समृद्धि को घोषित कर रहे हैं। यहाँ यह चिह्नित किया गया है कि उच्च समाज और शासक वर्ग इन शोषितों के दुःख-दर्द और उनके अभावपूर्ण जीवन को अनदेखा करते हैं, उन पर होने वाले अन्याय-अत्याचारों को भी अनदेखा करते हैं। यह मानवता के विरुद्ध है, साथ ही प्रजातन्त्र के शासन में यह कलंक की बात है।

मलखान सिंह यहाँ 'उदारवाद' पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए, समाज की विषमतावादी व्यवस्था और लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था पर प्रश्न उठा रहे हैं। इन प्रश्नों के पीछे छिपा यह आह्वान भी स्पष्ट नजर आता है कि अब यह व्यवस्था और राजसत्ता अधिक दिन नहीं चल सकेगी।

'छत की तलाश' कविता में भी कवि मलखान सिंह ने समाज में व्याप्त वर्णभेद, जातिभेद से उत्पन्न छुआछूत और भेदभाव को स्पष्ट किया है। जातिभेद के कारण दलित अछूतों को सवर्ण बस्तियों में किराये के घर भी नहीं मिल पाते हैं। न ही वे कभी अपने घर अच्छी जगह पर या अच्छे रूप में बना पाते हैं। इस व्यथा को लगभग सभी दलित साहित्यकारों ने अपने भुक्तभोगी अनुभवों के रूप में बताया है। मलखान सिंह भी लिखते हैं–

इस अपरिचित बस्ती में
घूमते हुए मेरे पाँव थक गए हैं
अफसोस ! एक भी छत
सर ढँकने को तैयार नहीं।

क्योंकि प्रत्येक हिन्दू घर का दरवाजा खुलते ही, घर का मालिक पहले जाति पूछता है। जैसे इन्सान स्वयं कुछ नहीं, सिर्फ जाति ही सब कुछ होती है। क्योंकि दलित जाति के लोगों को जानवरों से भी बदतर मानते हुए, उनके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। कवि का यह अनुभव है कि – सिर्फ हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी उन्हें मूर्तिपूजक मानकर, अपना घर रहने के लिए नहीं देते हैं। दलितों को सवर्ण बस्तियों में घर नहीं मिलते, सवर्णों के मरघटों में भी उन्हें स्थान नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में कवि के मन में विद्रोही भावना जागती है –

अब ! केवल यही सोच रहा हूँ मैं
कि सामने बंद दरवाजे पर
दस्तक नहीं, ठोकर दूँगा।
दीवारें चूल से उखाड़
जमीं पर बिछा दूँगा।

यह कवि के मन में सदियों से दबा आक्रोश है, जो अब ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ना चाहता है। वे भेदभाव की दीवारों को तोड़कर, मिटा देना चाहते हैं। वे विषमता को मिटाकर, समतावादी स्थितियों का निर्माण करना चाहते हैं –

मकान ऐसा बनाऊँगा
जहाँ हर होठ पर
बन्धुत्व का संगीत होगा
मेहनतकश हाथ में
सब तंत्र होगा
मंच होगा
बाजुओं में
दिग्विजय का जोश होगा।
विश्व का आँगन
वृहद् आँगन
हमारा घर बनेगा।
हर अपरिचित गाँव भी
अपना लगेगा।

(– ज्वालामुखी के मुहाने, पृष्ठ 92)

'सुनो ब्राह्मण !' कविता मलखान सिंह की सर्वाधिक सशक्त कविता मानी जाती है। इस कविता में मनुवादी समाज-व्यवस्था में स्थापित ब्राह्मणवाद से सीधा संवाद है। साथ ही, उन्हें चुनौती दी जा रही है कि तुम हमें तुच्छ समझते हो, हमारे जैसा जीवन जीकर देखो, तब तुम्हारी उच्चता कहाँ रहेगी ? कविता के प्रारम्भ में ही ब्राह्मणवाद को चुनौती देते हुए मलखान सिंह कहते हैं –

हमारी दासता का सफ़र
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अन्त भी
तुम्हारे अन्त के साथ होगा।

आक्रोश व्यक्त करते हुए कवि के विद्रोही तेवर देखते ही बनते हैं। ब्राह्मणवाद से ही वर्णभेद और जातिभेद का निर्माण हुआ है। इसका अन्त भी ब्राह्मणवाद के अन्त से ही सम्भव होगा। कवि इस विषमतावादी व्यवस्था को समूल नष्ट कर देना चाहता है। कवि ने सीधे और सहज रूप में अपनी बात कही है –

सुनो ब्राह्मण
हमारे पसीने से
बू आती है तुम्हें।
फिर ऐसा करो
एक दिन
अपनी जननी को
हमारी जननी के साथ
मैला कमाने भेजो।

कवि बिना किसी लाग-लपेट के दो टूक शब्दों में कहते हैं –

तुम ! मेरे साथ आओ
चमड़ा पकायेंगे
दोनों मिल बैठ कर।
मेरे बेटे के साथ।
अपने बेटे को भेजो
दिहाड़ी की खोज में।
और अपनी बिटिया को
हमारी बिटिया के साथ
भेजो कटाई करने
मुखिया के खेत में।

शाम को थक कर
पसर जाओ धरती पर
सूँघो खुद को
बेटे को
बेटी को
तभी जान पाओगे तुम
जीवन की गन्ध को,
बलवती होती है जो
देह की गन्ध से।

कवि ने अनेक उदाहरण उद्धृत कर ब्राह्मणवाद के कारण समाज में व्याप्त भेदभाव को स्पष्ट किया है। साथ ही उच्च वर्ण की उस कुटिल नीति को उजागर किया है, जिसके कारण दलितों को आगे बढ़ने नहीं दिया जाता है। कवि मलखान सिंह कहते हैं –

हम जानते हैं
हमारा सब कुछ
भौंड़ा लगता है तुम्हें।
हमारी बगल में खड़े होने पर
कद घटता है तुम्हारा
और बराबर खड़ा देख
भवें तन जाती हैं।

इसमें कवि ने ब्राह्मणवादी नीतियों की सूक्ष्म पड़ताल करते हुए, अनेक बातों को स्पष्ट किया है। ब्राह्मणवाद के अनुसार ब्राह्मण स्वयं को धरती के देव अर्थात भूदेव मानते हैं। मगर मलखान सिंह उनकी उच्चता को नकारते हुए और उनके छल-प्रपंच को धिक्कारते हुए कहते हैं कि –

सुनो भूदेव
तुम्हारा कद
उसी दिन घट गया था
जिस दिन कि तुमने
न्याय के नाम पर
जीवन को चौखटों में कस
कसाई बाड़ा बना दिया था।
और खुद को शीर्ष पर
स्थापित करने हेतु
ताले ठुकवा दिये थे
चौमंजिला जीने से।

यहाँ कवि ने स्पष्ट रूप से चातुर्वण्य व्यवस्था के निर्माण के पीछे की, स्वयं को उच्च बनाए रखने की कुटिल नीति का पर्दाफाश किया है कि किस तरह स्वर्ग-नरक, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, भूत-भभूत, मन्त्र-तन्त्र, आत्मा, प्रारब्ध आदि के प्रपंच रचकर, पूरे समाज को, पूरे देश को रेवड़ बना दिया था। जैसे भेड़ों का रेवड़ एक के पीछे बिना सोचे-समझे चल देता है। हमारे देश में यह भेड़ियाधसान ब्राह्मणवाद के कारण ही प्रचलन में है। यहाँ कवि स्पष्ट सम्बोधन के साथ कहते हैं –

सुनो वशिष्ठ !
द्रोणाचार्य तुम भी सुनो !
हम तुमसे घृणा करते हैं
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं।
मत भूलो कि अब
मेहनतकश कन्धे
तुम्हारा बोझ ढोने को
तैयार नहीं हैं
बिल्कुल तैयार नहीं हैं।

मलखान सिंह आशावादी कवि हैं। संघर्षों से पलायन की बजाय उनसे डटकर मुक़ाबला करना उनकी कविता के सकारात्मक स्वर हैं। ताल ठोककर कवि कहता है कि –

देखो !
बन्द किले से बाहर
झाँक कर तो देखो
बरफ पिघल रही है।
बछेड़े मार रहे हैं फुर्री

बैल धूप चबा रहे हैं
और एकलव्य
पुराने जंग लगे तीरों को
आग में तपा रहा है।

2.3.07. मलखान सिंह की कविताओं का वैशिष्ट्य

मलखान सिंह की कविताओं में अभावपूर्ण, अपमानित एवं संघर्षशील दलित जीवन का यथार्थ चित्र उकेरा गया है। पहली कविता 'हमारे दिन हमारी रात' में कवि ने दलितों के अभावपूर्ण जीवन का चित्रण किया है। "ठण्ड, गरमी और बरसात में वे कैसे जीते हैं, ब्राह्मण सवर्णों तुम भी ऐसा जीवन जीकर देखो।" यहाँ दलित जीवन का यथार्थ और उस स्थिति में स्वयं को रखकर विचार करने की बात है। दलितों को चमट्टे, चूहड़े जैसे अपमानसूचक सम्बोधनों से अपमानित किया जाता है। दलित जीवन की यह कड़वी सच्चाई उनकी सभी कविताओं में व्याप्त है। यहाँ अन्याय-अत्याचार के अंधड़ों का चित्रण किया गया है।

'कामरेड' कविता में कामरेड को शुतुरमुर्ग की तरह बताया है। यह स्पष्ट संकेत है कि यहाँ के दलितों की समस्याओं का निवारण मार्क्सवाद से सम्भव नहीं हो सकता है। यहाँ जन्म के साथ उच्च जाति के गौरव और निम्न जाति के अपमान और अभाव को व्यक्त किया गया है। 'महज इत्तेफाक नहीं है यह' कविता द्वारा स्पष्ट किया है कि किस तरह सवर्णों का विकास और दलितों का विनाश होता है। 'विरासत' कविता में भूख और अपमान के दर्द के साथ कवि कहता है –

अब सिर्फ
एक ही रास्ता है शेष
अपने-अपने देव को
कंधों से उतार
मरघट में फेंक कर
आजाद हो जाओ।

यहाँ जन्मवाद, ईश्वरवाद, भाग्यवाद के नाम पर दलितों को गुमराह किए जाने की सच्चाई उजागर की गई है। ब्राह्मणवाद की कूटनीति पर कवि ने जमकर प्रहार किया है। वे स्पष्ट करते हैं कि राम और कृष्ण द्वारा भी दलितों को छला गया है। अन्धविश्वास और धर्माडम्बर ने दलितों का अधिक शोषण किया है। यह एक बहुत बड़ा सत्य है। कवि ऐसी ज़िन्दगी जीने के विरुद्ध विद्रोह करता है –

ऐसी कुत्ता घसीट जिन्दगी नहीं चाहिए।
तुम्हारा सच, तुम्हारा झूठ नहीं चाहिए।
हम अपना सूरज, अपना आसमान स्वयं बनाएँगे।

मलखान सिंह की अनेक कविताओं में हिन्दू नीतियों और हिन्दू धर्म ग्रन्थों की कटु आलोचना है। शोषणपूर्ण स्थितियों को बार-बार उजागर करते हुए कवि कहते हैं – “मैं आदमी नहीं हूँ।” अपनी दुरावस्था से खिन्न हो वे स्वयं को दोपाया जानवर कहते हैं। ‘एक पूरी उम्र’ और ‘सफेद हाथी’ कविता में भी दलित शोषण को उजागर किया गया है। इन विषम स्थितियों के प्रति कवि क्रोधित हैं। वे इनमें आमूल-चूल परिवर्तन की माँग करते हैं। मलखान सिंह की कविताएँ दलित चेतना की कविताएँ हैं। इन्हीं विशिष्टताओं के अनुरूप उनका मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

2.3.08. मलखान सिंह की दलित साहित्य को देन

कवि मलखान सिंह ने अपनी कविताओं में अपनी भावनाओं का चित्रण बहुत सहज रूप में किया है। उनकी भाषा सरल और सार्थक है। दलित साहित्य के अपने सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार, उनकी कविताओं का अपना शिल्प और सौन्दर्य है। अंधड़, सफेद हाथी, ईश्वर की मौत, विषवृक्ष, ज्वालामुखी के मुहाने, सूर्योदय, फटी बन्डी जैसे अनेक नये प्रतीक कवि ने स्वयं गढ़े हैं। यहाँ भाषा का सुन्दर बिम्ब-विधान है। साथ ही, नकार के साथ तीखी-तेज भाषा है।

1996 के आसपास अनेक दलित काव्य-संग्रह छपे थे। उनमें दलित चेतना का निखार आ चुका था। कुछ दलित कवि मार्क्सवादी विचारधारा को मानते हुए भी, दलित कविताएँ लिख रहे थे। मगर मलखान सिंह की कविताओं में मार्क्सवाद की अपेक्षा अम्बेडकरवाद ही मुखर रूप में आया है। यहाँ वर्णभेद, जातिभेद का विरोध है, हिन्दू धर्म के आडम्बर और धर्मान्धता का विरोध है, देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा और मान्यताओं का विरोध है, शोषणपूर्ण परम्परावादी रूढ़ियों को तोड़ने का आह्वान है, समता, सम्मान और भाईचारे के निर्माण का दृढ़ संकल्प है, निर्भीक होकर भाग्यवाद और ईश्वरवाद का विरोध है। अम्बेडकरवाद से प्रभावित मलखान सिंह ने दलित साहित्य को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यद्यपि कवि रूप में मलखान सिंह ने बहुत ज्यादा नहीं लिखा है, साहित्य की अन्य विधाओं में भी उनका लेखन नहीं है तथापि सीमित लेखन के बावजूद एक दलित कवि के रूप में उन्हें प्रचुर प्रसिद्धि मिली है। उनकी कविताओं में सम्प्रेषण की तीव्रता पूरी समग्रता के साथ विद्यमान है, यही वैशिष्ट्य उन्हें सहृदय पाठकों में लोकप्रिय बनाता है।

2.3.09. पाठ सार

आज के उत्तर-आधुनिक युग में विमर्शों का अत्यधिक महत्त्व है, जिनमें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि का विशेष अध्ययन किया जा रहा है। मलखान सिंह की कविताएँ दलित विमर्श के अन्तर्गत अध्ययन के लिए सम्मलित की गई हैं। यहाँ केवल एक दलित साहित्यकार मलखान सिंह या सिर्फ उनकी कविताओं का अध्ययन मात्र उद्देश्य नहीं है, बल्कि उनके माध्यम से दलित अध्ययन, दलित लेखन और दलित आन्दोलन का अध्ययन करना बड़ा उद्देश्य है। इस हेतु यहाँ मलखान सिंह के समकालीन अनेक दलित कवियों और उनके लेखन का भी परिचय दिया है। उच्च अध्ययन स्तर पर पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रमों का भी

अपना महत्त्व है, क्योंकि यहाँ तक आने वाले विद्यार्थियों और शोधार्थियों के व्यक्तित्व और विचार परिपक्व होते हैं। समाज के प्रतिनिधि और देश के नागरिक होने के नाते वे अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से भी परिचित होते हैं। उच्च शिक्षा के विशेष पाठ्यक्रमों के अध्ययन को आत्मसात् करने के बाद, उनके विचार भी उस दिशा में कार्यरत होते हैं, जिससे यह शिक्षा अन्ततः समाज तक आसानी से पहुँच जाती है और समाज का मार्गदर्शन भी करती है।

दलित साहित्य में मलखान सिंह के काव्य-लेखन का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उनका लेखन हिन्दी दलित साहित्य के आरम्भिक दौर का है। भाव, विचार, शिल्प, सौन्दर्य, भाषा और अभिव्यक्ति सभी दृष्टि से उनका लेखन सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। 'सुनो ब्राह्मण !' काव्य-संग्रह के माध्यम से विषमतावादी ब्राह्मणवादी समाज संरचना पर प्रहार के साथ, समतावादी समाज संरचना का आह्वान किया गया है। ये कविताएँ वर्तमान में भी देश और काल की आवश्यकता के अनुरूप महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं।

2.3.10. बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. दलित साहित्य लेखन का आरम्भ किन स्थितियों के कारण हुआ ? इसकी पृष्ठभूमि स्पष्ट कीजिए।
2. हिन्दी दलित काव्य लेखन का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. मलखान सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व का सामान्य परिचय दीजिए।
4. दलित लेखन की विशेषताओं के अनुसार मलखान सिंह की कविताओं का मूल्यांकनकीजिए।

ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए –

(i)
कैसा उदारवाद यह
कैसा राष्ट्रवाद
जो हमें –
हमारे हाल पर छोड़
मुफ़्तखोरों को लूट की
खुली छूट दे
तिजोरियाँ खुद की भरता है।

(ii)
अब ! केवल यही सोच रहा हूँ मैं
कि सामने बंद दरवाजे पर
दस्तक नहीं, ठोकर दूँगा।
दीवालें चूल से उखाड़
जमीं पर बिछा दूँगा।

(ii) हमारी दासता का सफ़र
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अन्त भी
तुम्हारे अन्त के साथ होगा।

2.3.11. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. कवि मलखान सिंह के काव्य-संग्रह का अध्ययन और मनन कीजिए तथा अपने आसपास के परिवेश में निवास कर रहे दलित अछूतों की शोषित पीड़ित स्थिति को समझकर, मानवीय दृष्टि से उन्हें न्याय दिलाने का प्रयत्न कीजिए। अपनी गतिविधियों की दिवसवार रिपोर्ट बनाइए।
2. पाठ्यक्रम में सम्मिलित दलित कवियों से इतर दलित कवियों की रचनाओं का अध्ययन कीजिए और उन कविताओं का एक संकलन तैयार कीजिए जिन्होंने आपको गहरे प्रभावित किया हो।
3. अपने परिवेश के सन्दर्भ में भारतीय समाज में विषमता की पोषक परम्पराओं पर विचार कीजिए। इन विषमताओं की खाई को पाटने में आप किस प्रकार अपना योगदान दे सकते हैं ? व्यावहारिक स्तर पर चिन्तनपरक आलेख तैयार कीजिए।

2.3.12. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. ज्वालामुखी के मुहाने, मलखान सिंह, शब्दारम्भ प्रकाशन, दिल्ली
2. सुनो ब्राह्मण !, मलखान सिंह, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2018
3. नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, रजत रानी मीनू, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली
4. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
5. भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिन्तन, डॉ॰ बजरंग बिहारी तिवारी, शब्दारम्भ प्रकाशन, दिल्ली
6. दलित निर्वाचित कविताएँ, सम्पादक – कँवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद
7. दलित विमर्श की भूमिका, कँवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद
8. साहित्य और दलित दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, सम्पादक – सर्वेश कुमार मार्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड– 2 : काव्य

इकाई – 4 : चिड़िया जो मारी गई, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?, शम्बूक – कँवल भारती

इकाई की रूपरेखा

2.4.00. उद्देश्य कथन
2.4.01. प्रस्तावना
2.4.02. कँवल भारती का परिचय एवं उनका रचना संसार
2.4.03. दलित साहित्य एवं दलित विमर्श के प्रति कँवल भारती के विचार
2.4.04. कँवल भारती के लेखन का वैशिष्ट्य
2.4.05. कँवल भारती की दलित साहित्य को देन
2.4.06. 'चिड़िया जो मारी गई', 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?', 'शम्बूक' – सन्दर्भ और भावार्थ
2.4.07. पाठ सार
2.4.08. बोध प्रश्न
2.4.09. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
2.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.4.00. उद्देश्य कथन

उत्तर-आधुनिक युग नये सामाजिक विमर्शों का युग है। वर्तमान समय में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श पर बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार-मंथन किया जा रहा है। दलित विमर्शमूलक कविताओं के मूल मंतव्य को समझने के लिए दलित साहित्य की अवधारणा, उसकी वैचारिकी तथा दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता को समझना भी आवश्यक है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ण और जाति व्यवस्था है जो कि पूर्णतः विषमता पर आधारित है। जातिवादी विषमता के कारण निम्न और अछूत घोषित की गई जातियों के साथ सदियों से अन्याय, अत्याचार, भेदभाव और अपमान का व्यवहार होता रहा है। सामाजिक समता की स्थापना हेतु इस अनाचार के विरुद्ध पूरे देश में अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप दलित, अछूत और पिछड़े वर्ग में जागृति आई है। अब वे अपनी पीड़ा को साहित्य के माध्यम से समाज के सामने ला रहे हैं। अम्बेडकरवादी सामाजिक चेतना से पूर्ण इस साहित्य को दलित साहित्य का नाम दिया गया है।

साहित्य-लेखन का उद्देश्य समाज का उचित मार्गदर्शन है। मनुवाद, ब्राह्मणवाद की संकीर्ण भावना को सामाजिक व्यवहार में रखना अनुचित है। आज दलित साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया जा रहा है क्योंकि यह तर्क पर आधारित है। यह धर्म-ग्रन्थों में वर्णित शम्बूक सदृश निरीह दलित अछूतों पर अन्याय करने का परम्परा का विरोध करता है। यह धर्मनिष्ठा पर नये प्रश्न उठाकर समाज को सोचने पर विवश करता है कि सत्य क्या है ! उचित क्या है !

कँवल भारती हिन्दी दलित साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। दलित विमर्श के अन्तर्गत कँवल भारती का लेखन विशेष रूप से चर्चा एवं विश्लेषण का विषय है। उनकी कविताएँ युवा पीढ़ी में चेतना का स्फुरण करती हैं। कवि का आग्रह है कि सामाजिक विषमता की परम्परा समाप्त होकर अब समतावादी समाज रचना का निर्माण होना चाहिए; सबको मानवाधिकार प्राप्त होना चाहिए; किसी के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय, शोषण, अपमान और भेदभाव नहीं होना चाहिए; सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक, राजनैतिक और नैतिक सभी क्षेत्रों में सबको समता, सम्मान, सुविधा और प्रगति के अवसर मिलने चाहिए।

2.4.01. प्रस्तावना

दलित साहित्य का लेखन दलित साहित्यकारों द्वारा दलित अछूतों के लिए दलित अछूतों के हितार्थ किया जा रहा है। 1911 की जनगणना में अछूतों की पहचान करने के लिए अलग मानदण्ड बनाए गए थे। डॉ॰ अम्बेडकर ने अपने एक लेख 'अछूत और उनकी संख्या' में इन मानदण्डों का उल्लेख इस प्रकार किया है –

(i) जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं मानते।
(ii) किसी ब्राह्मण या अन्य मान्यता प्राप्त हिन्दू से गुरुदीक्षा नहीं लेते।
(iii) जो वेदों की सत्ता को नहीं मानते।
(iv) जो हिन्दू देवी-देवता की पूजा नहीं करते।
(v) ब्राह्मण जिनकी यजमानी नहीं करते।
(vi) जो ब्राह्मण को पुरोहित नहीं बनाते।
(vii) जो हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते।
(viii) जिनको छूने से छूत लगती है।
(ix) जो गोमांस खाते हैं और गाय की पूजा नहीं करते।

उपर्युक्त मानदण्डों के आधार पर दलितों को हिन्दू वर्ग से अलग माना गया था। अम्बेडकरवादी दलित जातियाँ अभी भी इन मानदण्डों को मानती हैं। डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म त्याग कर बौद्ध धर्म अपनाया था तब उनके साथ लाखों दलितों ने भी बौद्धधर्म अपनाते समय 22 प्रतिज्ञाएँ की थीं, जिनका सारांश यही है कि वे अब हिन्दू धर्म की किसी भी परम्परा का पालन नहीं करेंगे।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि दलित कौन हैं, दलित आन्दोलन क्या है और दलित साहित्य क्यों लिखा जा रहा है। दलित शब्द का अर्थ है दबाया हुआ। सामाजिक दृष्टि से दलित वे लोग हैं, जिन्हें निम्न अछूत माना गया है। पूरे देश में इनकी पहचान अलग-अलग निम्न जाति के रूप में है। डॉ॰ अम्बेडकर ने इन्हें 'छितरे हुए लोग' कहा है। अस्पृश्यता के आधार पर इन निम्न अछूत जाति समूहों को सरकारी स्तर पर 'अनुसूचित जाति' के अन्तर्गत रखा गया है। डॉ॰ अम्बेडकर ने इन्हीं अछूत जातियों के लिए साईमन कमीशन को दी गई रिपोर्ट में 'डिप्रेस्ड कास्ट' और क्लास शब्द का प्रयोग किया है। इसे ही दलित जाति और दलित वर्ग माना गया है। डॉ॰

भीमराव अम्बेडकर ने 1920 में और इसके बाद के अपने भाषणों में निम्न अछूत जातियों के लिए हिन्दी और मराठी भाषा में दलित शब्द का ही प्रयोग किया है। अछूत जातियों की जागृति और विकास के लिए चलाए गए सभी आन्दोलनों को दलित आन्दोलन कहा गया है। दलित आन्दोलन से जाग्रत होकर, दलित अपने अनुभवों के आधार पर अपना साहित्य स्वयं लिखने लगे हैं। एक व्यक्ति के अनुभवों को समाज के सामने आने से दूसरे दलित पीड़ित भी अपनी स्थिति समझने लगे हैं। इस तरह वे भी दलित आन्दोलन से जुड़कर अपनी मुक्ति के लिए समता, एकता, स्वतन्त्रता और भाईचारा का व्यवहार प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। दलित आन्दोलन दलित मुक्ति का आन्दोलन है और दलित साहित्य लेखन दलित आन्दोलन की सफलता के लिए ही लिखा जा रहा है।

दलित साहित्यकारों में कँवल भारती का विशिष्ट स्थान है। कँवल भारती के समकालीन कवियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ॰ श्याम सिंह शशि', डॉ॰ धर्मवीर, डॉ॰ सुखवीर सिंह, राजपाल सिंह राज, डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर, रामदास 'निमेष', कर्मशील भारती, लक्ष्मीनारायण सुधाकर, मंसाराम विद्रोही, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश लीलवान, डॉ॰ कुसुम वियोगी, डॉ॰ श्योराज सिंह बेचैन, डॉ॰ जयप्रकाश कर्दम, सूरजपाल चौहान, शेखर पवार आदि तथा समकालीन दलित कवयित्रियों में रजनी तिलक, कुसुम मेघवाल, डॉ॰ सुशीला टाकभौरे आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी साहित्यकारों का लेखन अम्बेडकरवादी विचारधारा के अनुरूप है।

2.4.02. कँवल भारती का परिचय एवं उनका रचना संसार

उत्तरप्रदेश के रामपुर शहर में एक दलित परिवार में जन्मे कँवल भारती जी का बचपन अभावपूर्ण स्थितियों में बीता। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सरकारी मदरसे में हुई। रामपुर से हाईस्कूल तथा इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद 1974 में उन्होंने रोहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली से एम.ए. हिन्दी की डिग्री प्राप्त की।

बचपन से ही उन्होंने छुआछूत के अपमान और भेदभाव के दंश सहे थे। पढ़ाई के प्रति जिज्ञासु और सतत प्रयत्नशील होने के कारण वे शिक्षा के सोपान चढ़ते हुए लगातार आगे बढ़ते रहे। शिक्षा पाने के साथ-साथ वे सामाजिक कार्यक्रमों और जनजागृति के कार्यों में भी अपनी सक्रिय भूमिका निभाते थे। अछूत, वंचित, पिछड़े वर्ग के साथ होने वाले अन्याय, अत्याचार, शोषण और अपमान को उन्होंने नजदीक से देखा-समझा था। समाज में समता, एकता और भाईचारा लाने के लिए वे 1970 के दशक से ही प्रयत्नशील रहे। उत्तरप्रदेश के रामपुर में अम्बेडकरवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार 1970 के दशक से ही होने लगा था। विद्यार्थी जीवन से ही कँवल भारती भी इस विचारधारा से जुड़कर साप्ताहिक बैठकों में भाग लेते थे और रामपुर शहर में होने वाले अम्बेडकरवादी कार्यक्रमों में सक्रिय रहते थे। उन्हीं दिनों दलित बहुजनों के लिए एक 'चलता-फिरता पुस्तकालय' की योजना बनाई गई थी। अम्बेडकरवादी पुस्तकों के इस पुस्तकालय से जुड़कर कँवल भारती ने अम्बेडकरवादी पुस्तकों का गहन अध्ययन किया। अम्बेडकरवादी साहित्य के साथ उन्होंने बौद्ध साहित्य का भी अध्ययन किया। इससे उनके विचारधारा स्पष्ट होती चली गई।

कँवल भारती डॉ० अम्बेडकर छात्रावास तथा राजकीय अनूसचित जाति छात्रावास में छात्रावास अधीक्षक के पद पर कार्यरत रहे। दलित विद्यार्थियों के सम्पर्क में रहते हुए उन्होंने गाँव-देहात के दलितों की समस्याओं को, उनके जीवन की व्यथा और अभावों को, सामन्ती सवर्णों द्वारा दलितों विद्यार्थियों के साथ किए जा रहे दुर्व्यवहार को, उच्चवर्ग द्वारा दलितों और गरीब पिछड़े वर्ग के किसानों के आर्थिक, सामाजिक शोषण जैसी दुरावस्थाओं को बहुत क्षोभ से देखा। कँवल भारती ने उपेक्षितों का मनोबल बढ़ाने के अनेक सकारात्मक प्रयास किये। दलित नेताओं के सम्मान में 'सम्मान समारोह' और 'विचारगोष्ठी' जैसे कार्यक्रम रखे गए जिससे स्थानीय क्षेत्र के दलितों को भी जोड़ा गया और उनमें निर्भयता और आत्मविश्वास का निर्माण किया गया। विद्यार्थियों के लिए सामाजिक विषयों पर विचार-विमर्श के कार्यक्रम रखे गए जिससे उनमें सामाजिक जागृति और गतिशीलता की प्रवृत्ति विकसित हुई। 1990 के दशक में कँवल भारती ने विद्यार्थियों के साथ दलित समुदायों को भी सामाजिक जागृति के कार्यक्रमों से जोड़ने के प्रयत्न किए। सवर्ण सामन्तियों का दलितों के प्रति दुर्व्यवहार देख उनके मन में विद्रोही विचार विकसित होने लगे थे जो उनके सामाजिक उद्‌बोधनों, कविताओं, वैचारिक और आलोचनात्मक समीक्षात्मक लेखन में अभिव्यक्त हुए हैं। कँवल भारती ने अनेक ग्रन्थों का लेखन एवं सम्पादन किया है। अब तक उनकी 40 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी चर्चित प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं – धम्मविजय (1981), डॉ० आंबेडकर की कविताएँ (अनुवाद) (1996), तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ? (1996), कांशीराम के दो चेहरे (1996), लोकतंत्र में भागीदारी के सवाल (1997), डॉ० अंबेडकर : एक पुनर्मूल्यांकन (1997), संत रैदास : एक विश्लेषण (2000), दलित धर्म की अवधारणा और बौद्धधर्म (2002), दलित विमर्श की भूमिका (2002), मायावती और दलित आन्दोलन (2004), दलित चिन्तन में इस्लाम (2004), दलित साहित्य की अवधारणा (2006), जाति, धर्म और राष्ट्र (2005), हिंदी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य (2006), राहुल सांकृत्यायन और डॉ० अम्बेडकर (2007), दलित साहित्य और विमर्श के आलोचक (2009), समाज, राजनीति और जनतंत्र (2009), आजीवक परम्परा और कबीर (2010), चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु : रचना संचयन (2011), स्वामी अछूतानन्द संचयिता (2011), स्वामी अछूतानन्द और हिंदी नवजागरण (2011), दलित कविता का संघर्ष (2011), त्रेता विमर्श और दलित चिन्तन (2012), माझी जनता : दलित पत्रकारिता और विमर्श (2012), कबीर का ज्ञानोदय (2012)।

अपने उल्लेखनीय सामाजिक एवं साहित्यिक योगदान के लिए कँवल भारती जी को डॉ० अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार 1996 एवं भीम रत्न अवार्ड 2001 से सम्मानित किया गया है।

2.4.03. दलित साहित्य एवं दलित विमर्श के प्रति कँवल भारती के विचार

अपनी चर्चित सम्पादित पुस्तक 'दलित निर्वाचित कविताएँ' की भूमिका में कँवल भारती लिखते हैं – "अम्बेडकर के आन्दोलन ने दलित कविता को नयी ऊर्जा और नयी तेजस्विता प्रदान की थी। दलित कविता का नया चरण नयी भूमिका के साथ शुरू हुआ। इस चरण की दलित कविता गाँधी और उनके हरिजन के विरोध में खड़ी हुई। उसने हरिजन शब्द का विरोध किया और गाँधीवाद से विद्रोह।" (पृष्ठ 17)

दलित काव्य का मूल प्रतिपाद्य स्पष्ट करते हुए कँवल भारती लिखते हैं – "दलित कविता सिर्फ इसलिए दलित कविता नहीं है कि वह दलित जीवन से जुड़ी है, बल्कि इसलिए भी दलित कविता है कि उसने शोषण करने वाली व्यवस्था को बेनकाब किया है। वह न सिर्फ राजसत्ता से बल्कि धर्मसत्ता से भी टक्कर लेती है। दलित स्वभावतः क्रान्ति चाहता है अन्यथा वह धर्मान्तरण नहीं करता।" (पृष्ठ 23)

बजरंग बिहारी तिवारी द्वारा सम्पादित साक्षात्कार आधारित पुस्तक 'भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिन्तन' में कँवल भारती कहते हैं – "मेरी दृष्टि से हिन्दी लेखन का वर्तमान परिदृश्य हमारे संघर्ष का मूर्तरूप है। हम दलित लेखकों का ज्यादातर समय और ऊर्जा दलित साहित्य के आलोचकों को जवाब देने में ही खर्च हो गई। इतने हमले हुए, इतनी उपेक्षाएँ हुईं और इतने अपमानजनक तरीके से हमें रोका गया कि किसी लेखन को इतना सब नहीं झेलना पड़ा होगा। यह तो हमारी दृढ़ता थी, संघर्ष की सही दिशा थी और कुछ प्रगतिशील मित्रों का सहयोग था कि हमें सफलता मिली, एक पहचान दलित साहित्य को मिली और हमारे लेखन और विमर्श ने हिन्दी में अपना स्थान बनाया। वरना हिन्दी के नामवर द्विज लेखकों ने तो हमें खतम करने की कोई कसर नहीं छोड़ी थी। ... हिन्दी साहित्य में दलित समाज की अनुपस्थिति का आईना दलित लेखन ने ही हिन्दी समाज को दिखाया है। यह परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।" (पृष्ठ 200)

2.4.04. कँवल भारती के लेखन का वैशिष्ट्य

मैट्रिक के बाद से ही कँवल भारती सामाजिक जागृति के कार्यों से जुड़कर सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेने लगे थे। अम्बेडकरवादी साहित्य पढ़ने के बाद वे अम्बेडकरवादी विचारधारा के अनुयायी बनकर दलित आन्दोलन के कार्यकर्त्ता बन गए। उनका साहित्य-लेखन और वैचारिक लेखन इसी विचारधारा पर आधारित है। कँवल भारती की कविताओं में दलित चेतना और सामाजिक चेतना मुखर रूप में दिखाई देती है। दलित चेतना का मूल आधार है, अम्बेडकरवादी चेतना। इस चेतना के आधार पर वर्णभेद, जातिभेद, धर्मान्धता, देववाद, जन्म-जन्मान्तरवाद, आत्मा-परमात्मा, पौराणिक कथाओं, ब्राह्मणवादी, सामन्तवादी, विषमतावादी समाज-व्यवस्था सभी का खण्डन किया गया है। दलित कविता दलित समुदाय को साहस जागृति और सबलता का सन्देश देते हुए समतावादी समाज व्यवस्था की बात करती है।

'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?' काव्य-संग्रह की भूमिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने कँवल भारती की कविताओं के विषय में लिखा है – "कँवल भारती दलित साहित्य के चर्चित हस्ताक्षर हैं। उनके इस संग्रह की कविताएँ आत्मविश्लेषण और अपनी निजता से प्रस्फुटित हुई हैं। उनकी कविता की प्रकृति कभी सहज और सरल है, तो कभी तेज तर्रार मुखरता लिए हुए।" (पृष्ठ 13)

दलित कविता में ऐतिहासिक परम्परा के रूप में चली आई दलित शोषण की परम्परा का उदाहरण देते हुए ऐतिहासिक दलित पात्रों यथा – शम्बूक, एकलव्य आदि के माध्यम से इस परम्परा को खण्डित करने की बात कही गई है। 'शम्बूक' कविता में कँवल भारती कहते हैं –

शम्बूक (हम जानते हैं)
तुम उलटे होकर तपस्या नहीं कर रहे थे
जैसा कि वाल्मीकि ने लिखा है
तुम्हारी तपस्या एक आन्दोलन थी
जो व्यवस्था को उलट रही थी।

(पृष्ठ 39-40)

'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?' काव्य-संग्रह में 'निवेदन' स्वरूप मनोगत में कँवल भारती लिखते हैं – "दलित साहित्य के अपने मापदण्ड हैं। दलित रचनाकारों को अपने मानदण्ड पर भारत के इतिहास धर्म और सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा को जाँचने-परखने का पूरा हक है। दलित कविताएँ सदियों के संताप की अभिव्यक्ति हैं इसलिए उन्हें इसी पृष्ठभूमि में देखने की आवश्यकता है।" (पृष्ठ 18)

कँवल भारती अपनी कविता 'चौदह अप्रैल' में डॉ० भीमराव अम्बेडकर को 'अँधेरे में उदित प्रकाशपुंज' के रूप में बताते हुए उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के महत्त्व को बताते हैं। 'अतीत' कविता में कँवल भारती दलितों की सांस्कृतिक परम्पराओं में बौद्ध धर्म का प्रभाव बताते हुए कहते हैं कि – "दलित पहले के नागवंशी हैं जो बौद्ध धर्म को मानते थे।" 'दलित नारी' कविता में वे शोषित-पीड़ित नारी की बेबसी अपमान और उसके संत्रास की व्यथा बताते हुए आधुनिक युग के मुख्यधारा के नारीवाद की आलोचना करतेहैं। 'बिहार के दलित' कविता में उन्होंने शोषण के विरुद्ध दलितों की बगावत और विद्रोह को दर्शाया है। तीखी भाषा में निर्भय होकर कही गई सटीक बातें कँवल भारती की कविताओं का मूल स्वर है। दलित साहित्य में शिल्प और सौन्दर्यवादी माध्यमों को आवश्यक नहीं माना जाता। अपने अनुभवों की प्रामाणिकता और अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध आक्रोश और विद्रोह की अभिव्यक्ति के प्रभाव को दलित साहित्य का सौन्दर्य कहा जाता है। कँवल भारती का साहित्य इस विशिष्टता से परिपूर्ण है।

2.4.05. कँवल भारती की दलित साहित्य को देन

दलित आन्दोलन और दलित चिन्तन के प्रति कँवल भारती के विचार बहुत ही सुलझे हुए हैं। 2002 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'दलित विमर्श की भूमिका' में वे लिखते हैं – "दलित विमर्श सिर्फ किसी एक जाति का विमर्श नहीं है। ... दलित विमर्श के केन्द्र में दलित समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में है। इसके केन्द्र में दलित मुक्ति का प्रश्न है। करोड़ों लोगों के लिए अलगाववाद का जो समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र ब्राह्मणों ने निर्मित किया, उसने राष्ट्रीयता को खण्डित किया था और उसी के कारण भारत अपनी स्वाधीनता खो बैठा था।" (दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ 17)

यह कँवल भारती की राष्ट्रीय भावना है जिसे वे राष्ट्र के हित में पूरे समाज के सामने व्यक्त करके राष्ट्र को लाभ पहुँचाने के लिए समता, एकता, भाईचारे के निर्माण में क्रियाशील दलित विमर्श की बात करते हैं। कँवल भारती का रचना-संसार बहुत विषद् है। गहन अध्ययन, चिन्तन और मननपूर्वक उन्होंने मौलिक वैचारिक लेखन

किया है जिसका लाभ पूरे समाज को मिला है। सामाजिक जागरण के लिए उन्होंने नये लेखकों का विचार मंच तैयार किया है। दलित साहित्य का अर्थ केवल कविता कहानी नहीं बल्कि शोधपूर्ण वैचारिक लेखन भी है। 1997 में प्रकाशित कँवल भारती की पुस्तक 'लोकतंत्र में भागीदारी के सवाल' में छब्बीस लेख संकलित हैं जो सवर्णों की राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति आदि विषयों को रेखांकित करते हैं। मंडल आयोग, मनुस्मृति के आधार पर किए गए फैसले, दलित राष्ट्रपति की विडम्बनाएँ, पिछड़ों के खिलाफ मन्दिर की राजनीति, मुस्लिम समाज के मजलूम, आरक्षण, क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के बीच दलित मुक्ति के प्रश्न, लोकतन्त्र में वंचित जातियाँ, उत्तराखण्ड में आन्दोलन, भारतीय दलित ईसाइयों की भागीदारी के प्रश्न, महिलाओं की राजनीति में भागीदारी, बहेलियों के पुनर्वास के सवाल जैसे विषयों पर अपने आलेखों के माध्यम से कँवल भारती ने अनेक सवाल खड़े किए हैं।

1997 में प्रकाशित पुस्तक 'डॉ॰ अम्बेडकर : एक पुनर्मूल्यांकन' में संकलित इक्कीस वैचारिक लेखों में भी उन्होंने तर्क-वितर्क के साथ अनेक प्रश्न उठाए हैं। साथ ही, अनेक समस्याओं के समाधान भी सुझाए हैं। वे डॉ॰ अम्बेडकर और उनकी विचारधारा के प्रति अन्ध-भक्ति नहीं रखते बल्कि उनके औचित्य को समझ कर ही उसे स्वीकार करने की बात कहते हैं। कँवल भारती लिखित डॉ॰ अम्बेडकर और स्वतन्त्रता संग्राम, डॉ॰ अम्बेडकर और भारतीय संविधान, पूना पैक्ट, राजभाषा, ग्राम पंचायत, मन्दिर आन्दोलन, श्रमिकों की समस्याएँ, डॉ॰ अम्बेडकर की राजनैतिक सोच, डॉ॰ अम्बेडकर का आर्थिक दर्शन, उनकी पत्रकारिता, बौद्ध धर्म, धार्मिक चिन्तन, गाँधी-अम्बेडकर द्वन्द्व की प्रासंगिकता जैसे प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण विषयों पर तार्किक और चिन्तनपरक आलेख दलित साहित्य की थाती हैं।

1996 में प्रकाशित पुस्तक 'मनुस्मृति अथवा प्रतिक्रान्ति का धर्मशास्त्र' में उन्होंने मनुस्मृति का अम्बेडकरवादी विचारधारा और दलित चिन्तन के आधार पर विश्लेषण किया है। हिन्दुत्ववादी और ब्राह्मणवादी धार्मिक प्रपंचों को समझने में यह पुस्तक उपयोगी है। दलित चिन्तक कँवल भारती-कृत समीक्षात्मक पुस्तक 'त्रेता विमर्श और दलित चिन्तन' के सत्रह अध्यायों में त्रेता की सांस्कृतिक हिंसा, साम्राज्यवाद के चार चरण, ब्राह्मण वर्चस्व का अंधा युग, पातिव्रत धर्म की कसौटी, कैकेयी का पुनर्पाठ आदि अनेक विषयों पर विचार व्यक्त किए गए हैं। 1996 में प्रकाशित पुस्तक 'डॉ॰ अम्बेडकर की कविताएँ' में उन्होंने डॉ॰ अम्बेडकर के चिन्तन का काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक अपने आप में विशिष्ट है। 2011 में प्रकाशित उनका ग्रन्थ 'स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' और हिन्दी नवजागरण' विशेष उल्लेखनीय है। पुस्तक के पहले भाग में हिन्दी नवजागरण और दलित विषय पर चार अध्याय हैं – (i) भारत में दलित आन्दोलन (ii) उत्तर भारत में दलितों की स्थिति (iii) हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ (iv) स्वामी अछूतानन्द के समकालीन हिन्दी लेखक। पुस्तक के दूसरे भाग में स्वामी अछूतानन्द और उनके साहित्य का पाँच खण्डों में परिचय दिया गया है। पुस्तक के तीसरे भाग में 'स्वामी अछूतानन्द और प्रतिक्रान्ति' को पाँच खण्डों में विभाजित करके विश्लेषित किया है। इस पुस्तक की भूमिका 'परिचय' में लेखक ने विस्तार के साथ दलित जातियों के इतिहास और उनके आन्दोलन की पार्श्वभूमि को स्पष्ट किया है।

2.4.06. 'चिड़िया जो मारी गई', 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?', 'शम्बूक' – सन्दर्भ और भावार्थ

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक से ही हिन्दी दलित साहित्य का लेखन और प्रकाशन आरम्भ हो गया था । उस समय दलित साहित्यकार सवर्ण साहित्यकारों द्वारा लिखित मुख्यधारा के स्थापित साहित्य के प्रति अपने मन में उठे संशय के आधार पर प्रश्न उठा रहे थे । साथ ही अम्बेडकरवादी चेतना के आधार पर उसके विरुद्ध अपनी भावना, विचार और सत्य अनुभूतियों की स्थापना कर रहे थे । कँवल भारती ने भी सवर्ण साहित्यकार गोरख पाण्डे की कविता में चिड़िया के मारे जाने के बताए गए कारणों के विरुद्ध अपने विचार और नयी सम्भावनाओं की स्थापना की है । यहाँ गोरख पाण्डे एक व्यक्ति नहीं बल्कि मनुवादी ब्राह्मणवादी विचारधारा है जो दलितों का शोषण करके भी स्वयं को श्रेष्ठ और निर्दोष कहती है । कँवल भारती कहते हैं कि – गोरख पाण्डे ने कविता में चिड़िया के मारे जाने का कारण बताया है कि चिड़िया भूखी थी इसलिए गुनहगार थी इसलिए वह चिड़िया मारी गई । इसके विरुद्ध कँवल भारती चिड़िया के मारे जाने का कारण यह बताते हैं कि – चिड़िया भूख से नहीं बल्कि चिड़िया होने से पीड़ित थी, इसलिए वह मारी गयी ।

इस कविता में चिड़िया को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है । चिड़िया निर्बल असहाय, गरीब अभावग्रस्त दलित पिछड़े समाज का प्रतीक है । समाज में निम्न अछूत वर्ग के साथ सदियों से अन्याय, अत्याचार, शोषण और अपमान का व्यवहार किया जा रहा है । चूँकि गोरख पाण्डे उच्चवर्ण के सम्मानित व्यक्ति का प्रतीक है अतः वे निम्न वर्ण घोषित किए गए वर्ग की व्यथा और अपमान का अनुभव नहीं जानते हैं । भूखे अभावग्रस्त गरीब तो उच्च वर्णों में भी होते हैं मगर जो अपमान और अन्याय की पीड़ा दलित वर्ग को भोगनी पड़ती है उसका अनुभव वही लोग जानते हैं । उच्चवर्णी गोरख पाण्डे जन्म से ही पूज्य हैं । वे यह नहीं जानते है कि अपमान की पीड़ा भूख की पीड़ा से भी बड़ी और अधिक कष्टदायक होती है । चिड़िया के मारे जाने का कारण भूख नहीं है बल्कि उसका सामाजिक अपमान है ।

'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?' कविता के माध्यम से कवि ने वेद, धर्मसूत्र और स्मृति ग्रन्थों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था की विषमता का विरोध करते हुए उच्चवर्णी लोगों से सीधे-सीधे प्रश्न किया है कि इन वेद, धर्मसूत्र और स्मृति ग्रन्थों में शूद्र-अछूतों के लिए निर्धारित नियम और उपेक्षा-अपमानजन्य व्यवहार यदि उच्चवर्णों के लिए निर्धारित होते तब इन वेद, धर्मसूत्र और स्मृति ग्रन्थों के प्रति उनकी निष्ठा क्या होती ? यदि वेदों में यह लिखा होता कि ब्रह्मा के पैरों से शूद्र नहीं बल्कि ब्राह्मण पैदा हुए हैं, ब्राह्मणों को उपनयन का अधिकार नहीं है, तब ये उच्चवर्णी क्या करते ? क्या तब भी इस विषमतावादी वर्णाश्रम व्यवस्था और धर्म के प्रति उनकी निष्ठा वैसी ही होती जैसी अभी है ? कवि ने धर्मसूत्रों और स्मृति ग्रन्थों में शूद्रों के मानवाधिकार, समानता के अधिकार के विरुद्ध निश्चित किए गए असमानता के नियमों और उनकी अधिकारहीनता की नियमबद्धता की कटु आलोचना करते हुए इस स्थिति में उच्च वर्णों के होने की कल्पना करते हुए पूछा है कि – यदि तुम्हें विद्या, धन, समता और सम्मान के अधिकार से वंचित रखा जाता, जब तुम इन्हें पाने का प्रयत्न करते तब तुम्हें कठोर दण्ड दिया जाता । उन स्थितियों में इस विषमतावादी धर्म और इन धर्मग्रन्थों के प्रति तुम्हारी निष्ठा क्या होती ? क्या तुम इनका समर्थन करते ?

मनुस्मृति में चाण्डाल अछूत जाति के प्रति छुआछूतअपवित्रता के आधार पर कठोर नियम बनाए गए हैं। गाँव के बाहर निवास, जूठन और उतरन पर निर्वाह, अवसर-बेअवसर दिखना भी पाप, छाया भी छू जाए तो अपवित्र कर देने का दिखावा, वेद-मन्त्र सुनने पर कानों में पिघलता शीशा डालने का दण्ड-विधान, किसी ब्राह्मण का नाम लेने या अपशब्द कहने पर जिह्वा काट देने का दण्ड-विधान, पैतृक रोजगार के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी गंदगी साफ करने, मरे जानवर उठाने के काम करना, सवर्णों से अलग मार्ग होना, अलग कुँआ, श्मशान भी अलग, थूक के लिए गले में मटकी लटकाकर रखना, पैरों के निशान मिटाने के लिए कमर में झाड़ू बाँधकर चलना जैसे नियम न मानने पर प्रताड़ित किया जाता था। यदि ये समस्त नियम उच्च वर्णी लोगों के लिए निर्धारित होते और इन नियमों की अवहेलना पर सवर्णों के साथ भी ऐसा ही दुर्व्यवहार होता तब धर्मसूत्रों और स्मृति ग्रन्थों के प्रति उनकी निष्ठा क्या होती ?

'शम्बूक' कविता का शम्बूक रामकथा का दलित पात्र है। पौराणिक कथा के अनुसार शम्बूक नामक शूद्र व्यक्ति ने देवत्व एवं स्वर्ग प्राप्ति के लिए विन्ध्याचल के अंगभूत शैवल नामक पर्वत पर घोर तप किया। संयोग से उसी समय एक ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हो गई। ब्राह्मण राजा रामचन्द्र के द्वार पर पहुँचा। अपने पुत्र का शव उठाए विलाप करते हुए उसने राजा रामचन्द्र कहा – "मेरा बेटा अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ है। निश्चय ही इस समय कोई धर्मशास्त्र-विरुद्ध आचरण हो रहा है।" तभी नारद ने आकर बतलाया कि "सतयुग में तपस्या करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था। त्रेता युग में क्षत्रिय भी तपस्या करने लगे। द्वापर युग में वैश्य भी तपस्या करने लगे। शूद्रों का यज्ञ करना वर्जित है। निश्चय ही इस समय कोई शूद्र तपस्या कर रहा है। शूद्र धर्म त्याग कर तप करने से ही एक ब्राह्मण-पुत्र की असामयिक मृत्यु हो गई है। नारद के मुख से यह सुनकर राजा रामचन्द्र चारों दिशाओं में तपस्यारत शूद्र को खोजने लगे। शम्बूक दक्षिण में शैवल नाम के एक पर्वत पर सरोवर के किनारे उलटा लटककर तपस्या कर रहा था। शूद्र योनि में जन्म लेकर भी देवलोक प्राप्ति की इच्छा से तप करना धर्मशास्त्रों के विरुद्ध था। अतः धर्म की रक्षार्थ राजा रामचन्द्र ने निरीह और निरपराध शम्बूक का वध कर दिया तब ब्राह्मणपुत्र भी जीवित हो उठा।

कँवल भारती इस प्रचलित पौराणिक कथा के सत्य को विचार और ज्ञान की कसौटी पर परखते हैं। उनके अनुसार शम्बूक दलित चेतना का प्रतीक है। वह विषमतावादी समाज-व्यवस्था और शोषणकारी राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक है। शम्बूक के विषय में कहा गया है कि वह उलटा लटक कर तपस्या कर रहा था, यह भी प्रतीक रूप में कहा गया है। कँवल भारती कहते हैं – "यथार्थ में तुम परम्परा से चली आई व्यवस्था को उलट देने का संघर्ष कर रहे थे। तुम्हारी तपस्या, तपस्या नहीं बल्कि एक आन्दोलन थी, जो ब्राह्मणशाही व्यवस्था को पलट रही थी। जिसके विरोधस्वरूप तुम्हें मृत्युदण्ड मिला। तुम्हारी तपस्या से ब्राह्मण बालक नहीं मरा था, बल्कि पूरे ब्राह्मणवाद को खतरा हो गया था। इसलिए तुम्हारे आन्दोलन को रोकने के लिए तुम्हें मारा गया। क्योंकि तुम्हें मारते ही ब्राह्मणवाद पुनः जीवित हो उठा था।" शम्बूक कविता प्रतीकात्मक कविता है, जो ऐतिहासिक कथा के विरुद्ध दलित चेतना के सत्य को उजागर करती है।

2.4.07. पाठ सार

दलित साहित्य-लेखन दलित, शोषित, पीड़ित वर्ग की व्यथा को समाज के सामने ला रहा है। दलित साहित्यकारों की रचनाओं को पढ़ने का उद्देश्य भी यही है कि उन्होंने दलित अछूत वर्ग के जीवन की व्यथा-कथा को किस रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किया है। सहज रूप से मन की भावना को सरल-तरल रूप में अभिव्यक्त करने की साहित्यिक विधा कविता ही है। बीसवीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में दलित कविताओं का लेखन प्रचुर मात्रा में हुआ है। कँवल भारती ने अपनी कविताओं के माध्यम से सामाजिक अनीतियों-कुरीतियों को उद्घाटित करते हुए भारतीय वर्णवादी समाज की नीतियों और ऐतिहासिक रूप से चली आ रही शोषण और अन्याय की परम्परा पर तार्किक प्रश्न उपस्थित किए हैं। कँवल भारती की कविताएँ नयी पीढ़ी को विषमता की विद्रूपता को नकारते हुए समता, एकता, बन्धुत्व भाव को अपनाने और समतावादी समाज व्यवस्था में अपना योगदान देने हेतु प्रेरित करती हैं।

2.4.08. बोध प्रश्न

1. ‘चिड़िया जो मारी गई’ कविता के माध्यम से कवि कँवल भारती क्या कहना चाहते हैं ?
2. धर्मग्रन्थों में अछूतों के लिए निश्चित नियम और परम्पराओं के विरुद्ध कवि किस बात की सम्भावना व्यक्त करते हैं ?
3. ‘तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?’ कविता के माध्यम से कवि क्या सन्देश देना चाहते हैं ?
4. ‘शम्बूक’ कविता में कवि ने शम्बूक की तपस्या को एक आन्दोलन क्यों कहा है ?
5. “शम्बूक की हत्या दलित चेतना की हत्या थी।” ‘शम्बूक’ कविता के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।

2.4.09. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. पाठ्यक्रम में संकलित दलित विमर्शमूलककविताओं से इतर अन्य दलित विमर्शमूलक कविताओं का भी अध्ययन कीजिए। उन दलित विमर्शमूलक कविताओं का एक संकलन तैयार कीजिए जो शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान करती हैं।
2. भारतीय समाज व्यवस्था में व्याप्त विषमता के मूल कारणों को समझाते हुए समतामूलक समाज व्यवस्था के निर्माण के उपाय सूचीबद्ध कीजिए।
3. सद्य प्रकाशित किसी दलित काव्य-संकलन की सारगर्भित समीक्षा कीजिए।

2.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. ‘तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?’, कँवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, उत्तरप्रदेश, 1996
2. डॉ॰ अम्बेडकर की कविताएँ, कँवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, उत्तरप्रदेश, 1996
3. दलित विमर्श की भूमिका, कँवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

4. दलित निर्वाचित कविताएँ, सम्पादक – कँवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद
5. नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, रजतरानी मीनू, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली
6. स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर' और हिन्दी जागरण, कँवल भारती, 2011
7. दलित धर्म की अवधारणा और बौद्धधर्म, कँवल भारती, कदम प्रकाशन, दिल्ली, 2002
8. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
9. भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिन्तन, बजरंग बिहारी तिवारी, शब्दारम्भ प्रकाशन, दिल्ली

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 5 : कथन शालवन के अंतिम शाल का, जड़ी-बूटी पीसने की तरह, राजा ठाकुर होते थे – रामदयाल मुंडा

इकाई की रूपरेखा

2.5.0. उद्देश्य कथन
2.5.1. प्रस्तावना
2.5.2. 'कथन शालवन के अंतिम शाल का' कविता में आदिवासी संस्कृति, प्रकृति हितैषी आदिवासी
2.5.3. 'जड़ी बूटी पीसने की तरह' – प्रेम आधारित आदिवासी जीवन
2.5.4. 'राजा ठाकुर होते थे' – आदिवासी जीवन-मूल्य में कर्म के प्रति निष्ठा
2.5.5. रामदयाल मुंडा की कविता की भाषा, बिम्ब और प्रतीक
2.5.6. रामदयाल मुंडा की कविता का सौन्दर्य-बोध
2.5.7. बोध प्रश्न
2.5.8. कठिन शब्दावली
2.5.9. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.5.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई प्रसिद्ध साहित्यकार रामदयाल मुंडा की कविताओं पर आधारित है। जंगल और वनस्पति की लुप्त होती प्रजातियों के प्रति चिन्तित कवि रामदयाल मुंडा की कविताओं में आदिवासी संस्कृति, दर्शन और जीवन-मूल्यों का यथार्थ चित्रण हुआ है। प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के बाद आप –

i. आदिवासी संस्कृति और प्रकृति पर्यावरण हितैषी आदिवासियों के बारे जान सकेंगे।
ii. आदिवासी जीवन-मूल्य, जिसमें श्रम को प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसके प्रति अपनी समझ विकसित कर सकेंगे।
iii. रामदयाल मुंडा की काव्य के माध्यम से आदिवासी जीवन संस्कृति में प्रेम के महत्त्व को जान सकेंगे।
iv. आदिवासी कविता की भाषा और उसके सौन्दर्य को समझ सकेंगे।
v. रामदयाल मुंडा के साहित्यिक अवदान को रेखांकित कर सकेंगे।

2.5.1. प्रस्तावना

रामदयाल मुंडा की हिन्दी कविताओं का प्रथम संग्रह सन् 1980 में 'नदी और उसके सम्बन्धी और अन्य गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उनका दूसरा काव्य-संग्रह सन् 1988 में 'वापसी पुर्नमिलन और अन्य गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ था। रामदयाल मुंडा झारखण्ड के प्रभावी वक्ता, कवि, झारखण्ड आन्दोलन को बौद्धिक एवं सांस्कृतिक दिशा देने वाले व्यक्तियों में अग्रणी पंक्ति के सांस्कृतिक अगुवा माने जाते हैं। उनकी प्रतिभा

बहुआयामी थी। रामदयाल मुंडा का जन्म 23 अगस्त 1939 ई. को राँची जिला के तमाड़ के देउड़ी गाँव में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा लूथरेन मिशन स्कूल अमलेसा, तमाड़, राँची 1946-53 में हुई। उन्होंने एस.एस. हाई स्कूल खूँटी, राँची से 1953-57 में माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने राँची विश्वविद्यालय, राँची से 1957-63 में बी.ए. तथा एम.ए. (मानवविज्ञान) और शिकागो विश्वविद्यालय, अमेरिका से 1963-70 में एम.ए. तथा पी-एच.डी. की डिग्री (भाषाविज्ञान) में हासिल की। रामदयाल मुंडा 1980 से 1985 तक जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा, विभाग, राँची विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष रहे। बाद में वे राँची विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा 1986 से 1988 तक राँची विश्वविद्यालय के कुलपति के पद पर भी रहे। रामदयाल मुंडा विभिन्न राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय समितियों के सदस्य भी रहे। यथा, भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण, 1988-91; झारखण्ड विषयक समिति, भारत सरकार, 1989-95; राष्ट्रीय शिक्षा नीति पुनर्निरीक्षण समिति, 1990; विशेषज्ञ समिति, राष्ट्रीय महिला आयोग, 1997-2000; प्रमुख सलाहकार, इंडियन कंफेडेरेशन ऑफ इंडीजिनस एंड ट्राइबल पीपुल्स, 2000-2001; सदस्य, सलाकार समिति अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO), 1997-2000; कार्यकारिणी समिति सदस्य, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1990-1995; आदिम जाति सेवा मण्डल, अध्यक्ष 1990-2011; छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ संरक्षक 1991-2011.

राँची विश्वविद्यालय से मानवविज्ञान में एम.ए. करने के बाद रामदयाल मुंडा अमेरिका चले गए। वहाँ उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय से भाषाविज्ञान में एम.ए. किया और भाषाविज्ञान में ही पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। 1963 से 1970 ई. के बीच दक्षिणी एशियाई भाषाओं एवं सभ्यताओं पर सहायक शोधकर्त्ता के रूप में शिकागो विश्वविद्यालय में ही शोध एवं प्रशिक्षण का कार्य किया। उन्होंने 1970 ई. से 1981 ई. तक अमेरिका के मिनेसोटा, मिनेयापोलिस विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर एवं एसोशिएट प्रोफेसर के रूप में अध्यापन का कार्य किया।

रामदयाल मुंडा द्वारा विरचित पुस्तकें निम्नलिखित हैं – मुंडारी व्याकरण, 1979; नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत, 1980; वापसी पुनर्मिलन और अन्य गीत, 1988; आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्तित्व के सवाल, 2001; आदि धरम, 2002.

उनकी चर्चित पुस्तक 'आदि धरम' में भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। जलवायु परिवर्तन से प्रभावित विश्व के वैज्ञानिकों, चिन्तकों, राजनेताओं, आमजनों एवं सरकार को मार्ग दिखाने का काम इस पुस्तक ने किया है। आदिवासियों का प्रकृति के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखने का गूढ़ रहस्य भी इसमें उपलब्ध है जो विश्व जगत को जलवायु परिवर्तन के खतरनाक संकटों से निजात दिला सकता है।

अपने उल्लेखनीय सामाजिक एवं साहित्यिक योगदान के लिए रामदयाल मुंडा को अनेक सम्मानों से सम्मानित किया गया है। 'पद्मश्री सम्मान', 31 मार्च 2010; संगीत नाटक अकादमी, भारत सरकार, 2007; कला

संस्कृति एवं युवा कार्य विभाग, झारखण्ड सरकार, सांस्कृतिक अग्रदूत 'लाइफ टाइम अचीवमेंट' 2011-12. इसके साथ ही रामदयाल मुंडा को 2010 में राज्यसभा सदस्य के लिए मनोनीत किया गया था।

रामदयाल मुंडा ने 1987 ई. में रूस में आयोजित भारत महोत्सव में झारखण्ड की कला का प्रदर्शन कर सबको मन्त्र-मुग्ध कर दिया था। डॉ॰ रामदयाल मुंडा एवं उनके झारखण्ड लोकनृत्य दल को देखकर वहाँ उपस्थित भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी भी प्रभावित हुए। डॉ॰ रामदयाल मुंडा 'इंडियन कनफेडरेशन ऑफ इनडिजीनस एंड ट्राइबल पीपुल' नामक संस्था में कई वर्षों तक अध्यक्ष के रूप सक्रिय योगदान देते रहे। वे देश-विदेश की दर्जनों संस्थाओं से जुड़े हुए थे। डॉ॰ रामदयाल मुंडा 1989 ई. से 2000 ई. तक भारत सरकार द्वारा गठित 'कमिटि ऑन झारखण्ड मैटर्स' के सदस्य रहे। वे झारखण्ड राज्य बनने तक आन्दोलन में सक्रिय रहे एवं अग्रणी पंक्ति के नेता की भूमिका निभाते रहे।

झारखण्ड के छऊ नृत्यों की चार शैलियों में से सिंगुआ शैली लगभग मृतप्राय हो चुकी थी। इस नृत्यशैली को पुनर्जीवित और बहुप्रचारित करने का श्रेय रामदयाल मुंडा को जाता है। झारखण्ड के कला संस्कृति विभाग के प्रयास से यह कला पुनर्जीवित हो गई है। प्रशिक्षण के उपरान्त गुरु मुंडा का दल छऊ नृत्य के लिए तैयार हो गया था तब इसे कला संस्कृति विभाग की तरफ से अंडमान निकोबार द्वीप समूह, कोलकाता, दिल्ली, जम्मू कश्मीर, ओडिशा तथा राजस्थान आदि जगहों पर कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिये भेजा गया जहाँ इन्हें खूब प्रशंसा मिली। आज इस शैली के अनेक दल कार्यरत हैं तथा यह शैली पुनर्जीवित हो चुकी है जिसका पूरा श्रेय डॉ॰ मुंडा को जाता है।

दक्षिणी छोटानागपुर प्रमण्डल के आयुक्त बिरसा मुंडा और उनके आन्दोलन पर शोध करके किताब लिखने वाले डॉ॰ कुमार सुरेश सिंह को राँची विश्वविद्यालय का प्रभारी कुलपति बनाया गया था। 1980 के मई महीने में एक प्रतिनिधि मण्डल के अनुरोध पर डॉ॰ कुमार सुरेश सिंह ने राँची विश्वविद्यालय में जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषाओं के लिए स्नातकोत्तर विभाग खोलने का निर्णय लिया। डॉ॰ रामदयाल मुंडा उस विभाग के अध्यक्ष के लिए आमन्त्रित किए गए। डॉ॰ रामदयाल मुंडा ने इस कार्यभार को अंगीकर किया। डॉ॰ रामदयाल मुंडा 14 जून 1981 को स्थायी रूप से राँची आये, उस समय डॉ॰ ए.के. धान राँची विश्वविद्यालय के कुलपति थे और डॉ॰ के.के. नाग सी.सी.डी.सी.। इनके सहयोग से विभाग में पठन-पाठन की प्रक्रिया शुरू हुई। इसी दौर में झारखण्ड की ज़रूरत के अनुरूप विभाग का प्रारम्भिक ढाँचा खड़ा किया गया। डॉ॰ मुंडा की सांस्कृतिक चेतना इसी दौर में परवान चढ़ी। राँची स्थित कला भवन और जनजातीय शोध संस्थान का नाम रामदयाल मुंडा के नाम से रख कर उनके प्रति सम्मान प्रकट किया गया है।

आधुनिक आदिवासी कवियों में रामदयाल मुंडा एक प्रतिष्ठित कवि हैं। वे जनजातीय भाषा और साहित्य के अध्ययन से लेकर अनेक साहित्यिक गतिविधियों से जुड़े रहे। उनके द्वारा रचित काव्य-संग्रह 'हिसिर', सन् 1962, 'सेलेद', सन् 1967, 'कुछ नये नागपुरी गीत', सन् 1978, 'नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत', सन् 1980 खड़ी बोली में लिखित हैं। रामदयाल मुंडा की महत्त्वपूर्ण रचना 'आदि धरम' है जो आदिवासी दर्शन और

आदिवासी धर्म को केन्द्र में रखकर लिखी गई है। इसे उन्होंने रतन सिंह मानकी के साथ मिलकर लिखा है। 'नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत' की भूमिका में 'जो कहना नहीं चाहिए' में रामदयाल मुंडा ने लिखते हैं – "नदी और उसके सम्बन्धी कविताओं में नदी के परिप्रेक्ष्य में हमने भौतिक चित्रण के साथ ही मानवीय सम्बन्धों की कुछ विविधताओं को देखने-समझने की कोशिश की है। नातेदारी के उस क्रिया-कलाप में प्रमुख केन्द्र हैं – नदी, पानी, नदी के दो किनारों के पेड़, पहाड़ और पड़ोसी के रूप में मनुष्य। इनमें किसी का रूप स्थिर नहीं है। हमने कोई स्टीरियो टाइप विकसित करने की चेष्टा नहीं की है।"

'नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत' कविता-संग्रह में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में नदी कहने के लिए जड़ है लेकिन पहाड़, समन्दर, पेड़, पत्थरों से अपने सम्बन्धों में वह इंसान की तरह सामाजिक है। नदी की सामाजिकता को मुंडा जी समुद्र, पहाड़, पेड़-पत्थरों के साथ-साथ अलग-अलग रूपों में देखते हैं।

रामदयाल मुंडा महिला शिक्षा, महिलाओं की स्वशासन में भागीदारी, राजनीति में भागीदारी के साथ-साथ अन्धविश्वासों एवं भेदभावपूर्ण परम्पराओं के बदलाव के पक्षधर थे –

उस घर में कुछ दिनों तक
आवाज आती रही हँसने की, बतियाने की
अब उसमें एक नयी आवाज मिल गई है
गरजने और लतियाने की।

रामदयाल मुंडा की कविता की ये पंक्तियाँ महिलाओं के प्रति उनकी सम्वेदनशीलता को प्रतिबिम्बित करती हैं तो अन्य पंक्तियाँ महिलाओं के लैंगिक शोषण एवं समाज के नजरियों पर भी प्रकाश डालती हैं –

कुछ दिनों तक वह नदी
बहती रही, बहती रही
उस पहाड़ से सटकर
अब कुछ हो गया है कि चलती है
उससे दूर हटकर
कुछ कटकर ...

उनका मानना था कि सामाजिक मर्यादा एवं परम्परा के पैरोकार स्त्री आजादी की तो बड़ी-बड़ी बातें करते हैं परन्तु उनका नेतृत्व किसी को पसंद नहीं। रामदयाल मुंडा का स्पष्ट मानना था कि बदलते राजनैतिक परिदृश्य में जब तक महिलाओं का इस्तेमाल केवल भीड़ के रूप में होता रहेगा, समाज का विकास सम्भव नहीं। रामदयाल मुंडा की प्रसिद्ध कविता है – 'विकास का दर्द'। अवलोकन कीजिए –

बन गया हूँ गीदड़
रहा दौड़

शहर की ओर
मरने के पहले
या कि एक पेड़
विशाल शाल का
गिरा।
जा रहा चीरा
बीच मशीन आरा
देश के लिए कहते हैं
विकास के लिए
अब तो और जल्दी
यह काम होगा
....
मुझको विकास का
दर्द यह असह्य
देर तक सहना न होगा
समय से पहले ही मेरा
काम तमाम होगा।

कहना न होगा कि भूमण्डलीकरण के इस दौर में विकास के नाम पर पूँजीपतियों और सत्ता के गठजोड़ ने प्राकृतिक संसाधनों और जंगलों का विनाश कर दिया है। रामदयाल मुंडा बुद्धिजीवी आदिवासी कवि हैं जो सारी स्थितियों पर गहन-चिन्तन करते हैं और लिखते हैं।

'सरहुल' जैसे पर्व में राँची की सड़कों पर यहाँ के आदिवासी पारम्परिक वेश-भूषा में ढोल, नगाड़ा, मांदर, बाँसुरी बजाते हुए झाँकियाँ निकालते हैं, नाचते-गाते हैं। रामदयाल मुंडा ने राँची में 'सरहुल' महोत्सव में जुलूस निकालने की प्रथा प्रारम्भ करने वालों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। रामदयाल मुंडा को वाद्यों से विशेष प्रेम था। वे बाँसुरी बजाने में प्रवीण थे। वक्त पड़ने पर ढोल-ढाक-मांदर-नगाड़ा लेकर अखड़ा में उतर जाते थे। उन्होंने एक गीत लिखा है जो उनकी सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है–

गाँव-गाँव टोला टोला, बासुरी बनम
गूँजते थे,
वे बाँसुरी बनम कहाँ गए?
कोई मुझे बता दे,
वे बाँसुरी बनम कहाँ गए?

30 सितम्बर 2011 को रामदयाल मुंडा का देहान्त हुआ। देहान्त से कुछ दिन पहले वे राँची विश्वविद्यालय के जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग में आयोजित करम महोत्सव में आये और व्हील चेयर पर बैठकर अखड़ा में उन्होंने अपना अन्तिम गाना गाया था जो इस प्रकार है –

बिन बोले झनझनाए, बात बीतल सनसनाए।
अँखियाँ ही छूटल दुनिया बिराजे।
पहिल पिरीतिया मिल आजे।

01 जून 2002 को दिल्ली में साहित्य अकादमी और आदिवासी लेखकों के सहयोग से आयोजित आदिवासी लेखक सम्मेलन में, जिसमें महाश्वेता देवी, रोज केरकेट्टा, ग्रेस कुजूर, लक्ष्मण गायकवाड़, हरिराम मीणा आदि लेखक-विचारक भी शामिल थे, रामदयाल मुंडा ने कहा था – "समाज परिवर्तन की दिशा में आदिवासी से कोई सीख क्यों नहीं ले रहा है। ... यह जानते हुए भी कि दूसरा रास्ता नहीं है। समानता वाली बात आपको मार्क्स से सीखनी होगी। ... हमें समानता, सामाजिकता, सहयोगिता सीखनी है। दरअसल ये सभी मानवीय गुण पहले से ही हमारे आदिवासियों में है। पर हम सीखना नहीं चाहते। यही विरोधाभास है। (आदिवासी समाज और साहित्य)

रामदयाल मुंडा सांस्कृतिक अगुवा के तौर पर झारखण्ड की सांस्कृतिक विशिष्टता को ध्यान में रखकर एक ऐसा सर्वप्रिय, सर्वसुलभ ताल खोजना चाहते थे जिस पर पूरा झारखण्ड एक दिन, एक समय पर एक घंटा नाचता, मैक्सिको की तरह। वे कहते थे 'जे नाची से बाँची' अर्थात् जो अपनी कला-संस्कृति से प्रेम करेगा वही समुदाय जीवित रहेगा। रामदयाल मुंडा का सपना था शुद्ध झारखंडी विश्वविद्यालय की स्थापना, जिसमें झारखंडी नृत्य-गीत, भाषा-साहित्य के साथ भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, फीजिक्स, केमिस्ट्री आदि सभी विषयों की पढ़ाई हो, प्राइमरी से डी.लिट. तक की।

रामदयाल मुंडा ने एक अप्रकाशित गीत, जिसका हिन्दी अनुवाद उन्होंने स्वयं किया है, की पंक्तियों में दुनिया को प्रेम और बंधुत्व का सन्देश दिया है –

दोस्ती बन्धन बाँधेंगे
प्रीत जोड़ेंगे
एक ही है रक्त नाड़ी
एक ही है गीत कड़ी
एक ही है मांदर धुन
हे प्रिये आओ प्रिये !
दोस्ती का बन्धन बाँधेंगे
प्रीत जोड़ेंगे।

रामदयाल मुंडा के निधन पर कवयित्री एवं कथाकार ज्योति लकड़ा ने 'साखू का पेड़ ढह गया' (साखू यहाँ रामदयाल मुंडा का प्रतीक है) शीर्षक कविता में उन्हें इस प्रकार श्रद्धांजलि दी है –

जिस साखू के पत्ते से
झारखंडी अपने लड़ाई के संदेश
चहूँ दिशा भेजते रहे

जिसके सड़े पत्ते से
झारखंडी खाद-पानी पाकर पलते रहे
वह साखू का पेड़ ढह गया।

जिस साखू की लकड़ी के बने
ढोल से अखड़ा ढहकता रहा
जिसकी लकड़ी से आन्दोलन की
आग सुलगती रही
वह साखू का पेड़ ढह गया।

2.5.2. 'कथन शालवन के अंतिम शाल का' कविता में आदिवासी संस्कृति, प्रकृति हितैषी आदिवासी

सरयटांड़ में सखुआ नाही
झाड़खण्ड में झाड़ खतम
ज़मीन सूखा, जंगल रूखा
बोल रे सुग्गा, देख रे मैना
जाबे कहाँ, भागबे कहाँ

– संजय बसु मल्लिक

सखुआ पेड़ों को रेलवे के स्लीपरों, खान के लट्ठों और भवन निर्माण के लिए टिम्बर और फर्नीचर के लिए बेतहाशा काटा गया। आदिवासी संस्कृति में शाल वृक्ष की महत्ता को स्पष्ट करते हुए रामदयाल मुंडा ने लिखा है– "शाल जो सभी फूलों का प्रतिनिधि प्रतीक है, में फूल विकसित हो गए हैं। मकरन्द गन्ध हवा में भर गई है। अब बीज लगने का समय हो गया है। ये बीज सर्वश्रेष्ठ के वाहक होंगे। शाल वृक्ष उसी का प्रतीक है, जिसकी सुदीर्घ आयु के बारे में कहा जाता है – 'हजार साल खड़ा, हजार साल पड़ा और हजार साल सड़ा।' जड़ से लेकर फूल तक इससे अधिक उपयोगी और कोई वृक्ष नहीं। आदिवासियों ने हजारों वर्षों परख के बाद ही इसे देवता का पद दिया है।" (आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल)

आदिवासी संस्कृति में वृक्षों को, विशेषकर सखुआ वृक्षों को, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कथित मुख्यधारा का समाज प्रकृति से निरन्तर दूर होता जा रहा है। परन्तु आज भी आदिवासियों का प्रकृति के साथ गहरा तादात्म्य है। आदिवासियों की आदिवासियत और जीवन की आवश्यकताएँ प्रकृति से जुड़ी हैं। सखुआ वृक्षों के झुण्ड ही सरना स्थल में पाये जाते हैं। मुंडाओं ने गाँव बसाते समय जंगल के अंश को छोड़ दिया था जो सरना स्थल के रूप में उनकी आस्था और संस्कृति से जुड़ा है।

सरहुल अर्थात् वृक्ष आधारित संस्कृति, पर्व, त्योहार। आदिवासी संस्कृति जो वृक्ष आधारित संस्कृति है में सखुवा या शाल वृक्ष की महत्ता अत्यधिक है। शाल वृक्षों में फूल आने के बाद सरहुल मनाया जाता है। मुंडा भाषा परिवार में बाहा / बा और द्रविड़ भाषा परिवार की कुडुख / माल्तो में खद्दी का अर्थ फूल होता है और सभी

फूलों के प्रतिनिधि के रूप में शाल का फूल प्रतिष्ठित है। नागपुरी इत्यादि आर्य भाषाओं में प्रचलित सरहुल की व्युत्पत्ति सरई-हुल 'सरई समूह' ही है। अर्थ-विस्तार में सरहुल शाल फूल के माध्यम से सारी प्रकृति के नवरूप का स्वागत ही है। शेष समग्र भारतीय परम्परा के साथ समयान्तर से यह ऋतु नये वर्ष के आगमन की भी सूचना है। यही कारण है किसी आदिवासी गाँव में पाहन / बैगा द्वारा विधिवत स्वागत पूजा के पहले कोई भी वन से फूल-पत्तियाँ नहीं लाता है और न ही उन्हें खाता है। जब नयी प्रकृति का स्वागत करना है तो आदमी अपनी समग्रता में नया होकर उसका स्वागत करता है। रामदयाल मुंडा ने सरहुल के लिए प्रार्थना गीत लिखे हैं जिनकी पंक्तियाँ आज भी सरहुल पर्व के समय पढ़ी जाती हैं –

है स्वर्ग के परमेश्वर
पृथ्वी की धरती माता
दूध की तरह उगने वाले,
दही की तरह डूबने वाले
चारों करने, दसों दिशाएँ
उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम
झिलमिल धरती
झुका हुआ आसमान
चटाई की तरह बिछी हुई,
कटोरे की तरह ढँका हुआ
गाय-वृक्ष, पशु-पक्षी,
वन-पहाड़, नदी-मैदान
तुम्हारी ही सृष्टि,
तुम्हारी ही उत्पत्ति
तुम्हीं से टिका है,
तुम्हीं से रक्षित है।

आज इस सरहुल के दिन,
आज इस नेग के दिन
हम तुम्हारी सन्तान,
हम तुम्हारी औलाद
हम तुम्हें बुलाते हैं
हम तुम्हें गुहारते हैं
हमारे संग बैठ लो,
हमारे संग बतिया लो
एक दो हंड़िया,
एक पत्तल खिचड़ी भात
हमारे साथ खा लो।

(आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल)

कथन शालवन के अंतिम शाल का –
जंगल में एक पेड़ फिर एक पेड़ कटता है
और शहर चुपचाप जंगल की तरफ
एक कदम फिर एक कदम बढ़ता है
शहर जंगल पर आक्रमण करता है
कि एक जंगल
एक पेड़ भर रह जाए
और जंगल की सभी चिड़ियाँ भी
एक पेड़ भर रह जाए
....
कटते जंगल से बाहर निकल एक हिरण
शहर की सड़क पर आ जाता है
तो शहर के कुत्ते हिरण पर टूट पड़ते हैं
एक आदिवासी एक पेड़ के जंगल में
एक आदिवासी है।

– विनोद कुमार शुक्ल

लम्बी कविता प्रायः गद्यात्मक हो जाती है। हिन्दी में समसामयिक लम्बी कविताएँ हैं – 'सतपुड़ा के घने जंगल', 'चैत की लाल टहनी', 'भूखण्ड तप रहा है' आदि। 'कथन शालवन के अंतिम शाल का' कविता रामदयाल मुंडा की लम्बी और अद्‌भुत कविता है। रामदयाल मुंडा ने लम्बी कविता लिखने के पीछे उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए 'वापसी, पुनर्मिलन और अन्य गीत' की भूमिका में लिखा है – "प्रस्तुत कविताओं का सन्दर्भ छोटानागपुर का वर्तमान जीवन है। यहाँ के जन-जीवन में कुछ हो रहा है जिसका अनुभव थोड़े शब्दों में व्यक्त करने में हम अपने को असमर्थ पा रहे हैं। इसलिए कविताएँ पिछली बार ('नदी और उसके सम्बन्धी तथा अन्य गीत') की तुलना में अपेक्षाकृत लम्बी हो गई हैं और तदनुरूप उनका स्वर भी थोड़ा बदल गया है।"

लम्बी कविता लिखने के पीछे आदिवासी कवियों की जो प्रवृत्ति बढ़ी है उसका विश्लेषण करते हुए लेखिका वन्दना टेटे लिखती हैं – "प्रकृति, प्रेम और श्रम की महत्ता, जो उनके दर्शन और सहजीवी जीवन का मूल तत्त्व है, इस बिखराव, लूट और चौतरफा सांस्कृतिक-आर्थिक हमले से गहरे संकट में है, जिससे उनके समकालीन गीत-कविता व 'कहन' की शैली और स्वर दोनों में बदलाव स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। शब्दों और ध्वनियाँ ही नहीं, प्रकृति के संसाधनों का सबसे न्यूनतम उपयोग करने वाले आदिवासी समुदाय का आज का कवि अपने परम्परागत स्वभाव के अनुरूप चार-छह पंक्तियों में नहीं 'गा' पा रहा है। वह लम्बी कविताएँ लिख रहा है। (आदिवासी दर्शन और साहित्य)

आदिवासियों के लिए जंगल जीवन और संस्कृति का आधारहै। आदिवासियों ने अपने स्वार्थ के लिए प्रकृतिप्रदत्त इस धरोहर का आपस में बटवारा नहीं किया। जंगल किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं बना।

आदिवासियों करमा और सरहुल त्योहार प्रकृति के प्रति कृतज्ञता के सिवा क्या है ! कटते शाल वृक्ष अपनी पीड़ा किससे बांटेंगे ! आखिर आदिवासी के सिवा उनका आत्मीय कौन है !

वीरान शालवन !
कैसा विरोधाभास
किन्तु लगता है, कालक्रम में बहुत-सी असंगतियों की तरह
यह असंगति भी लोग सह लेंगे
जब हम अग्रजों-अनुजों का यह समवेत संहार
समाप्त हो जाएगा
और इस व्यर्थ में से एक नया अर्थ निकलेगा।

सखुआ वृक्ष अपनी पीड़ा आदिवासी के सिवा किससे कहेंगे ! आदिवासी वृक्षों को समूल नष्ट नहीं करते। जंगल की सूखी लकड़ियों से जलावन की लकड़ी लेते हैं। शाल वृक्ष जंगल के निरन्तर काटे जाने से दुःखी हैं। धरती को हरियाली से रहित करने से दुःखी हैं। वे अपनी पीड़ा आदिवासी को बताते हैं –

मुझे दुःख इस बात का नहीं है
कि मैं कट रहा हूँ –
विकलांग होकर भी कहीं न कहीं मेरा अस्तित्व रहेगा,
और उस अर्थ में मैं अजर-अमर हूँ –
किन्तु यह जो अपने साथी, जंगल के आदमी के
किसी बड़े काम में नहीं आ सकने का दर्द है,
वह मुझे कहीं चैन से नहीं रहने देगा।

रामदयाल मुंडा विश्वभर में हो रहे पारिस्थितिकीय संकट की ओर संकेत कर रहे हैं जिसे सभ्य कहे जाने वाले समाज ने उत्पन्न किया है। आदिवासी तो 'विकास-विरोधी' कहलाते हैं। सच तो यह है कि आदिवासी ही प्रकृति, पारिस्थितिकी, जैव विविधता, पर्यावरण के सबसे बड़े संरक्षक हैं। आदिवासी कविता धरती के पक्ष में खड़ी होती है और धरती बचाने वालों के साथ भी।

आदिवासी प्रायः सखुआ, कटहल, करंज, चिरौंजी, महुआ और कुछ वृक्षों को नहीं काटते हैं। अगर वृक्ष काटते भी हैं तो तने के ऊपरी हिस्से में काटते हैं ताकि उससे टहनियाँ फिर से निकलें। वे पेड़ को समूल नष्ट नहीं करते। वे सूखी लकड़ियों और वज्रपात से सूख चुके पेड़ को ही काटते हैं। जंगल का आदमी यह अच्छी तरह जानता है कि अगर सखुआ और दूसरों पेड़ों को काट दिया जाए तो उसकी संस्कृति, उसका खान-पान, पर्व, त्योहार सभी पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इसलिए जंगल को प्रायः वे अपने प्राकृतिक स्वरूप में ही रहने देना चाहते हैं –

मेरे ही सामने उस दिन
ठीकेदार साहब ने

नागों की झोपड़ी को देखकर
अपने इंजीनियर
साथी से कहा था
"बेवकूफ हैं साले टिम्बर से घिरे हैं
पर
ढंग का मकान बनाने की भी
अक्ल नहीं आई"
फिर उन्हीं के सहयोगी कहते हैं
"जंगल का आदमी
जंगल काट कर बर्बाद कर रहा है
इसलिए इसकी रक्षा होनी चाहिए"

पूरे विश्व में जंगल केवल वहीं बचे हुए हैं जहाँ आदिवासी हैं। आदिवासियों का दर्शन सहजीविता और सहअस्तित्व का है। आदिवासियों के लिए प्रकृति एक संसाधन नहीं है। संतोषी प्रवृत्ति के कारण आदिवासी अतिरिक्त का संचय और अतिशय मुनाफ़े पर विश्वास नहीं करते। दूसरी तरफ जंगल के हितैषी होने का दावा करने वाले आख़िरकार जंगलों के विरल करने, पहाड़ों के तोड़ने और जलस्रोतों को समाप्त करने पर तुले हुए हैं –

शायद इसीलिए इसकी
रक्षा हो रही है
टिम्बर मर्चेन्ट्स के गोदामों में
उनकी तिजोरियों में
नोटों के बण्डलों के रूप में !
जंगल के आदमी को क्या मिला ?
फल-फूलहीन कंटीली झाड़ियाँ
पानी के बहाव से निरन्तर
छँटती जा रही
अनुर्वर ज़मीन ?

आदिवासी क्षेत्रों में जो पेड़ लगाये जा रहे हैं वे सखुआ, कटहल, गंभार के पेड़ नहीं होते बल्कि यूकलिप्टस जैसे पेड़ होते हैं जो न सिर्फ अत्यधिक पानी सोखते हैं साथ ही आदिवासियों के किसी काम के नहीं होते हैं। अतः शाल वृक्ष अच्छी तरह जानता है कि कमर्शियल पेड़ का अर्थ क्या है –

मैं जानता हूँ
नए जंगल भी लगेंगे
किंतु वह शालवन नहीं होगा
कमर्शियल पेड़ होंगे
जिसका अर्थ हुआ

कॉमर्स से जिसे काम नहीं
उसके लिए पेड़ की सृष्टि का उद्देश्य
कॉमर्स से
बहुत ऊपर तक जाता है
उसके पीछे जो दृष्टि है दिव्य है

आदिवासी के रहन-सहन में जंगल और उसके पेड़-पौधे पूरी तरह से साथ होते हैं। आदिवासी हजारों साल से कंद-मूल, फल-फूल, जड़ी-बूटियाँ, छाल-गोंद, धूप-धुंवन, पत्तियाँ और खूंखड़ी (मशरूम) जंगल से प्राप्त करते रहे हैं। जहाँ जंगल और पहाड़ अपने प्राकृतिक स्वरूप में हैं, वहाँ की ज़मीन भी अपने अच्छे स्वरूप में है क्योंकि उसे उसकी उर्वरा शक्ति जंगल से प्राप्त होती रहती है। जंगल और आदिवासी का गहरा सम्बन्ध है। जंगल आदिवासी के जीवन और संस्कृति का आधार है। जंगल का आदमी जानता है कि वह उसी प्रकृति का ही विस्तार है, जंगल को नष्ट करने से वह खुद भी नष्ट हो जाएगा –

हमसे मिलने वाले कंद-मूल,
फल-फूल
सबके हैं
जड़ी-बूटियाँ,
बल्कल-पत्तियाँ
सबकी हैं।
वर्षा के पानी के पहाड़ पर से उतरने वाली
उर्वराशक्ति
सबकी है।

ये पंक्तियाँ आदिवासियों के उस दर्शन से जुड़ी हुई हैं जिसमें यह माना जाता है कि सुख सभी को प्राप्त हो, खुशियाँ सबके हिस्से में आएँ। 'यह मेरा है' – ऐसा तो व्यक्तिवाद से प्रभावित लोग कहते हैं, जिनके लिए समूह नहीं, व्यक्ति महत्त्व रखता है। आदिवासी समाज का सच उससे भिन्न है। कन्द-मूल, फल-फूल, जड़ी-बूटियाँ, खेतों की उर्वरा-शक्ति – इन सभी पर समुदाय का अधिकार है, किसी एक व्यक्ति का नहीं। इसी सामूहिकता, सामुदायिकता के कारण शिकार से प्राप्त मांस को सबके बीच बराबर बाँटने की परम्परा रही है। वृद्ध और अस्वस्थ व्यक्ति को भी, जो शिकार में सम्मिलित नहीं होते थे, उन्हें भी यह प्रदान किया जाता था। निःसन्देह ये पंक्तियाँ इस कविता को उत्कृष्ट कविता में बदल देती हैं –

जंगल प्रकृति का नियामक है!
जंगल का आदमी जानता है
कि मैं उसी का विस्तार हूँ।
उसकी व्यष्टि का समष्टि रूप।
वह जानता है कि जंगल को नष्ट करना

खुद को नष्ट करना है।
इसीलिए जंगल का आदमी मेरी पूजा करता है।

जो समाज पूँजी आधारित है वह जंगल और पेड़ों को लाभ के नजरिये से देखता है। पेड़ उनके लिए टिंबर है और वृक्षारोपण का उत्सव उनके लिए अलग ही मायने रखता है। कवि रामदयाल मुंडा जंगल के पेड़ों की चिन्ता करके पूरी सृष्टि के पेड़-पौधों की यानी हरियाली की चिन्ता करते हैं जो वर्तमान में वैश्विक चिन्ता का भी विषय है। औपनिवेशिक काल में जंगलों को ठेकेदारों के हवाले कर दिया गया। इन ठेकेदारों और वन विभाग के आदिवासी-विरोधी अफसरों और गार्डों ने जंगलों का नाश कर दिया और जंगल के आदमी आदिवासी की भी संस्कृति पर घातक प्रहार किया। यहाँ कवि व्यंग्यपूर्वक कहते हैं –

यहाँ तो बाहर से "वृक्ष लगाएँ, पुण्य कमाएँ"
और भीतर से "वृक्ष काटें, पैसा लूटें"
वाली नीति बरती जा रही है।
जो पेड़ लगाए जा रहे हैं
उसके पीछे दर्शन ही दूसरा है :
उस दिन, वनमहोत्सव के दिन,
मन्त्री जी अपने बेटे से पूछ रहे थे –
"जानते हो बेटे, हम क्यों शाल के बदले
युकलिप्टस के पेड़ लगवा रहे हैं ?"
"कौन-से पेड़, पापा ?"
"युकलिप्टस, वही जो आसमान में ऊँचे पतले उठते हैं।"
"वही खजूर की तरह बिन छाया वाले ?"
"हाँ हाँ, वही। पता है क्यों ?"
"नहीं पापा, मुझे मालूम नहीं। ... क्यों ?"
"बेटे, हम ऋषियों की
एक नई परम्परा शुरू करना चाहते हैं
जो पेड़ों के नीचे न बैठकर
उनकी चोटियों पर बैठा करेंगे।"
"तब तो पापा, उन्हें अन्तःचक्षुओं की
आवश्यकता नहीं रह जाएगी,
बाहरी आँखों से ही वे दूर-दूर तक देख सकेंगे !"
मन्त्री जी अपने बेटे की बुद्धिमता पर बड़े प्रसन्न हुए
और आशीर्वाद दिया कि आगे चलकर
वह जंगल विभाग का एक बड़ा अफसर बनेगा !

रामदयाल मुंडा पेड़ों के काटे जाने से आहत हैं। वे कटते, घटते सखुआ वृक्षों को देखकर दुःखी हैं। राँची के आसपास बहुत सारे सखुआ वृक्षों को काट दिया गया है। पेड़ रहित सड़क और मैदान राँची की ख़ासियत बन

गए हैं। पहले ऐसी स्थिति नहीं थी। मुंडा आदिवासी जब झारखण्ड क्षेत्र में रहने आए तो जंगल, सखुआ के पेड़ों से भरे हुए थे और सखुआ के फूलों से लदे हुए थे। जिसे देखकर उन्होंने कहा था – 'सोना लेकन दिसुम' अर्थात् 'सोने के जैसे देश' जो उनके मुंडारी गीतों में आज भी उपलब्ध है। रामदयाल मुंडा ने अपने घर के सामने सात शाल के पौधे लगाए थे जो आज भी रामदयाल मुंडा के राँची स्थित घर के प्रांगण में स्वाभिमान से खड़े हैं। आदिवासियों का प्रकृति के प्रति रोमांटिक नजरिया नहीं है। जंगल को उजड़ने से रोकने के लिए वे अपने इतिहास और आदिवासियत से ही संघर्ष करने की प्रेरणा पाते हैं। जंगल के पेड़ और जंगल का आदमी एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझते हैं। इसलिए रामदयाल मुंडा कटते सखुआ वृक्ष के क्रोध, पीड़ा, आक्रोश को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं –

मैं सब कुछ देख रहा हूँ
और क्रोध से पागल हुआ जा रहा हूँ।
मुझे अगर इस षड्यन्त्र का पता होता
तो विकसित करता अपने भीतर
विशाक्त कोई द्रव
जो मेरी खाल छूने वालों को कर देता खार-छार
या कि ओढ़ता काँटे जो चुभते
मात्र दृष्टिपात पर।

रामदयाल मुंडा बिना चीखे-चिल्लाये सच को सामने ला रहे हैं। उसमें कोई वाद या प्रतिपक्ष नहीं है। शाल वृक्ष भले ही क्रोधित होता है परन्तु शीघ्र ही वह अपने मूल स्वरूप में लौटते हुए बोल उठता है –

कभी-कभी सोचता हूँ, अच्छा ही हुआ
कि अपने साथी, जंगल के आदमी,
के जीवन के पूर्ण विघटन के पहले
हम ही जा रहे हैं।
विघटन
जो यों ही हो रहा है,
हमसे लगे किन्तु कुछ स्वतन्त्र कारणों से भी।
इस समय इस आदमी की
नियति ही कुछ ऐसी हो गई है
कि उसकी सुगति की आशा
अगति से दुर्गति में बदल गई है।
यह परिवर्तन
जरूरी है शायद।
सभ्यता का पतन
जरूरी है,
शायद।

रामदयाल मुंडा सिर्फ आदिवासियों के लिए जंगल की हरियाली को बचाना नहीं चाहते बल्कि पूरी दुनिया के लिए जंगल और पेड़ की आवश्यकता पर गहन चिन्तन करते हैं तब ये पंक्तियाँ वे लिख पाते हैं। कवि की चिन्ता बड़ी है। सन्दर्भ स्थानीय होते हुए भी वैश्विक है। विश्व भर में पर्यावरण और जंगलों के कटते जाने पर चिन्ता व्यक्त की जा रही है। कवि रामदयाल मुंडा घटते जंगल, घटती हरियाली, प्रदूषित होती हवा, वैश्विक ताप, पिघलते ग्लेशियर की चिन्ता करते प्रतीत होते हैं। यह कविता सिर्फ भावुकता की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि यह कविता सम्वेदना का सुचिन्तित संसार बनाती है और सोचने-चिन्तन करने के लिए विवश करती है। कविता लम्बी है तथापि सम्प्रेषणीय है और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अप्रतिम है।

2.5.3. 'जड़ी बूटी पीसने की तरह' – प्रेम आधारित आदिवासी जीवन

'जड़ी बूटी पीसने की तरह' कविता को रामदयाल मुंडा ने गीत के रूप में लिखा है। वस्तुतः यह कविता 'सेलेद' (विविधा) में संकलित है। रामदयाल मुंडा ने 'सेलेद' की भूमिका में लिखा है – "आज से बहुत पहले 1967 ई. में 'सेलेद' (विविधा) नाम से कुछ मुंडारी, नागपुरी और हिन्दी गीत / कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। संयोग से यह पुस्तक राँची विश्वविद्यालय के जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुई तो इसकी चर्चा एक वृहत्तर दायरे में भी हुई।" आदिवासी जीवन-संस्कृति में प्रेम को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस कविता को लिखने के पीछे रामदयाल मुंडा अपने जीवन के एक हिस्से को ही उजागर कर रहे हैं।

सन् 1972 ई. में वे मिनेसोटा विश्वविद्यालय में साउथ एशिया अध्ययन विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर पद पर कार्यरत थे। वहीं कार्यरत एक अमेरिकी युवती से उन्हें प्रेम हो गया। प्रेम परवान चढ़ा। डॉ॰ मुंडा एवं उस अमेरिकी युवती सुश्री हेजेल लुत्ज ने विवाह करने का निर्णय लिया। डॉ॰ मुंडा ने प्रस्ताव रखा कि विवाह उनके पैतृक गाँव दिउड़ी में मुंडा रीति-रिवाज से झारखंडी वाद्यों (ढोल, नगाड़े, ढांक, मांदर आदि) के मध्य सम्पन्न हो। सुश्री हेजेल लुत्ज डॉ॰ मुंडा के विचारों से सहज ही सहमत हो गईं।

आदिवासी कविताओं की मूल प्रकृति 'गीत' है। यह कविता 'जड़ी बूटी पीसने की तरह' भी गीत सृजन की सांगीतिक परम्परा को लेकर चलती है। इस कविता में कवि ने 'जड़ी बूटी पीसने की तरह', 'गर्म लोहा गलाने की तरह', 'कपड़ा रंगने की तरह', 'मिट्टी लीपने की तरह', 'कोई फल तोड़ने की तरह', 'कोई साग टूँगने की तरह' प्रेम में मन के मिलने की बात स्वीकारी है –

जड़ी-बूटी पीसने की तरह
गर्म लोहा गलाने की तरह
तुमने मुझे पीस डाला, मिला डाला
मैं घुल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया

कपड़ा रंगने की तरह
मिट्टी लीपने की तरह
तुमने मुझे, लीप दिया, पोत दिया
तुम्हारे रंग में रंग ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया

कोई फल तोड़ने की तरह
कोई साग टूँगने की तरह
तुमने मुझे तोड़ लिया, टूँग लिया
मैं छिनग ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया।

कविता में आदिवासी संस्कृति की भाषा, बिम्ब और प्रतीक लिए गए हैं। 'मैं घुल ही गया', 'तुम्हारे रंग में रंग ही गया', 'मैं छिनग ही गया' के द्वारा रामदयाल ने प्रेम में रमने की बात स्वीकार की है। कविता की पंक्तियाँ आदिवासी संस्कृति और जीवन-मूल्य के अनुरूप है। आदिवासी मुंडारी गीतों में भी प्रेम और प्रकृति को महत्त्व प्राप्त है। एक मुंडारी प्रेमगीत है जिसका हिन्दी में भावार्थ है – "सखुआ के फूल में प्रिय तुम खबर भेजना। नये कोंपलों में हे प्रिये अपनी बात भेजना। सन्देश भेजने से मैं तुम्हें खोजने आऊँगा। खबर भेजने मैं तुमसे मीठी बातें करने आऊँगा। जब आऊँगा तब एक-दूसरे को देख लेंगे और मधुर बातचीत कर लेंगे।" आदिवासी अपनी संस्कृति, प्रकृति, अपने परिधान, खान-पान, पर्व-त्योहार से गहरा जुड़ाव रखते हैं। साथ ही प्रेम इनके जीवन का अमूल्य हिस्सा होता है।

2.5.4. 'राजा ठाकुर होते थे' – आदिवासी जीवन-मूल्य में कर्म के प्रति निष्ठा

रामदयाल मुंडा गीत (कविता) के माध्यम से आदिवासी संस्कृति को सामने लाते हैं। 'राजा ठाकुर होते थे' कविता में कर्म के प्रति निष्ठा को दिखाया गया है। 'राजा ठाकुर' शब्द झारखण्ड के आदिवासी क्षेत्र के लिए अनजाना शब्द नहीं है। मुंडा आदिवासी जब रिसा मुंडा के नेतृत्व में आए तो वे राजा की हैसियत से रहते थे। रिसा मुंडा पूरखा मुंडा हड़म थे जिन्होंने इक्कीस हजार मुंडाओं की अगुवाई कीथी। रिसा के अनुयायी कोरम्बा ने कोराम्बे और सुतिया ने सुतियाम्बे नामकगाँव बसाया। चुटु हड़म ने चुटिया नागपोर अर्थात् छोटानागपुर बसाया। बाद में मदरा मुंडा ने दत्तक पुत्र फणि मुकुट राय को लगभग दो हजार साल पहले सत्ता सौंपी। मदरा मुंडा का अपना एक बेटा भी था जिसके आठ बेटे हुए उनमें से ज्येष्ठ पुत्र कुछ मुंडा आदिवासियों को लेकर खूँटी की ओर लेकर चले गए। इन्हीं मुंडा आदिवासियों में से एक पुर्ती गोत्र के आदिवासी के यहाँ बिरसा मुंडा का जन्म हुआ। दूसरा बेटा अपने साथ कुछ मुंडा आदिवासियों को लेकर पंचपरगना यानी तमाड़, बुंडु, राहे, वरांडा और सिल्ली की ओर गये, जहाँ आज भी वे बड़ी संख्या में हैं। इसी तमाड़ क्षेत्र में (दिउड़ी) गाँव में गन्धर्व व लोकमा के यहाँ 23 अगस्त 1939 को रामदयाल मुंडा का जन्म हुआ था।

कालान्तर में मुंडा आदिवासियों के चुने हुए सरदार और मानकी के कुछ वंशज महत्त्वाकांक्षी हो गए। राजपूत परिवारों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के बाद अपने को राजा ठाकुर या टिकैत कहने लगे। इस प्रकार राजा टिकैत, ठाकुर ये शब्द बाहरी प्रभाव में आने के कारण आदिवासी क्षेत्रों में आये। लेकिन जब ज़मींदारी चली गई तो काम न करने के कारण राजा, ज़मींदारों, ठाकुरों की जो दुर्गति हुई उसे ही कवि ने इस कविता का विषय बनाया है और उन्हें काम करने के लिए प्रेरित किया है –

राजा ठाकुर होते थे
सोच कर जी धुक-धुक करता है
अब वे चुप हैं किसी कोने में
धूल उड़ने लगी है घोड़साल में
वे चुप हैं किसी कोने में

चली गयी ज़मींदारी
टूट गयी पत्थर की बखरी
नहीं अब नर-बलि गढ़ के भीतर
ठेंपी लग गयी शुद्ध शराब की बोतल में
वे चुप हैं किसी कोने में

जो समुदाय एक बार सुख-सुविधा में रहता है उसे उसकी आदत-सी पड़ जाती है और वे दूसरे काम करने से हिचकिचाते हैं –

वे सोचते हैं मन में
अपना हक़ खोया हमने कैसे
हम हल चलाना शुरू करें कैसे?
भूल गया किधर बायें किधर दायें
वे चुप हैं किसी कोने में

आदिवासी संस्कृति में काम करना, हल जोतना, खेतीबारी करना, बागवानी करना अच्छा माना जाता है। आदिवासी समुदाय के प्रतिष्ठित माने जाने वाले मुंडा, मानकी, मांझी, पाहन, बैगा भी अपने खेत-खलिहान में काम करते देखे जाते हैं। आदिवासी स्त्रियाँ भी खेत-खलिहान में काम करती हैं, जंगल जाती हैं, वन-उपज बेचने के लिए हाट-बाजार जाती हैं। बिना श्रम किए खाने की परम्परा नहीं है। इसीलिए रामदयाल मुंडा ने 'राजा ठाकुर होते थे' कविता में लिखा है –

लाज-शरम छोड़कर
जोतने-कोड़ने चलना ही होगा
जो काम करेगा वही खाएगा
कुछ नहीं है लम्बी पगड़ी में
जो काम करेगा, वही खाएगा।

वर्तमान उपभोक्तावाद और पूँजीवाद के दौर में आराम से सब कुछ हासिल करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। काम न करना, परिश्रम न करना, महानगरों में अवसाद और डिप्रेशन का कारण बनता जा रहा है। ऐसे समय में भी आदिवासी कर्म में निष्ठा रखते हैं, अखड़ा में नाच-गान द्वारा आनन्द उत्सव मनाते हैं और स्वस्थ रहते हैं, कभी अवसादग्रस्त नहीं होते हैं।

2.5.5. रामदयाल मुंडा की कविता की भाषा, बिम्ब और प्रतीक

रामदयाल मुंडा के गीत 'सेलेद' में संगृहीत हैं। 'राजा ठाकुर होते थे' और 'जड़ी बूटी पीसने की तरह' वस्तुतः मुंडारी गीत के हिन्दी अनुवाद हैं। मुंडारी से हिन्दी में यह अनुवाद स्वयं रामदयाल मुंडा ने किया है।

रामदयाल मुंडा की भाषा उनके भाव और कथ्य का अनुगमन करती है। उनकी भाषा कविता के कथ्य के अनुसार है। भाषा के माध्यम से ही कवि का पाठक से संवाद कायम होता है। आदिवासी कवि रामदयाल मुंडा के गीतों और कविताओं में यह संवाद बहुत मजबूती के साथ कायम होता है।

जो समुदाय अपने जल, जंगल, ज़मीन और अपनी अस्मिता व अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है, उस आदिवासी समुदाय के कवि की भाषा में लालित्यपूर्ण शब्दों की तलाश व्यर्थ है। रामदयाल मुंडा बिना लाग-लपेट के दो टूक शब्दों में अपनी बात कह देते हैं–

उस दिन, वनमहोत्सव के दिन,
मन्त्री जी अपने बेटे से पूछ रहे थे–
"जानते हो बेटे, हम क्यों शाल के बदले
युकलिप्टस के पेड़ लगवा रहे हैं ?"
"कौन-से पेड़, पापा ?"
"युकलिप्टस, वही जो आसमान में ऊँचे पतले उठते हैं।"
"वही खजूर की तरह बिन छाया वाले ?"
"हाँ हाँ, वही। पता है क्यों ?"
"नहीं पापा, मुझे मालूम नहीं। ... क्यों ?"
"बेटे, हम ऋषियों की
एक नई परम्परा शुरू करना चाहते हैं
जो पेड़ों के नीचे न बैठक
उनकी चोटियों पर बैठा करेंगे।"
"तब तो पापा, उन्हें अन्तःचक्षुओं की
आवश्यकता नहीं रह जाएगी,
बाहरी आँखों से ही वे दूर-दूर तक देख सकेंगे !"
मन्त्री जी अपने बेटे की बुद्धिमता पर बड़े प्रसन्न हुए
और आशीर्वाद दिया कि आगे चलकर
वह जंगल विभाग का एक बड़ा अफसर बनेगा !

झारखण्ड के चिन्तक और सांस्कृतिक अगुवा रामदयाल मुंडाआदिवासी कवि और लेखक के रूप में अपने आदिवासी समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को जानते हैं। कविता में जंगल के दहकने का ताप है, शीतलता नहीं और लुकाठी की ज्वलनशीलता भी है। रामदयाल मुंडा की इन पंक्तियों में ओज गुण को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है –

मैं सब कुछ देख रहा हूँ
और क्रोध से पागल हुआ जा रहा हूँ।
मुझे अगर इस षड्यन्त्र का पता होता
तो विकसित करता अपने भीतर
विशाक्त कोई द्रव
जो मेरी खाल छूने वालों को कर देता खार-छार
या कि ओढ़ता काँटे जो चुभते
मात्र दृष्टिपात पर।

रामदयाल मुंडा की कविताओं में माधुर्य गुण का समावेश स्वतःस्फूर्त है। 'जड़ी-बूटी पीसने की तरह' कविता की निम्नलिखित पंक्तियों का माधुर्य देखिए–

कपड़ा रंगने की तरह
मिट्टी लीपने की तरह
तुमने मुझे लीप दिया, पोत दिया।
तुम्हारे रंग में रंग हीगया।
तुममें यह मन मिल ही गया।
तुममें यह मन मिल ही गया॥

रामदयाल मुंडा की कविता 'राजा ठाकुर होते थे' में प्रसाद गुण की छटा देखिए –

वे सोचते हैं मन में
अपना हक खाया कैसे हमने।
हम हल चलाना शुरू कैसे करें ?
भूल गया किधर बाएँ, किधर दाएँ।
वे चुप हैं किसी कोने में॥

रामदयाल मुंडा ने अपनी कविता में व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। उनके व्यंग्यों में सरलता-सहजता है और सपाट बयानी भी। खीझ-आक्रोश के समावेश से व्यंग्य में मजबूती आई है। रामदयाल मुंडा की कविता 'कथन शालवन के अंतिम शाल का' में ग्लोबल वार्मिंग पर्यावरण संकट के इस दौर में वैश्विक समाज के लोगों के प्रति चिन्ता है। यह कविता अपने समाज और समुदाय की चिन्ता के साथ ही प्रकृति व परिवेश के प्रति सोचने और चिन्तन करने के लिए विवश करती है।

रामदयाल मुंडा की भाषा सरल, सहज और बोधगम्य है। रामदयाल मुंडा की कविता में तद्भव और देशज शब्दों की प्रधानता है। आदिवासी जीवन-संस्कृति और संघर्ष के वर्णन में उधार के तत्सम शब्दों का प्रयोग न कर कवि ने तद्भव और देशज शब्दों का चयन किया है। यद्यपि प्रसंगवश शालवन, समवेद, संहार, अस्तित्व, नियामक, व्यष्टि, समष्टि, अन्तःचक्षु, दृष्टिपात, नियति, सुगति, अगति जैसे कुछ शब्द उनकी कविताओं में आए हैं तथापि कटते और वीरान शालवन की पीड़ा तथा आक्रोश को कवि ने देशज और तद्भव शब्दों में ही अभिव्यक्त किया है। रामदयाल मुंडा की काव्य-भाषा सहज सम्प्रेषणीय है। उनकी कविता का शिल्प और भाषा कथित मुख्यधारा की कविता से भिन्न है। वहाँ चमत्कार-प्रदर्शन की बजाय आदिवासी दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों यथा समानता, सहजीविता, सामूहिकता, सामुदायिकता पर जोर है।

2.5.6. रामदयाल मुंडा की कविता का सौन्दर्य-बोध

रामदयाल मुंडा के काव्य-सौष्ठव का आकलन कथित मुख्यधारा के काव्य-सौन्दर्य के प्रतिमानों की कसौटी पर किया जाना उचित नहीं होगा। उनकी कविता में सौन्दर्य की परिभाषा परम्परागत काव्य-सौन्दर्य की परिभाषा से भिन्न होगी। जल, जंगल, ज़मीन के लिए संघर्ष करते और अपने अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा करते आदिवासियों का चित्रण ही आदिवासी साहित्य का सौन्दर्य है। हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद ने लिखा है – "सुन्दरता की कसौटी बदलनी चाहिए। अभी तक कलाकारों ने शासकों पर अवलम्बित रहकर केवल उनका गुणगान किया है। किन्तु आज झोपड़ी और उसकी शुष्कता का चित्रण होना आवश्यक हो गया है। कुम्हलाए और आँसूओं से सिक्त मुँह का चित्रण होना आवश्यक है।" यह मत आदिवासियों के सौन्दर्य की परिभाषा के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। कोई भी साहित्य तभी सार्थक होता है जब वह युगबोध से जुड़ा होता है। अपने समय के उतार-चढ़ाव को चित्रित करने वाला साहित्य ही कालजयी होता है। झारखण्ड क्षेत्र में 1978 ई. में बड़े पैमाने पर जंगल आन्दोलन इसलिए हुआ क्योंकि सारंडा क्षेत्र के शाल वृक्षों को काटकर उनके बदले दूसरे पेड़ लगाए जा रहे थे। वृक्ष-आधारित आदिवासी संस्कृति पर प्रहार किया जा रहा था। बुद्धिजीवी कवि रामदयाल मुंडा कटते शाल वन से आहत होते हैं और अपनी कविता में कटते शालवृक्ष की पीड़ा को स्वर दे पाते हैं। आदिवासी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र निर्धारित करते समय सर्वप्रथम सौन्दर्य की व्याख्या आदिवासी दृष्टिकोण और आदिवासी जीवन-मूल्यों के आधार पर करनी होगी। आदिवासी जीवन-मूल्य में सहयोगिता, समानता, सहजीविता, सामूहिकता, सहभागिता को महत्त्व दिया जाता है।

आदिवासी कविता 'गीत परम्परा' का पद्य है। ये मौखिक परम्परा के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षित रहे हैं। आदिवासी 'गीत' सम्पदा अत्यन्त समृद्ध रही है। लेखिका वन्दना टेटे लिखती हैं – "आदिवासी कविताओं की मूल प्रकृति 'गीत' की ही है, जिसका रचयिता कोई एक नहीं बल्कि पूरा समुदाय हुआ करता है। इसमें संगीत और नृत्य की अनिवार्य मौजूदगी होती है और जिनके बिना गीतों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। संग्रह में शामिल कविताएँ 'गीत' सृजन की इस सांगीतिकपरम्परा को अपने साथ लेकर चलती हैं और 'गीत' नहीं होने के बावजूद ध्वनि-संगीत की विशिष्टता से खुद को गीतात्मक परम्परा से बाहर नहीं जाने देतीं।" (– लोकप्रिय

आदिवासी कविताएँ) रामदयाल मुंडा की कविताएँ 'जड़ी-बूटी पीसने की तरह' और 'राजा ठाकुर होते थे', इसी 'गीत परम्परा' पर आधारित हैं।

रामदयाल मुंडा ने आदिवासी विश्व दृष्टिकोण और आदिवासी जीवन-मूल्यों के आधार पर अपनी कविताओं की रचना की है। उनकी कविताओं में पूरी सृष्टि, प्रकृति, मानव, मानवेतर जगत के प्रति प्रतिबद्धता है। यही रामदयाल मुंडा की कविताओं का सौन्दर्य है। कवि भारत के मूलनिवासी आदिवासियों के साथ खड़ा है। सखुआ वृक्ष के बहाने पूरी सृष्टि के वृक्षों, वनस्पतियों और उनकी हरियाली को सहेजने का प्रयास उनकी कविताओं में सहज ही देखा जा सकता है।

प्रसिद्ध लेखक हरिराम मीणा आदिवासी साहित्य के सौन्दर्य-बोध को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – "आदिवासी साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का जहाँ तक प्रश्न है तो यह कहना उचित होगा कि लिपिबद्ध आदिवासी साहित्य अभी नया-नया है इसलिए इसका मूल्यांकन, प्रतिमान-विश्लेषण, प्रवृत्तियों की पहचान, शिल्प एवं सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी जन्म विषयों पर शोध कार्य एवं चिन्तन किया जाना शेष है। फिर भी कुछ प्रवृत्तियों पर चर्चा की जानी चाहिए।" (आदिवासी विमर्श) हरिराम मीणा ने आदिवासी साहित्य के शिल्प और सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए कुछ बिन्दुओं का जिक्र किया है, उनमें प्रमुख हैं–

(i) आदिवासी साहित्य के शिल्प व सौन्दर्य-बोध को समझने के लिये मुख्यधारा के प्रचलित प्रतिमान काम नहीं आएँगे। इस साहित्य को समझने के लिए आदिवासी समाज के अतीत, लम्बी परम्परा, संस्कृति, समग्र जीवन, भविष्य की अपेक्षाओं एवं आकांक्षाओं आदि को समझना होगा।
(ii) आदिवासी साहित्य अपने शिल्प व भाषिक मुहावरे के साथ सामने आएगा। इसे समझने के लिए जापानी कविता के प्रेरणा-पुरुष इशिकावा ताकुबोको के इन शब्दों को यहाँ उद्धृत किया जाना ठीक होगा – "शिल्प और भाषा, वस्तु और जीवन-दृष्टि के अनुरूप स्वयं बदलते चलते हैं, उन्हें अलग से बदलने की ज़रूरत नहीं पड़तीं।" (आदिवासी विमर्श)

'कथन शालवन के अंतिम शाल का' कविता को लम्बी कविता की स्तरीय कविताओं के समक्ष सरलता से खड़ा किया जा सकता है। उनकी कविता आदिवासी जीवन और प्रकृति का सिर्फ दृश्यांकन करने वाली नहीं हैं। सन् 80 के दशक में रामदयाल मुंडा ने झारखण्ड क्षेत्र की भाषा, संस्कृति, लोकनाट्य (छऊ) और आदिवासी मुद्दों पर राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर काम करना प्रारम्भ किया। इसी दौर में उनकी कविताएँ हिन्दी में भी आईं। सन् 1980 में 'नदी और उसके सम्बन्धी और अन्य गीत' तथा सन् 1988 में 'वापसी पुनर्मिलन और अन्य गीत' प्रकाशित हुई। इन हिन्दी कविताओं के द्वारा रामदयाल मुंडा हिन्दी के आदिवासी स्वर के प्रमुख हस्ताक्षर बन गए। रामदयाल मुंडा आगे की पीढ़ी को भी प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे। पर्यावरण संकट, वैश्विक ताप के इस दौर में विश्वभर के आदिवासी समुदाय अपनी ज़मीन, जलस्रोत, जंगल, पहाड़ और जैव विविधता को बचाने के लिए निर्णायक जंग लड़ रहे हैं।

2.5.7. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

01. रामदयाल मुंडा किस आदिवासी समुदाय से सम्बन्धित हैं ?
(क) उरांव
(ख) गौंड
(ग) खड़िया
(घ) मुंडा

सही उत्तर (घ)

02. निम्नलिखित में से कौन प्रमुख आदिवासी चिन्तक नहीं है ?
(क) रामदयाल मुंडा
(ख) जयपाल सिंह मुंडा
(ग) अर्जुन मुंडा
(घ) हेराल्ड तोपनो

सही उत्तर (ग)

03. आदि धरम में किस आदिवासी धर्म की चर्चा है ?
(क) सरना
(ख) बौद्ध
(ग) सिख
(घ) सनातन

सही उत्तर (क)

04. रामदयाला मुंडा पर बनी डाक्यूमेंट्री फिल्म 'जे नाची से बाची', जिसे राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार से सम्मानित किया गया, उसके निर्देशक कौन हैं ?
(क) घनश्याम
(ख) रंजीत उरांव
(ग) मेघनाथ
(घ) निरंजन कुजूर

सही उत्तर (ग)

05. रामदयाल मुंडा किस सभा के सदस्य मनोनीत किए गए थे ?
(क) लोकसभा
(ख) राज्यसभा
(ग) विधानसभा

(घ) विधान परिषद्

सही उत्तर (ख)

06. रामदयाल मुंडा को संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार कब दिया गयाथा ?

(क) 2010

(ख) 2009

(ग) 2011

(घ) 2008

सही उत्तर (क)

07. रामदयाल मुंडा किस विश्वविद्यालय के कुलपति रहे ?

(क) राँची

(ख) संबलपुर

(ग) विलासपुर

(घ) रायपुर

सही उत्तर (क)

08. रामदयाल मुंडा को पद्मश्री पुरस्कार से कब सम्मानित किया गया?

(क) 2010

(ख) 2011

(ग) 2007

(घ) 2001

सही उत्तर (ग)

09. रामदयाल मुंडा की प्रसिद्ध उक्ति क्या है ?

(क) अबुआ दिशुम राज

(ख) जे नाची से बाची

(ग) सेनगी सुसुन कजिगी दुरंग

(घ) सोनालेकेन दिसुम

सही उत्तर (ख)

10. रामदयाल मुंडा की कविता 'कथन शालवन के अंतिम शाल का' किस काव्य-संग्रह में संकलित है ?

(क) नदी और उसके सम्बन्धी और अन्य गीत

(ख) वापसी पुनर्मिलन और अन्य गीत

(ग) सेलेद

(घ) हिसिर

सही उत्तर (ख)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सखुआ या साल वृक्ष का सांस्कृतिक महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
2. "रामदयाल मुंडा आदिवासियों के सांस्कृतिक नायक हैं।" सिद्ध कीजिए।
3. आदिवासी क्षेत्रों में भूमण्डलीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है ?
4. "आदिवासी संस्कृति प्रकृति आधारित है।" स्पष्ट कीजिए।
5. रामदयाल मुंडा के कृतित्व और व्यक्तित्व का सामान्य परिचय दीजिए।
6. आदिवासी विमर्शकार के रूप में रामदयाल मुंडा की भूमिका को चिह्नित कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "आदिवासी गीतों और कविताओं में प्रेम को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है।" विवेचना कीजिए।
2. 'राजा ठाकुर होते थे' कविता के आधार पर आदिवासी जीवन-मूल्य में श्रम की प्रतिष्ठा का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।
3. जंगल के पेड़ आदिवासी संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'कथन शालवन के अंतिम शाल का' कविता के आधार पर उक्त कथन का आकलन कीजिए।
4. वर्तमान पर्यावरण संकट, वैश्विक ताप और जटिल वैश्विक परिस्थितिओं में आदिवासी दर्शन की प्रासंगिकता और उपयोगिता पर विचार कीजिए।
5. रामदयाल मुंडा की कविताओं की भाषा, बिम्ब और प्रतीक का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कीजिए।

2.5.8. कठिन शब्दावली

बखरी	–	ज़मींदार का घर
ठेंपी	–	ढक्कन
छिनग	–	अलग
शाल	–	सखुआ, सरई, सारजोम, साखू
समवेत संहार	–	सामूहिक संहार
बल्कल	–	छाल
व्यष्टि	–	व्यक्ति
समष्टि	–	सृष्टि
खार-क्षार	–	लवणीय अम्लीय द्रव्य

2.5.9. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. गुप्ता रमणिका (2015), कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN 978-93-5229-277-6, पृ. 50-51

2. मुंडा रामदयाल (1988), वापसी पुनर्मिलन और अन्य गीत, छोटानागपुर प्रकाशन केन्द्र, राँची, पृ. 8-12
3. टेटे वन्दना (2015) आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, ISBN 978-93-82695-34-9, पृ. 42
4. गुप्ता रमणिका (2016) आदिवासी समाज और साहित्य, सामयिक पेपर बेक्स, नई दिल्ली, ISBN 978-81-7138-325-2, पृ. 42-42
5. मुंडा, डॉ॰ रामदयाल (2002), आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली ISBN 978-81-7714-071-X, पृ. 54-56
6. टेटे, वन्दना (2017), लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, ISBN 978-93-5186-877-4, पृ. 7
7. कृष्ण वी भीम सिंह (2014), आदिवासी विमर्श, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, ISBN 978-93-83513-26-0, पृ. 117-118
8. सहाय, राज (अनु.), (2018), आदिम मुंडा और उनका प्रदेश, आदिवासी वेलफेयर सोसाइटी, जमशेदपुर, पृ. 71-80 (मूल लेखक – सरत चंद्र राय, मूल पुस्तक – 'द मुंडाज एंड देयर कंट्री', 1912)

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड– 2 : काव्य

इकाई – 6 : एक और जनी-शिकार, कलम को तीर होने दो, हे समय के पहरेदारो ! – ग्रेस कुजूर

इकाई की रूपरेखा

2.6.00. उद्देश्य कथन
2.6.01. प्रस्तावना
2.6.02. हिन्दी कविता का आदिवासी स्त्री स्वर
2.6.03. स्त्री नेतृत्व को महत्त्व प्रदान करती कविता 'एक और जनी-शिकार'
2.6.04. आदिवासी संस्कृति और जीवन-मूल्य पर आधारित कविता 'कलम को तीर होने दो'
2.6.05. प्रकृति, पर्यावरण आधारित कविता 'हे समय के पहरेदारो !'
2.6.06. ग्रेस कुजूर की कविता के प्रतिमान : बिम्ब और प्रतीक
2.6.07. ग्रेस कुजूर की कविता की भाषा
2.6.08. ग्रेस कुजूर की कविताओं का मूल्यांकन
2.6.09. बोध प्रश्न
2.6.10. कठिन शब्दावली
2.6.11. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.6.00. उद्देश्य कथन

हिन्दी की वरिष्ठ आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर ने सन् 70 के दशक में लिखना प्रारम्भ किया था। उन्होंने अपनी कविताएँ सीधे हिन्दी में ही लिखी हैं। अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण में नवीनता के साथ ही उनकी कविताओं के बिम्बों में भी नवीनता है। उन्होंने झारखण्ड आन्दोलन के दौरान महिला नेतृत्व को सिनगी दई के बहाने याद किया है। उनकी कविता 'एक और जनी शिकार' का प्रकाशन सन् 2001 ई. में हुआ। ग्रेस कुजूर विरचित 'कलम को तीर होने दो', 'एक और जनी-शिकार', 'हे समय के पहरेदारो !' जैसी कविताएँ राष्ट्रीय फलक पर महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। इस पाठ के अध्ययन के बाद आप –

i. समकालीन हिन्दी कविता के आदिवासी स्त्री स्वर को समझ सकेंगे।
ii. आदिवासियों की पर्यावरण हितैषी जीवन-शैली से परिचित हो सकेंगे।
iii. पर्यावरण संरक्षण पर आधारित कविताओं के प्रति अपनी समझ विकसित कर सकेंगे।
iv. आदिवासियों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को समझ सकेंगे।
v. आदिवासी समाज में स्त्रियों के स्थान को जान सकेंगे।
vi. ग्रेस कुजूर की कविताओं की भाषा तथा बिम्ब और प्रतीक से परिचित हो सकेंगे।

2.6.01. प्रस्तावना

हिन्दी की आदिवासी रचनाशीलता में ग्रेस कुजूर का प्रमुख स्थान है। आदिवासी कविता के क्षेत्र में इनकी मौलिक पहचान है। ग्रेस कुजूर का जन्म इटकी (राँची) में हुआ था। उनके पिताजी का नाम पैट्रिक कुजूर है जो मिलिट्री में कंपाउंडर थे और माँ का नाम रूथ केरकेट्टा है। उल्लेखनीय है कि आदिवासियों के शिक्षित होने अथवा उनको शिक्षा के प्रति जागरुक करने में ब्राह्मणों-पण्डितों का कोई अवदान नहीं रहा। आदिवासी क्षेत्रों में मिशनरियों के द्वारा जो स्कूल स्थापित किए गए थे उन्हीं स्कूलों में राँची के आसपास के अधिकांश आदिवासियों ने शिक्षा ग्रहण की। मिशनरियों द्वारा स्थापित सेंट जॉन्स स्कूल से 1908 ई. में पहली बार किसी आदिवासी ने, जिसका परीक्षा बोर्ड कलकत्ता में था, मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। ग्रेस कुजूर की माँ और उनके पिताजी की शिक्षा भी इन्हीं मिशनरी स्कूलों में हुई। पढ़ाई के बाद उनकी माँ ने हेल्थ विजिटर की नौकरी पाई और पिताजी को कंपाउंडर की नौकरी मिली। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आदिवासियों की दूसरी और तीसरी पीढ़ी को ऊँचे पदों पर आसीन होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ग्रेस कुजूर ने राँची के कॉन्वेंट स्कूल से 1966 ई. में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। कविता लेखन का प्रारम्भ उन्होंने पी.जी. की पढ़ाई के दौरान किया था। डॉ॰ दिनेश्वर प्रसाद उन्हें लिखने की प्रेरणा देते रहते थे। 1973 ई. में टीचर ट्रेनिंग कॉलेज से उन्होंने शिक्षक प्रशिक्षण लिया। 1973 ई. में ही उन्होंने यू.पी.एस.सी. के माध्यम से रेडियो कार्यक्रम अधिशासी पद हेतु आवेदन किया और उन्हें इंटरव्यू के लिए बुलाया गया। फरवरी 1976 ई. में उन्होंने आकाशवाणी में कार्यभार ग्रहण किया। उनकी पहली पोस्टिंग भागलपुर में हुई। 1977 ई. में वे आकाशवाणी, राँची आईं। 1981 ई. में उनकी पोस्टिंग आकाशवाणी, पटना में सहायक केन्द्र निदेशक के रूप में हुई। 1981 ई. से 1985 ई. तक उन्होंने आकाशवाणी, पटना के विज्ञापन प्रसारण सेवा में बतौर सहायक केन्द्र निदेशक कार्य किया। वे 1987 ई. में आकाशवाणी, भागलपुर में केन्द्र निदेशक नियुक्त हुईं और 1990 ई. में आकाशवाणी, राँची में केन्द्र निदेशक के पद पर योगदान दिया। ग्रेस कुजूर ने 1996 ई. से 2000 ई. तक आकाशवाणी, पटना में बतौर केन्द्र निदेशक काम किया। सन् 2001 ई. में उनकी नियुक्ति आकाशवाणी, दिल्ली में उपमहानिदेशक पद पर की गई जहाँ उन्होंने 2008 ई. तक उपमहानिदेशक के पद को संभाला। ग्रेस कुजूर ने रेडियो कार्यक्रम में सहभागिता के लिए 2006 ई. में जर्मनी और 2007 ई. में ईरान की यात्रा भी की।

अपने आकाशवाणी के अनुभव बताते हुए ग्रेस कुजूर लिखती हैं – "मैं चूँकि आकाशवाणी से जुड़ी हूँ इसलिए अपनी भाषा को लेकर सदैव चिन्तित रही हूँ। मैंने गुपचुप एक प्रयास किया जो शायद कम ही लोगों को पता है। राँची में रहते हुए मैंने अपने क्षेत्र की चार-पाँच मुख्य भाषाओं का प्रसारण आकाशवाणी से करवाया। इसके लिए मुझे संघर्ष करना पड़ा। बहुत लोगों से निवेदन भी किया कि मुंडारी, हो, संताली, खड़िया और कुडुख भाषा में पाँच मिनट के समाचार प्रसारित हों।" लोककथाएँ प्रसारित करवाने में भी ग्रेस कुजूर ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। (आदिवासी समाज और साहित्य)

भागलपुर प्रवास के दौरान उन्होंने 1987 ई. से 1990 ई. के बीच में 'कलम को तीर होने दो' कविता लिखी। भागलपुर और राँची में रहने के दौरान ही पत्थरों को तोड़े जाने और पहाड़ों को समतल किए जाने से मर्माहत होकर उन्होंने 'हे समय के पहरेदारो !' प्रसिद्ध कविता लिखी जो वर्तमान पर्यावरण संकट के दौर में

प्रासंगिक है। 2001 ई. में उन्होंने पटना में 'एक और जनी-शिकार' कविता लिखी। एक ही बैठक में यह कविता पूरी हुई थी और 2001 ई. में यह पहली बार 'आर्यावर्त्त' में छपी थी। इनकी कविताएँ हिन्दुस्तान, आज, प्रभात खबर, युद्धरत आम आदमी, आर्यावर्त्त आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं। कविता-रचना के साथ ही उन्होंने डायन प्रथा पर एक रेडियो नाटक का निर्माण भी किया है।

ग्रेस कुजूर की प्रकाशित कविताएँ हैं – पानी ढोती औरत, आग, रेशमी सपने, धार के विपरीत, पीपल का पेड़, बौना संसार, नन्हीं हरी दूब, बिचौलियों के बीच, एक और जनी-शिकार, कलम को तीर होने दो, हे समय के पहरेदारो !, मेरा आदम मुझे लौटा दो, गाँव की मिट्टी, प्रतीक्षा में, दो बूँद आँसू आदि। सत्तर के दशक से आरम्भ होकर तीन दशकों तक सफलतापूर्वक चलने वाले 'कोयलकारो आन्दोलन', 1978 का 'जंगल आन्दोलन', 90 के दशक का 'नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज के खिलाफ आन्दोलन' और सबसे बड़ा आन्दोलन 'झारखण्ड गठन के लिए आन्दोलन' – इन सभी आन्दोलनों का व्यापक प्रभाव ग्रेस कुजूर की रचनाशीलता में देखा जा सकता है। ग्रेस कुजूर की एक प्रसिद्ध कविता है – 'प्रतीक्षा में'। इस कविता की इन पंक्तियों को देखिए –

लोहे की धरती का पानी
पीने के बावजूद
हवा के एक झोंके में उड़ जाते हो
आसाम, भूटान, ईंट भट्ठा और महानगर।

स्त्रियाँ आदिकाल से ही गीत (मौखिक साहित्य) का सृजन करती रही हैं। विशेषकर आदिवासी स्त्रियाँ साहित्य संरक्षण के साथ ही खेत-खलिहान, हाट-बाजार से लेकर विभिन्न आन्दोलनों में निरन्तर अपनी सक्रिय सहभागिता दिखाती आई हैं। शिक्षा-प्राप्ति के उपरान्त साहित्य-सृजन ख़ासकर कविता-लेखन स्त्रियों का पसंदीदा अभिरुचि बन गई। स्त्रियाँ अपेक्षाकृत ज्यादा सम्वेदनशील होती हैं। वे हर विषय को गम्भीरतापूर्वक देखती-समझती हैं और उन विषयों पर निरन्तर साहित्य-सृजन करती आई हैं। ग्रेस कुजूर अपनी कविताओं के द्वारा झारखंडी समुदाय से मुखातिब होतीहैं। संघर्ष और विद्रोह की ज़मीन तैयार करती हैं और आन्दोलनकारियों में ऊर्जा का संचार करती हैं –

हे संगी !
तानो अपना तरकस
नहीं हुआ है भोथरा अब तक
'बिरसा आबा का तीर'

* * *

और अगर
अब भी तुम्हारे हाथों की
अँगुलियाँ थरथराईं

तो जान लो
मैं बनूँगी एक बार और
'सिनगी दई'

जल, जंगल, ज़मीन को बचाने के संघर्ष में शामिल आदिवासी जन समुदाय के लिए प्रतिरोध की ज़मीन तैयार करने वाली कवयित्रियों में ग्रेस कुजूर का प्रमुख स्थान है। ग्रेस कुजूर आकाशवाणी के बड़े पदों पर आसीन रही हैं। उनकी रचनाशीलता, चिन्तनशिलता और स्वप्नशीलता में आदिवासी समुदाय पर पड़ने वाले विकासजन्य दुष्प्रभाव, पलायन-विस्थापन की पीड़ा मौजूद है।

2.6.02. हिन्दी कविता का आदिवासी स्त्री स्वर

साहित्यिक भेदभाव का सटीक उदाहरण है – स्त्री विमर्शमूलक, दलित विमर्शमूलक और आदिवासी विमर्शमूलक साहित्यकारों की हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल के इतिहास-लेखन में उपेक्षा। सन् 1980 से पूर्व लिखित साहित्येतिहासों में इन तीनों साहित्यिक रूपों का उल्लेख नहीं मिलता है। विमर्शमूलक साहित्यकारों की यह उपेक्षा चिन्तनीय है। सन् 1980 के बाद विमर्शमूलक साहित्य सृजन में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। आज की सजग, सचेत नारी वर्तमान समय की चुनौतियों के प्रति सचेत है। स्त्री रचनाकारों में आज के समय के विद्रूपों को भी अपने लेखन में शामिल करने की सजगता है। वे न केवल सम्वेदनशील है बल्कि निरन्तर अध्ययन-लेखन के कारण वैचारिक रूप से भी सम्पन्न भी हैं। कविता में हमेशा ही समय और मानवता को प्राथमिकता प्राप्त होती है। सृजन के तमाम संकटों के बावजूद कविताओं में समय के यथार्थ की अभिव्यक्ति निरन्तर हो रही है।

हिन्दी की आदिवासी स्त्री-रचनाकारों की लम्बी सूची है जो निरन्तर अपनी कविताओं में नवीन स्पन्दन पिरो रही हैं। ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, निर्मला पुतुल, सरोज केरकेट्टा, वन्दना टेटे, जसिंता केरकेट्टा, उज्ज्वला ज्योति तिग्गा, ज्योति लकड़ा, सुशीला धुर्वे, सरितासिंह बड़ाईक, हीरा मीणा, सावित्री बड़ाईक, नीतिशा खलखो, प्रेमी मोनिका तोपनो, विश्वासी एक्का, प्रवीण बसंती खेस्स, शशि नीलिमा डुंगडुंग आदि अनेक नवोदित कवयित्रियों को इसमें शामिल किया जा सकता है। आदिवासी कवयित्रियों का काव्य आदिवासी जीवन और संस्कृति पर आधारित है। इन स्त्री कवियों का काव्य-शिल्प अन्य से भिन्न है। प्रतिरोध के स्वर को देशज भाषा में कहने का एक अलग ही ढंग है। सन् 1990 ई. के बाद आलोचना के लोकतन्त्र में स्त्री, दलित, आदिवासियों को शामिल किए जाने के कारण स्त्री, दलित और आदिवासी कविताओं को भी महत्त्व प्राप्त हो रहा है।

स्त्रियाँ आदिकाल से ही सृजनशील रही हैं। सदियों से गीतों का सृजन कर रही हैं, गीत गा रही हैं। स्त्रियाँ मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन गीतों का हस्तान्तरण करती रही हैं। शिक्षा के प्रचार के कारण स्त्रियों में न सिर्फ सोचने-समझने की शक्ति का विकास हुआ बल्कि चिन्तन, अध्ययन, लेखन के प्रति रुचि भी बढ़ी। झारखण्ड में हिन्दी कविता का उजास सन् 1930 ई. के दशक में फैलने लगा था। झारखण्ड की सुशीला सामद का पहला काव्य-संग्रह 'प्रलाप' 1934 ई. में और 'सपने का संसार' काव्य-संग्रह 1948 ई. में प्रकाशित हो चुका था। 'प्रलाप' की भूमिका 'सरस्वती' के सम्पादक देवीदत्त शुक्ल ने लिखी और 'सपने का संसार' की भूमिका हिन्दी के

विख्यात आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने लिखी थी। स्टेनशीला हेम्ब्रम, सूरजमणि स्टेला कुजूर अस्सी और नब्बे के दशक की हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कवयित्रियाँ हैं। हिन्दी कविता में झारखण्ड की ग्रेस कुजूर के अवदान की समुचित चर्चा अपेक्षित है। ग्रेस कुजूर सन् सत्तर के दशक से कविता लेखन कर रही हैं। अस्सी और नब्बे के दशक में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखीं। हिन्दी कविता को पहले-पहल आदिवासी क्षेत्र के देशज शब्दों, ताजे-टटके बिम्बों और आदिवासी संस्कृति के प्रतीकों से परिचित होने का मौका मिला। हिन्दी की काव्य-भाषा आदिवासी क्षेत्र के देशज शब्दों से समृद्ध हुई।। ग्रेस कुजूर की कविताओं में अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण की ताजगी है, माटी का सुवास है। वे हिन्दी कविता के क्षेत्र में देशव्यापी पहचान बना चुकी हैं। आदिवासी साहित्य के अस्तित्व पर विचार करते हुए उनका कहना है – "जब हम आदिवासी साहित्य की चर्चा करते हैं तो यह भी एक खुरदुरेपन से शुरू होता है। लोग पूछते हैं कि आदिवासी साहित्य क्या है ? इसमें कितना आकर्षण है ? कितना सौन्दर्य है ? यह कब तक चलेगा और इसकी उम्र क्या होगी ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि जब तक समाज में जातीय वर्गीकरण या समाज का वर्गीकरण होता रहेगा, तब तक दलित-आदिवासी साहित्य भी रहेगा। इसकी उम्र भी लम्बी होती जाएगी। जब तक समाज में समरूपता नहीं आएगी, तब तक आदिवासी, जो वंचित समाज है, अपने हक के लिए लड़ता रहेगा। (आदिवासी समाज और साहित्य)

2.6.03. स्त्री नेतृत्व को महत्त्व प्रदान करती कविता 'एक और जनी-शिकार'

(i) जनी-शिकार की परम्परा

आदिवासी काल-गणना युग के रूप में करते हैं। उनमें बारह वर्षों का एक युग होने के बाद स्त्रियाँ जनी-शिकार के लिए निकली हैं। बारह वर्ष पहले भी स्त्रियाँ जनी-शिकार पर निकली थीं। स्त्री-वेश में और पारम्परिक हथियार के साथ वे वन में शिकार नहीं करतीं, गाँव में शिकार करती हैं। नियम यह है कि जनी-शिकार के लिए निकलने से पहले दिन जहाँ शिकार के लिए जाना है, उस गाँव को सूचित करना आवश्यक है ताकि गाँव वाले अपने पशु-पक्षीधन को बाड़ों में सुरक्षित कर लें। इस तरह बाड़े के बाहर छूट गए मवेशी और उड़कर भागी मुर्गियाँ ही शिकारियों के हाथ लगती हैं।

सिनगी दई ने चंपू दई और कईली दई के नेतृत्व में मध्यकाल में तुर्क-पठानों का मुकाबला किया था। पड़हा राजा की बेटी सिनगी दई ने रोहतासगढ़ के किले की रक्षा करने के लिए पुरुष वेश में पारम्परिक हथियारों तीर-धनुष, कुल्हाड़ी, बरछा, बलुआ, भाला, गुलेल, ढेलबांस (मिरियो) के जरिये महिलाओं को साथ लेकर रणनीति बनाई थी। विशु शिकार और सरहुल के समय पुरुषों की कम उपस्थिति और उत्सवजन्य मदहोशी के कारण उन्हें मोर्चा संभालना पड़ा था। ग्वालिन सुन्दरीदेवी के दगा के कारण आक्रमणकारियों ने जाना कि वे पुरुष वेश में स्त्रियाँ है। सुन्दरी दूध-दही का कारोबार करने वाली महिला थी। सुन्दरी ने बादशाह के सेवकों को पूरा ब्योरा दिया। कितने घर हैं, हर घर में कितने पुरुष-स्त्री हैं, उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थिति क्या है, कौन-सा पर्व कैसे मनाते हैं ! सुन्दरी ने सब पूरे विस्तार से बताया। उनके खद्दी (सरहुल) पर्व के बारे में बताया कि खद्दी तो लोग जी खोल कर मनाते हैं। तीन दिनों तक सब काम बंद रहता है। पूजा-पाठ के बाद घर-घर फूलखोंसी होता है। तब

जश्न शुरू होता है। सारे पुरुष एक दूसरे के घर जाते हैं। छक कर पीते हैं। तब स्त्रियाँ ही घर और मवेशियों को संभालती हैं। रोहतासगढ़ पर तुर्क-पठानों का अधिकार हो गया तो उरांव समुदाय के लोग उत्तर कोईल के किनारे चलते हुए छोटानागपुर आये और मुड़मा में मुंडा आदिवासियों ने उन्हें जगहदी। उरांव महिलाओं ने सिनगी दई, चंपू दई और कईली दई के नेतृत्व में तीन बार विजय प्राप्त की थी। इसीलिए उरांव महिलाएँ तीन लकीर वाला गोदना ललाट और कनपटी में गोदवाती हैं। बारह वर्षों के अन्तराल में तीनों युद्ध हुए थे। इसी से हर बारह वर्ष में जनी-शिकार होता है।

'एक और जनी-शिकार' कविता को भाषा, बिम्ब में नवीनता और ताजगी के लिए विशिष्ट माना जाता है। सिनगी दई को याद करते हुए सन् 2001 ई. में प्रकाशित 'एक और जनी-शिकार' में कवयित्री आदिवासी महिलाओं की नेतृत्व-क्षमता को स्पष्ट करती हैं –

और अगर
अब भी तुम्हारे हाथों की
अँगुलियाँ थरथराई
तो जान लो
मैं बनूँगी एक बार और
'सिनगी दई'
बाँधूँगी फेटा
और कसेगी फिर से
'बेतरा' की गाँठ
नहीं छुपेगी अब
किसी ग्वालिन की कोई साठ-गाँठ

सच !!
बहुत ज़रूरत है झारखंड में
फिर एक बार
एक जबरदस्त
जनी-शिकार।

(ii) आदिवासी समाज में स्त्रियों का स्थान

आदिवासी महिलाओं की सामाजिक स्थिति के आकलन के लिए कुछ बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है। सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ बच्चियों को जन्म लेने का अधिकार है। कन्या भ्रूण-हत्या आदिवासी क्षेत्रों में न के बराबर है। लड़कियों का जन्मोत्सव बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। झारखण्ड के आदिवासी क्षेत्रों में पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों की संख्या राष्ट्रीय लिंगानुपात से बहुत बेहतर स्थिति में है। छउवा शब्द का प्रयोग छोटी बच्चियों और छोटे बच्चों के लिए समान रूप से होता है। इससे भी बालक-बालिकाओं में बराबरी का संकेत प्राप्त होता है। आदिवासी परिवारों में बेटियों के लिए सयानी बेटियों की स्वीकृति

प्राप्त है। आदिवासी लड़की को अपना जीवनसाथी चुनने का और अपनी पसंद-नापसंद बताने का अधिकार-प्राप्त है। परित्यक्ता और विधवा भी अपना जीवनसाथी चुनकर जीवन को फिर से सुन्दर बनाने का अधिकार रखती है। विवाह के लिए ऋण लेने की नौबत नहीं आती। बालक-बालिकाओं के अनाथ-आश्रम जैसी व्यवस्था बनाने की आवश्यकता नहीं होती। कम आमदनी और कम संसाधन के बावजूद गाँव के लोग वृद्धों और छोटे अनाथ बच्चों की देखभाल कर लेते हैं।

संताल हूल, बिरसा उलगुलान, झारखण्ड आन्दोलन, जंगल आन्दोलन, कोयलकारो आन्दोलन, नेतरहाट फील्ड फायरींग रेंज के खिलाफ हुए आन्दोलनों में महिलाओं ने अपनी सक्रिय भागीदारी निभायी। रामदयाल मुंडा लिखते हैं – "हाल के दिनों में जेसीसी, कोयलकारो एवं नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज के आन्दोलनों से हमें सफलता का अभास मिलता है। किन्तु सबसे मार्के की बात है – इन तीनों अभियानों में स्त्रियों का बढ़-चढ़ कर भाग लेना। मात्र भीड़ के रूप में नहीं, जो कि सामान्यतया देखने को मिलता है बल्कि नेतृत्व के स्तर पर भी स्त्रियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके पीछे मूल कारण है इन तीनों परियोजनाओं का संभावित तत्कालीन गहनतम प्रभाव स्त्रियों पर ही पड़ना। तीनों ही क्षेत्र जंगलों के हैं और जंगल के डूब जाने या उसके घिर जाने से जो तत्कालीन प्रभाव सीधे चूल्हे पर पड़ता, इसकी अनुभूति स्त्रियों से ज्यादा कोई नहीं कर सकता। (आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल)

(iii) एक और जनी-शिकार

आदिवासी स्त्री-लेखन आदिवासी चेतना से सम्पृक्त है। आदिवासी रचनाकार आन्दोलन के साथ अपने लेखन में भी सिर्फ स्त्री-मुक्ति की बजाय समुदाय, पृथ्वी और समूची सृष्टि की मुक्ति के प्रश्न को केन्द्र में रखती हैं। आदिवासी स्त्री कवि की चेतना आदिवासियत अर्थात् आदिवासियों के उस दर्शन से निर्मित हुई है जिसमें सहजीविता, सहअस्तित्व, सामुदायिकता, सहभागिता, सामूहिकता के जीवन-मूल्य सर्वोपरि हैं। आदिवासी समाज प्रकृति का संरक्षक रहा है। वह प्रकृति से गहरा अनुराग रखता है। प्रकृति से छेड़छाड़ आदिवासी समाज के लिए असहनीय है। आज मुख्यधारा का समाज गैर आनुपातिक तरीके से प्रकृति का दोहन करने पर तुला है जिस पर आदिवासी कवयित्रियाँ चिन्ता व्यक्त करती हैं और प्रकृति के प्रति सावधान रहने की वकालत करती हैं।

आज आदिवासी जीवन के साथ-साथ जंगल का जीवन भी खतरे में पड़ गया है। वृक्षों का कटना निरन्तर जारी है जिससे पर्यावरण पर खतरा मंडराने लगा है। जीवन भी असुरक्षित हो गया है जिसे आज का मानव अनदेखा किए जा रहा है। जंगल का कटना, खनिजों का अनुचित खनन, प्राकृतिक संसाधनों का अनुपयुक्त तरीके से दोहन आदि अनेक ज़्यादतियों से ग्रेस कुजूर चिन्तित हैं –

कहाँ है वह फुटकल का गाछ
जहाँ चढ़ती थी मैं
साग तोड़ने
और गाती थी तुम्हारे लिए

फगुआ के गीत
जाने किधर है
कोमल पत्तियों वाला
कोयनार का गाछ
जिसके नीचे तुम
बजाया करते थे
मांदर और बाँसुरी?

कहाँ गई वह सुगंध
महुआ और डोरी की
गूलर और केयोंद की
कहाँ खो गया बाँसों का संगीत
और जाने कहाँ उड़ गई
'संधना' की सुगंध ?

आदिवासी समुदायों में सखुआ वृक्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सखुवा के वृक्ष उनकी संस्कृति से जुड़े हुए हैं। सखुआ वृक्षों के बचाने के लिए ही 1978 ई. में आदिवासियों ने 'जंगल आन्दोलन' किया था क्योंकि वहाँ सखुआ के पेड़ के बदले दूसरे पेड़ लगाए जा रहे थे। झारखण्ड के आदिवासी सूचना देने के लिए और संवाद स्थापित करने के लिए सखुआ के पत्तों का प्रयोग करते रहे हैं। 1855 ई. के संथाल हूल, 1900 ई. के बिरसा उलगुलान और नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज के खिलाफ हुए आन्दोलन में सखुआ के पत्तों के जरिये ही लोगों को सूचनाएँ दी जाती थीं और वे लोग आन्दोलन के लिए एकजुट होते थे। सखुआ पत्तों से दोना-पत्तल बनाये जाते हैं। सखुआ के तने से गोंद (धूवन), टहनियों से दातुन और फल से साखू (बीज) प्राप्त होते हैं। सखुआ के जंगल के आसपास ही रूगड़ा और खुखड़ी पाये जाते हैं जो आदिवासी आहार-परम्परा में शामिल हैं। कवयित्री ग्रेस कुजूर सखुआ के जंगल के विरल होने से चिन्तित हैं –

सखुआ की पत्तियों में
किसने किए हैं सुराख
कैसे बीनूँगी उनकी पत्तियाँ
कैसे सीऊँगी दोना और पतरी
अब तो बढ़ने लगे हैं
दातून भी
टेढ़े मेढ़े

आदिवासी जीवन-संस्कृति में नृत्य-संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी जंगल के परिवेश में ही अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रसन्नता के साथ सम्पन्न करते हैं। मांदर, ढोल, नगाड़े अखड़ा में गूँजते हैं। अंगनई और डमकच के गीत भी गाये जाते हैं। अपनी संस्कृति के इस वैशिष्ट्य को शहरी वातावरण में कायम रखने में आदिवासी लोग असमर्थ हो रहे हैं। कवयित्री लिखती हैं –

संगी रे–
कितने चमकते थे
पटवा में खोंसे हुए तुम्हारे
उजले पंख-बगुले के
और कितना लहराता था
अखरा में नाचते वक्त
तुम्हारी तोलोंग का फुदना
कितना सुकून पैदा करती थी
रात के सन्नाटे में
मांदर की थाप
और हवा में घुलते
'अंगनई' और 'डमकच' के गीत

अब कहाँ है वह अखरा ?
किसने उगाए हैं वहाँ
विषैले नागफनी
बार-बार उलझता है जहाँ
तुम्हारी 'तोलोंग' का फुदना
क्यों उदास है आज
'पटवा' के उजले पंख ?
हवा में नहीं तैरते अब
'अंगनई' और 'डमकच' के गीत
सिल गए हैं होंठ मेरे
धतूरे के काँटों से .....

सरहुल के समय पूजा के उपरान्त सखुआ के फूल जूड़े में खोसे जाते हैं। पहान सरहुल पूजा के बाद सखुआ के फूलों को प्रसाद के रूप में बाँटते हैं। पर अब सखुआ के वृक्ष कम हो रहे हैं। यदि जंगल इसी तरह कटते रहेंगे तो जंगल पर आधारित आदिवासी संस्कृति कब तक कायम रहेगी, ज़मीन के बंजर होने पर केंकड़ा और मछलियों को खेतों से कैसे प्राप्त किया जाएगा और सरहुल कैसे मनाया जाएगा ! कवयित्री आदिवासी संस्कृति के संरक्षण को लेकर चिन्तित हैं –

मेरा जूड़ा बहुत सूना लगता है संगी –
सरहुल के फूलों बिना
और लगता है
कहीं अटक गया है
किसी डाल पर 'करमा' का गीत
नहीं सुनाई पड़ता है अब
बारिश की बूँदों का वह

पत्तियों से झरता हुआ संगीत
नहीं है 'टोकी' में अब
'पियार' और 'पिठोर' की मिठास
न 'खुखड़ी' न 'रूगड़ा'
न घोंघी और केकड़ा
नहीं बुझती अब प्यास
'कादो' हो गया है
डाड़ी और चुआं का पानी

कवयित्री आदिवासी क्षेत्रों के डाड़ी, चुंआ, डोभा और गीतू, बुदू, मांगुर मछलियों के लुप्त होने पर भी खिन्नमना हैं –

संगी रे–
न जाने कौन से देश उड़े
क्षितिज के पार वे
हरे खेतों में विचरते बगुले
नहीं खेलती झूमर अब
'डोभा' के पानी में
'गीतू' और 'बुदु' मछलियाँ
फँसने लगे हैं क्यों
'कुमनी' में
ढ़ोंढ़ बहुत दुमुँहे ?
और बार-बार फिसलने लगी है क्यों
हथेलियों से जिन्दगी यहाँ
मांगुर की तरह?

ग्रेस कुजूर अपने आदिवासी समाज में न सिर्फ चेतना और ऊर्जा का संचार करती हैं प्रत्युत आदिवासी युवकों के लापरवाह होते जाने और अपने जंगल-ज़मीन की रक्षा न कर पाने पर उन्हें धिक्कारने से भी नहीं चूकतीं –

हे संगी!
क्यों घूमते हो
झुलाते हुए खाली गुलेल
जंगल-पहाड़, नदी-ढ़ोढ़ा
तुम्हारी गुलेल का गोढ़ा
डूबते हुए लाल सूरज की तरह
अटक गया है
टहनी में

क्या तुम्हें अपनी धरती की
सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही ?
क्या अब भी निहारते हो
अपने को
दामोदर और स्वर्ण रेखा के
काले जल में ?
किसने की है चोरी
भिनसरिया में ढेंकी के संगीत की
और उखाड़ी है किसने
'आजी' के जाता की कील ?

कवयित्री चाहती हैं कि आदिवासी युवक-युवतियाँ सजग-सचेत रहें। अपने क्षेत्र की हर उस गतिविधि पर बारीक नज़र रखें जो जल-जंगल-ज़मीन की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। ग्रेस कुजूर को झारखण्ड में घटते जंगल, कटते वृक्ष और कम होती हरियाली की गहरी चिन्ता है –

'पुटुस' तक को
उखाड़ कर ले जाएँगे लोग
और तब
तुम खोजोगे उसकी बची हुई जड़ों में
अपना झारखंड
हंड़िया और दारू से सींच कर
क्या किसी ने उगाया है –
कोई जंगल ?

ग्रेस कुजूर की कविता में धरती आबा के रूप में बिरसा मुंडा की भी स्मृतियाँ विद्यमान हैं। महात्मा गाँधी के भारतीय राजनीति में आने के पूर्व में ही छोटानागपुर में ज़मीन की बेदखली के खिलाफ और अधिक लगान वसूलने के कारण मुंडा सरदार और बिरसा मुंडा ने उलगुलान (महासंग्राम) किया था। ग्रेस कुजूर की कविता में गजब की स्वप्नशीलता है। वे आदिवासी समाज से मुख़ातिब होकर संघर्ष और प्रतिरोध के लिए आह्वान करती हैं –

हे संगी !
तानो अपना तरकस
नहीं हुआ है भोथरा अब तक
'बिरसा आबा का तीर'
कस कर थामो
टहनी पर अटके हुए
सूरज के लाल 'गोढ़ा' को

गला दो अपनी हथेलियों की
गर्मी से
और फैला दो झारखंड की
फुनगियों पर
भिनसरिया में उजास।

पहाड़ बरसात के पानी को सोखते हैं और फिर उन पहाड़ों से सोते फूटते रहते हैं। उन स्रोतों से कई छोटी-छोटी नदियों को कई महीनों तक पानी मिलता रहता है। पहाड़ों को तोड़ने और समतल करने से सदानीरा नदियों का क्या होगा ? जैव विविधता और जड़ी-बूटियों के अस्तित्व पर भी संकट गहराएगा। पर्यावरण संकट और जल-प्रदूषण वर्तमान समय की प्रमुख चिन्ताएँ हैं। कवयित्री दामोदर और स्वर्णरेखा के बहाने सभी नदियों की चिन्ता करती हैं और नदियों के अस्तित्व पर विचार करती हैं –

चटकने से पहले
बेध डालो
हाँ, बेध डालो
दामोदर और स्वर्ण रेखा को
काली नागिन बनने से पहले
कि देख सको तुम
उसके निर्मल जल में
सिर्फ़
मछली की आँख
अर्जुन की तरह

आदिवासी समुदायों में महिलाओं की भूमिका बराबरी की है बल्कि खेत-खलिहान, हाट-बाजार से लेकर घर परिवार में तो महिलाएँ अग्रणी भूमिका निभाती हैं। संथाल हूल, बिरसा उलगुलान, जंगल आन्दोलन, कोयलकारो आन्दोलन से लेकर नगड़ी आन्दोलन तक प्रत्येक जन-आन्दोलन में महिलाएँ प्रमुखता से शामिल हुई हैं। ग्रेस कुजूर आदिवासी उरांव समुदाय से आती हैं। वे जन-आन्दोलन में आदिवासी महिलाओं की भागीदारी को समझती हैं इसीलिए वे बड़ी श्रद्धा से सिनगी दई के नेतृत्व को याद करती हैं और बड़े परिवर्तन के लिए हर आदिवासी महिला को सिनगी दई की तरह आगे आने के लिए प्रेरित करती हैं –

और अगर
अब भी तुम्हारे हाथों की
अँगुलियाँ थरथराईं
तो जान लो
मैं बनूँगी एक बार और
'सिनगी दई'
बाँधूँगी फेटा

और कसेगी फिर से
'बेतरा' की गाँठ
नहीं छुपेगी अब
किसी ग्वालिन की कोई साठ-गाँठ
सच !!
बहुत ज़रूरत है झारखंड में
फिर एक बार
एक जबरदस्त
जनी-शिकार।

'एक और जनी-शिकार' कविता में आत्ममंथन और चिन्तन की गहराई है। कवयित्री की आस्था संघर्ष और प्रतिरोध में है। हिन्दी की लम्बी कविताओं की परम्परा में यह कविता एक महत्त्वपूर्ण कविता है। इस कविता में आदिवासी जीवन-मूल्य और आदिवासी दर्शन आदि से अन्त तक मौजूद है। मुगलों के समय और आज के समय में अन्तर होने के बावजूद 'सिनगी दई' से प्रेरणा ली जा सकती है। आदिवासियों का यथार्थ जटिल होता जा रहा है। आदिवासी समुदायों के समक्ष अस्तित्व का संकट है। स्मृतियों को भविष्य के लिए अपनी जगह तलाशनी है। इस कविता में अछूते, ताजे और टटके बिम्ब तथा प्रतीक हैं, अभिव्यक्ति में ईमानदारी है एवं कलात्मक सौष्ठव है। संघर्ष के तरीके बदले जा सकते हैं परन्तु संघर्ष और प्रतिरोध आदिवासियों के अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए आवश्यक है। कवयित्री संघर्ष के सपने देखती हैं और सम्पूर्ण आदिवासी समुदाय को सचेत करते हुए कवि-कर्म का उचित दायित्व-निर्वहन करती हैं।

2.6.04. आदिवासी संस्कृति और जीवन-मूल्य पर आधारित कविता 'कलम को तीर होने दो'

'कलम को तीर होने दो' कविता में कवयित्री ग्रेस कुजूर ने कोंपलों, पर्वतों, विरवों, आहें, अँगुलियों, आँगन और लहुओं को तीर का बिम्ब दिया है। कविता में कमान के प्रतीक हैं – शाखाएँ, नदियाँ, झाड़ियाँ, देह, गलियाँ और नस। यह पहली बार है कि किसी रचनाकार ने कलम को तीर के समान बताया गया है। तीर आदिवासी संस्कृति में सम्भवतः नवपाषाण काल से ही महत्त्व रखता है। लोहे का आविष्कार के पूर्व भी तीर का फलक (नोक) में टेंगरा मछली की हड्डी लगाकर शिकार करने का प्रमाण प्राप्त होता है। तीर और कमान आदिवासी की पहचान है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में घातक हथियार बहुत हैं परन्तु आदिवासी अपने घरों से तीर और कमान निकालकर जल, जंगल, ज़मीन की रक्षा के लिए सड़कों पर अनुशासन के साथ कतारबद्ध चलते हैं। उनके तीर, उनके गीत, उनके पर्व-त्योहार, उनकी सामुदायिकता-सामूहिकता – उनमें शक्ति का संचार करते हैं। आदिवासी पर्यावरण और प्रकृति को सहेजता आया है। आदिवासियों ने खेत बनाते समय, गाँव बसाते समय भी जंगल के आधे हिस्से को छोड़ दिया। जंगल उसकी सांस्कृतिक और आर्थिक जरूरतों को पूरी करता है। विकास के नाम पर जंगल कम हो रहे हैं, धरती गर्म हो रही है, जल का संकट गहराता जा रहा है। कवयित्री तीर की धार और कलम की ताकत से बखूबी परिचित हैं –

शाखें हो गईं कमान सब कोंपल तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

उगल रही धरती आग है
धुँआ हमने पीया है
बूँद-बूँद को तरसे लोग
बूँद बहा कर जीया है
नदियाँ हो गईं कमान सब पर्वत तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

कवयित्री आदिवासी क्षेत्रों में बहिरागतों के प्रवेश से आदिवासी जीवन संस्कृति में हो रहे परिवर्तन, जंगल के उजड़ने, ज़मीन के छिनने को नजरअंदाज नहीं करती। वे झाड़ियों और बिरवों को भी तीर-कमान के समान अपने अधिकार के लिए उठने का आह्वान करती हैं –

वे लूटने-लुटाने आए
हम गए परदेश
धरती उजड़ी जंगल उजड़े
रह गया क्या शेष ?
झाड़ियाँ हो गईं कमान सब बिरवे तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

झारखण्ड कोयला, लोहा, अबरख, ताँबा, लोहा आदि बहुमूल्य खनिज-सम्पदा से सम्पन्न क्षेत्र है। कोयला उत्खनन से दामोदर नदी प्रदूषित हो रही है। लोग कोयले को कन्धों पर लादकर शहरों की ओर रोजी-रोटी के लिए आते हैं। इस ओर भी कवयित्री सचेष्ट है। उनकी दुरावस्था पर भी विचार करती हुई वे कहती हैं –

कोयले की धूल में सोए हैं पाँव
काँधों पे अपने ही
ढोए हैं गाँव
देह हो गई कमान सब आहें तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

कभी बाँध, कभी अभयारण्य, कभी राजपथ (सड़क-मार्ग) विस्तार के नाम पर जल-जंगल-ज़मीन से जुड़े आदिवासीजनों को लगातार विस्थापन-पलायन का दर्द झेलना पड़ रहा है। एक बड़ी आबादी जंगल के प्राकृतिक परिवेश से दूर, अपनी पुश्तैनी ज़मीन की सौंधी गन्ध से महरूम होकर शहरों की गंदी बस्तियों में रहने के लिए अभिशप्त होती है। अपनी ज़मीन और परिवेश से उखड़कर उनकी संस्कृति तो नष्ट होती ही है, उनका आनन्द-उत्सव भी खो जाता है। शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन तो दूर की बात है, अत्यधिक मेहनत करके भी वे अपने परिवार के लिए उचित भोजन तक का प्रबन्ध नहीं कर पाते। खान, खनिज और जंगल के रक्षक आदिवासी कितने

लाचार हो जाते हैं ! उस पर बेवजह उन्हें विकास-विरोधी कहकर लांछित भी किया जाता है। कवयित्री ग्रेस कुजूर इन स्थितियों से क्षुब्ध हैं –

ईंटों के भट्ठों में
सीझ गई जिंदगी
रोटी की खोज में कहाँ नहीं भागी
बाँहें हो गईं कमान सब अँगुलियाँ तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

जंगलों के नष्ट होने से परम्परागत खेतीबाड़ी से दूर होने के कारण बहुत से आदिवासी पलायन के लिए विवश हैं। वे महानगरों में कुली और दाई का काम करते हैं और ईंट-भट्ठों में अभिशप्त जिन्दगी जीते हैं। आदिवासी समुदायों में स्त्रियों की बुद्धिमता को महत्त्व प्रदान करते हुए उन्हें सियानी अर्थात् बुद्धिमती कहा जाता है। कहाँ तो आदिवासी समाज अपने समाज की स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति पर गर्व करने की स्थिति में था और कहाँ आज अपने परिवेश से कोसों दूर महानगरों में दाई का काम करते हुए, ईंट-भट्ठों में खटते हुए वे जिल्लत की जिन्दगी जी रही हैं। कवयित्री अपने आदिवासी भाई-बहनों की इस विकट स्थिति से दुःखी हैं –

अंगनई और डमकच
हवा में नहीं बोल रहा
भूख है शहर गाँवों को लील रहा
गलियाँ हो गईं कमान सब आँगन तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

कवयित्री कलम की ताकत पहचानती हैं। वे अपने आदिवासी भाई-बहनों को बंदूक के सामने तनकर खड़े रहने के लिए प्रेरित करती हैं क्योंकि यहाँ सवाल आदिवासियों के अस्तित्व का है। कविता में बार-बार तीर और कमान की आवृति हुई है। ओज-गुण से परिपूर्ण कविता की ओजमय पंक्तियाँ मनोमस्तिष्क को आन्दोलित कर देती हैं –

क्या कर लेंगी उनका
बंदूक और गोलियाँ
लाँघते ही देहरी
हजारों कहानियाँ
नस-नस हो गईं कमान सब लहू तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो !

युगबोध से सम्पृक्त कविता 'कलम को तीर होने दो' आदिवासी-अस्मिता और अस्तित्व के संकट से जूझ रहे आदिवासी समुदाय में नयी चेतना और ऊर्जा का संचार करती है।

2.6.05. प्रकृति, पर्यावरण आधारित कविता 'हे समय के पहरेदारो !'

आदिवासी केवल अपने हितार्थ जल-जंगल-ज़मीन के लिए संघर्ष नहीं कर रहा है बल्कि वह इस वैश्वीकरण के दौर में सम्पूर्ण सृष्टि के लिए, पूरी दुनिया के लिए संघर्ष कर रहा है। आदिवासी पर्यावरण और जैव विविधता का संरक्षण करना चाहता है। इसके लिए उसे दुनिया के हर हिस्से में पूँजीवाद के खिलाफ संघर्ष करना पड़ रहा है। कवयित्री ग्रेस कुजूर 'हे समय के पहरेदारो !' कविता के माध्यम से अपने समय को स्वर दे रही हैं। वे जल, जंगल, ज़मीन, पहाड़, जैव विविधता को बचाने वालों और संघर्ष करने वालों के साथ हैं। यह कविता उन दिनों लिखी गई जिन दिनों झारखण्ड में जंगल बचाओ आन्दोलन, 1978 ई. चल रहा था। कवयित्री को उन्हीं दिनों भागलपुर में रहने के दौरान संथाल परगना के आदिवासी क्षेत्रों की वस्तुस्थिति समझने का मौका मिला था। वहाँ बड़े पैमाने पर पहाड़ों को ध्वस्त किया जा रहा था। उन्हें क्रशर के हवाले किया जा रहा था। कवयित्री प्राकृतिक उपादानों के नैसर्गिक रूप को विनष्ट नहीं होने देना चाहतीं –

पर्वतों की फिज़ाओं से
आती आवाज़ों को
कभी सुना है तुमने
जिनकी गुफाओं में
प्रकृति सोती है
जहाँ कंदराओं में
हवाएँ झूलती हैं
खामोश है जहाँ
ऋषि-मुनियों की
मौन भाषाएँ
और जुड़ी हैं
वन-प्रांतर की
अनेक कथाएँ
जिनकी तराइयों में
बहती है जीवन की
कई धाराएँ

झारखण्ड सहित मध्यभारत के पठारी भागों, जंगल, पहाड़ों में नवपाषाण काल के अवशेष मिले हैं। पहाड़ों के गुफाओं के कई शैल चित्र इसकी गवाही देते हैं। कवयित्री पहाड़ों, कंदराओं, पहाड़ की तराइयों में आदिम सभ्यता के पनपने की कथा जानती हैं। इन पहाड़ों के टूटने से कवयित्री दुःखी हैं क्योंकि पहाड़ की तराइयों में स्रोतों के समीप ही आदिवासी बसे हुए हैं –

क्या तुमने कभी देखा है
पर्वत को रोते ?

क्या कभी सुनी है
उसके हृदय की आवाज़
क्या कभी देखा है
उसका टुकड़े-टुकड़े होकर
बिखर जाना ?

इसके बावजूद
देखी होगी तुमने
उसके हृदय की
निर्मल धारा
सुनी होगी उसकी
जल तरंग
जिस नदिया के किनारे
तुमने बजाई होगी
अपनी राधा के लिए
सौतन बाँसुरिया
जिसकी डगरिया पर
फोड़ी होगी उसकी गगरिया

पहाड़ बारिश के पानी को सोखते हैं, रोकते हैं और जल स्रोतों के रूप में पुनः छोड़ते हैं। पठारी क्षेत्रों में इन्हीं स्रोतों से कई झरनों, नालों और छोटी-छोटी नदियों का अस्तित्व है –

आज तुम
अपने ही स्वार्थ के लिए
पर्वतों के पत्थर
तोड़ रहे हो
बारूदी गंध से
जीवन को मरोड़ रहे हो
क्या कभी नदिया
लौट कर पूछेगी
अपने खंडहर होते
पर्वतों से –
कि कहाँ गया
उनका उद्गम ?
कहाँ गया उनका वैभव ?

मध्यभारत के पठारी क्षेत्र के पहाड़ों सहित छोटानागपुर और संथाल परगना के पहाड़, देश के प्रायः सभी पहाड़ों से पुराने हैं परन्तु अब पहाड़ों पर भी वक्रदृष्टि पड़ चुकी है। क्रशर उन्हें चबा रहे हैं। ग्रेस कुजूर ने इन सारी

स्थितियों-परिस्थितियों को देखा-समझा है। हमारी धरती नष्ट होने के कगार पर खड़ी है। अगर अब भी हम पर्यावरण को अपने पूर्व के स्वरूप में नहीं ला पाए तो अन्ततः प्रकृति हमसे प्रतिशोध अवश्य लेगी –

तब पर्वत रोएगा
सूख जाएँगी उसकी धाराएँ
न किसी मोहन की बाँसुरी
तड़पेगी नदी किनारे
अपनी राधा के लिए
और न फूटेगी
कोई गगरी
न कोई पकड़ेगा
गाँव का बालक
नदी के रेत में
'टेंगरा' और 'गीतू' मछरी

कवयित्री वर्तमान जल संकट और पर्यावरण संकट से पूरी तरह परिचित हैं। वह सवाल उठाती हैं कि एक वृक्ष के बदले दूसरा वृक्ष तो लगाया जा सकता है किन्तु क्या एक पर्वत के बदले दूसरा पर्वत उगाया जा सकता है ? यह सवाल मार्मिक होने के साथ ही बहुत ज्वलन्त भी है क्योंकि पूरे मध्यभारत के पठारी क्षेत्र के पहाड़-पहाड़ियाँ बेतरतीब तोड़े जा रहे हैं। पहाड़ी ज़मीन को समतल किया जा रहा है। यह विचारणीय प्रश्न है कि यदि अरावली की पहाड़ियाँ तोड़ दी जाएँ तो राजस्थान की ओर से चलने वाली धूलभरी आँधियों से राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली को कैसे बचाया जा सकेगा ? वही स्थितियाँ झारखण्ड क्षेत्र की हैं। यहाँ झारखण्ड में अनेक पहाड़-पहाड़ियाँ हैं। इन्हीं पहाड़ों के कारण यहाँ मानसून की अच्छी वर्षा होती है। पहाड़ों के तोड़ने के अर्थ है – वर्षा से वंचित होना, जलाभाव का सामना करना, यानी भयावह खाद्यान्न संकट झेलना। कवयित्री की चिन्ता जायज लगती है –

एक बूँद पानी के लिए
तड़प-तड़प जाएँगी
हमारी पीढ़ियाँ
इसलिए
मैं सच कहती हूँ
हे समय के पहरेदारो !
तुमने अवश्य सुना होगा
एक वृक्ष की जगह
लगाओ दूसरा वृक्ष
क्या कभी सुना है
एक पर्वत के बदले
उगाओ दूसरा पर्वत

करोड़ों साल में बने
इन पर्वतों को
तुम्हारे बारूदी मन ने
फिर-फिर तोड़ा है
और कुँवारी हवाओं को
हर बार छेड़ा है –
जिसके धूल-कणों ने
तुम्हें तो मुँह छुपाना
भी नहीं आता
शायद इसलिए
उगा रहे हो धूल
छुपाने के लिए मुँह
शुतुरमुर्ग की तरह

यहाँ सियेथल को याद करने की आवश्यकता है। सियेथल (रेड इंडियन सरदार) के नाम पर अमेरिका का सिएथल शहर है। सिएथल ने आदिवासी और प्रकृति के सम्बन्धों पर मार्मिक वक्तव्य दिया था। उस आदिवासी मुखिया के विचार संसार के समस्त आदिवासियों की सोच का प्रतिनिधित्व करते हैं। सिएथल ने वास्तविक अर्थों में प्रकृति को माँ माना है। सिएथल का वक्तव्य आदिवासी भाषा में था जिसका अंग्रेजी अनुवाद 29 अक्टूबर 1887 में सिएथल संडे स्टार में डॉ॰ हेनरी स्मिथ ने प्रथम बार प्रकाशित किया था। इसका अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद इतिहासबोध पत्रिका के पैंतीसवें अंक में प्रकाशित हुआ था। ज़मीन को बचाने के लिए आदिवासियों का पक्ष रखते हुए सिएथल ने गोरे अफसर को जो पत्र लिखा था उसी का यह हिन्दी अनुवाद है कविता के रूप में –

माँ समान धरती और पिता समान आकाश,
उनके लिए बेजान बाजारू चीजें हैं,
जिसे वे भेड़ों या चमकते मोतियों की तरह खरीदते-लूटते और बेच देते हैं
एक दिन आएगा जब उनकी विशाल भूख सारी धरती
निगल लेगी
और रह जाएगी सिर्फ रेगिस्तान की बालू।
जब धरती पर से अन्तिम आदिवासी भी मिट जाएगा
तब ये समुद्र तट और बीहड़ वन,
मेरे लोगों की आत्मा संजोकर रखेंगे
मेरे लोग इस धरती को उतना ही प्यार करते हैं,
जितना माँ की धड़कन को एक नवजात शिशु।

(आदिवासी दुनिया)

कवयित्री ग्रेस कुजूर संसारभर के आदिवासियों की परम्परा और उनके इतिहास से परिचित हैं। वे भयानक होती स्थितियों का आकलन कर लेती हैं और सावधान भी करती हैं क्योंकि प्रकृति-पर्यावरण को अत्यधिक क्षति पहुँचने से प्रकृति निश्चित रूप से बगावत करेगी –

इसीलिए फिर कहती हूँ
न छेड़ो प्रकृति को
अन्यथा यही प्रकृति
एक दिन
माँगेगी
हमसे
तुमसे
अपनी तरुणाई का
एक-एक क्षण
और करेगी
भयंकर ..... बगावत
और तब
न तुम होगे
न हम होंगे !

ग्रेस कुजूर केवल आदिवासियों के लिए ही नहीं बल्कि पूरे वैश्विक धरातल पर प्राणिमात्र के लिए चिन्तित हैं। इसीलिए वे जब आदिवासियों के अस्तित्व के संकट के प्रति चिन्ता व्यक्त करती हैं तब उसी समय प्रकृति-पर्यावरण पर निरन्तर बढ़ते-गहराते संकट पर भी विचार करती हैं। वस्तुतः प्रकृति-पर्यावरण का संकट वैश्विक सन्दर्भ में चिन्ता का विषय बना हुआ है। ऐसे में ग्रेस कुजूर चुप नहीं रहतीं। वे भी पर्यावरण हितैषी, चिन्तकों, पर्यावरणविदों के साथ सुर में सुर मिलाती प्रतीत होती हैं। ग्रेस कुजूर की कविताओं में स्वप्नशीलता है और वे परिवर्तन का स्वप्न देखती हैं।

2.6.06. ग्रेस कुजूर की कविता के प्रतिमान : बिम्ब और प्रतीक

प्रतीक किसी विशिष्ट स्थिति-परिस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। आदिवासी कविता में आदिवासी जीवन के प्रतीकों द्वारा आदिवासी समुदाय के संघर्ष को व्यक्त किया जाता है। आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर ने आदिवासी जीवन में तीर जैसे सर्वथा नूतन प्रतीकों का प्रयोग कर अपनी कविताओं को समृद्ध किया है। आदिवासी संस्कृति में तीर आत्मरक्षा, शिकार, युद्ध एवं प्रतिरोध का प्रतीक है।

प्रतीक प्रायः एक ही अर्थ में रूढ़ होकर अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करता है जबकि बिम्ब के अनेक अर्थ होते हैं। बिम्ब की प्रक्रिया प्रतीक की प्रक्रिया से कहीं अधिक संश्लिष्ट तथा समावेशी होती है। बिम्ब और प्रतीक आधुनिक या समकालीन कविता की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। ग्रेस कुजूर ने 'एक और जनी-शिकार',

'कलम को तीर होने दो' आदि कविताओं में आदिवासी जीवन-संस्कृति, खेत-खलिहानों, पठार के जंगलों और पहाड़ों से बिम्ब उद्धृत कर बिम्बों और प्रतीकों का सफल प्रयोग किया है।

बिम्ब-विधान के विषय में मार्क्सवादी समीक्षक नामवर सिंह का विचार है – "कविता में सबसे अधिक बिम्ब-विधान पर ध्यान देता हूँ। बिम्ब-विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषयवस्तु से होता है उतना ही उसके रूप से भी। बिम्ब-विधान विषय को मूर्त एवं ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।" तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्य में जो स्थान चरित्र, कथा आदि का था, आज की कविता में वह स्थान बिम्ब अथवा 'इमेज' (Image) का है। आदिवासी रचनाकार अपनी कविताओं में ऐसे बिम्बों का चयन करते हैं जिससे आदिवासी जीवन की वास्तविक स्थिति को बताया जा सके। वह अपनी बिम्बधर्मिता में पहाड़-जंगल के परिवेश के इर्द-गिर्द घूमता है और वहीं से बिम्बों और प्रतीकों का चयन करता है। ग्रेस कुजूर की कविताओं में प्रतीक और बिम्ब का जो प्रयोग मिलता है उसका जुड़ाव सीधे-सीधे आदिवासी संस्कृति से है। आदिवासी कविताओं में प्रतीक और बिम्ब का प्रयोग प्रतिरोध की भाषा के रूप में हुआ है जो पूँजीवाद और उपभोक्ता के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। ग्रेस कुजूर की कविता की शिल्प-योजना आदिवासी जीवन की अभिव्यक्तियों और जीवन की विविधताओं के चित्रण के अनुरूप है। उनका शिल्प-गठन और उसके तत्त्वों का संयोजन बेहतरीन है। ग्रेस कुजूर की कविताओं में जो प्रतीक और बिम्ब आए हैं वे आदिवसियों के सांस्कृतिक विशिष्टता को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं।

2.6.07. ग्रेस कुजूर की कविता की भाषा

ग्रेस कुजूर की कविताएँ मानव मात्र को प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण की ओर प्रेरित करती है। वैश्वीकरण कितना खतरनाक साबित हो रहा है, उनकी कविताएँ इस ओर संकेत भी करती है। प्रकृति में इंसान के अनैतिक दखल को ग्रेस कुजूर पर्यावरण के भयंकर असन्तुलन के रूप में देखती हैं। उनका मानना है कि पूँजीवादियों की इस विकराल भूख से समूची सृष्टि प्रभावित होती है। आदिवासी पेड़-पौधों, नदियों, झरनों, पहाड़ों का सहयात्री था। चूँकि उसकी अपनी ज़रूरतें सीमित थीं अतः वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं प्राकृतिक संसाधनों से किया करता था। ग्रेस कुजूर बहुत सहज, सरल और सुबोधगम्य भाषा में आदिवासियों के इस आशुतोषी गुण को उद्घाटित करती हैं। उनकी भाषा अपने समाज तथा अपने संस्कृति के सम्पूर्ण यथार्थ को समग्रता में अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम है। कवयित्री अपने शब्दों की शक्ति पहचानती हैं इसीलिए वे अवसरानुकूल शब्दावली का प्रयोग सम्प्रेषण की तीव्रता को बढ़ाने में करती हैं। उनकी कविताओं में शब्द जंगल, खेत और अखड़ा से लिए गए हैं। अखड़ा से मांदर, बाँसुरी, झूमर, कर्मा, सरहुल, खेत से घोंघी, केकड़ा, जंगल से पियोर, पिठोर, महुआ, गूलर और घर से ढेंकी, जांता आदि। इन शब्दों से हिन्दी की शब्द-सम्पदा में वृद्धि हुई है। ग्रेस कुजूर की भाषा पठार की पहाड़ी नदियों की तरह कल-कल करती प्रवाहित होती है।

हिन्दी में लिखने वाली ग्रेस कुजूर की कविता को आलोचकों ने नज़रअंदाज किया। इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए वन्दना टेटे लिखती हैं – "पिछले कुछ सालों में एक और प्रवृति आदिवासी कविता के सम्बन्ध

में बार-बार दिखलाई पड़ी है। वह प्रवृति है आदिवासी कविताओं को गैर-आदिवासी मानकों पर परखने की। अपनी विशेष परख-दृष्टि पर आदिवासी रचनाओं को कसते हुए वैसी तमाम कृतियों को भारत के वृहत्तर साहित्य-समाज ने कविता मानने से इनकार कर दिया, जो आदिवासीपन के साथ लिखी गई हैं। जैसे, रामदयाल मुंडा, ग्रेस कुजूर, उज्ज्वला आदि की मूल हिन्दी में ही रची गई कविताएँ, जिनकी कोई नोटिस नहीं ली गई।" (आदिवासी दर्शन और साहित्य) आगे वे लिखतीं हैं – "शब्द हमेशा अपने साथ अपना पूरा परिवेश, मानसिकता, दृष्टिकोण लेकर आते हैं। फलतः जानने के क्रम में कई बार अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हमारी शैली, भाषा, बिम्ब, कथ्य संक्षिप्तता में ही पूरी बात रख देते हैं। बड़े और भारी भरकम वाक्य-विन्यासों का आदिवासी अभिव्यक्ति में, हमारी भाषा में सर्वथा अभाव रहता है। ध्यान रखना होगा कि आदिवासी स्त्री मन का धरातल बिल्कुल दूसरी तरह का है, आदिवासियत के दर्शन पर खड़ा। समभाव जिसकी मूल प्रकृति है। प्राकृतिक विभेद के अलावा जहाँ इंसान अथवा किसी सत्ता द्वारा कृत्रिम रूप से थोपा हुआ कोई दूसरा भेद नहीं है। हालाँकि कुछ बंदिशें यहाँ भी हैं, परन्तु सामन्ती क्रूरता और धार्मिक आडम्बरों के किले में आदिवासी स्त्री कैद नहीं है। आदिवासी समाज में पुरुष सत्ता नहीं होने से स्त्रीवाद भी नहीं है।" (आदिवासी दर्शन और साहित्य)

2.6.08. ग्रेस कुजूर की कविताओं का मूल्यांकन

आदिवासी कवियों और कविताओं के मूल्यांकन के लिए विशिष्ट सौन्दर्यबोध की आवश्यकता है क्योंकि आदिवासियों की संस्कृति तथा जीवन-मूल्य भिन्न हैं और विशिष्ट भी। अतः आदिवासियों की भिन्न जीवन-शैली और जीवन-मूल्यों के साथ आदिवासी कविताओं के विश्व दृष्टिकोण की समझ भी आवश्यक है। शिल्प साधन हैं, साध्य नहीं। कविताओं में सपाटबयानी हो सकती है परन्तु वर्तमान यथार्थ की बातें तत्सम में नहीं कही जा सकतीं। यथार्थ बड़ा होता है। ग्रेस कुजूर ने अपनी कविताओं में यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। लेखक हरिराम मीणा लिखते हैं – "आदिवासी कविताओं का विश्लेषण किया जाएगा तो कविता के लिए आदिवासी जीवन का गहन अनुभव, विषयानुरूप भाषा का मुहावरा, सम्प्रेषणीयता और प्रकृति तथा मानवता के दुःख-सुख में शामिल होने की प्रेरणा आदि की बात सामने आएगी। इन कविताओं में आप आदिवासी जीवन के अतीत, प्रकृति-प्रेम, श्रम की महत्ता और सौन्दर्य, दुःखों के विरुद्ध संघर्ष, अच्छे दिनों के स्वप्न आदि की अभिव्यक्ति देखेंगे। (आदिवासी विमर्श)

एक साक्षात्कार में प्रसिद्ध साहित्यकार रोज केरकेट्टा स्वीकार करती हैं – हिन्दी आदिवासी लेखन के मूल्यांकन के लिएसौन्दर्यशास्त्र का विस्तार करने की ज़रूरत है। आप हिन्दी के सौन्दर्यबोध से आदिवासी साहित्य को नहीं समझ सकते। चाहे वह हिन्दी में लिखा जा रहा हो या आदिवासी भाषाओं में। जब आप यह मानते हैं कि आदिवासी एक विशिष्ट संस्कृति है फिर उनके साहित्य को परखने के लिए भी एक विशिष्ट सौन्दर्यबोध की ज़रूरत होगी। इस ओर न हमारे आदिवासी लेखकों का ध्यान है और न हिन्दी का। यह समझना होगा कि हिन्दी साहित्य को आदिवासी लेखन समृद्ध कर रहा है तो उसका समुचित मूल्यांकन उसकी विशिष्ट संस्कृति, जीवन-शैली और मूल्यों के सन्दर्भ में किया जाय। मूल्यांकन की यह नयी चुनौती है। (आदिवासी साहित्य-विमर्श)

ग्रेस कुजूर की कविताएँ आधुनिक काव्य-जगत में अनिवार्य और गम्भीर हस्तक्षेप हैं। ये कविताएँ विषय, भाषा और शिल्प के स्तर पर मुख्यधारा की समकालीन कविता से किसी भी रूप में कम नहीं हैं। ये न तो भावावेश में लिखी गई हैं और न हड़बड़ी में। इसी से ये कविताएँ ग्रेस कुजूर को राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी साहित्य जगत में स्थापित करती हैं। वे सन् 80 के बाद की हिन्दी की महत्त्वपूर्ण महिला रचनाकारों में अग्रणी हैं। साहित्य के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान रखने वाली कवयित्री ग्रेस कुजूर की कविताएँ केवल आदिवासी जीवनानुभव तक सीमित कविताएँ नहीं हैं। इन कविताओं के माध्यम से कवयित्री ने अपने समय से संवाद किया है। इन कालजयी कविताओं में अग्नि-तत्त्व विद्यमान है। उनकी कलम में सच्चा आदिवासी मन समाहित है। आदिवासी-जीवन की चुनौतियों और वर्तमान समय के ज्वलन्त सवालों को उन्होंने आदिवासी जीवन-संस्कृति के बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से अपनी कलम के द्वारा अभिव्यक्त किया है। ग्रेस कुजूर की कविताओं के कारण ही हिन्दी साहित्य जगत ने आदिवासी स्त्री के नेतृत्व की क्षमता तथा कलम और तीर के प्रतीक को पहचाना है।

2.6.09. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

01. हिन्दी की आदिवासी कविता में प्रथम कवयित्री किसे माना जाता है ?
    (क) ग्रेस कुजूर
    (ख) सुशीला सामद
    (ग) निर्मला पुतुल
    (घ) वन्दना टेटे

02. सिनगी दई का उल्लेख ग्रेस कुजूर की किस कविता में है ?
    (क) कलम को तीर होने दो
    (ख) एक और जनी-शिकार
    (ग) हे समय के पहरेदारो !
    (घ) पानी ढोती औरत

03. ग्रेस कुजूर किस आदिवासी समुदाय से सम्बन्धित हैं ?
    (क) मुंडा
    (ख) संथाल
    (ग) उरांव
    (घ) खड़िया

04. ग्रेस कुजूर आकाशवाणी से किस पद से सेवानिवृत्त हुईं ?

(क) महानिदेशक

(ख) केन्द्र निदेशक

(ग) सहायक केन्द्र निदेशक

(घ) उप महानिदेशक

05. ग्रेस कुजूर ने किस कविता में प्रकृति-पर्यावरण संकट पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया है ?

(क) हे समय के पहरेदारो !

(ख) स्त्री

(ग) पानी ढोती औरत

(घ) प्रतीक्षा में

06. ग्रेस कुजूर की कविता 'एक और जनी-शिकार' में किन नदियों की बदहाली की चर्चा हुई है ?

(क) शंख और कोयल

(ख) सोन और नर्मदा

(ग) महानदी और इंद्रावती

(घ) दामोदर और स्वर्णरेखा

07. 'नदियाँ हो गईं कमान सब पर्वत तीर' किस कविता की पंक्ति है ?

(क) एक और जनी-शिकार

(ख) कलम को तीर होने दो

(ग) हे समय के पहरेदारो !

(घ) प्रतीक्षा में

08. 'क्या कभी सुना है, एक पर्वत के बदले, उगाओ दूसरा पर्वत' पंक्तियाँ किस कविता से ली गई हैं ?

(क) हे समय के पहरेदारो !

(ख) कलम को तीर होने दो

(ग) दो बूँद आँसू

(घ) बौना संसार

09. ग्रेस कुजूर की कविता 'एक और जनी-शिकार' पहली बार कब प्रकाशित हुई थी ?

(क) 2000 ई.

(ख) 2001 ई.

(ग) 2010 ई.
(घ) 2015 ई.

10. ग्रेस कुजूर की कविताओं में इनमें से क्या अनुपस्थित है ?
(क) आदिवासियत
(ख) आदिवासी संस्कृति
(ग) मुख्यधारा का स्त्रीवाद
(घ) पर्यावरण प्रेम

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कवयित्री ग्रेस कुजूर के व्यक्तित्व और कृतित्व का सामान्य परिचय दीजिए।
2. ग्रेस कुजूर की कविताओं के भाषिक वैशिष्ट्य का उल्लेख कीजिए।
3. ग्रेस कुजूर की कविता में उल्लिखित 'सिनगी दई' प्रसंग के बहाने आदिवासी समाज में स्त्रियों का महत्त्व रेखांकित कीजिए।
4. 'हिन्दी कविता का आदिवासी स्त्री स्वर' विषय पर सारगर्भित निबन्ध लिखिए।
5. ग्रेस कुजूर की कविताओं का सौन्दर्य-बोध सोदाहरण उद्घाटित कीजिए।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी की वरिष्ठ आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर की रचनाशीलता की विवेचना कीजिए।
2. 'एक और जनी-शिकार' कविता का काव्य-सौन्दर्य स्पष्ट कीजिए।
3. " 'हे समय के पहरेदारो !' कविता में प्रकृति-पर्यावरण के संकट पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन व्यक्त हुआ है।" उक्त कथन का सोदाहरण आकलन कीजिए।
4. 'कलम को तीर होने दो' कविता की शैलीगत और शिल्पगत विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. ग्रेस कुजूर की कविताओं में प्रयुक्त भाषा, प्रतीक और बिम्ब के वैशिष्ट्य को उद्घाटित कीजिए।

2.6.10. कठिन शब्दावली

'एक और जनी-शिकार' कविता से –

डोरी	–	महुआ का बीज
गूलर और कयोद	–	एक मीठा फल
संधना	–	करील
अखड़ा	–	सामुदायिक सांस्कृतिक स्थल
सखुआ	–	शाल वृक्ष

तोलोंग	–	कमर में पहनने वाला आदिवासी पुरुषों का पारम्परिक वस्त्र, अंगनई
डनकच	–	झारखंडी रागों के नाम
टोकी	–	छोटी टोकरी
पियार-पिठोर	–	गरमी में फलने वाले मीठे रसदार फल
खुखड़ी	–	मशरूम
चुआँ	–	खेत के कोने में बना छोटा कुँआ
डोभा	–	ऊपरी खेत से बहकर निचले खेत में जमा पानी
ढोंड़	–	एक विषहीन साँप
मांगुर	–	एक मछली
सोता	–	नाला
गोढ़ा	–	गुलेल के लिए छोटा पत्थर
पुटुस	–	झारखण्ड में मिलने वाला एक झाड़ीदार पौधा
सिनगी दई	–	आदिवासी स्त्री योद्धा, जिसके नेतृत्व में आदिवासी महिलाओं ने रोहतासगढ़ में दुश्मनों से लोहा लिया था। इस वीरांगना स्त्री की स्मृति में प्रत्येक 12 वर्ष के अन्तराल पर 'जनी (स्त्री)-शिकार' मनाने की परम्परा चली आ रही है।
बेतरा	–	बच्चों को पीठ पर बाँधने का कपड़ा

'कलम को तीर होने दो' कविता से –

सीझ गई	–	पक गई
लील रहा	–	निगल रहा
देहरी	–	चौखट

'हे समय के पहरेदारो !' कविता से –

कंदरा	–	गुफा
टेंगरा	–	मछली की एक प्रजाति
बगावत	–	विद्रोह

2.6.11. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. गुप्ता, रमणिका, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 97-107, ISBN 978-935229-277-6
2. मुंडा, रामदयाल (2002), आदिवासी अस्तित्व व झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ 105-106, ISBN 81-77-14-071-X
3. टेटे, वन्दना (2015), आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 41-47, ISBN 978-93-82695-34-9

4. मीणा, हरिराम (2014), आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृष्ठ 182-188, ISBN 978-81-237-6672-0,
5. गुप्ता, रमणिका (2016), आदिवासी समाज और साहित्य, सामयिक पेपर बैक, नई दिल्ली, पृष्ठ 75- 77, ISBN 978-81-7138-325-2
6. कृष्णा, वी, सिंह, भीम (2014), आदिवासी विमर्श, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 114, ISBN 978-93-83513-26-0
7. मीणा, गंगासहाय (2014), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 35-34, ISBN 978-81-7975-580-8

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : उपन्यास

इकाई – 1 : एक ज़मीन अपनी – चित्रा मुद्गल

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य कथन
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. समकालीन हिन्दी उपन्यास
 3.1.2.1. आधुनिकता
 3.1.2.2. समकालीनता
3.1.3. समकालीन हिन्दी उपन्यास में स्त्री-विमर्श
3.1.4. 'एक ज़मीन अपनी' में स्त्री-विमर्श
 3.1.4.1. स्त्री-जीवन की चुनौतियाँ
 3.1.4.2. वस्तु में तब्दील होती नारी
3.1.5. 'एक ज़मीन अपनी' में उद्घाटित विज्ञापन जगत का खुरदरा यथार्थ
3.1.6. 'एक ज़मीन अपनी' में अभिव्यक्त अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू
 3.1.6.1. मित्रता की व्याख्या
 3.1.6.2. सम्बन्धों की आर्द्रता एवं शिथिलता
3.1.7. 'एक ज़मीन अपनी' का शिल्प पक्ष
 3.1.7.1. स्त्री-भाषा
3.1.8. बोध प्रश्न
3.1.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई प्रख्यात साहित्यकार चित्रा मुद्गल विरचित 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप–

i. प्रमुख समकालीन हिन्दी उपन्यास, उनके रचनाकार और उनकी सामान्य भावभूमि से परिचित हो सकेंगे।
ii. समकालीन हिन्दी उपन्यासों के सन्दर्भ में आधुनिकता और समकालीनता के मध्य सम्बन्ध और भेद को समझ सकेंगे।
iii. समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-विमर्श की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iv. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में अभिव्यक्त स्त्री-विमर्श की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
v. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के कथानक के वैशिष्ट्य से परिचित हो सकेंगे।
vi. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के रचनात्मक वैशिष्ट्य को समझ पाएँगे।

3.1.1. प्रस्तावना

'एक ज़मीन अपनी' हिन्दी कथा जगत की वरिष्ठ साहित्यकार चित्रा मुद्‌गल का प्रथम उपन्यास है। इसके पहले उन्होंने कहानी क्षेत्र में अपना स्थान अंकित किया था। यह उपन्यास 1990 में प्रकाशित है। यह उपन्यास उस समय प्रकाशित हुआ जिन दिनों नव-औपनिवेशिक स्थितियाँ स्पष्टतः प्रकट हुई थीं। भूमण्डलीकरण से जो बाज़ारू संस्कृति पनप गई उसमें विज्ञापन की भूमिका बड़ी हो गई। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि यह उपन्यास हिन्दी में विज्ञापन जगत पर केन्द्रित पहला उपन्यास है। इस उपन्यास में विज्ञापन जगत पूर्णतः प्रकट हुआ है।

चित्रा मुद्‌गल का जन्म 10 दिसम्बर, 1944 को चेन्नई स्थित 'एगमोर' में हुआ। वे उत्तरप्रदेश के बैसवाड़ा कहलाने वाले उन्नाव जनपद के गाँव निहाली खेड़ा के सुप्रसिद्ध ज़मींदार ख़ानदान से सम्बद्ध हैं। बचपन के अधिकांश दिन उन्होंने अपने गाँव में बिताये। एम.ए. तक की पढ़ाई के बाद 17 फरवरी 1965 में प्रसिद्ध कवि, कथाकार और पत्रकार अवध नारायण से चित्रा मुद्‌गल का विवाह हुआ।

चित्रा मुद्‌गल ने विद्यार्थी जीवन से ही आन्दोलनों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया था। सामाजिक न्याय की पहली लड़ाई उन्होंने उन बाइयों के अधिकारों के लिए लड़ी जो मुंबई की झोपड़पट्टियों में रहकर बड़े घरों में बर्तन माँजने और झाड़ू-पोंछा का काम किया करती थीं। उन्होंने ऐसी हज़ारों नारियों को नारकीय यंत्रणाओं से छुटकारा दिलाने वाले सामाजिक आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया। वे गरीब, पीड़ित तथा शोषित महिलाओं के हितों की रक्षा करने वाली संस्था 'जागरण' में निरन्तर सक्रिय रहीं। इसके साथ ही वे मज़दूर संगठन की कार्यकर्त्ता भी रहीं। उन्होंने महिलाओं को स्वावलम्बन के पाठ सिखाने के लिए कई योजनाएँ तैयार कीं। वे एक अच्छी चित्रकार भी हैं। विविध कलाओं में उन्होंने अपने हुनर को प्रकट किया है। उन्होंने फिल्म जगत के लिए भी अनेक रचनात्मक और उल्लेखनीय कार्य किये हैं।

समाज के विभिन्न समुदायों, विशेषकर दलितों और शोषितों के बीच काम करने से चित्रा मुद्‌गल के पास अनुभवों का विपुल भण्डार है। वे अपनी कथा-रचनाओं में सूक्ष्म भाषिक सम्वेदना के साथ समकालीन यथार्थ की जटिल विद्रूपताओं का संधान करती हैं। उनकी रचनाओं में कथा संवेग पात्रों के द्वन्द्वात्मक मनोविज्ञान के ज़रिए आद्योपांत सघन एवं संवादात्मक है।उनकी रचनाएँ समाज की असली नब्ज़ को रेखांकित करती हैं।

उनका प्रत्येक उपन्यास वस्तु और तकनीक की दृष्टि से खास दिखाई देता है। उनके द्वारा विरचित प्रमुख उपन्यास हैं – एक ज़मीन अपनी (1990), आवां (1999), गिलिगडु (2002) और पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा (2016)। 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' के लिए उन्हें सन् 2018 का हिन्दी भाषा का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया है। उनकी सम्पूर्ण कहानियाँ 'आदि-अनादि' नामक संग्रह में तीन खण्डों में प्रकाशित हैं। उनकी प्रथम कहानी 'सफेद अनार' है जिसे 25 अक्तूबर, 1964 को पुरस्कृत किया गया था। उनके प्रकाशित कथा संकलन हैं – पेंटिंग अकेली, जहर ठहरा हुआ, लाक्षागृह, अपनी वापसी, इस हमाम में, जगदंबा बाबू आ रहे हैं, ग्यारह लम्बी कहानियाँ, चर्चित कहानियाँ, मामला आगे बढ़ेगा अभी, जिनावर, लपटें, केंचुल,

भूख, बयान आदि । उनके द्वारा रचित बाल-कथा संकलन हैं – जंगल का राजा, देश-देश की लोककथाएँ, नीतिकथाएँ, दूर के ढोल, काँच की किरच, देश-विदेश की लोककथाएँ, चिऊ-मिऊ । उनके द्वारा विरचित बाल उपन्यास हैं – मणिमेखलै, जीवक, माधवी कन्नगी । उनके लेखों के संग्रह हैं– 'बयार उनकी मुट्ठी में' और 'विचार-संग्रह' । 'तहखानों में बंद अक्स' उनका कथात्मक रिपोर्ताज़ है । उनके द्वारा रचित नाटक-संकलन हैं – 'पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक', 'सद्गति तथा अन्य नाटक' एवं 'बूढ़ी काकी तथा अन्य नाटक' । उन्होंने दर्जनों पुस्तकों का सम्पादन तथा अनुवाद भी किया है । उन्हें प्राप्त बीस से ज़्यादा पुरस्कारों में प्रमुख पुरस्कार हैं– साहित्य अकादमी पुरस्कार, व्यास सम्मान, पुश्किन पुरस्कार, इंदु शर्मा कथा सम्मान आदि । चित्रा मुद्गल व्यास सम्मान से सम्मानित होने वाली पहली लेखिका हैं । 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के लिए उन्हें 1994 में 'फणीश्वरनाथ रेणु पुरस्कार' से सम्मानित किया गया ।

'एम ज़मीन अपनी' चित्रा मुद्गल का पहला उपन्यास है । समकालीन उपन्यास में कई विमर्श रूपायित हुए हैं । उनमें स्त्री-विमर्श सबसे सशक्त है । इस दौर में स्त्री केन्द्रित अनेक उपन्यास चर्चित हुए । कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मन्नु भण्डारी, उषा प्रियंवदा जैसे अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार स्त्री की अस्मिता सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं का अनावरण कर रहे थे । लेकिन उन सभी में मुख्यतः स्त्री के सेक्स सम्बन्धी स्वातन्त्र्य पर ज़्यादा बल दिया गया था । चित्रा मुद्गल-कृत 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास की सबसे बड़ी खासियत है कि इसमें स्त्री प्रतिभा की स्वीकृति है । प्रतिभा-सम्पन्न स्त्री ही अपनी ज़मीन की तलाश कर सकती है । जीवन में शरीर से नहीं बल्कि प्रतिभा से सम्मान प्राप्त करना ही वास्तविक सम्मान प्राप्त करना है ।

3.1.2. समकालीन हिन्दी उपन्यास

'समकालीन' शब्द अंग्रेज़ी के 'Contemporary' का समानार्थी शब्द है, जिसका अर्थ है 'अपने समय का' यानी 'समसामयिक' । जिस समय की चर्चा हम करते हैं उस समय में विद्यमान सभी समकालीन यानी समसामयिक होते हैं । 'समकालीन' का और एक अर्थ है जो बहुत गहरा है – 'काल के सम या काल के साथ चलने वाला' । यानी समय-सीमा को पार करके समय के साथ चलने की क्षमता रखने वाला । साहित्य के सन्दर्भ में ऐसी रचनाएँ प्रत्येक युग में प्रासंगिक हैं, समकालीन हैं । 'गोदान' इस अर्थ में प्रासंगिक है । 'महाभारत' और 'रामायण' प्रासंगिक इसलिए हैं कि उसमें समय के साथ चलने या समय को पार करने की क्षमता है । लेकिन 'समकालीनता' एक जीवन-दृष्टि भी है जिसका मूल स्वर प्रतिरोध है । समकालीन साहित्य में समकालीनता का मतलब अपने समय की असंगतियों को समझना और उस समझ के साथ ही उसके प्रति प्रतिरोध ज़ाहिर करना है । समकालीनता को समझने के लिए सबसे पहले आधुनिकता की जानकारी ज़रूरी है ।

3.1.2.1. आधुनिकता

आधुनिकता एक मानसिकता है । वह मनुष्य के आधुनिक बनने के परिणामस्वरूप उत्पन्न एक विशाल मानसिकता है जिसमें अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, जड़ परम्पराओं और प्रतिगामी तत्त्वों के खिलाफ़ सख्त विद्रोह

वर्तमान है। आधुनिकता और समकालीनता मानवीयता के विकास-क्रम की सीढ़ियाँ हैं। मनुष्य ने सबसे पहले आधुनिक शिक्षा से आधुनिक बनना शुरू किया। शिक्षित होकर वह सबसे पहले बाह्य जगत से परिचित होता है तथा इसी क्रम में वह राष्ट्र से इतर लोगों की ज़िन्दगी और उनकी जीवन-दृष्टि से सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग हासिल कर लेता है। भारतीयों के आधुनिक बनने के पीछे उपनिवेशी शक्तियों की भूमिका प्रबल रही है।

भारतीयों को आधुनिक बनाने में विज्ञान का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान ने मनुष्य के विश्वासों, विचारों एवं आचरण में बुद्धि का प्रवेश करा दिया यानी उन्हें तार्किक बना दिया। उन्हें विश्वास और आचरण व्यवहृत करते समय अन्तर्निहित युक्ति के बारे में सोचने के लिए बाध्य कर दिया।

विज्ञान के साथ ही अनेक दर्शनों के प्रभावस्वरूप भी भारतीयों में आधुनिकता की प्रवृत्ति पनपी। साहित्य में आधुनिकता के रूपायन में मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद और मनोविश्लेषणवाद जैसे दर्शनों का खासा प्रभाव हुआ। साहित्य को साहित्य के रूप में अथवा अन्य अनुशासनों से अलग करके देखने में बल देते हुए रूपवाद, नयी समीक्षा, शैलीविज्ञान आदि का आविर्भाव हुआ। रूपवाद के लगभग समान्तर ही संरचनावाद भी विकास प्राप्त करता रहा। सस्यूर ने भाषा को चिह्नों की निर्मिति माना है। उन्होंने कहा कि शब्द-अर्थ की परस्परता मनमानी अथवा नियमरहित होती है। इसी तत्त्व को संरचनावाद ने ग्रहण किया। लेवी स्ट्रॉस ने सस्यूर के संरचनावाद को आगे बढ़ाया और रोलां बार्थ ने लेवी स्ट्रॉस की संरचनावादी व्याख्याओं को सम्भव बनाया। उनके अनुसार संरचना के बाहर कोई बोध या अर्थ नहीं। अर्थ पाठ में है, पाठ की संरचना में है इसलिए बार्थ ने उद्घोषित किया कि लेखक की मृत्यु हुई। पाठ के लिए लेखक का अर्थ अनुपस्थित रहता है तब एकमात्र अर्थ की अवधारणा समाप्त होती है लेकिन आलोचना में पाठ के लिए एक अर्थ का निर्माण करना पड़ता है। इस प्रकार आधुनिकता पर साहित्य में कृति पर केन्द्रित कृति आलोचना का भी गहरा प्रभाव पड़ा है। कुल मिलाकर आधुनिकता एक मानसिकता है जिसमें प्रश्न-चिह्नों की निरन्तरता है। प्रश्न-चिह्न उनके तार्किक होने का परिणाम है अतः आधुनिकता आधुनिक मनुष्य में ही निहित जड़विहीन आधुनिक मनुष्य तथा जड़ोंवाले पुराने मनुष्य के बीच का संघर्ष है।

3.1.2.2. समकालीनता

हिन्दी का समकालीन उपन्यास अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष करते हुए अपने सामाजिक सरोकार को प्रमाणित करता है। यह अपने समय को यथार्थ का अनावरण करता है। साथ ही उन मानव-विरोधी यथार्थों के खिलाफ़ प्रतिरोध जाहिर करता है जो मनुष्य को मानवोचित जीवन जीने के अधिकार से वंचित रखता है। अर्थात् समकालीन उपन्यास सचमुच अपने समय से यथार्थों की सही समझ है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ये उपन्यास सांस्कृतिक विमर्श हैं। प्रेमचंद के समय से साहित्य में अपने समय के यथार्थ का चित्रण ही होता आ रहा है, पर समकालीन सन्दर्भ की विशेषता उसकी बहुआयामिता है। पूँजीवाद और मज़दूर या किसानों के संघर्ष को लेकर लेखन प्रेमचन्द से शुरू हुआ था, उसकी अपनी महत्ता ज़रूर है। पर धीरे-धीरे समय, सन्दर्भ और जीवन भी जटिल होता गया, साथ ही उपन्यास का कलेवर भी। आज के उपन्यास का कैनवास इतना इसलिए विशाल है, जटिल है कि जीवन ही जटिल हो गया है। इसलिए वर्तमान समाज के बहुआयामी यथार्थ

समकालीन उपन्यास में अनावृत हो उठे हैं। उन यथार्थों में प्रमुख हैं – नव-औपनिवेशिक स्थितियाँ, स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, विस्थापन आदि।

3.1.3. समकालीन हिन्दी उपन्यास में स्त्री-विमर्श

विश्वभर की आबादी में आधी से अधिक स्त्री ही है, पर सबसे अधिक उपेक्षित एवं शोषित वर्ग भी वही है। पुरुष सत्तात्मक समाज ने ऐसी धारणा बना दी है कि स्त्री जितनी अधिक अस्पर्श्या है वह उतनी ही अधिक श्रेष्ठ बन जाएगी। स्त्री भी इसी धारणा को सार्थक बनाते हुए सचमुच अन्धकार में ही अपना रास्ता टटोल रही है। बहुचर्चित बांग्लादेशी रचनाकार तसलीमा नसरीन के मत में यह पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था का सबसे बडा षड्यन्त्र है कि स्त्री अपने अन्धकार में रहे, सेविका बनी रहे, उसके शोषण को वह कभी न पहचाने। इसलिए फ्रेडरिक एंगेल्स ने कहा कि "मातृसत्ता का विनाश स्त्री जाति की विश्व-ऐतिहासिक पराजय था। अब घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया।" (परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ. 64) स्त्री को सौन्दर्य की वस्तु और पुरुष के उपभोग की चीज़ के रूप में समझा गया। उसकी मेधा और काबिलियत को अनदेखा किया गया। उसे देह के स्तर पर समझा जाने लगा। उसके मस्तिष्क को मानने के लिए पुरुष समाज तैयार ही नहीं था। जहाँ कहीं स्त्री ने अपनी मेधा की ताकत प्रकट की वहाँ अधिकार के तहत उसे दबा दिया गया। स्त्री-विमर्श और स्त्री-मुक्ति आन्दोलन इसी दमन की प्रतिक्रियाएँ हैं। स्त्री अपनी मेधा की स्वीकृति चाहती है। अपने अस्तित्व और अस्मिता को जताना और स्थापित करना चाहती है।

विमर्श अंग्रेज़ी शब्द 'डिस्कोर्स' का समानार्थी शब्द है। जिसका अर्थ है विचार-विनिमय, जीवन्त बहस, सोच-विचार, परिचर्चा। यहाँ स्त्री-विमर्श का अर्थ बनता है – 'स्त्री को केन्द्र में रखकर इसके जीवन के हर पहलू को लेकर गम्भीर सोच-विचार।' स्त्री-जीवन के हर पहलू जैसे उसके शोषण, दमन, उत्पीड़न, उपेक्षा पर चर्चा-परिचर्चा करते हुए उसे मानवोचित जीवन जीने के अधिकार को हासिल कराने का आन्दोलन ही स्त्री-मुक्ति आन्दोलन है। यह स्त्री-मुक्ति आन्दोलन ही साहित्य में स्त्री-विमर्श है। इसके ज़रिए स्त्री-जीवन की अनछुई एवं अनजानी पीड़ा जगत के समक्ष उद्‌घाटित की जा सकती है। वस्तुतः स्त्री-विमर्श स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक स्थिति के व्यापक दृष्टिकोण का विमर्श है। स्त्री इन समस्त क्षेत्रों में अपनी मुक्ति चाहती है।

स्त्री-मुक्ति आन्दोलन सबसे पहले पाश्चात्य जगत में शुरू हुआ। अमेरिका, इंग्लैंड जैसे देशों में मताधिकार तथा मिलों एवं फैक्टरियों में काम करने वालों के लिए समान वेतन एवं काम के घंटे कम करने के लिए स्त्री-आन्दोलन शुरू हुआ। विभिन्न प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने के लिए सबसे पहले मेक्सिको की ईसाई संन्यासिनी सिस्टर जुआना ने आवाज़ उठाई। पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष आगे बढ़ा। वर्जीनिया वुल्फ द्वारा रचित 'A room of one's own' (1928), सिमोन दी-बोउआर का 'The Second sex' (1949), बेटी फ्राडन द्वारा रचित 'The Feminine Mistique', जर्मन ग्रियन का 'The Female Eunch', केट मिलेट का 'The Sexual Politics' आदि पाश्चात्य नारीवाद के लिए प्रेरक रचनाएँ हैं। 'A room of one's own' को

नारीवाद का बाइबिल कहा जाता है। 'The second sex' का गहरा प्रभाव पाश्चात्य एवं पूर्वात्य देशों के नारीवाद पर पड़ा।

हिन्दी साहित्य में नारी-मुक्ति आन्दोलन सत्तर के बाद ही एक संगठित आन्दोलन के रूप में आकार ग्रहण करता है। नारी का स्वत्व-बोध नारी शिक्षा का ही परिणाम है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष दोनों केवल समाज में ही नहीं बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में समान अधिकार के हकदार हैं। किन्तु स्त्री सभी क्षेत्रों में हाशिए पर छोड़ दी गई है। हर ओर पुरुष का ही अधिकार दिखाई देता है। स्त्री ने जब अपनी हैसियत को पहचान लिया तो उसने पाया कि उसके सामने प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता है। उसकी अपनी कोई हैसियत नहीं, कोई अधिकार नहीं। वह सिर्फ पुरुष का उपकरण मात्र है। इस असमानता के खिलाफ स्त्री-संघर्ष ही नारी-मुक्ति आन्दोलन है। इसका प्रमुख नारा 'समान अधिकार की माँग' है।

सत्तर के बाद का नारी-लेखन स्त्री की आत्म-पहचान और उसके आत्म-बल को उद्घोषित करने वाला है। उषा प्रियंवदा, गीतांजली श्री, नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा सोबती आदि इस क्षेत्र के उल्लेखनीय रचनाकार हैं। इनकी रचनाओं में नारी का विद्रोही रूप दिखाई देता है और अपने ऊपर किये जाने वाले विभिन्न अत्याचारों एवं अन्यायों के खिलाफ़ विद्रोह मुखरित है। यह सुविदित तथ्य है कि स्थान, परिवेश और काल की भिन्नता होने पर भी अपनी हर भूमिका में स्त्री ही शोषण एवं उत्पीड़न का शिकार बनती है। किन्तु आधुनिक सन्दर्भ में स्त्री ने अपनी हैसियत को पहचान लिया है और अब उसने अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचारों और अन्यायों के खिलाफ़ विद्रोह जाहिर करना शुरू कर दिया है। समकालीन महिला-लेखन या स्त्री-विमर्श और नारी-आन्दोलन इसी के विभिन्न रूप हैं। इस प्रतिरोध की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं – पारिवारिक अस्मिता के लिए संघर्ष, सामाजिक स्वीकृति के लिए संघर्ष, आर्थिक स्वावलम्बन, राजनैतिक अधिकार आदि। कुल मिलाकर यह प्रतिरोध पुरुषसत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ है। पुरुषवर्चस्व पर प्रहार कर अपनी अस्मिता को बचाये रखना स्त्री-प्रतिरोध का मुख्य लक्ष्य है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में इस दृष्टि से उल्लेखनीय उपन्यास निम्नलिखित हैं – कृष्णा सोबती-कृत 'मित्रो मरजानी' और 'समय सरगम', मृदुला गर्ग-कृत 'चितकोबरा' और 'कठगुलाब', उषा प्रियंवदा-कृत 'अंतर्वशी' और 'शेष यात्रा', मैत्रेयी पुष्पा-कृत 'बेतवा बहती रही', 'चाक', 'इदन्नमम्' और 'अलमा कबूतरी' गीतांजली श्री-कृत 'माई', अनामिका-कृत 'दस द्वारे का पिंजरा', अलका सरावगी-कृत 'शेष कादम्बरी', प्रभा खेतान-कृत 'पीली आँधी', 'छिन्नमस्ता', 'स्त्री पक्ष' और 'अपने-अपने चेहरे', नासिरा शर्मा-कृत 'ठीकरे की मंगनी' और 'शामली', राजी सेठ-कृत 'तत-सम, ममता कालिया-कृत 'बेघर', चित्रा मुद्गल-कृत 'आवां' और 'एक ज़मीन अपनी' आदि।

3.1.4. 'एक ज़मीन अपनी' में स्त्री-विमर्श

3.1.4.1. स्त्री-जीवन की चुनौतियाँ

'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में स्त्री के सामने उपस्थित होने वाली अनेक चुनौतियाँ हैं। इन चुनौतियों का सामना करने का तरीका प्रत्येक पात्र का अलग-अलग है। स्त्री चाहे जहाँ भी हो, वह शोषण का शिकार बनती है। कुछ स्त्रियाँ अपनी शक्ति से इनसे बच जाने की कोशिश करती हैं तो कुछ इस शोषण-तन्त्र को न पहचान कर इसके बाहरी आकर्षण में फँस जाती हैं। 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास की प्रमुख पात्र अंकिता अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता से सर्वत्र व्याप्त नारी-शोषण के निर्मम रूपों को पहचान लेती है, लेकिन उसकी मित्र नीता विज्ञापन जगत और जीवन की चकाचौंध में फँसकर अपने को बरबाद करती है।

अंकिता और सुधांशु की रजिस्टर्ड मैरिज हुई। वे समान जाति-बिरादरी और समान दर्जे के नहीं थे। यह सम्बन्ध शादी के तीन साल बाद टूट जाता है। अंकिता अपने प्रेम-विवाह में असफल हो जाती है। सुधांशु स्त्री को बिल्कुल निम्न स्तर का मानता है – "तुम मामूली औरत, क्या है तुम में ? सिवा तराशी हुई देह के ? और मैं सिर्फ तराशे शरीरे के साथ नहीं रह सकता, पुरुष को इससे आगे भी कुछ चाहिए होता है। महज शरीर पाने के लिए उसे घर में औरत पालने की ज़रूरत नहीं होती ..." (एक ज़मीन अपनी, पृ. 18)

अंकिता सचमुच घर को जीना चाहती है लेकिन उसका पति उसकी इच्छाओं एवं स्वातन्त्र्य को मानने वाला नहीं था। अंकिता को पहली बार एहसास हुआ कि कुछ लोग दूर से ही अच्छे लगते हैं, अच्छे होते हैं, हरियाली के बीच गुँथे पोखर से, जिसका सड़ा हुआ पानी गले से नीचे उतरता है तो विष बनकर शिराओं को सुन्न कर देता है। उनके बच्चे का मरना दोनों के लिए हितकारी लगता है। कारण कि दोनों ही बच्चे के मध्य सम्बन्ध को बनाये नहीं रखना चाहते। वे सदा के लिए दूर-दूर होकर अलग रहना चाहते हैं। अंकिता के शब्दों से उनके सम्बन्ध की शिथिलता एवं व्यर्थता का अहसास होता है – "मेरे लिए भी उसका मरना मेरी ज़िन्दगी से तुम्हारा निष्कासन है, वरना उसकी शक्ल में ज़िन्दगी-भर मुझे तुमको ढोना पड़ता, क्योंकि वह हमारा बच्चा नहीं था, तुम्हारी कामुकता का परिणाम था, मुझे तुमसे घृणा है घृणा, तुम्हारी ऐय्याशियों और ज्यादतियों को ... सती-साध्वी बनी माँग में सजाए इस मुगालते में मत रहना कि मैं स्त्रीत्व की पूर्णता का भ्रम जीती रहूँगी। लो इसी वक्त यह रिश्ता खत्म।" (पृ. 19) अंकिता यह कभी भी भूल नहीं सकती कि सुधांशु ने उसकी कोमल भावनाओं को तहस-नहस कर दिया। उसके साथ और एक जिन्दगी की वह सोच भी नहीं सकती। वे सदा के लिए अलग हो जाते हैं।

अंकिता और सुधांशु का परिचय उनके मित्र हरीन्द्र के माध्यम से हुआ था। इसलिए दूर-दूर होने के बाद भी सुधांशु को अंकितासम्बन्धी समाचार हरीन्द्र से मिलते थे। अंकिता नौकरी की तलाश में भटक रही थी। वह एक अध्यापिका बनना चाहती थी, लेकिन उसका रास्ता विज्ञापन जगत बन गया। वहाँ कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा, लेकिन वह बिना थके आगे बढ़ती है। जीवन चलाने के साथ पत्र-पत्रिकाओं में कई लेख एवं विशेष स्तम्भ लिखकर वह लिखने एवं सोचने की अपनी प्रतिभा भी प्रकट करती रही। उसी बीच उसकी माँ का देहान्त

हो जाता है। यह वियोग उसके लिए इतना दुःखद था कि झेलने से परे था। सुधांशु से अलग होने के बाद उसके लिए अपना घर ही एकमात्र सहारा था। घर के प्रति उसके मन में बड़ा मोह था। वह सुधांशु के साथ घर बनाना चाहती थी। एक स्त्री के मन को पूर्णतः समझकर उपन्यासकार ने स्त्रियों की घर-सम्बन्धी धारणा एवं कल्पना पर गहराई से विचार-मंथन किया है। माँ के गुजर जाने के तुरन्त बाद घर एवं सम्पत्ति के बँटवारे के लिए भाई-भौजाइयों के बीच में तर्क-वितर्क एवं चर्चाएँ होने लगीं। उसका मन यह कतई स्वीकार नहीं पाता कि वह घर उसका नहीं है। अम्मा के वियोग से आतप्त हृदय और घर के कलहपूर्ण वातावरण के बीच सुधांशु उसे मिलने आया। सुधांशु घर वालों के लिए पुराना जीजा है, लेकिन अंकिता को लगा कि सदैव के लिए सम्बन्ध समाप्त हो जाने के बाद भाई-बहनों द्वारा उसके लिए यह 'जीजा' सम्बोधन क्यों ! अंकिता ने इस रिश्ते के सम्बन्ध में बहुत सोचा था।

वैचारिक मतभेद उनके दाम्पत्य की ऊष्मा को चाटता घुन नहीं था, घुन था उसका जबरदस्ती आरोपण। सुधांशु के भीतर के अहंकारी पुरुष की निरंकुश प्रवृत्ति अंकिता की समस्त भावनाओं से खिलवाड़ करती थी। उससे वह आनन्द लेता था। इसलिए वह कभी भी सुधांशु से समझौता नहीं कर सकती। वह सोचती है – "कभी सोचा होगा सुधांशु ने देह और मन का वनवास, उसकी चाहनाओं के विरुद्ध उसे विरक्त करना, तप-सा असाध्य उसे साधना सहज है ! आखिर वह भी मानवीय है, उसके भीतर की स्त्री में किसी रोमिल छाती की सुदृढ़ सघन छाँव की ललक नहीं सिर उठाती ! माँगा था मात्र भीतर की उस स्त्री का सम्मान, अस्तित्व का स्वीकार। और इस्तेमाल से विद्रोह।" (पृ. 170) वह बुनियादी स्तर पर एक स्त्री ही है, लेकिन सुधांशु ने उसके अस्तित्व का तिरस्कार किया, उसका इस्तेमाल किया। पति के ऐसे शोषण के साथ पत्नी को कभी भी समझौता करने की ज़रूरत नहीं है। ऐसी समझौतापरस्त ज़िन्दगी का कोई मतलब नहीं है। स्त्री की अस्मिता को बनाये रखने में ऐसे रिश्ते को काटने की ज़रूरत आ जाए तो उपन्यासकार यहाँ उसे काटने के पक्षधर हैं। स्त्री होने के नाते स्त्री सहज मोह उसके मन को आलोड़ित करेगा, लेकिन पत्नी का अपनापन खोकर जीने में कोई मतलब नहीं है।

पति से अलग होने पर मायके वाले स्त्री का साथ दें तो वह उसके लिए आत्मबल बन जाता है। अंकिता के सम्बन्ध में माँ के देहान्त तक यह सही था। माँ और घर वाले उसका आत्मबल बनकर सभी विपत्तियों एवं संघर्षों से उसे बचाते थे, लेकिन घर के बँटवारे से उसे लगने लगा कि उसका सारा आत्मबल नष्ट हो रहा है। उसने घर वालों के सामने विनती की कि उसे घर से अलग न करें। इस स्थिति में भी वह सुधांशु का साथ नहीं लेना चाहती। बाद में भैया ने निरन्तर पत्र के द्वारा सुधांशु से अंकिता को जोड़ना चाहा। सुधांशु ने भैया को समझाया कि वह अपने में खोये मनुष्य की तलाश करना चाहता है। वह पश्चाताप करता है। अलगाव के दीर्घ अन्तराल ने उसे अपने अन्तर्मन में झाँकने-समझने के लिए बाध्य किया है। वह अंकिता से क्षमा माँगता है और वह उसे विस्मृत भी नहीं कर सकता। अब वह बी.बी.सी. में नौकरी पाकर लंदन जा रहा है। उसके पहले वह अंकिता से मिलना चाहता है। भैया के पत्रों से कई बातें स्पष्ट हो गईं। जो आर्थिक सुरक्षा उसने अर्जित की है, शायद उनकी दृष्टि में वह पूर्णतः सुरक्षा नहीं है। उसके मायने में सही सुरक्षा तभी होगी, जब वह एक अदद पुरुष की निगरानी में हो। सामान्य सोच यही है। पूर्ण सुरक्षा की यही व्याख्या है। स्त्री आत्मनिर्भर होती तो आज सुरक्षा की परिभाषा उसके हिस्से में कुछ और ही होती, लेकिन मन की बात दूसरी है। वह न आत्मनिर्भर होकर लहलहाता है न पराश्रयी

होकर उजड़ता है, उसे सम्वेदनाओं का संवेग चाहिए। उपन्यासकार के अनुसार – "संग ! सोच ! जीन ! समझना ! परस्पर सम्मान ! न मिले प्रतिदान तो क्या जीवन का यह अलग पक्ष है। उसकी अपनी दुनिया। इस अन्तर्निहित दुनिया के आबाद हुए बिना भी जिया जा सकता है, जी नहीं रही वह ? दुष्कर है। इसलिए कि इस छोर से उस छोर तक सन्तुलन-सूत्र अनुपस्थित होता है, लेकिन असन्तुलन व्यवधान नहीं बोता ! इस जटिलता से स्त्री को गुजरना ही है, असन्तुलन के शून्य को सिर्फ इसलिए भर लेना उसके लिए जरूरी नहीं कि बिना पुरुष के सम्पूर्ण सुरक्षा-भाव पूरा नहीं होता है।" (पृ.187)

अंकिता विज्ञापन जगत में बहुत ऊँचे ओहदे पर पहुँच गई। वहाँ की चकाचौंध की व्यर्थता वह अच्छी तरह पहचानती है। मैथ्यू जैसा उद्योगपति स्त्री शरीर को परोसकर अपने को बढ़ाता है। अंकिता उन जैसे कपटी लोगों की भी पोल खोलकर एक धीर सशक्त नारी स्वरूपा बन गई है। फिर भी उसकी जिन्दगी में एक शून्यता है। घर बसाने का मोह है, लेकिन सुधांशु जैसे पुरुष सेवह उस शून्यता को नहीं भरना चाहती है। हरीन्द्र ने लंदन जाने के पहले सुधांशु को अंकिता से मिलाने के लिए दोनों को घर बुलाया। तब अंकिता के मन में पिछली मुलाकात की याद आई। अंकिता की अम्मा के मृत्योपरान्त की भेंट एक विशेष मनःस्थिति में हुई। वह अप्रत्याशित मुलाकात थी। तब उसे सुधांशु व्यक्ति न होकर सिर्फएक काला पन्ना ही लगा था, जिस पर कोई भी अन्य रंग आधार बनकर नहीं चढ़ सकता था। उस दिन सुधांशु का रंग पति का था। अंकिता आजीवन इस रंग कोचढ़ाकर जीना नहीं चाहती। वह उसे केवल व्यक्ति के रूप में देखना पसंद करती है। हरीन्द्र के घर में अंकिता सुधांशु को एक व्यक्ति के रूप में देखने की कोशिश करती दिखाई पड़ी। अनजाने सुधांशु जब मद्य पी रहा था, तब उसने अपनी आत्मीयता का प्रदर्शन किया, लेकिन अंकिता इस टूटे रिश्ते कोपुनः जोड़ना नहीं चाहती।

दोबारा सोचने के लिए भाई ने कहा, सुधांशु ने कहा और हरीन्द्र का मन भी यह चाहता था, लेकिन अंकिता का जवाब असल में नारी शोषण के खिलाफ अत्यन्त उज्ज्वल प्रतिक्रिया है – "सुधांशुजी औरत बोनसाई का पौधा नहीं, जब जी चाहा, उसकी जड़ें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया, वह बौना बनाए रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती है।" (पृ. 220) स्त्री की सम्वेदना को न पहचानने वाले सुधांशु को अंकिता ने एक व्यक्ति के रूप में माना अथवा सदा के लिए सम्बन्धों से अलग होने की सूचना दी।

3.1.4.2. वस्तु में तब्दील होती नारी

नीता भी पति से अलग हो गई। वह भी अपने पति पर कामुकता का आरोप लगाती है। जहाँ प्रेम का अभाव है या जहाँ स्त्री की कोमल भावनाओं का तिरस्कार होता है, वहाँ स्त्री निराश होकर उस जिन्दगी से विरक्त हो जाती है। नीता अपने को आधुनिक समझकर मॉडल बनकर विज्ञापन जगत में तितली के समान उड़ रही थी। अन्त में सुधीर गुप्ता के प्रेम को उसने छल समझा। वह अधीर बनकर आत्महत्या करती है। नीता एक स्त्री के दारुण पतन के साथ स्त्री के प्रति पुरुष के कठोर अन्याय के शिकार की प्रतीक भी है। जो दिखाई देता है, उसे वह सत्य समझती थी। जब नीता को प्रसव के लिए अस्पताल में दाखिल किया गया, तब अंकिता से नीता का सत्योद्घाटन

देखिए – "दैट बास्टर्ड, उसने मुझे छला है, प्रेम-प्रेम कुछ नहीं, काम-सम्बन्धों का भूखा भेड़िया, आई हेट हिम ।" (पृ. 196)

नीता जब सुधीर के संग रहने लगी तब उसके घर वालों तथा अंकिता ने भी उस पर प्रश्न किया था। इसकी वजह थी कि सुधीर शादीशुदा है, दो बच्चों का पिता है लेकिन नीता का दृष्टिकोण एवं सोच उसके अपने थे। उसके अनुसार – "उसकी पत्नी है तो क्या पत्नी माता-पिता द्वारा सौंपी गई व्यवस्था मात्र है। वास्तविक अर्थों में अर्चना उसकी पत्नी होती तो वह परस्त्री ढूँढता ?" नीता सुधीर की जीवन-सहचरी बनकर उसके रिक्त जीवन को फूलों से भरना चाहती थी। उसके अनुसार पत्नी शब्द में दासीत्व की बू है। 'दूसरी औरत' या 'रखैल' कहलाने में नीता अपनी तुष्टि मानती थी। इसे वह अपना स्वातन्त्र्य समझती थी। उसके अनुसार – "हम प्रेम करते हैं। हमारा प्रेम मात्र आवेग नहीं है। न क्षणिक उन्माद ! यह परस्पर संवाद है। परिपक्व ! मानसिक जुड़ाव। हम वर्जनाहीन होकर जिएँगे ! बन्धनहीन होकर बँधेंगे, रूढ़िमुक्त हो मानसिक वरण।" (पृ. 199)

अंकिता ने उसके प्रेम की परिभाषा पर आपत्ति सूचित की। सुधीर की छलना की ओर संकेत किया। सुधीर अपनी पत्नी से और नीता से, दोनों से अन्याय कर रहा है। मतलब दोनों हाथों में लड्डू बनाए रखने की कामान्ध चतुरता है। अंकिता ने समझाया कि जिस वर्जनाहीन समाज की परिकल्पना की वकालत नीता कर रही है या उसकी तरह विचारशील होने का दम्भ भरती अनेक अन्य आधुनिकाएँ इन थोथे तर्कों की आड़ में पुरुष को वह छूट दे रही हैं कि वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण होकर आत्मसुख को किसी भी सीमा तक भोगने के लिए स्वतन्त्र है और उसकी इन उच्छृंखलताओं के लिए स्त्री स्वयमेव उसे उपलब्ध है। पहले समाज में आत्मनिर्भर न होने के कारण स्त्री रखैल कहलाकर सामाजिक व्यवस्था में घिनौनी ज़िन्दगी बिता रही थी, लेकिन आज स्त्री के आत्मनिर्भर होने के कारण उसके लिए वह सम्बोधन तो नहीं है फिर भी स्त्री अब भी पीछे की सामाजिक व्यवस्था की समर्थक बन रही है। पुरुष की भोगेच्छा और उच्छृंखल जीवन के लिए स्त्री ही मदद देती है लेकिन आधुनिक नारियाँ इसे स्वतन्त्रता समझकर वास्तविक शोषण को नहीं समझती हैं।

अंकिता के अनुसार स्त्री-पुरुष समानता का तात्पर्य स्त्री को मर्द बनाना नहीं है। समाज में पुरुष के लिए जो अनैतिक, अमानवीय, दुराचरण उच्छृंखल है वह स्त्री के लिए भी है। औरत को अवश्य ही अपने मन को महत्त्व देना चाहिए। पुरुष आत्मसम्मान नहीं देना चाहता तो उसे ठेंगे पर रखिए। वैवाहिक व्यवस्था दो व्यक्तियों के साथ आत्मसम्मानपूर्ण साझेदारी है। दूसरी औरत बनकर रहने का मतलब है कि स्त्री दोहरे शोषण से गुजर रही है। यहाँ उपन्यासकार अंकिता के माध्यम से स्त्री-स्वातन्त्र्य को भी परिभाषित करती हैं – "स्त्री को स्त्रीत्व से मुक्ति नहीं चाहिए, उन रूढ़ियों से मुक्ति चाहिए, जिन्होंने उसे वस्तु बना रखा है, जो स्त्री को भोग की वस्तु मानकर उसे इस्तेमाल करती आई हैं और कर रही हैं। यह शुद्ध काम सम्बन्धों की सुविधा है।" (पृ.101)

अंकिता के उपदेशों को नकारते हुए नीता ने जिस रिश्ते को सत्य माना, वह जल्दी ही टूट गया। वे परस्पर आरोप लगाते हैं। सुधीर के पास दूसरा रास्ता है। वह अपनी पत्नी और बच्चों के पास चला गया। सुधीर की पत्नी ने नीता से जो कहा, वह बिल्कुल सही है, "तुम सिर्फ उनके लिए एक फिल्म थीं, सिर्फ एक फिल्म और जो

गहरा लगाव एक सम्वेदनशील निर्देशक को चरम सम्वेदना के साथ अपने फिल्म-निर्माण के दौरान फिल्म से होता है, वह फिल्म सोचता है, फिल्म खाता है, फिल्म पीता है, फिल्म ओढ़ता है, फिल्म सोता है, फिल्म चलता है और फिल्म ही रति करता है, तुम वही और उतनी ही हो और फिल्में बनाना उनका शौक है।" (पृ. 205) यहाँ उल्लेखनीय बात है कि दूसरी औरत को सामाजिक स्वीकृति नहीं होगी। इसलिए पुरुष उसे जल्दी छोड़ने के लिए तैयार हो जाएगा। वहाँ कानून का बन्धन भी नहीं है।

यहाँ नीता मानसिक उद्विग्नता से अशान्त अपने में कैद-सी हो गई। उसने एक बच्चे को जन्म भी दिया। उसके बारे में भी वह चिन्तित है। वह अनाथत्व महसूस करने लगी। अंकिता के अनुसार मुक्त मनुष्य कभी भी अनाथ नहीं बनेगा लेकिन नीता ने जीवन से पलायन करने के लिए आत्महत्या की। नीता का व्यक्तित्व आत्मविश्वास से पोर-पोर डूबा था, वह जटिल से जटिल परिस्थितियों से जूझने को तत्पर थी, सदैव स्फूर्तिपूर्ण मुद्रा में रहती थी, लेकिन वह छुई-मुई होकर खुद अपने नाश के लिए तैयार हो गई। जीवन जीने की अदम्य लालसा थी उसमें लेकिन अपने प्रेम के प्रतिफल अपनी बच्ची के प्रति भी उसने मोह छोड़ दिया। उपन्यासकार यह सवाल हमारे सामने पेश करती हैं – "पुरुष के लिए जीवन का सम्पूर्ण अर्थ स्त्री मात्र नहीं होती, स्त्री चाहे जितनी आगे बढ़ जाए। पद, प्रतिष्ठा, ख्याति आर्जित कर ले, उसका पूरा जीवन एक अदद पुरुष क्यों हो उठता है ?" (पृ. 247) पुरुष और स्त्री के बीच का यह फर्क क्यों है ? शायद स्त्री पुरुष की प्राप्ति से अपने को धन्य समझकर अपने इष्ट पुरुष के लिए अपना सर्वस्व सौंप देती है। वह इससे परे दूसरा कुछ चाहती ही नहीं है। स्त्री अपना सब-कुछ अपने पुरुष को ही समझती है। यहाँ नीता भी सुधीर के अलगाव से पूर्णतः शिथिल हो गई। उसने समझ लिया कि उसने जिसे स्त्री-स्वातन्त्र्य समझा, वह गलत है। जिस संसार के आडम्बर से वह आकृष्ट हो गई, वह झूठा है। अपनी गलती को उसने अपने जीवन के अनुभव से समझ लिया। इस देश की स्त्री को यहाँ के संस्कार के अनुसार जीना चाहिए। 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में उपन्यासकार ने भारतीयता और भारतीय संस्कार के महत्त्व पर बल दिया है। नीता ने अपनी आत्महत्या के वक्त अंकिता के नाम एक पत्र लिखकर रखा था। वह पत्र स्पष्ट करता है कि 'भारतीय स्त्री क्या है !' कितनी ही फैशनपरस्त एवं आधुनिक होने पर भी स्त्री आख़िर एक स्त्री ही है। वह एक ही पुरुष में पूर्णतः डूब जाना चाहती है। नीता ने अपनी बेटी को अंकिता को सौंपते हुए जो पत्र लिखा, वह स्त्री-मन को पहचानने में काफी मदद करता है। वह पत्र स्त्री-मन के अदम्य मोह एवं कामनाओं को परत-दर-परत हमारे सामने खोल कर रख देता है – "आज महसूस हो रहा है रीढ़ के बिना कोई ज़िंदा कैसे रह सकता है? सोचती हूँ, इस देश की स्त्री को यहीं का खुला हवा-पानी चाहिए, यहीं की मिट्टी का पौधा चाहिए। यहीं के मौसम के अनुशासन में जी सकती है। बाहरी और उधार लिया हवा-पानी उसे पच नहीं सकता। पच जाता तो सुधीर के छोड़ देने पर यह मन अपने लिए कोई अन्य अहलूवालिया या श्रीधर क्यों नहीं तलाश पाया और अंकु जिस दिन से सुधीर को उस मन ने चाहा, देह भी अपनी धर्म भूल गई, उसी को चाहने लगी। यही मानती रही थी कि देह का धर्म और है, जरूरी नहीं कि वह मन के प्रति निष्ठावान रहे। उसकी ज़रूरत अलग हो सकती है। अलग लगती भी रही और मैंने उन्हें अलग रूप में जिया भी, लेकिन जिस दिन से यह मन सुधीर से जुड़ा, देह भी उसी के साथ जुड़ गई, वह सुधीर को ही चाहने लगी, किसी के चाहने पर भी नहीं जग पाई, क्यों ? मैंने मूल्य तोड़ा, पति-पत्नी के दासत्व भरे सम्बन्धों से मुक्त कामना लिये शुद्ध रूप से भरी पुरुष सम्बन्धों की गहराई और उदात्तता को जीना चाहा, लेकिन ..." (पृ. 255)

यहाँ उपन्यासकार भारतीय संस्कृति में पली-बढ़ी स्त्री की मानसिकता को प्रस्तुत करने के साथ पति-पत्नी सम्बन्धों का असली रूप प्रकट करती हैं। यहाँ पत्नी-धर्म और विशेष रूप से भारतीय पत्नी का स्वरूप खुलता है। नीता उच्छृंखल नहीं है। वह मन एक को देकर शरीर दूसरों को परोसने वाली भारतीय मिट्टी की नहीं है। यद्यपि नीता पहले उच्छृंखल थी, तो भी एक पुरुष को मन से वरण करने के बाद उसमें ही खो गई। वह भटकती नहीं थी, लेकिन इसे पहचानने के लिए सुधीर तैयार नहीं था। सुधीर की आँखों में नीता एक फिल्म मात्र थी। जब स्त्री वस्तु बनती है तब उसकी ज़िंदगी दूसरों के हाथों की कठपुतली बनकर बरबाद हो जाती है लेकिन अंकिता की पात्र-सृष्टि उपन्यासकार के मन की स्त्री-सम्बन्धी धारणा ने की है।

स्वतन्त्र मानसिकता वाली अंकिता अपने जीवन के आरम्भ से ही अपनी अस्मिता को बनाए रखती है। परिपक्व मानसिकता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सुधांशु से तिरस्कृत और प्रताड़ित मन किसी की मामूली-सी भी सहानुभूति या सौहार्दपूर्ण व्यवहार से उसे अपना समझने की भूल नहीं कर बैठता। उसने अहंकारग्रस्त मन और स्त्री के मोह एवं छोटे-छोटे स्वप्नों को तहस-नहस करने वाले पुरुष रूप को सुधांशु में पाया इसलिए बाद के जीवन में उसने सोच-समझकर कदम उठाए। विज्ञापन जगत की चमक उसकी समझ के परे थी लेकिन अपनी अस्मिता को तिलांजलि देने या अपने शरीर को परोसने के लिए वह कभी तैयार नहीं हुई। मैथ्यू जैसे लोगों की नीचता को उसने पहचान लिया और उसका सही जवाब भी दिया। स्त्री जहाँ कहीं भी हो, वहाँ उसके इर्द-गिर्द उसके मन-पतंगे को आकृष्ट करने वाली लौ भी होगी लेकिन अपने लिए प्राण-घातक उस लौ को पहचानना ही स्त्री-धर्म है। स्त्री को अपने शारीरिक सौन्दर्य से नहीं, अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता से प्रत्येक क्षेत्र में विजय हासिल करने की ज़रूरत है। स्त्री को उसके शारीरिक सौन्दर्य की प्रशंसा करने वाले अनेक मिलेंगे लेकिन उसकी बुद्धि और कार्यक्षमता को मानने के लिए कोई तैयार नहीं होगा। नीता मैथ्यू की कंपनी में हो या दूसरी कंपनी में अपने शारीरिक सौन्दर्य के प्रभाव से आरम्भ से ही जीतती रही। सुधीर भी उसकी रूप-छटा से आकृष्ट हो गया था। लेकिन वह केवल नीता के शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आसक्त था। नीता के स्त्री-हृदय को उसने कभी नहीं पहचाना। नीता के विज्ञापनों में उसके मॉडल की मांसलता को लोग पसंद करते थेइसीलिए जीवन में जल्दी धन कमाने और ख्याति प्राप्त करने में नीता कामयाब हुई।

लेकिन अंकिता की स्थिति ठीक उलट है। उसके पति ने भी उसके शरीर मात्र को देखा। ऐसे में वह उस रिश्ते को सदा के लिए छोड़ने के लिए मज़बूर हो जाती है। नौकरी के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा को प्रकट करना ही अंकिता का लक्ष्य है। वह पत्र-पत्रिकाओं में लिखती है, उसके विचारों से लोग आकृष्ट होते हैं, विज्ञापन जगत के लिए अच्छे विज्ञापन तैयार करती है। भोजराज से मिलकर जब वह काम करती है तब शैलेन्द्र जैसे कपटी लोगों की कपटता को पहचानकर उनके विरुद्ध लड़ने को तैयार हो जाती है। बिज़नेस को कैसे संभालना है, यह वह बखूबी जानती है। विज्ञापन जगत की दलदल से वह दूर रहना चाहती है इसीलिए अपना अलग रास्ता तैयार करती है। उस रास्ते में जब रुकावट आने लगती है और आगे बढ़ने में बिल्कुल असमर्थता दिखाई पड़ती है तब ऐसे में वह उसे छोड़ने के लिए भी तैयार हो जाती है। वह पुरुषवर्चस्व वाले समाज के अन्याय को झेलकर बिज़नेस क्षेत्र में सिरताज नहीं बनाना चाहती। उसके इसी गुण से प्रभावित भोजराज जैसा बड़ा उद्योगपति उसे पुनः बिज़नेस की

ओर लौटाना चाहता है। यहाँ यह स्त्री अपनी प्रतिभा के बल पर अपने कार्य-क्षेत्र में उन्नति एवं नाम कमाती है। यही स्त्री की असली जीत है। इस उपन्यास के दो प्रमुख नारी पात्र आगे बढ़ने के लिए भिन्न-भिन्न रास्ते चुनते हैं। इन दोनों रास्तों की असलियत का खुलासा इस उपन्यास में हुआ है। स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य को नहीं, प्रतिभा को मान्यता मिलनी चाहिए। स्त्री स्वातन्त्र्य तभी सम्भव हो पाएगा।

इस उपन्यास की ख़ास बात यह है कि पूरे उपन्यास में कहीं भी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया गया है। हालाँकि कहीं-कहीं नीता के सन्दर्भ में अवश्य यह सूचित किया गया है कि वह अप्रतिम सुन्दर है। विज्ञापन में उसी सौन्दर्य को कैमरामैन सेक्सी बना देता है। लेकिन दूसरी ओर अंकिता के शारीरिक सौन्दर्य की कहीं चर्चा भी नहीं की जाती। इस दृष्टि से उपन्यासकार की प्रतिभा एवं कुशलता और भी प्रकट हुई है क्योंकि इस माध्यम से वे यह सिद्ध करने में वे सफल हुई हैं कि स्त्री की शक्ति प्रतिभा में है, सौन्दर्य में नहीं। अंकिता के पात्र के माध्यम से उपन्यासकार ने स्त्री-स्वातन्त्र्य को बड़े सहज एवं स्वाभाविक ढंग से प्रतिष्ठित किया है। चित्रा मुद्गल के यहाँ स्त्री-स्वातन्त्र्य उच्छृंखलता का पल्ला पकड़कर नहीं चलता प्रत्युत यहाँ यह स्वातन्त्र्य बहुत परिपक्व है और ख़ास बात यह कि इसमें भारतीयता का केन्द्रीय स्वर भी विद्यमान है। भारतीय मिट्टी की गन्ध से विलग होकर ओढ़ा हुआ पराया स्वातन्त्र्य हमारी संस्कृति को शोभा भी नहीं देता।

3.1.5. 'एक ज़मीन अपनी' में उद्घाटित विज्ञापन जगत का खुरदरा यथार्थ

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है – 'बाजारीकरण' और 'बाज़ारू संस्कृति'। बाजार की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को अच्छी तरह समझने में 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास अत्यन्त सहायक है। बाजार को समृद्ध करने के लिए विज्ञापन करना अनिवार्य है। विज्ञापन जनता के मानसपटल पर आकर्षक और चकाचौंध उत्पन्न करता है। उपभोक्ता को यथार्थ से दूर कर स्वप्नलोक में भ्रमण करवाता है किन्तु इसकी वास्तविकता छद्म और भक्षक है। इसके मुखौटे को हटाने पर ही इसके पीछे के भयानक लोक की सत्यता से अवगत हुआ जा सकता है। तब आकर्षक प्रतीत होने वाले इस मायावी संसार से घृणा होने लगती है। 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के माध्यम से चित्रा मुद्गल इस विज्ञापन जगत के वास्तविक घृणित रूप को उघाड़ने में सफल हुई हैं।

'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में दो प्रमुख नारी पात्र हैं – अंकिता और नीता। दोनों विज्ञापन के क्षेत्रों में कार्यरत हैं। अंकिता को शुरू-शुरू में इस क्षेत्र में महत्त्व नहीं मिला। अंकिता में कार्य-कुशलता का अभाव नहीं है, वह प्रतिभा-सम्पन्न भी है फिर उसके साथ ऐसा क्यों हो रहा है ! प्रारम्भ में उसने समझा कि अन्य कार्य-क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत ज्यादा प्रतिस्पर्धा होगी। लेकिन धीरे-धीरे वह अपनी विफलता के कारण पहचान लेती है। पहला कारण यह कि अंकिता मिलनसार नहीं है, जो इस दुनिया में फलने-फूलने की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग्यता है। दूसरा, उसके पास इस रंगीन दुनिया में स्थापित होने के लिए आवश्यक सिफ़ारिश जैसी चामत्कारिक पूँजी का नितान्त अभाव है। तीसरा, विज्ञापन जगत में उसका कोई गॉडफादर भी नहीं है कि जिसके इशारे पर काम उस तक चलकर आए। फिर भी उसका विश्वास था कि प्रतिभा किसी न किसी रोज आदमी की पहचान बनती है, उसकी कद्र करवाती है, उसे उसके लक्ष्य तक पहुँचाती है। जब वह 'फिल्मरस' में थी तब उसे मैथ्यू की

आब्ज़र्वेशन एडवरटैज़िंग कंपनी में काम मिला था। उसका विश्वास था कि यह काम उसकी प्रतिभा की वजह से उसे प्राप्त हुआ लेकिन बाद में उसे पता चला कि मैथ्यू अंकिता की प्रतिभा के साथ उसके शरीर को भी बेचकर अपने बिजनस को पुष्ट करना चाहता था। अंकिता इसके लिए तैयार नहीं हुई लेकिन भोजराज जैसे महान् व्यक्तित्व ने उसकी प्रतिभा को पहचाना और उसकी मदद और सलाहों के अनुसार 'माध्यम' नामक अलग कंपनी खोल दी। अंकिता केवल अपनी प्रतिभा के माध्यम से विज्ञापन-क्षेत्र की नामी वनिता बन गई। वहाँ भी मैथ्यू जैसे लोग अपने घृणित कृत्यों से उसे धराशायी करने की कोशिश करते रहे लेकिन सत्य पर अटल रहकर वह अपनी प्रतिभा तथा ईमानदारी के सहारे आगे बढ़ने में कामयाब हुई। दूसरी ओर नीता इस मायावी संसार की चमकीली ज्वाला के आकर्षण में फँसकर पतंगे के समान जल गई। विज्ञापन जगत के छद्म रूप को उसने सत्य माना और अपने जीवन को नष्ट कर लिया।

वास्तव में इस उपन्यास की कथावस्तु अंकिता के साथ चलती है। अंकिता 'फिल्मरस' विज्ञापन कंपनी में अस्थायी तौर पर काम करती है और एक अच्छी नौकरी की खोज में है। तभी उसके द्वारा तैयार विज्ञापनों को देखकर आब्ज़र्वेशन कंपनी के मैथ्यू ने उसे अपनी कंपनी की ओर से आमन्त्रित किया। अंकिता ने वहाँ काम करना शुरू कर दिया लेकिन इसी बीच उसे अपने गाँव इंदौर जाना पड़ा। उपन्यास में जो विज्ञापन जगत प्रस्तुत हुआ है उसका परिवेश बंबई है। बंबईमहानगर इस क्षेत्र में सबसे आगे भी है। आब्ज़र्वेशन एडवरटैज़िंग कंपनी में प्रथम दर्जे की नौकरी पाना अंकिता की अपने-आप में बहुत बड़ी उपलब्धि थी। शुरू-शुरू में अंकिता जैसी कुशल कर्मी को कंपनी के कर्मचारी उलझनों में डाल देते थे मैथ्यू की मदद से उन उलझनों को सुलझाया जाता। लेकिन जब से वह इंदौर से वापस आयी, मैथ्यू उससे मिलने के लिए भी तैयार नहीं हुआ। इसी बीच वहाँ नीता की स्थायी नियुक्ति भी हुई। नीता से ही अंकिता को मालूम हुआ कि उसके जाने के पूर्व हुई पार्टी में मैथ्यू की एजेंसी के सबसे बड़े खातेदार मि. सक्सेना को पार्टी में खुशी देने के लिए अंकिता तैयार नहीं हुई थी, उसी कारण मैथ्यू उससे नाराज़ है। इस पर अंकिता की प्रतिक्रिया देखिए – "वह सुअर का बच्चा सक्सेना ... आठ-नौ पेग्स उसके गले उतर चुके थे और उसके हाथ-पाँव अपने वश में नहीं थे। उसने कंधे पर ही हाथ नहीं रखा था। पार्टी की बात थी, वरना वहीं चप्पल उतार लेती, वह भी सीख जाता कि पार्टियों में लड़कियाँ बिकने नहीं आतीं, आती हैं तो उनके साथ उसे कैसा सुलूक करना चाहिए। मगर ज़हर का घूँट पीकर रह गई क्योंकि ऐसी जगह पर उसकी भर्त्सना करना उसे नंगा करना नहीं होता, अलबत्ता अपने कपड़े जरूर उतर जाते हैं ..." (पृ. 34)

सक्सेना ने मैथ्यू से शिकायत भी की कि अपनी एजेंसी में बेशरूर ऐसी लड़कियों को भर लेते हैं जिन्हें सोसाइटी में उठने-बैठने तक की तमीज़ नहीं। अपेक्षा पूर्ण नहीं होने की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ ही समय के भीतर सक्सेना ने आब्ज़र्वेशन एडवरटैज़िंग कंपनी से अपना खाता वापस ले लिया। नीता की नियुक्ति अंकिता के स्थान पर इसलिए हुई कि उसने अपना शरीर समर्पित कर आब्ज़र्वेशन एडवरटैज़िंग कंपनी में फिर से सक्सेना का खाता खुलवा दिया। यह है विज्ञापन जगत जहाँ शरीर के सामने प्रतिभा भी हार जाती है। इस क्षेत्र में सफल बनने का मार्ग बताते हुए नीता कहती है – "नौकरी और प्रतिभा दो अलग-अलग चीजें हैं। कभी-कभी वे दोनों को एक साथ, एक मंच पर होने का अवसर और सम्मान देते हैं, लेकिन अक्सर नहीं। वे खरीददार हैं, उन्हें मालूम है, वे जब

चाहें, जैसे चाहें बुद्धि और प्रतिभा खरीद सकते हैं। उसके लिए उन्हें किसी को स्थायी नौकरी देने की ज़रूरत नहीं है। स्थायी नौकरी पर वे मित्र, प्रेमिका, सम्बन्धी या लेन-देन के आधार पर किसी को भी रखकर किसी को भी कृतज्ञ कर सकते हैं। न जाने कितने प्रतिभाशाली फ्रीलांसिंग करते हुए उनकी दयादृष्टि का मोहताज हो अधर में लटके अनिश्चय में सड़ रहे हैं और महत्त्वपूर्ण पदों को वे लोग सुशोभित कर रहे हैं, जो सिर्फ ग्लैमरस हैं। यह ग्लैमर की दुनिया है अंकू। यहाँ जीने की, जी पाने की पहली शर्त है – विशिष्ट करना, विशिष्ट होना, विशिष्ट बनना, जो वास्तविकता नहीं।" (पृ. 80) नीता के अनुसार विज्ञापन जगत में लड़ने के लिए प्रतिभा की ज़रूरत नहीं है। यहाँ की व्यवस्था के साथ मिलकर लड़ने से ही कामयाबी सम्भव है इसलिए इस क्षेत्र की गहराई में उतरने से भयाक्रांत होने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन अंकिता अपनी प्रतिभा को बरबाद करना नहीं चाहती। उसके बलबूते पर अपना आत्मसम्मान और गौरव को बनाए रखना चाहती है। इसलिए अंकिता अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता से ही इस क्षेत्र में प्रवेश कर जीत हासिल करने को कटिबद्ध है। शुरू-शुरू में उसे असफलता ही मिली किन्तु सही मार्ग पर अडिग रहकर बाद में वह सफलता हासिल करती है।

नीता ने जो मार्ग अपनाया वह उच्छृंखलता और मांसल प्रदर्शन का है। 'आम्रपाली' पोशाक के विज्ञापन की फिल्म शूटिंग के दौरान कैमरामैन ने नीता की नग्नता को ही कैमरे में कवर किया। विज्ञापन जगत में डिज़ाइनर वस्त्रों के विज्ञापन में नग्नता को ही ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। पुरुष के मन को वासना से आन्दोलित करने के लिए विज्ञापनों में स्त्री की नग्नता का घृणित इस्तेमाल किया जाता है। स्क्रीन पर पुरुष फुल सूट में दिखेगा किन्तु स्त्री देह का प्रदर्शन नाममात्र के वस्त्रों के साथ होता है। नीता गिद्ध-दृष्टियों के बीच मांस का टुकड़ा बन जाती है। नीता की सफलता पर सब लोग बधाइयाँ दे रहे हैं लेकिन इस नग्न-प्रदर्शन के लिए अंकिता तैयार नहीं हुई। उसे अच्छी तरह मालूम है कि यह सामाजिक हित के अनुकूल नहीं है। अंकिता के माध्यम से लेखिका अभिव्यक्त करती हैं – "जितना अधिकार उसे अपनी तरह से जीने का है, सोचने का है, करने का है, औरों को भी है। उसे आपत्ति नहीं चाहिए। हो तो उसे अपने तक ही सीमित रखे। नहीं तो ये तर्क कन्नी काटने की सहूलियतें हैं। स्वयं को लालीपॉप थमाकर बच्चे की भाँति बहलाने का उपक्रम ताकि नागरिक जिम्मेदारी से बचा जा सके। वह कोई कार्य निजी नहीं होता, जो सार्वजनिक हित-अहित को प्रभावित करता है। प्रतिक्रिया प्रकट करने का उसे पूरा अधिकार है और करना चाहिए। अपने कमरे के भीतर आप नंगे रहिए, कौन झाँकने, टोकने जाता है, किसे आपत्ति हो सकती है ? मगर घर से बाहर आप मात्र एक व्यक्ति नहीं होते, समाज होते हैं ..." (पृ. 106)। ऐसे नग्न विज्ञापन जनहित की उपेक्षा ही नहीं करते प्रत्युत उसे भटकाने में प्रेरक भी बन जाते हैं। लेखिका इसलिए ऐसी विज्ञापनबाजी का सख़्त विरोधी करती हैं।

उपन्यास की कथावस्तु विज्ञापन क्षेत्र और पत्रकारिता को साथ-साथ लेकर बुनी गई है। विज्ञापन जगत पत्रकारिता एवं विभिन्न चैनलों पर निर्भर है। अंकिता का मित्र हरीन्द्र उसे पत्रकारिता के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने को प्रेरित करता है। अंकिता हमेशा ऐसे क्षेत्र में काम करना चाहती है जहाँ प्रतिभा और कार्य-कुशलता को महत्त्व दिया जाता हो। उसे कभी-कभी ऐसा लगता है कि वह आजकल के वातावरण के लिए फिट नहीं है। भटके हुए विज्ञापन जगत से जुड़े कई सवाल उसके मन में कुलबुलाते हैं जिनकी चर्चा वह हरीन्द्र से करती

है। उसका मानना है कि छिछले और अविवेकपूर्ण विज्ञापनों का कुप्रभाव कोमल मनोमस्तिष्कों को दूषित कर रहा है, अतिशयोक्तियों की चकाचौंध से उन्हें भरमा रहा है। आज ज़रूरत है कि विज्ञापनों का प्रचलित मनोविज्ञान बदला जाय। विज्ञापनों को स्तरीय और कलात्मक बनाया जाय। विज्ञापन के सामाजिक सरोकारों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। महत्त्वाकांक्षा और ग्लैमर की प्रवृत्ति त्याज्य है। अंकिता विज्ञापन जगत के दलदल को उजागर करने के साथ ही उस प्रक्रिया से अलग होकर अपनी प्रतिष्ठा बनाने का दृढ़ निश्चय करती है। वह हरीन्द्र से कहती है – "इस कार्यक्षेत्र में मैं मजबूरीवश ही आयी हूँ कि अगर आ ही गई हूँ तो अब यह मेरे किए चुनौती और प्रतिष्ठा का प्रश्न है कि इसे इसके गुण-दोषों के साथ स्वीकार करूँ। तुम्हारी चिन्ता लिखने को लेकर है। लिखना मैं बंद नहीं करूँगी, लिखना ही शायद मेरा बोलना है, प्रतिक्रिया देना है और मैं रिएक्ट करना चाहती हूँ एक जागरुक व्यक्ति की भाँति।" (पृ. 111) वास्तव में यहाँ अंकिता के माध्यम से लेखिका अपना ही पक्ष रखती हैं। यहाँ अंकिता में लेखिका का आत्मांश ज्यादा बुलंद है।हरीन्द्र के सुझावानुसार अंकिता पत्रिकाओं में कई विशेष स्तम्भ लिखने लगी। वहाँ भी स्त्रियों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। अंकिता मेहता से सलाह-मशविरा लेती रहती है। मेहता विज्ञापन जगत का विशेषज्ञ है, साथ ही साथ एक अच्छा मित्र भी। विज्ञापन जगत के अंदरूनी छद्म रूपों से वह अच्छी तरह परिचित है। अंकिता प्रसिद्ध उद्योगपति भोजराज के साथ मिलकर काम करने को तैयार होती है। भोजराज उसकी प्रतिभा और कार्य-कुशलता से प्रभावित है। विज्ञापन के लिए सामग्री तैयार करने की अंकिता की क्षमता बेमिसाल है। भोजराज और अंकिता के बीच अनुबंध हुआ। भोजराज 'फिल्मरस' से खाता लेकर नये उद्यम में लगाने की प्रेरणा देता है। वह अंकिता को अपनी नयी कंपनी 'माध्यम' में कार्यकारी अधिकारी बनाने की सोच रहा है।

चर्चा के दौरान इस क्षेत्र से प्राप्त अनुभव के आधार पर उत्पन्न कई विचार अंकिता के मन में मंडराने लगे। उसकी कंपनी के साथ शैलेन्द्र नामक कैमरामेन को जोड़ने का जिक्र हुआ लेकिन अंकिता उसे अस्वीकार कर देती है। शिप्रा के लिए सिनेमेटोग्राफी करने वाले शैलेन्द्र का नाम बाजार में अवश्य ही अपना सिक्का जमा चुका है मगर इधर उसकी व्यस्तता ने काम के प्रति उसके लगाव को लगभग समाप्त कर दिया है। दो दिन का शेड्यूल भी वह अपने सहकर्मियों के कन्धों पर पटक कर गायब हो जाता है। सहकर्मी फिल्म करें, इस बात से अंकिता को आपत्ति नहीं है, उसकी आपत्ति का कारण है सहकर्मियों के प्रति शैलेन्द्र का दुर्व्यवहार। वह उनका शोषण करता है। यह अंकिता को असहनीय है।शैलेन्द्र उन पर प्रतिक्षण यह मानसिक दबाव बनाए रखता है कि वे जो काम कर रहे हैं, वह उसके प्रताप और प्रभाव का सुफल है। उसका नाम बिकता है। नाम बिकता है, इसलिए काम धड़ाधड़ मिल रहा है और उन्हें इस बात के लिए उन्हें उसका कृतज्ञ होना चाहिए कि उसकी वजह से वे लोग इस उद्योग में अपनी रोटी-दाल चला रहे हैं। अधिकांश फिल्मों में वह कैमरे में झाँककर भी नहीं देखता मगर सहायकों को उतना ही पैसा देता है जितना कि वह उन्हें शुरू में दे रहा था। आठ साल के अंदर उसने 'वरसोवा बीच' पर तीन कमरों का फ्लैट खरीद लिया, दो-दो गाड़ियाँ बना लीं जबकि उसके सहयोगी हर ग्यारह महीने बाद घर खाली करने की नियति से पीड़ित हैं। वह घड़ियाल की तरह शराब पीता है। उसके हाथों में कंपन शुरू हो चुका है। अधिक से अधिक चार साल के भीतर कैमरा चलाने में वह असमर्थ हो जाएगा। अंकिता की सलाह है कि शैलेन्द्र से बेहतर है कि क्यों न वही लड़के स्वतन्त्र रूप से उसकी फिल्मों का दृश्यांकन करें जिनके बूते शैलेन्द्र मठाधीश बना बैठा है।

यह जानते हुए भी कि एक उद्योगपति व्यापारी के सम्मुख बोलने से उसकी भौंहों का मामूली-सा उठाव उसे दूध में गिरी मक्खी के समान निकाल फेंकेगा और वह अपने जीवन में हाथ आए सबसे सुनहरे अवसर को खो देगी, बिना किसी भय के वह शैलेन्द्र के प्रति अपनी असहमति भोजराज के सामने रख देती है। स्त्रियों के प्रति शैलेन्द्र का अभद्रतापूर्ण व्यवहार और काम के प्रति उसकी कोताही जैसी बातें अंकिता ने भोजराज के सामने बेखौफ होकर रख दीं – "उसके पास न पहले जैसा परिश्रम है, न परिणाम, न कल्पनाशीलता। हमारी एजेंसी को अभी अपनी प्रतिष्ठा बनानी है। बाजार में उत्कृष्टता का विश्वास अर्जित करना है। प्रतिष्ठा एक बार बन जाए, तब उन्नीस-बीस फर्क महत्त्व नहीं रखता, लेकिन शुरुआत में यह जोख़िम नहीं उठाया जा सकता। प्रत्येक चीज पर गौर किया जाता है। फिल्म नहीं, क्लाइंट्स को एक करिश्मा चाहिए, वह करिश्मा हम नाम से नहीं, काम से ही पैदा कर सकते हैं।" (पृ. 133) हाल ही में शैलेन्द्र द्वारा बनायी गई विज्ञापन फिल्मों की विफलता की ओर इशारा करते हुए उसने कहा कि नितिन मोहन को उसके स्थान पर नियुक्त करना उचित होगा लेकिन भोजराज ने यह स्वीकार नहीं किया। उसका मानना है कि – "शुरुआत में लोग नाम नहीं, काम देखते हैं। बल्कि स्थिति बिल्कुल विपरीत है। शुरुआत में लोग काम नहीं, नाम देखते हैं। वे नाम, जो बेहतर काम की गारंटी साबित हो चुके हैं और भविष्य की गारंटी देते हैं।"

भोजराज से बातचीत से अंकिता को जान जाती है कि उसमें शिकारी कुत्ते के समान प्रशासनिक कुटिलता की घ्राणशक्ति है। नये उद्यम के लिए एक्रिडेशन की ज़रूरत है। बाजार में इसके बिना खड़ा हो पाना असम्भव है। बजट की चर्चा हुई। एक्रिडेशन प्राप्त होते ही एजेंसी को वे तमाम सहूलियतें और सुविधाएँ प्राप्त होनी आरम्भ हो जाएँगी जो उसे आत्मनिर्भर बनाने के लिए आवश्यक हैं तब कई जगहों से उधार की सुविधा मिल जाएगी। अखबारों में कमीशन सुरक्षित होगा, दफ्तरीय खर्चे आराम से निकल जाएँगे। यह सब तब होगा, जब कम से कम पाँच लाख का व्यापार कागज़ पर दिखेगा। इसके साथ कई विज्ञापन कंपनियों से परिचय स्थापित करने और कई विज्ञापनों के लिटरेचर तैयार करने का आह्वान किया गया। अपनी एजेंसी से इरादे में इसकी प्रेज़ेंटेशन पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन आदि में देने के लिए हिन्दी, अंग्रेज़ी और अन्य भारतीय भाषाओं में तैयार करने की इजाज़त भी दी गई।

भोजराज की व्यापार में प्रवीण है। आगामी योजना बताते हुए वह कहता है – "दरअसल हमारे इस उपकरण को बाजार में आने में लगभग छह महीने लग सकते हैं। हमारी पूरी कोशिश है कि तीन-चार महीनों की अवधि में मशीन बाजार में आ जाए। उसमें सफलता मिलती है या नहीं, यह और बात है, मगर पूर्व-प्रचार में कोई हर्ज नहीं, बल्कि यूँ फायदा हो सकता है अगर प्रचार के साथ हम आरक्षण की बात भी जोर-शोर से प्रसारित करें। मशीन की कीमत साढ़े दस हजार होगी। हम उपभोक्ताओं से बड़े आराम से हजार रुपये अग्रिम आरक्षण के नाम पर जमा करवा सकते हैं और उसी क्रम में आगे चलकर उन्हें डिलीवरी देना शुरू कर सकते हैं।" (पृ. 138) दो महीनों के भीतर पूजा-आयोजन के साथ 'माध्यम' कंपनी का उद्घाटन करने का निश्चय किया गया और अनुबंध पर हस्ताक्षर किए गए। अंकिता भोजराज की तीक्ष्ण बुद्धि और व्यापारिक मानसिकता देखकर स्तब्ध हो उठी। एक कुशल उद्योगपति ही इस प्रकार नीति-निपुण हो सकता है। अंकिता को सन्देह हुआ कि यह व्यक्ति अपनी

ईमानदारी के चलते घूस नहीं खाता, किसी भी प्रलोभन से अविचलित है, नैतिकता से टस से मस नहीं होता, मगर कोई प्रमाण है कि जो रोटी उसके पेट में तनख़्वाह के रूप में जा रही है, वह सफेद पैसों की है ?

जब मेहता के साथ नये उद्यम पर विचार किया गया तब एक-एक करके विज्ञापन जगत के रहस्यों का उद्घाटन हुआ। पूरा विज्ञापन उद्योग ही काले धन पर टिका हुआ है। इधर तेजी से बिचौलिया संस्कृति विकसित हो रही है। विज्ञापन उद्योग से जुड़े कर्मी इससे आतंकित हैं। वे भी नहीं चाहते कि अपनी कठिन मेहनत, सूझ-बूझ और कार्य-कुशलता के बावजूद वे लोग इन दलालों पर निर्भर रहें। मेहता का विश्वास है कि अंकिता की कार्य-निष्ठा और परिश्रम लोगों का विश्वास अर्जित करने में सफल होंगे। चकाचौंध से चौंधयाई विज्ञापनों की यह दुनिया अंकिता जैसे ताजी हवा के झोंकों से शायद कुछ सचेत हो सके, स्वस्थ हो सके। अंकिता ने ठान लिया कि वह विज्ञापन उद्योग के वास्तविक पहलू से लोगों को अवगत कराने का प्रयास करेगी। मेहता ने उसे प्रेरित किया कि वह इसे चुनौती के रूप में ग्रहण करे। यहाँ बहुत कुछ ऐसा है जो स्त्री की सक्रिय भागीदारी के बावजूद उसके अनुभव जगत का नग्न सत्य नहीं बन पाया। वह सतह के सत्य से भिन्न है। सतह के भीतर का संसार देखने के लिए उसे पानी में स्नान कलश पहनकर कुशल गोताखोरों की भाँति तल तक पहुँचना होगा।

पूजा-आयोजन के बाद 'माध्यम' का काम शुरू हुआ। उसी दिन शैलेन्द्र ने सुझाव दिया कि मिनी थियेटर की व्यवस्था भी चाहिए। भोजराज इसके लिए तैयार हुआ। अपनी कार्य तत्परता से अंकिता शीघ्र ही 'माध्यम' में प्रसिद्ध हो गई। उसने कई योजनाएँ बनाकर प्रस्तुत कीं उनमें से बहुत-सी स्वीकृत और सफल भी हुईं। विज्ञापन जगत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ खबरें आग की तरह फैलती हैं और स्पर्धा की राजनीति कब किसकी हवा फुस्स करने में लग जाए, कोई नहीं जानता। पंकज मि. मैथ्यू के धोखे का शिकार हो गए। वे अपने प्रति हुए दुर्व्यवहार के प्रति क्षुब्ध थे। उन्होंने बहुत मेहनत कर एक धारावाहिक बनाया। उसमें उन्हें बहुत नुकसान हुआ। मैथ्यू न तो प्रायोजक से पैसा दिलवा सकता है और न ही कोई एजेंसी उसकी मदद कर सकती है। ऐसे में जब वे बड़ी उम्मीद के साथ 'माध्यम' में आये तो वहाँ अंकिता उनकी सहायता करने के लिए तैयार हो गई।

अंकिता बड़े से बड़े संकट के समय भी धैर्य नहीं खोती। एक बार तमिल भाषा का नामी डबिंग आर्टिस्ट समय पर नहीं आया। ऐसे में अंकिता ने बड़ी कुशलता के साथ उसका अन्य विकल्प खोज निकाला। वह हमेशा इस पर बल देती है कि प्रतिष्ठित नामों के एकाधिपत्य से मुक्त होकर रहेगी और नयों को प्रशिक्षित करने के लिए मेहनत करेगी। नयों की फीस कम होगी उसका घाटा वह रिकॉर्डिंग व्यय में जोड़ कर पूरा कर देगी। यद्यपि नयों के अकुशल होने से रिकॉर्डिंग पर अतिरिक्त खर्च होगा लेकिन धीरे-धीरे निश्चित रूप से स्थितियाँ बदलेंगी। मुख्य मकसद है कि नये लोग इस क्षेत्र में आएँ। अंकिता के सामने विज्ञापन जगत का दलदल एक-एक करके खुलने लगा। सोच-समझकर धोखा देने वालों की वणिक वृत्ति से वह विक्षुब्ध और संत्रस्त हो गई। उसे लगा कि इस क्षेत्र का सुधार बहुत मुश्किल है। लोग आपाद-मस्तक स्वार्थ में निमग्न हैं। उनके लिए न तो भावना का मूल्य है और न ही सम्वेदना का। उनकी चमड़ी मोटी और असम्वेदनशील हो गई है। अंकिता इस क्षेत्र में कैसे परिवर्तन लाएगी ! हरीन्द्र इस छद्म क्षेत्र का अपरूप व्यक्त करता है – "यह आँखें खोले हुए लोगों का खेल है। तुम लड़ना चाहती हो संक्रामक रोग-सी फैलती हुई विज्ञापन संस्कृति के घातक कीटाणुओं के विरुद्ध, जो लोगों को अपने विष-दंश से

'व्यक्ति' से वस्तु में परिवर्तित करते जा रहे हैं। ऐसा नहीं है कि मैं इसे ख़तरा नहीं मानता और इसके कुपरिणामों से अनजान हूँ। इसे देखकर मुझमें रोष उपजता है। हमें इन सियारों की बनिस्बत उन्हें जागरुक करना है जो अनजाने ही चकाचौंध के मकड़जाल में फँसकर उनका ग्रास बनते जा रहे हैं। वे सावधान हो जाएँगे तो इन सियारों का ग्रास बनने से स्वयं इंकार कर देंगे और अपनी जेबोंको खाली करने से भी ..." (पृ. 185) लेकिन अंकिता ने धारा के विरुद्ध संघर्ष करते हुए 'माध्यम' को इस क्षमता तक पहुँचा ही दिया कि आख़िर वह अपने पाँवों पर खड़ा हो सका। अंकिता के मनोभावों को व्यक्त करते हुए उपन्यासकार लिखती हैं – "कभी-कभी उसे लगता है कि इस व्यवस्था के लिए वह सर्वथा अनुपयुक्त है लेकिन अब उसके पाँवों के नीचे कुछ ज़मीन आ गई है। चप्पल उतारकर नंगे पाँव उसने ज़मीन को अनुभव करना चाहा। गुदगुदा गलीचा तलुवों के नीचे सुरसुरा आया। चौंककर पाँव उठा लिए उसने। कैसी गुलगुली-सी छुअन। साँप की देह-सी। ये गलीचे ज़मीन पर क्यों बिछा दिए जाते हैं? मनुष्यों को अपनी ठोस ज़मीन से वंचित करने के लिए। उसे अपने-आपसे अपने होने के बोध से काटने के लिए। वह हटवा देगी इन्हें।" (पृ. 285)

मैथ्यू अंकिता से लड़ने आया तो उसको उचित जवाब देकर उसकी विज्ञापनबाजी के मुखौटे को खोल दिया गया। मैथ्यू जैसे निकृष्ट लोग इस क्षेत्र के सियार हैं लेकिन दूसरी ओर भोजराज का महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त सम्मानजनक है। अंकिता के नेतृत्व में 'माध्यम' की प्रगति हुई। ईर्ष्यावश शैलेन्द्र ने अंकिता पर झूठा इल्जाम लगाया। भोजराज से यह सुनकर अंकिता हतप्रभ हो जाती है। उसने 'महक' साबुन की विज्ञापन फिल्म का प्रस्ताव छोड़ दिया। भोजराज के सवाल पर अंकिता ने स्पष्ट किया कि वह अश्लीलता का आश्रय लेकर उत्पाद को बेचने के विरुद्ध है। ऑब्जर्वेशन के मि. मैथ्यू ने अंकिता पर आरोप लगाया कि अंकिता ने 'जीवन-चक्र' के निर्माता मि. पंकज और प्रायोजक नीलमणि इंडिया के मध्य हुए सौदे में दस प्रतिशत बतौर दलाली लिये हैं, अंकिता 'माध्यम' की प्रतिष्ठा बढ़ाने की बजाय अपने निजी स्वार्थों पर अधिक ध्यान दे रही है। यह सुनकर अंकिता के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है। वह शैलेन्द्र से स्पष्टतया कह देती है कि नारी-देह की नुमाइशों पर वह अपनी रोटी नहीं सेंक सकती। सब ओर से आहत अंकिता ने त्यागपत्र तैयार किया और भोजराज तक पहुँचा दिया। लेकिन वह पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमों में कोई रुकावट नहीं डालना चाहती इसलिए मिनी थिएटर मालविका के उद्घाटन और अजय साहब वाली विज्ञापन फिल्मों के शो के लिए सारा इंतजाम करवाती है। उसने 'माध्यम' की प्रगति के लिए बहुत काम किया लेकिन आत्मसम्मान पर ठेस पहुँचने पर वह अपने सारे ओहदे एवं अधिकार छोड़ने के लिए तैयार हो जाती है। लेकिन उसके भोजराज उसके इस्तीफे को स्वीकार नहीं करता। वह अंकिता के घर जाकर उसे पुनः आमन्त्रित करता है। भोजराज अंकिता को समझाता है कि अपना अधिकार छोड़कर पलायन करना स्वाभिमान की रक्षा करना नहीं है। संघर्ष करना ही अपने सम्मान की रक्षा की लड़ाई है। भोजराज के व्यवहार से अंकिता ने महसूस किया कि उद्योगपतियों के प्रति उसने मन में जो शोषक की तस्वीर बनी हुई थी आज उसे भोजराज के सच्चरित्र ने ध्वस्त कर दिया है। अपने अस्तित्व का सत्य उद्घाटित करना सामान्य बात नहीं है। भोजराज के प्रखर व्यक्तित्व ने दुराग्रह की कई मैली परतों को हटा दिया। इस प्रकार विज्ञापन जगत के दलदल के बीच खड़े होकर अंकिता अपने कलंकहीन व्यक्तित्व को उभारने में कामयाब हो जाती है।

उपन्यास में विज्ञापन के लिए प्रयुक्त होने वाली भाषा पर भी विचार किया गया है। उपन्यासकार का आग्रह है कि विज्ञापनों के मूलतः अंग्रेजी में लिखे जाने की परम्परा को समाप्त किया जाए क्योंकि जब अंग्रेजी में निर्मित विज्ञापन हिन्दी में अनूदित होकर प्रयुक्त होता है तब हिन्दी भाषा की सहज शैली एवं निजता नष्ट हो जाती है। अंग्रेजी को अवांछित महत्ता देकर सभी क्षेत्रों में इसका मनमाना प्रयोग करने से भारतीय भाषाओं का क्षरण होना निश्चित है। भूमण्डलीकरण का यह दौर अंग्रेजी का प्रभुत्व स्थापित कर रहा है और धीरे-धीरे भारतीय भाषाओं को लील रहा है। मेहता के शब्दों में इसका प्रतिरोधी भाव प्रकट हुआ है – "विज्ञापनों को जो मूलतः अंग्रेजी में लिखे जाने की परम्परा बनी हुई है, समाप्त होनी चाहिए क्योंकि अंग्रेजी से तैयार की गई कॉपियाँ मात्र अनुवाद बनकर रह जाती हैं उसमें प्रान्तीय भाषाओं की निजी खुशबू, सौंधापन, अपने मुहावरे, अभिव्यक्ति का भाषाई अंदाज पैदा नहीं हो पाता। अतः हर भाषा के कॉपीराइट को उसकी अपनी भाषा में स्वतन्त्र रूप से विज्ञापन तैयार करने की सुविधा होनी चाहिए।" (एक ज़मीन अपनी, पृ. 29)

3.1.6. 'एक ज़मीन अपनी' में अभिव्यक्त अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू

3.1.6.1. मित्रता की व्याख्या

अंकिता की मित्रता नीता से ज्यादा हरीन्द्र एवं मेहता से है। यहाँ उपन्यासकार यह जाहिर करना चाहती हैं कि स्त्री और पुरुष के बीच में अच्छी सौहार्दपूर्ण मित्रता सम्भव है। इस मित्रता में कलंक या कामुकता का अंश नहीं है। वे वैचारिक स्तर पर पारस्परिक आशय विनिमय करते हैं और मौका आने पर पारस्परिक सहायक भी बनते हैं। जीवन में सघन मित्रता की ज़रूरत है। यह मित्रता पुरुषों के साथ है तो वह स्त्री के लिए बहुत उपयोगी भी होती है। हरीन्द्र अंकिता का सच्चा मित्र है। वह सभी कार्यों में, जीवन-संघर्ष में उसका सहयोगी बनता है। हरीन्द्र सुधांशु का मित्र है। उसके ज़रिए ही अंकिता सुधांशु से मिली लेकिन उसके जीवन से सुधांशु के चले के बाद भी वह उसका अच्छा मित्र है। शुरू में हरीन्द्र की पत्नी इस रिश्ते को साधारण स्त्री के समान सन्देह की दृष्टि से देखती थी लेकिन उसकी यह धारणा गलत सिद्ध हुई।

हरीन्द्र पहले सी.पी.एम. का सक्रिय सदस्य था लेकिन अब वह इस राजनीति से अलग हो चुका है। हालाँकि अब भी हरीन्द्र के अन्तर्मन में सर्वहारा की चिन्ता की ज्वाला सुलग रही है लेकिन उसका पूरा व्यक्तित्व सदैव रहस्यमय प्रतीत होता है। वह अब भी उतनी ही बेबाकी से लिखता है जिसे पढ़ते हुए लगता है कि वे शब्द नहीं, हथौड़े की चोट हैं।

सुधांशु और अंकिता से हरीन्द्र का निकटता का सम्बन्ध रहा है। उस पारिवारिक अंतरंगता को वह सुधांशु से अलग हो जाने के बावजूद उतनी ही आत्मीयता और जिम्मेदारी से निभा रहा है। इतने बड़े शहर में अंकिता भले ही हरीन्द्र की आत्मीयता पर पूरी तरह निर्भर हो किन्तु इसे अपने लिए मजबूत सम्बल अवश्य महसूस करती है। उसके संघर्ष को परिवेश-परिवर्तन का अवसर देकर नये सिरे से जीवन जीने का साहस उसे हरीन्द्र ने ही बँधाया। सुधांशु उसका पति ही नहीं, प्रेमी भी था जिसे पाने के लिए उसे उन दुर्गम पगडंडियों से गुजरना पड़ा जो

जाति, धर्म, परम्परा और मान्यताओं के पहरों से होकर गुजरती हैं। उसके इस निर्णय पर उसके अपने घर वालों ने उसे क्षमा भी कर दिया किन्तु सुधांशु के परिवारवालों ने उसे सदैव प्रताड़ित और लांछित किया। उनका मानना था कि अंकिता ने उनके लड़के को प्रेम में फँसाकर उसका भविष्य ही नहीं नष्ट किया बल्कि उनके सपनों पर भी बेरहमी से गाज गिराई है। ऐसी विषय परिस्थितियों में भी वह अपना सन्तुलन बनाए रखती है। जब पहली बार सुधांशु ने हरीन्द्रको अंकिता से मिलवाया था तब हरीन्द्र के मन में पहली प्रतिक्रिया उपजी थी कि इस लड़की के भीतर सर्वाधिक आकर्षित करने वाला गुण है – उसके सलोने व्यक्तित्व के रोम-रोम में से फूटता हुआ आत्मविश्वास। हरीन्द्र के प्रयत्नों से जब अंकिता सरस्वती कॉलेज की स्थायी नौकरी के लिए बंबई आई थी तब कुरला के एक महिला हॉस्टल में उसके रहने की व्यवस्था हो गई थी। लेकिन हॉस्टल का माहौल उसे रुचा नहीं। शीघ्र ही हॉस्टल छोड़ वह विक्रोली स्थित कन्नंवार नगर में एक परिवार के साथ बतौर पेइंगगेस्ट रहने आ गई। वहाँ के वातावरण से भी वह तंग आ गई। हरीन्द्र की काफी भागदौड़ के बाद वह कोंदीवाला में रहने लगी। विभागाध्यक्ष की राजनीति के कारण उसकी सरस्वती कॉलेज की स्थायी नौकरी भी छूट गई। इसके बाद वह विज्ञापन जगत में आयी। हरीन्द्र ने उसकी लिखने की क्षमता को देखकर सी.पी. सिंह की पत्रिका में 'आईना' शीर्षक स्तम्भ लिखने को प्रेरित किया। हरीन्द्र ने प्रारम्भ से हर कदम पर अंकिता का साथ निभाया है। जब अंकिता की माँ का निधन हुआ तब हरीन्द्र और उसकी पत्नी ने अंकिता को दिलासा दिया और उसके घर जाने का पूरा बंदोबस्त भी किया। इतना ही नहीं, अंकिता जब भोजराज के साथ बिजनेस क्षेत्र में प्रवेश करने लगती है तब भी हरीन्द्र से सलाह-मशविरा करके ही वह कदम बढ़ाती है। हरीन्द्र ही अंकिता को प्रत्येक उद्योगपति के खोखलेपन से परिचित कराता है।

हरीन्द्र के समान ही अंकिता का दूसरा अभिन्न मित्र है – मेहता। वह 'फिल्मरस' विज्ञापन कंपनी से जुड़ा है और एक अनुभवी व्यक्ति है। अन्य कर्मचारियों से भिन्न वह बेहद ईमानदार और परिश्रमी व्यक्ति है। मेहता की पत्नी ने जब आत्महत्या की तब वह पूरी तरह से टूट गया था। एक अच्छा मित्र होने के नाते अंकिता ने मानसिक एवं शारीरिक रूप से श्रांत-क्लांत मेहता की हरसम्भव मदद की। मेहता ने भी पूर्ण निष्ठा से मित्र-धर्म निभाया। अंकिता जब भोजराज के साथ बिजनेस प्रारम्भ करने की तैयारी में थी तब मेहता बिजनेस सम्बन्धी सभी उलझनों की ओर अंकिता का ध्यान आकर्षित कर उसे महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक सलाह देता है। कहने का तात्पर्य है कि पुरुषों के साथ अंकिता की मित्रता बिल्कुल स्वस्थ एवं सुदृढ़ थी। वेमित्र अंकिता के जीवन में मददगार बनते हैं। समाज की आँखों में पुरुष एवं स्त्री की मित्रता अनैतिक एवं कामुकता-केन्द्रित है किन्तु यहाँ स्त्री-पुरुष की स्वस्थ मित्रता के माध्यम से उपन्यासकार यह जाहिर करती हैं कि स्त्री-पुरुष की मित्रता हमेशा गुणात्मक होती है।

अंकिता और नीता की मित्रता की तुलना में हरीन्द्र एवं मेहता से अंकिता की मित्रता में एक सघनता, सहजता एवं पारस्परिक समझदारी दिखाई देती है। इन सम्बन्धों के माध्यम से चित्रा मुद्गल पवित्र स्नेह पर केन्द्रित दोस्ती का पूरा समर्थन करती हैं चाहे वह पुरुषों के साथ हो अथवा स्त्री के साथ हो। सच्चा मित्र रिश्ते-नातेदारों से अधिक हितैषी होता है इसलिए उपन्यासकार मैत्री की हिमायती हैं।

3.1.6.2. सम्बन्धों की आर्द्रता एवं शिथिलता

नव-औपनिवेशिक काल में घर, परिवार, मित्रता आदि सम्बन्धों का महत्त्व नष्ट हो रहा है। औपनिवेशिक मानसिकता संकुचित और स्वार्थ-आधारित व्यापारिक मानसिकता है। चित्रा मुद्गल परिवार को भारतीय संस्कृति की आधारशिला मानती हैं। पारिवारिक सुदृढ़ता में सम्बन्धों की आर्द्रता होती है। यदि घर का वातावरण स्नेह-सम्बन्धों की आर्द्रता से सिक्त है तो व्यक्ति में उत्साह का संचार होता है। उपन्यास की प्रमुख पात्र अंकिता शुरू से ही ऐसे स्नेहमय वातावरण वाले घर की कामना करती है। बंबई आकर वहाँ वह अपना एक घर बनाने की कोशिश कराते है। वह अपने पति सुधांशु के साथ घर बसाना चाहती थी लेकिन उसका वह प्रयास असफल हुआ। अपने परिवार वालों तथा माँ से उसका गहरा लगाव था। पति से अलग होने पर माँ और परिवार उसके सम्बल बने। अंकिता के अनुसार घर एक राहत भरा अहसास है जिसे अन्य विकल्पों में नहीं ढूँढा जा सकता। दूसरी ओर नीता इसे उसकी कोरी भावुकता समझती है। नीता के लिए घर चोर-उचक्कों एवं भेड़ियों से सुरक्षा-बचाव की एक आड़ मात्र है। अंकिता जानती है कि सचमुच व्यक्ति के साथ ही दीवारों का कोई अर्थ होता है किन्तु व्यक्तिविहीन होकर भी कभी-कभी उसके अस्तित्व का आभास अपनी निर्जीविता-बोध की परतें निकालकर सहसा सामने प्रकट हो यह अकेलेपन को आश्रय ही नहीं देता बल्कि अपने साथ होने के गहरे बोध से भी सम्पन्न करता है। घर तब घर नहीं रहता जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का अधिकार-हनन करने लगे। अंकिता का घर तब टूटा जब उसे कोल्हू का बैल समझकर आँखों पर पट्टी बाँधे रहने को मजबूर किया गया। वास्तव में उसके घर को सुधांशु की निरंकुश प्रवृत्ति ने तोड़ा। उसकी निरंकुशताएँ घर के अर्थ को नष्ट-भ्रष्ट करने लगी थीं।

बंबई में एक घर का सपना अंकिता का एक अधूरा सपना है। किराये के घर में रह-रहकर वह तंग आ गई है – "बंबई में अपने घर की कल्पना किसी के लिए भी जीवन का सबसे खूबसूरत सपना हो सकता है, उसके लिए भी है कभी न सच होने वाला सपना। लेकिन क्या सचमुच वह उम्मीद के डोरों पर पग धरती वह रास्ता बुन सकती है जो उसे अपने घर की दीवारों तक ले जाएगा ? वह छत, जिसे ग्यारह महीने का मोहताज नहीं होना पड़ेगा ? कोई शिवराम, करीम, परब उससे आकर यह नहीं कह सकेगा कि ऐ बाई ! अभी अपने को मकान खाली मंगता है, तुम किदर दूसरा जागा अपना इंतजाम कर लो ।" (पृ. 74) उपन्यास में महानगरीय-जीवन की कठिनाई और घर-प्राप्त करने की मुश्किलों पर प्रकाश डाला गया है। बंबई-दिल्ली जैसे महानगरों में कई ऐसे मकान-मालिक हैं जो अपने लिए सरकारी फ्लैट आवंटित करवाकर उसे किराये पर देकर स्वयं झोंपड़ी या चालों में रहते हैं। उपन्यासकार ने परब जैसे पात्रों के माध्यम से ऐसे लोगों का चरित्र उद्घाटित किया है।

अंकिता को जीवन में सबसे अधिक अपनी माँ प्रिय थी। वह बंबई में एक घर लेकर उन्हें वहाँ ले आने और वहीं उनके इलाज कराने का सोच ही रही थी कि तभी उनका निधन हो गया। वह घटना उसके लिए बहुत मर्मांतक थी। लेकिन उससे ज़्यादा पीड़ा उसे तब हुई कि जब माँ की चिता की आग ठंडी होने के पहले ही परिवार के लोग सम्पत्ति के बँटवारे में लग गए। वेदना से शिथिल गात को मानो हजारों सुइयों का दंश एक साथ पीड़ित कर गया । वह अवाक् हो उठी। अम्मा के फूल तक नहीं सिराए गए हैं, तब बँटवारे की बात शुरू हो गई। जिन्होंने जीते जी अम्मा की फिक्र नहीं की, उनके सुख-दुःख में साझीदार नहीं हुए, अवसान पर फकत लोक-लाज निभाने

आ गए, वे किस अधिकार से उनके घर में प्रधानी कर रहे हैं। बँटवारा शुरू हुआ। सब लोग अंकिता की उपस्थिति चाहते हैं। अम्मा की चीजों को इन लोगों के अपवित्र हाथों से स्पर्श करते देख वह तपने लगी, लेकिन तब उसे यह लगा कि यह घर उसका नहीं है। भाइयों और भावजों का है। वे जो चाहें करें। अब उसकी भावना उस पर शासन करती है। उसने उसे रोका। कहीं मन स्वीकारता है कि अब यह घर उसका नहीं है। अम्मा ने भी तो एक बार कहा था, "बिटिया बेटा की खातिर घर की देहरी तबै तक जबै तक महतारी बाप जियत हैं।" (पृ. 163) कपड़े, बर्तन, बुलियाँ, शीशे, कंघे, चोटिल, क्रोशिया के पर्दे, पेटिकोट की लेस, आभूषण सब बँटे। अंकिता ने किसी पर रुचि नहीं दिखाई। उसका एकमात्र लक्ष्य इस घर को पहले जैसे बनाए रखने का है। फिर भी उसकी बेइज्जती कर जब सब लोग सारी चीजें छीनने के लिए तैयार हो गए, तब भाई ने उन लोगों को रोक दिया और कहा कि इस घर में अंकिता का भी अधिकार है। अंकिता दुःखी होकर सोच रही थी, "यही घर है, सुधांशु से अलग होने परजिसने उसे असुरक्षा के गहरे मनोद्वन्द्व से मुक्त किया था। आज वही स्वार्थप्रेरित हो, उस शक्ति-पुंज बनी धारणा की निर्मम हत्या करने को उद्यत है।" (पृ.166) अंकिता ने देखा कि कुछ समय पूर्व शोकसंतप्त परिजन एक व्यथासूत्र में आबद्ध थे वही अब सम्पत्ति के बँटवारे में मान-मर्यादा और शालीनता जैसे शब्द मिथ्या साबित कर रहे हैं।

घर की इस स्थिति ने अंकिता को शिला बना दिया। वह घर इस मोह से दौड़ आई थी कि उस घर में अम्मा के अन्तिम स्पर्शों की गरमाई शेष होगी। भाइयों-भोजाइयों के संग मन की व्यथा बाँट लेगी लेकिन अब उसके साथ तिरस्कार से अवहेलित, अपमानित और दंशित भावनाएँ हैं। पारिवारिक ऊष्मा जीवन के एकाकीपन में अवलम्बन बनती है। सम्पत्ति का बँटवारा इस ऊष्मा और उससे मिलने वाले सहारे को भंग कर देता है। अंकिता इस स्नेह और ऊष्मा को हमेशा बनाए रखना चाहती है। उसके लिए यह परिवार, माँ, भाई, घर, इसकी एक-एक ईंट उसकी सम्वेदनाओं को तरल बनाते हैं।

नीता और उसकी माँ के बीच का सम्बन्ध भी ऊष्मल है। जब ऊष्मल सम्बन्धों में टकराहट आ जाती है या पारिवारिक व्यवस्था शिथिल हो जाती है तब जिन्दगी भी नाश के कगार पर पहुँच जाती है। पारिवारिक व्यवस्था घर की रीढ़ की हड्डी है। वहाँ हर सदस्य को अपना-अपना रोल अदा करना है। मेहता के घर में मेहता की पत्नी अपने देवर के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने पति की उपेक्षा कर रही थी लेकिन जब देवर की शादी हुई, उसने स्वयं को समाप्त कर प्रतिक्रिया प्रकट की। उस घटना ने मेहता के घर की सम्पूर्ण पारिवारिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसी प्रकार वैवाहिक व्यवस्था एवं घर को महत्त्व न देने वाली नीता भी उच्छृंखल जीवन बिता रही थी। अन्त में असफल होकर उसे भी स्वयं को समाप्त करना पड़ा। मेहता की पत्नी कामुकता से पीड़ित होकर नासमझी कर रही थी जबकि नीता ने पहले से विवाहित व्यक्ति सुधीर के लिए स्वयं को समर्पित कर नासमझी की। इन दोनों पात्रों के ज़रिए चित्रा मुद्‌गल यह जाहिर करना चाहती हैं कि उच्छृंखलता ही जीवन में विफलता की वजह बनती है। इन दोनों पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार यह सन्देश भी देती हैं कि आत्महत्या संघर्षशील लोगों का उपहास है। डरपोक और जीवन का सामना करने में असमर्थ लोग ही आत्महत्या करते हैं। समस्याओं को हल करने के लिए यह एक मार्ग नहीं है।

उपन्यास में जीवन में प्रकृति के महत्त्व को सिद्ध किया गया है। प्रकृति मनुष्य के संवेगों को जगाती है और जीवन को सन्तुष्ट तथा सुन्दर बना देती है। गोमती की माँ के सन्दर्भ में इसका उल्लेख मिलता है – "जब भी कभी उद्विग्न होती है, घण्टों खिड़की के सीखचों से सटी टुकुर-टुकुर टहनियों का डोलना देखती रहती है ... कोंपलों को फूटता महसूस करती है ... हाथ बढ़ाकर पत्तों को छूती है ... प्रत्युत्तर में वे अपनी स्पर्श-ऊष्मा से उसे आलोड़ित कर देते हैं, और कभी आश्वस्त – हम हैं ... ।" (पृ.68)

समकालीन जीवन के अनेक पहलुओं को प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने वाली उपन्यासकार ने छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भी गम्भीर विषयों पर प्रकाश डाला है । उदाहरण के लिए, भारत की समसामयिक राजनैतिक गतिविधियों का उल्लेख हरीन्द्र एवं अंकिता की बातचीत के दौरान हुआ है । समसामयिक ज्वलन्त मुद्दों का समावेश किया गया है । मसलन, समाज में एक तलाकशुदा नारी की हालत हमेशा सन्देहपरक रहेगी । इसे प्रस्तुत करने के लिए अंकिता के मुद्दे को उठाया गया । बंबई महानगर के नानाविध चेहरे का जीता-जागता वर्णन इस उपन्यास की बड़ी ख़ासियत है । दफ्तरों का वातावरण और वहाँ की चर्चाओं का अंकन भी इस उपन्यास की विशिष्टता कही जा सकती है । 'फिल्मरस' में तिलक जैसे पात्रों की स्त्री विषयक धारणा उल्लेखनीय है । उपन्यास में इन सबका समावेश उसे यथार्थपरक बनाता है ।

'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में नव-औपनिवेशिककालीन जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करने के साथ-साथ कीचड़ भरे विज्ञापन जगत का यथार्थ उद्घाटित हुआ है । नारी-जीवन इन सभी क्षेत्रों में संघर्षपूर्ण नज़र आता है । संघर्षों का सामना कर जीवन की विफलता को पार कर अपने को कामयाब सिद्ध करने वाली उपन्यास की नायिका अंकिता नारी-समूह के लिए अनुकरणीय है । इसलिए मरणासन्न नीता अपनी बेटी को अंकिता के हाथों में निश्चिन्त होकर सौंप देती है । बेशक यह कहा जा सकता है कि अंकिता की सृष्टि भारतीय नारी की प्रतिष्ठा के लिए ही की गई है । नारी स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं को नष्ट करने में यह उपन्यास पूर्णतः सफल प्रतीत होता है । इस सन्दर्भ में सिमोन दी-बोउआर का यह वक्तव्य ध्यातव्य है – "यदि इतिहास में बहुत कम स्त्रियाँ जीनियस हुई हैं तो इसका कारण उनका स्त्री होना नहीं है बल्कि वह समाज है जो स्त्री की सारी अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करता रहता है, उसे प्रत्येक सुविधा से वंचित रखता है । बुद्धिमान स्त्री भी सार्वजनिक हितों के लिए आहुति दे दी जाती है । यदि उन्हें विकास का पूरा अवसर मिले तो ऐसा कोई भी काम नहीं जो वे न कर सकें । दमनकर्त्ता हमेशा दमित की जड़ों को काटता रहता है ताकि वह बौना ही रह जाए ।" (स्त्री उपेक्षिता – प्रभा खेतान, पृ. 117)

3.1.7. 'एक ज़मीन अपनी' का शिल्प पक्ष

दस अध्यायों में विभक्त यह उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखित है । उपन्यास की पूरी कथा अंकिता के माध्यम से आगे बढ़ती है । सम्पूर्ण कथा उसी के इर्द-गिर्द परिक्रमा करती है । 'नाटकीयता के बिना खुरदरे यथार्थ की अभिव्यक्ति' इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है । शिल्प की दृष्टि से स्थान, काल और परिवेश के उचित मेल से कथा रोचक बनती गई है और लगातार जिज्ञासा जगाती है । किसी एक अंश को भी बिना पढ़े आगे नहीं

बढ़ा जा सकता। प्रत्येक शब्द अपना गम्भीर प्रभाव छोड़ता है। स्वयं लेखिका का विज्ञापन जगत से गहन परिचय और सम्बन्ध इस रचना को प्रामाणिकता प्रदान करता है। उपन्यास का कथानक कथोपकथन के सहारे आगे बढ़ता चला है, उपन्यासकार स्वयं बीच में आकर कहीं भी व्यवधान नहीं बनतीं, मानो सभी पात्रों को उन्होंने पूरी स्वतन्त्रता दे दी हो और कथानक के विकास की ज़िम्मेदारी स्वयं पात्रों ने उठा ली हो। कथोपकथन पात्र को पहचानने और बड़े-बड़े विचारों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत मददगार सिद्ध हुए हैं। हिन्दी उपन्यास जगत में विज्ञापन क्षेत्र की परत-दर-परत खोलने के साथ ही स्त्री स्वातन्त्र्य की नयी व्याख्या प्रस्तुत करना भी इस उपन्यास की महती विशेषता है। समग्रतः कहा जाए तो 'स्त्री द्वारा स्त्री की ज़मीन की तलाश है यह उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी'। इस रूप में यह उपन्यास समकालीन हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में बहुआयामी जीवन-सन्दर्भों के अन्वेषण का सही दस्तावेज बन जाता है।

3.1.7.1. स्त्री-भाषा

आज की भूमंडलीकरण-कृत संस्कृति में विज्ञापन जगत का जो भयानक रूप है, वह इस उपन्यास का मुख्य विषय है। यह जगत सर्वाधिक प्रतिस्पर्धात्मक हो गया है। धन और नाम जल्दी कमाने के फेर में पड़कर स्त्रियाँ इसकी चमक-दमक की ओर आकर्षित हो रही हैं। 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में दो मित्रों में से नीता नामक पात्र स्वयं को वस्तु में बदलकर अपने आपको नष्ट कर लेती है जबकि अंकिता अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहकर तमाम संघर्षों को झेलकर भी कामयाबी हासिल करती है। इस उपन्यास में अंकिता, नीता, हरीन्द्र, भोजराज, मेहता, सुधांशु मैथ्यू, सुधीर गुप्ता, माताएँ, शैलेन्द्र आदि सभी पात्र अपने-अपने ढंग से सशक्त हैं। इसमें सबसे सशक्त पात्र है उपन्यास की नायिका – अंकिता जिसके माध्यम से यह सन्देश दिया गया है कि एक स्त्री अपने अटल विश्वास, अपनी प्रतिभा और चयनित सही रास्ते के माध्यम से हिम्मत के साथ साध्य तक पहुँच सकती है। उपन्यास में जिस प्रतिरोध की भाषा सबसे ज़्यादा बुलंद है, वह स्त्री की भाषा है।

उपन्यास में जहाँ कहीं पुरुष-भाषा हावी होने लगती है वहाँ स्त्री-भाषा उसे पराजित करने में समर्थ बनती दिखाई देती है। अंकिता के पति सुधांशु के भीतर के अहंकारी पुरुष की निरंकुश प्रवृत्ति अंकिता की समस्त भावनाओं से खिलवाड़ करती थी। पुरुष की भाषा में स्त्री है – "तुम मामूली औरत, क्या है तुममें? सिवा तराशी हुई देह के? और मैं सिर्फ तराशे शरीर के साथ नहीं रह सकता, पुरुष को इससे आगे भी कुछ चाहिए होता है।" (पृ. 18) लेकिन प्रतिरोध की जो स्त्री-भाषा यहाँ दर्ज है, वह है इस उपन्यास की भाषा का सामर्थ्य – "सुधांशुजी औरत बोनसाई का पौधा नहीं, जब जी चाहा उसकी जड़ें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया, वह बौना बनाए रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती है।" (पृ. 220) इस सशक्त स्त्री-भाषा को अंकिता अपनी प्रत्येक सोच में प्रकट करती है, चाहे अपने कार्यक्षेत्र में हो अथवा व्यक्तिगत जीवन में। वह पुरुष से स्वीकृत अथवा परम्परा से चली आ रही भाषा से पृथक् एक नयी सशक्त भाषा का गठन करती है। इसलिए इस उपन्यास को स्वीकृत परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र अथवा शिल्प की कसौटी पर परखना उचित नहीं होगा। परम्परागत तरीके से भिन्न होकर स्त्री-यातनाओं, जीवन-संघर्ष तथा व्यवस्था का विरोध करते हुए अपनी अस्मिता को गठित करने

वाली स्त्री से रूबरू होने का अवसर देने वाले इस उपन्यास को सर्वथा नये ढंग से विश्लेषित करने की आवश्यकता है।

3.1.8. बोध प्रश्न

1. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के शीर्षक की सार्थकता पर विचार कीजिए।
2. समकालीनता के सन्दर्भ में 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास की समीक्षा कीजिए।
3. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास को स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में विश्लेषित कीजिए।
4. भूमण्डलीय संस्कृति में विज्ञापन जगत के खुरदरे यथार्थ का परिचय दीजिए।
5. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में वर्णित मुख्य मुद्दोंकी विवेचना कीजिए।
6. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के भाषिक वैशिष्ट्य का आकलन कीजिए।
7. 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास के प्रमुख नारी पात्रों का समीक्षात्मक परिचय दीजिए।

3.1.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. भूमण्डलीकरण और उत्तर सांस्कृतिक विमर्श – सुधीश पचौरी
2. उपनिवेश में स्त्री – प्रभा खेतान
3. स्त्री उपेक्षिता – प्रभा खेतान
4. उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार – अरविन्द जैन
5. चित्रा मुद्गल : एक मूल्यांकन – के. वनजा

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : उपन्यास

इकाई – 2 : नीला आकाश – सुशीला टाकभौरे

इकाई की रूपरेखा

3.2.00. उद्देश्य कथन
3.2.01. प्रस्तावना
3.2.02. सुशीला टाकभौरे का व्यक्तित्व
3.2.03. सुशीला टाकभौरे का साहित्य-संसार
3.2.04. दलित उपन्यासों की पृष्ठभूमि
3.2.05. 'नीला आकाश' उपन्यास की संक्षिप्त कथावस्तु
3.2.06. 'नीला आकाश' उपन्यास का कथानक-विस्तार एवं मूल प्रतिपाद्य
3.2.07. प्रमुख एवं सहायक पात्रों का चरित्र-चित्रण
- 3.2.07.01. भीकू जी
- 3.2.07.02. चन्दरी
- 3.2.07.03. आकाश
- 3.2.07.04. नीलिमा
- 3.2.07.05. रामकिसन
- 3.2.07.06. उर्मिला
- 3.2.07.07. बुधिया
- 3.2.07.08. सुगिया
- 3.2.07.09. कालीचरण
- 3.2.07.10. चन्दू चौहान
- 3.2.07.11. कैलाश
- 3.2.07.12. सीता, राधा, लक्ष्मी एवं पार्वती
- 3.2.07.13. ढुलीचन्द
- 3.2.07.14. दुलारी एवं नन्दलाल
- 3.2.07.15. कली
- 3.2.07.16. सीताराम एवं गंगाराम
- 3.2.07.17. लोकनाथ मेश्राम

3.2.08. 'नीला आकाश' उपन्यास का शिल्प-सौन्दर्य
3.2.09. पाठ-सार
3.2.10. बोध प्रश्न
3.2.11. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
3.2.12. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.2.00. उद्देश्य कथन

उत्तर-आधुनिक युग के वर्तमान समय में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श को महत्त्वपूर्ण और आवश्यक माना गया है जिसमें दलित विमर्श का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसके अन्तर्गत दलित साहित्य की अवधारणा, स्वरूप, वैचारिकी, दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता, दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मान्यताओं के विश्लेषण को समझना आवश्यक है। दलित समस्या केवल दलितों की नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय समाज की समस्या है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त वर्ण और जाति व्यवस्था परम्परा के रूप में मान्यता प्राप्त है। मगर अब दलित विमर्श के आधार पर इस विषमतावादी संकीर्ण मानसिकता की परम्परा का विरोध किया जाना चाहिए। यह मानसिकता समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व भाव के विरुद्ध है और अखण्ड राष्ट्र की अवधारणा में बाधक है। डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया है कि "जाति व्यवस्था केवल श्रम का नहीं बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है। इसलिए जातीय व्यवस्था से लड़े बिना आर्थिक व्यवस्था से लड़ना दलित समस्या का हल नहीं बन सकता। अछूत जातियों के मानवीयकरण का सम्पूर्ण चिन्तन ही दलित विमर्श की अर्थवत्ता है।" भारत में अछूतों, शूद्रों और स्त्रियों के शोषणकारी इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि शोषण के कारण सिर्फ आर्थिक नहीं बल्कि सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक भी होते हैं। डॉ० अम्बेडकर कहते थे – "हमें अपने राजनैतिक लोकतन्त्र को समाजवादी लोकतन्त्र भी जरूर बनाना होगा।" ... "समाजवादी लोकतन्त्र का अर्थ जीवन के ऐसे तरीके से है, जो स्वतन्त्रता समानता एवं भाईचारे को जीवन सिद्धान्त मानता हो।" (दलित-दर्शन, सम्पादक – रमणिका गुप्ता, ज्ञानसिंह बल, पृष्ठ 60) ... "दलित विमर्श की अर्थवत्ता दलित विमर्श के केन्द्र में दलित समस्या को नहीं नकारा जा सकता। पर यह समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में है। इसके केन्द्र में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न है। करोड़ों लोगों के लिए अलगाववाद का जो समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र ब्राह्मणों ने निर्मित किया उसने राष्ट्रीयता को खंडित किया था।" (दलित विमर्श की भूमिका कँवल भारती, पृ. 17) भारतीय समाज में जातिभेद अभी भी मौजूद है। यह जातिभेद दलित जाति की उपजातियों के बीच भी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह एक बड़ा प्रश्न है कि इसे कैसे खत्म किया जाए ? कैसे मिटाया जाए ? 'नीला आकाश' उपन्यास का अध्ययन इसी उद्देश्य से करेंगे।

3.2.01. प्रस्तावना

'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के दलित विशेषांक 'मलमूत्र ढोता भारत : सृजन के आइने में' की अतिथि सम्पादक डॉ० सुशीला टाकभौरे ने अपने सम्पादकीय में लिखा है – "हिन्दी दलित साहित्य ने साहित्य के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाई है फिर भी दलितों में भी दलित इस समुदाय (सफाईकर्मी जातियाँ) की समस्याओं और भविष्य से जुड़े प्रश्नों पर रोशनी डालने वाले साहित्य के लिए सामग्री जुटाना सरल कार्य नहीं था। सफाईकर्मी जाति समुदाय में शिक्षा और जागृति की कमी के कारण साहित्यकारों की संख्या कम है। लेखन प्रकाशन के क्षेत्र में उनका कम संख्या में होना चिन्ता की बात है। अधिकांश दलित साहित्यकार अपने जाति समुदाय की वेदना, प्रताड़ना, समस्याओं और संघर्षों को केन्द्रित करके ही साहित्य-सृजन करते हैं।" (पृष्ठ 22-23)

हमारे देश में जातियों के आधार पर पैतृक रोजगार निश्चित किए गए। सफाई का काम करने वाली भंगी, मेहतर, वाल्मीकि, सुदर्शन, डोम, डुमार, मखियार, रूखी, मेघवाल, धानुक, चूहड़ा, खाकरोब, माला आदि जातियों को अछूत जातियों में परिगणित किया गया। मांग, मातंग, बसोर जैसी जातियाँ झाड़ू, टोकना, सूपा, डलिया बनाने का काम करती हैं। ज़रूरत के अनुसार कहीं-कहीं वे सफाई का काम भी करती हैं। ये सभी जातियाँ बहुत ज्यादा पिछड़ी हुई हैं फिर भी आपस में जातिभेद, उच्च-निम्न का व्यवहार करती हैं। इसी समस्या को केन्द्र में रखकर उपन्यास की रचना की गई है। वर्तमान समय में भी ये दलित जातियाँ अधिकतर अपने पैतृक रोजगार से जुड़ी हैं और गरीबी, अभाव, जातिभेद, छुआछूत तथा अपमान का जीवन जीती हैं। इन्हीं उपेक्षित एवं शोषित जातियों में से दो जातियों के प्रतिनिधि पात्रों के माध्यम से 'नीला आकाश' उपन्यास की कथावस्तु का सृजन किया गया है जिसमें दलित जीवन की कठिनाइयाँ, अज्ञानता, धार्मिक अन्धविश्वास, अशिक्षा, नौकरी की समस्या, बेरोजगारी, गरीबी, उच्च जातियों द्वारा शोषण, अत्याचार, छुआछूत और भेदभाव की समस्याओं को बहुत सम्वेदना और गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही शोषण से मुक्ति को प्रधानता देते हुए सामाजिक एकता, भाईचारा, स्त्री-पुरुष समानता, शिक्षा, नौकरी, परिवार नियोजन, बेटी को महत्त्व, अन्तरजातीय विवाह, दलित आन्दोलन में सहभागिता, नयी पीढ़ी द्वारा समाज में परिवर्तन लाने का दृढ़ निश्चय और पुरानी पीढ़ी के मार्गदर्शन द्वारा समस्याओं का समाधान करने का सन्देश दिया गया है।

'नीला आकाश' उपन्यास में कुण्ठा, क्रोध और आक्रोश नहीं है बल्कि यह सुधारवादी भावना से लिखा गया उपन्यास है। यहाँ शोषण से मुक्ति का अभियान है, साथ ही एक नये समाज के निर्माण का संकल्प है। उपन्यास में नवजागरण, नवचेतना, नवनिर्माण का उत्साह और सौन्दर्य है जिसके साथ सामाजिक जागृति और एकता के लक्ष्य को सरल, सहज और अनुकरणीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। समाज की युवा पीढ़ी इस उपन्यास का सन्देश ग्रहण कर सामाजिक परिवर्तन में अपना योगदान देगी, इस अपेक्षा के साथ 'नीला आकाश' के महत्त्व और आवश्यकता को स्वीकार किया जा सकता है।

3.2.02. सुशीला टाकभौरे का व्यक्तित्व

सुशीला टाकभौरे हिन्दी दलित साहित्य लेखन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। हिन्दी दलित लेखिकाओं में वे अग्रणी हैं। मुख्यधारा के हिन्दी साहित्यकारों के बीच भी उनकी विशिष्ट पहचान है। अपने मानवतावादी और स्त्रीवादी लेखन के कारण अब वे केवल दलित साहित्यकार होने तक सीमित नहीं हैं, वे स्त्रीवादी साहित्यकार भी हैं। उनकी अनेक रचनाओं का अनुवाद मराठी, पंजाबी, बांग्ला, तेलुगू, मलयालम और अंग्रेजी भाषा में होने से उनका दायरा विस्तृत है।

डॉ० सुशीला टाकभौरे का जन्म मध्यप्रदेश के जिला होशंगाबाद के एक छोटे गाँव बानापुरा के दलित वाल्मीकि परिवार में सन् 1954 में हुआ। उस समय मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र में बहुत छुआछूत मानी जाती थी। गाँव के स्कूल से मैट्रिक उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने सिवनी मालवा तहसील के कुसुम महाविद्यालय से बी.ए. उत्तीर्ण किया। विवाह के बाद महाराष्ट्र के बड़े शहर नागपुर में उनका आगमन हुआ। नागपुर में उन्होंने बी.एड.

पाठ्यक्रम का अध्ययन और प्रशिक्षण प्राप्त किया और तदनन्तर वे हाईस्कूल में बतौर शिक्षिका अपना योगदान देने लगीं । नौकरी करने के साथ-साथ भी उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा और सन् 1986 में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की । 1986 में ही हाईस्कूल की नौकरी छोड़कर वे सेठ केसरीमल पोरवाल कॉलेज, कामठी में अध्यापन करने लगी थीं । समाज-सेवा में गहरी रुचि होने के कारण नौकरी और घर-परिवार की जिम्मेदारी संभालने के साथ ही वे समाज सेवा के कार्य भी निरन्तर करती रहीं । साथ ही उनका साहित्य-लेखन भी चलता रहा । इसी क्रम में सन् 1990 में उन्होंने पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की ।

सुशीला टाकभौरे फुले-अम्बेडकरवादी विचारधारा की समर्थक हैं । वे दलित एवं स्त्री मुक्ति आन्दोलन से सक्रिय रूप में जुड़ी हैं और लगातार अपना योगदान दे रही हैं । साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी सृजनात्मक गतिविधियाँ भी लगातार देखी जा सकती हैं । समय-समय पर आकाशवाणी से उनकी परिचर्चाएँ प्रसारित होती रहती हैं । अपने विशिष्ट लेखन और सामाजिक जागृति के लिए किए जा रहे उल्लेखनीय कार्यों के लिए अनेक संस्थाओं द्वारा उन्हें पुरस्कृत किया गया है । सन् 1996 में उन्हें 'मध्यप्रदेश दलित साहित्य अकादमी' द्वारा पुरस्कृत किया गया; मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री दिग्विजय सिंह के हाथों विशिष्ट सेवा सम्मान और पुरस्कार भेंट किया गया; फरूख्खाबाद (उत्तरप्रदेश), गौरा गाँव (हिमाचल प्रदेश), हैदराबाद, इलाहाबाद और लखनऊ में वहाँ की स्थानीय संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया; रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली की ओर से राँची में सावित्रीबाई फुले सम्मान और पुरस्कार दिया गया; नागपुर में मेगनम संस्था द्वारा पुरस्कृत किया गया; मुम्बई में 2014 में 'महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी' द्वारा 'उषा मेहता सम्मान' और रुपये 51000/- का पुरस्कार प्रदान किया गया ।

सम्प्रति वे दलित और स्त्री-मुक्ति आन्दोलन में अपना सक्रिय योगदान दे रही हैं । साथ ही लगातार साहित्य सृजन कर सार्थक हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं । छोटे गाँव में जहाँ उनका बचपन बीता, वहाँ मैट्रिक के बाद ही उनकी पढ़ाई रोक दी गई थी । तब उन्होंने दृढ़ निश्चय और साहस के साथ इसका विरोध किया, भूख हड़ताल की और अन्त में अपनी पढ़ाई जारी रखने में सफल हुईं। ऐसा दृढ़निश्चयी व्यक्तित्व निश्चय ही समाज के युवाओं और स्त्रियों के लिए प्रेरणास्रोत है ।

3.2.03. सुशीला टाकभौरे का साहित्य-संसार

सन् 1993 ई. में सुशीला जी का पहला काव्य-संग्रह 'स्वाति बूँद और खारे मोती' प्रकाशित हुआ। उसके बाद से उनका रचना-संसार अनवरत बढ़ रहा है । यह उनकी सतत रचनाशीलता का परिणाम है । अब तक प्रकाशित उनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) काव्य-संग्रह – (i) स्वाति बूँद और खारे मोती (ii) यह तुम भी जानो (iii) तुमने उसे कब पहचाना (iv) हमारे हिस्से का सूरज
(2) कहानी-संग्रह – (i) अनुभूति के घेरे (ii) टूटता वहम (iii) संघर्ष (iv) जरा समझो !
(3) नाटक-संग्रह – (i) रंग और व्यंग्य (ii) नंगा सत्य (नाटक)

(4) उपन्यास साहित्य – (i) नीला आकाश (ii) तुम्हें बदलना ही होगा (iii) वह लड़की
(5) वैचारिक लेखों का संग्रह – हाशिए का विमर्श
(6) स्त्रियों की स्थिति पर विवरणात्मक पुस्तकें – (i) हिन्दी साहित्य के इतिहास में नारी (ii) भारतीय नारी : समाज और साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भों में
(7) आत्मकथा – शिकंजे का दर्द (2011 में प्रकाशित)
(8) आलोचना – दलित साहित्य : एक आलोचना दृष्टि (2015 में प्रकाशित)
(9) साक्षात्कार – मेरे साक्षात्कार : प्रथम भाग (2016 में प्रकाशित)

उनकी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' बहुचर्चित कृति है जिस पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लगातार समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं। उन समीक्षाओं को संकलित कर डॉ॰ देवेन्द्र चौबे और डॉ॰ विष्णु सरवदे के सम्पादकत्व में 'शिकंजे का दर्द : दलित एवं नारी मुक्ति का यथार्थ दस्तावेज' नामक पुस्तक प्रकाशित भी हुई है। इनके अतिरिक्त सुशीला जी की रचनाओं पर केन्द्रित 'कैदी नं. 307 सुधीर शर्मा के पत्र' नामक पुस्तक 2016 में प्रकाशित हुई है। साथ ही, सुशीला टाकभौरे के पत्रों का वृहद संकलन 'संवादों के सफर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसी तरह आमन्त्रण पत्रों का दस्तावेजी संकलन 'कारवाँ बनता गया' शिल्पायन से प्रकाशित हुआ है।

सुशीला टाकभौरे की विभिन्न रचनाएँ भारत के अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित की गई हैं। उनकी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' भारत के अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित की गई है। दलित एवं स्त्री आत्मकथाओं के सन्दर्भ में 'शिकंजे का दर्द' पर विभिन्न दृष्टियों से अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे गए हैं। इसका तेलुगू, मराठी, अंग्रेजी और मलयालम में अनुवाद किया जा रहा है। सुशीला टाकभौरे के सम्पूर्ण साहित्य पर अनेक शोधार्थियों ने शोधकार्य किया है। इनकी विभिन्न रचनाओं पर निरन्तर समीक्षा-लेखन और शोधकार्य हो रहे हैं और पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हुए हैं।

3.2.04. दलित उपन्यासों की पृष्ठभूमि

दलित साहित्य फुले-अम्बेडकरवादी विचारधारा का साहित्य है। यह समतावादी समाज-रचना के आन्दोलन का साहित्य है। दलित साहित्य का महत्त्व, कर्त्तव्य और जिम्मेदारी विशिष्ट है, क्योंकि दलित साहित्य का उद्देश्य विध्वंस नहीं है, बल्कि समता, स्वतन्त्रता और सम्मान के साथ बन्धुत्व-भाव जोड़ना है। भारतीय साहित्य के इतिहास में यह युगान्तरकारी घटना है। शिक्षा, संघर्ष, संगठन और एकता का सन्देश देने वाला फुले-अम्बेडकर विचारधारा का यह साहित्य सम्पूर्ण समाज और विश्व के समक्ष दलित, शोषित और पीड़ितों के लिए मानवाधिकार के औचित्य को मनवा रहा है।

साहित्य-लेखन में उपन्यासों का अपना महत्त्व है। उपन्यास में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक राजनैतिक और नैतिक जीवन के सभी पहलू समग्रता में चित्रित किए जा सकते हैं। दलित उपन्यास व्यक्ति विशेष पर केन्द्रित न होकर पूरे समाज पर केन्द्रित होते हैं। दलित नायक अपने दलित समाज के प्रतिनिधि के रूप में

चित्रित किया जाता है जो देश और समाज की विषमतावादी अन्यायपूर्ण परम्पराओं, नीतियों, धार्मिक ग्रन्थों की विद्रूपताओं और मान्यताओं के विरुद्ध समाज को जाग्रत कर समतावादी मान्यताओं को स्थापित करता है। इसी उद्देश्य से दलित उपन्यास लिखे गए हैं और इसी उद्देश्य से दलित नायकों के चरित्र को विकसित किया जा रहा है। दलित उपन्यासकार समतावादी समाज-रचना के उद्देश्य से अपने उपन्यास की कथा और पात्रों को सृजित करता है। पात्र लेखक की विचारधारा का अनुसरण करते हैं।

दलित उपन्यासों में भाषा, बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि शिल्पगत प्रवृत्तियाँ उसके उद्देश्य में सहायक के तौर पर सृजित की जाती हैं। यह मनोरंजन और सौन्दर्य-बोध का साहित्य नहीं है बल्कि एक बड़े लक्ष्य को लेकर लिखा जाने वाला उद्देश्यपरक साहित्य है। यह सामाजिक समता और एकता के लिए चलाए जा रहे सामाजिक आन्दोलन का एक भाग, माध्यम अथवा साधन है।

दलित साहित्यकारों की कृतियों में उपन्यासों की अपेक्षा, काव्य-संग्रह और कहानी-संग्रह अधिक प्रकाशित हुए हैं। दलित उपन्यासों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। प्रमुख दलित उपन्यासकार और उनके द्वारा विरचित उपन्यास इस प्रकार हैं –

(1) धर्मवीर-कृत 'पहला खत' (प्रकाशन वर्ष सन् 1991 ई.)
(2) जयप्रकाश कर्दम-कृत 'छप्पर' (प्रकाशन वर्ष सन् 1994 ई.)
(3) प्रेम कपाड़िया-कृत 'मिट्टी की सौगन्ध' (प्रकाशन वर्ष सन् 1995 ई.)
(4) सत्यप्रकाश-कृत 'जस तस भई सबेर' (प्रकाशन वर्ष सन् 1998 ई.)
(5) मोहनदास नैमिशराय-कृत 'मुक्तिपर्व' (प्रकाशन वर्ष सन् 2002 ई.), 'आज बाजार बन्द है' (प्रकाशन वर्ष सन् 2004 ई.), 'जख्म हमारे' (प्रकाशन वर्ष सन् 2012 ई.)
(6) कावेरी-कृत 'मिस रमिया' (प्रकाशन वर्ष सन् 2007 ई.)
(7) उमराव सिंह जाटव-कृत 'थमेगा नहीं विद्रोह' (प्रकाशन वर्ष सन् 2008 ई.)
(8) भगवानदास मोरवाल-कृत 'रेत' (प्रकाशन वर्ष सन् 2008 ई.)
(9) अजय नावरिया-कृत 'उधर के लोग' (प्रकाशन वर्ष सन् 2009 ई.)
(10) रूप नारायण सोनकर-कृत 'सूअरदान', 'डंक' (प्रकाशन वर्ष सन् 2009 ई.)
(11) सुशीला टाकभौरे-कृत 'नीला आकाश' (प्रकाशन वर्ष सन् 2013 ई.), 'तुम्हें बदलना ही होगा' (प्रकाशन वर्ष सन् 2014 ई.), 'वह लड़की' (प्रकाशन वर्ष सन् 2018 ई.)

दलित उपन्यासों का विश्लेषण करते समय यह देखना आवश्यक होगा कि उपन्यास कितना समकालीन है, उसमें युगसापेक्ष होने की कितनी सामर्थ्य है और बदलते समय से जुड़े जीवन की माँग तथा सम्भावनाओं को उस कृति में कितना स्थान दिया गया है। साथ ही, उसमें सांस्कृतिक और वैज्ञानिक दृष्टि भी होनी चाहिए। किसी भी उपन्यास का मूल्यांकन समसामयिक दृष्टि से बौद्धिक विश्लेषण के साथ होगा तभी उसके महत्त्व, सफलता और उपयोगिता को परखा जा सकेगा। उपन्यास कला की दृष्टि के साथ-साथ जीवन की दृष्टि से लिखा जाना चाहिए।

दलित उपन्यासों की जानकारी प्राप्त कर पाठकों और विद्यार्थियों में इन उपन्यासों के प्रति जिज्ञासा और उत्सुकता का निर्माण होगा जिससे दलित साहित्य के प्रति उनकी रुचि और प्रवृत्ति विकसित हो सकेगी।

3.2.05. 'नीला आकाश' उपन्यास की संक्षिप्त कथावस्तु

'नीला आकाश' का प्रारम्भ भोर के वर्णन के साथ होता है। इसी के साथ जन-जीवन के कार्यकलाप शुरू हो जाते हैं। महाराष्ट्र के नागपुर जिले के अन्तर्गत एक छोटे से गाँव कन्हान का परिवेश है जहाँ सेवानगर में भीकू जी का घर-परिवार निवास करता है। सेवानगर में चार-पाँच घर मांग जाति के है और थोड़ी ही दूरी पर चार-पाँच घर वाल्मीकि जाति के हैं। इस स्थान को पहले मांगवाड़ा और मेहतर मुहल्ला कहा जाता था। बाद में हरिजन मुहल्ला कहा गया। अब यह बस्ती सेवानगर कहलाती है।

इस बस्ती के सभी लोग अपनी जाति के अनुसार निश्चित किए गए पैतृक रोजगार के काम करते हुए गरीबी में जीवन बिताते हैं। भीकू जी और चन्दरी की चार बेटियाँ सीता, राधा, लक्ष्मी, पार्वती और एक बेटा रामकिसन है। स्कूल में शिक्षकों की उपेक्षा, डाँट-फटकार, छुआछूत और भेदभाव के कारण भीकू जी की बेटियाँ दूसरी-तीसरी कक्षा से आगे नहीं पढ़ पाती हैं। पढ़ाई-लिखाई छोड़कर वे घर के काम-काज करती हैं। यह देख भीकू जी और चन्दरी जातिभेद की व्यवस्था और अन्याय से दुःखी हो जाते हैं।

बेटा रामकिसन भी आठवीं कक्षा तक ही पढ़ पाता है। आठवीं में फेल होने के बाद वह भी झाड़ू-टोकना बेचने का काम करने लगता है। पिता के साथ बाजा भी बजाता है। इस बात से भीकू जी को बहुत दुःख होता है। रिश्वत देने के बाद बेटे को नौकरी मिलती है, तब चन्दरी बड़ी पूजा का आयोजन करती है। वे बेटियों की शादी करते हैं, बाद में रामकिशन की शादी उर्मिला से होती है। उनकी एक बेटी नीलिमा है। अपनी दृढ़ लगन और संकल्प से वह छुआछूत और भेदभाव के बावजूद भी उच्च शिक्षा प्राप्त करती है।

सेवानगर में कालीचरण वाल्मीकि के सात भाई और एक बहन का परिवार भी रहता है। कालीचरण अपने बेटा कैलाश को पढ़ाना चाहता है मगर वह भी जातिभेद, उपेक्षा और शिक्षकों की मारपीट के कारण आगे नहीं पढ़ पाता है। कालीचरण की बहन दुलारी के तीन बेटे और एक बेटी है। बड़ा बेटा आकाश स्कूल की पढ़ाई पूर्ण होने के बाद कॉलेज में पढ़ रहा है। बी.कॉम. की पढ़ाई के साथ-साथ वह समाज-जागृति में जुटा है। नीलिमा और आकाश बचपन में एक ही स्कूल में साथ-साथ पढ़े हैं। वे एक दूसरे को पसंद करते हैं। नीलिमा भी आकाश से प्रेरित हो अपनी पढ़ाई के साथ-साथ स्त्री-जागृति और समाज-सेवा में बढ़-चढ़ कर योगदान करती है। भीकू जी, चन्दरी, रामकिसन और कली सामाजिक जागृति के प्रयत्नों में सहयोग करते हैं। आकाश के प्रोत्साहन से उसके माता-पिता, भाई-बहन, मामा कालीचरण और उनकी पत्नी बुधिया भी समाज-जागृति में सहयोग करते हैं।

14 अप्रैल को डॉ॰ अम्बेडकर जयन्ती के कार्यक्रम में मांग और वाल्मीकि दोनों जाति के लोग मिल-जुल कर कार्यक्रम का आयोजन करते हैं। कालीचरण का छोटा भाई चन्दू चौहान इस कार्यक्रम के विरुद्ध वाद-विवाद

करने लगता है। आकाश और नीलिमा के समझाने पर वह उनकी बात मानता है, तब मांग और वाल्मीकि दोनों जाति के लोग मिल-जुलकर कार्यक्रम को सफल बनाते हैं।

आकाश और नीलिमा दोनों एक दूसरे के गुणों से आकर्षित हो पारस्परिक प्रेमभाव को महसूस करते हैं। उनके परिवार के लोग भी उन्हें एक दूसरे के योग्य मानते हैं। एम.कॉम. के बाद सी.ए. की पदवी प्राप्त कर आकाश दलित-पिछड़े समाज की मदद करता है। नीलिमा भी एम.ए. के बाद पी-एच.डी. करते हुए समाज-जागृति के काम लगातार करती रहती है। आकाश और नीलिमा को परस्पर योग्य मानकर दोनों के परिवार उन दोनों के विवाह को स्वीकार कर लेते हैं। बौद्ध पद्धति से विवाह किये जाने पर कुछ लोग इसका विरोध करते हैं किन्तु आकाश और नीलिमा के समझाने पर सभी लोग सहमत हो जाते हैं। आकाश और नीलिमा जीवन भर समाज-सेवा करने का दृढ़ निश्चय करने के साथ विवाह करते हैं। विवाह के साथ ही दो दलित जातियाँ एकता के सूत्र में बँधकर बन्धुत्व भाव से परिपूर्ण हो जाती हैं।

3.2.06. 'नीला आकाश' उपन्यास का कथानक-विस्तार एवं मूल प्रतिपाद्य

'नीला आकाश' उपन्यास की प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ लेखिका ने मुख्य रूप से दलित जातियों के बीच व्याप्त जातिभेद को चित्रित करते हुए अन्तरजातीय विवाह के माध्यम से समस्या के निवारण का सन्देश दिया है। यहाँ इस समस्या की पृष्ठभूमि को भी समझना आवश्यक है कि यह समाज में किस कदर गहरे व्याप्त है। लेखिका का उद्देश्य समाज में समता, स्वतन्त्रता और भाईचारे की मानसिकता का विकास करना है। इस उद्देश्य के विरुद्ध बीच में आने वाले बाधक-तत्त्वों को लेखिका ने प्रसंग रूप में चित्रित किया है। समाज में वर्णभेद और जातिभेद की समस्या सदियों से मौजूद है। उपन्यासकार ने इन्हीं समस्याओं को रेखांकित करते हुए कथानक-विस्तार किया है। कथा विस्तार के मुख्य प्रकरण निम्नलिखित हैं –

(1) स्कूल में शिक्षकों का अछूत बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करके उनकी शिक्षा प्राप्ति में बाधक बनाना।
(2) रामकिसन की नौकरी लगने पर पूजा का आयोजन और बलिप्रथा का विरोध।
(3) कैलाश चौहान का हनुमान दल में पूरी तन्मयता के साथ काम करना फिर भी उपेक्षित-अपमानित होना।
(4) नीलिमा का दुलीचन्द मामा के घर जाना और दुलीचन्द द्वारा सुमेरसिंह का प्रतिरोध
(5) 'अम्बेडकर जयन्ती' कार्यक्रम का आयोजन और उसमें वाल्मीकियों की भूमिका
(6) आकाश और नीलिमा का अन्तरजातीय विवाह बौद्ध पद्धति से सम्पन्न होना।

"महाराष्ट्र प्रान्त के गाँव कन्हान की संस्कृति और परम्पराएँ देश के अन्य शहरों और गाँवों जैसी ही हैं। सदियों से चली आ रही सामाजिक भेदभाव और छुआछूत की परम्परा यहाँ भी है। पूरा गाँव जाति और वर्ण के अनुसार अलग-अलग मोहल्लों में बँटा है।" (पृष्ठ 9)

अछूत जाति के घर गाँव से बाहर अलग हैं। उनके मुहल्ले का पहले जातिवाचक नाम था, फिर गाँधी जी की प्रेरणा से हरिजन मुहल्ला नाम दिया गया। अम्बेडकरवादी आन्दोलन के समय उनके मुहल्ले को सेवानगर कहा जाने लगा। (पृ. 9-10)

दुलारी जैसी दलित लड़कियों का विवाह इसलिए जल्दी कर दिया जाता है क्योंकि दलित अछूत स्त्रियों की इज्जत और अस्मिता लुटने का भय रहता है। (पृ. 14-15)

दलितों में शिक्षा, जागृति, धन-सम्पति, नौकरी, सम्मान, निश्चिन्ता सभी का अभाव है, फिर भी वे अपना जीवन जीते हैं। आपस में स्वार्थ टकराने पर वे कभी लड़ते-झगड़ते हैं, अन्यथा मिल-जुल कर रहते हैं। ... कुछ दलित परिवारों में स्त्रियों के साथ घरेलू हिंसा भी होती है। गंगाराम के बेटे सीताराम की बहू रामबाई दुःखी हैं, दलित पिछड़े वर्ग में धार्मिक अन्धविश्वास है। वे अपने बच्चे का नाम देवी-देवताओं ने नाम पर रखकर धर्मलाभ पाना चाहते है। जिससे समाज में कभी इसके कारण असंगत स्थिति भी बनती है। रामकिशन नाम होकर भी पिटाई होती है, गरीबी और अभाव में जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है। (पृ. 20-21)

सीता, राधा, लक्ष्मी और पार्वती नाम की लड़कियों का विवाह पौराणिक नामों की जोड़ी से नहीं बल्कि असंगत रूप में अलग नाम के लड़कों से होने पर अलग अनुभूति होती है। जैसे सीता का विवाह लक्ष्मण से, राधा का नारायण से लक्ष्मी का शिवशंकर से और पार्वती का मोहन से होने पर चन्दरी इस बात पर हँसती है। (पृ. 52-55)

भीकू जी अपने बेटे का नाम रामकिसन रखते हैं। वे चाहते है कि उनका बेटा शिक्षा पाए और शिक्षक बने। मगर शिक्षकों के अन्याय के कारण वह पढ़ना छोड़कर झाडू-टोकना बेचता है, बाजा बजाता है। ... भीकू जी और रामकिसन बाजा बजाने वाले कलाकार हैं मगर अछूत जाति के कारण उनकी कला को भी निम्न दृष्टि से आँका जाता है। ... बच्चों की पढ़ाई छूटने से दुःखी भीकू जी का भगवान की आस्था से मन हट जाता है। वे राम और कृष्ण के बड़े भव्य चित्र के कलेण्डर को बाँधकर अलग रख देते हैं। ... वे अपने अज्ञान और अंधविश्वास की बातों को हँसकर पत्नी को बताते हैं और कहते हैं – "उन दिनों मैं बिल्कुल सूरदास था, मानो सत्य देखने में असमर्थ था। चन्दरी धर्म के नाम पर अंधविश्वास की अवैज्ञानिक बातों को भीकू जी को बताती है कि ऋषि हजारों साल तक कैसे जीते होंगें (पृ. 44)

धार्मिक उन्माद के साथ यह अफवाह फैलाई जाती है कि गणेश की मिट्टी की मूर्ति दूध पी रही है। सामान्य जनमानस इस बात पर विश्वास करके इसका प्रचार करते हैं। (पृ. 45)

एक आदमी वानर का वेश धारण कर उत्पात मचाता है। तब हनुमान दल के लोगों द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि वह हनुमान का रूप है। (पृ. 46)

कालीचरण वाल्मीकि का बेटा कैलाश 'हनुमान दल' में रहकर काम करता है। वहाँ उससे सब छुआछूत मानते हैं। मेहनत के मजदूरों के काम कैलाश से करवाते हैं। कैलास यह सब अज्ञानता में खुशी-खुशी करता है। एक दिन अपमानित होने के बाद 'हनुमान दल' का काम छोड़कर अपने दलित समाज के लिए काम करता है। (पृ. 70-71)

रामकिसन की नौकरी लगने पर चन्दरी अपने कुलदेवता और देवी की पूजा का आयोजन करती है जिसमें बकरे की बलि देना है। भीकू जी बलिप्रथा का विरोध करते हैं। निरीह जानवरों की हत्या की परम्परा तोड़ने का काम भीकू जी करते हैं। ... "सवर्ण समाज द्वारा बहिष्कृत और गाँव के बाहर रहने के लिए मजबूर बनाए गए इन दलित अछूतों का अपना इतिहास है। वे अपने गौरवमय इतिहास को याद करते हैं।" (पृ. 48)

भीकू जी और चन्दरी ग्रहण के समय दान माँगने की प्रथा का भी विरोध करते हैं। (पृ. 57-58)

रामकिसन और उर्मिला आपसी सूझबूझ के साथ एक बेटी होने के बाद 'फेमिली प्लानिंग' कर लेते हैं जिससे छोटे परिवार के महत्त्व और लाभ का सन्देश मिलता है। (पृ. 60-61)

स्कूल में पढ़ते समय आकाश और नीलिमा छुआछूत, भेदभाव का अपमान सहते हैं। चपरासी भी उन्हें ठीक से पानी नहीं पिलाता। तब नीलिमा यह दिवास्वप्न देखती है कि – "वह शिक्षिका बन गई है और चपरासी को डाँट रही है। वह अछूत बच्चों को कक्षा में सबसे आगे बैठाने की बात सोचती है। (पृ. 62-64)

मैट्रिक के बाद गरमी की छुट्टियों में नीलिमा अपने मामा के घर कामठी आती है। वहाँ ठाकुर सुमेरसिंह द्वारा मामा का अपमान होते देखती है। बाद में दुलीचन्द मामा भी सुमेरसिंह को करारा जबाब देता है और उसके घर बाजा बजाने से इन्कार कर देता है। यह देखकर नीलिमा को बहुत खुशी होती है। (पृ. 67-68)

नीलिमा सोचती है – "यदि वह नहीं पढ़ती, तो क्या करती ? उसकी जाति के अशिक्षित और मजबूर लोग जो काम पैतृक रोजगार के रूप में कर रहे हैं, वह भी वही करती। (पृ. 68-69)

स्कूल में नौकरी करते हुए अपमान होने पर चन्दरी स्कूल की नौकरी छोड़ देती है। रामकिसन, चन्दरी और भीकू जी ने निर्णय ले लिया – "ऐसी नौकरी हमें नहीं चाहिए जो काम हमारे आत्मसम्मान को चोट पहुँचाती है, वह काम हम नहीं करेंगें। भले ही इसके बदले हमें कष्ट उठाना पड़े, भूखे रहना पड़े ..." (पृ. 69)

उसने (आकाश ने) सभी विद्यार्थियों को जोड़कर छात्र संगठन नाम की संस्था बनाई। वह प्रत्येक रविवार को 'छात्र संगठन' की मीटिंग लेने लगा। वह उनकी समस्या सुनता और चर्चा-विमर्श द्वारा उन्हें हल करने के उपाय सुझाता।" (पृ. 72)

आकाश ने यह कार्यक्रम बनाया और कहा – "अपनी जाति-समुदाय में जहाँ भी शादी होगी, हम वहाँ जाकर लोगों को समझाएँगे और शादी के खर्च में कटौती करवाकर, उनका रुपया उन्हीं के बच्चों की पढ़ाई में खर्च करने के लिए फिक्स डिपाजिट करवाएँगे। (पृ. 72)

नीलिमा देखती है मेहतर, मांग, बसोर जाति के बच्चों के नाम स्कूल में लिखवाए अवश्य जाते हैं मगर वहाँ वे इक्का-दुक्का ही नज़र आते हैं। दो-तीन कक्षा के बाद वे गधे के सिर से सींग की तरह कहीं दिखाई नहीं देते। (पृ. 73)

लड़कियों को ये सुविधाएँ भी नहीं मिल पाती हैं। 10-11 साल की होने के साथ ही उन पर घर के काम, छोटे बहन-भाइयों को संभालना, इतनी उम्र होने के बाद उनकी इज्जत-आबरू के लुटने का डर भी शुरू हो जाता है। तब उनके लिए तुरन्त शादी कर देने की बात सोची जाती है।" (पृ. 74)

नीलिमा ने महसूस किया, स्कूल और कॉलेज के वातावरण में बहुत अन्तर होता है। यहाँ का वातावरण मुक्त और स्वतन्त्र है। खेलकूद और ज्ञान प्राप्ति के साधन सुलभ हैं। यहाँ व्यक्तित्व-विकास के लिए वातावरण उपलब्ध रहता है। बस, उसका सही रूप में लाभ लेना आना चाहिए।" (पृ. 75)

कालीचरण इस बात का दावा करते हैं कि – "सफाई के काम में सिर्फ हमारा ही आरक्षण होना चाहिए।" वह अपने भाइयों और वंशजों के भविष्य की चिन्ता इसी रूप में करते हैं। भीकू जी कालीचरण की बात सुनकर चुप रह जाते हैं। एक तो यह उनकी जाति की मजबूरी है।" (पृ. 76)

आकाश कालीचरण पर नाराज होकर बोला – "क्या मामाजी, आप इसी रोजगार में अटके हो ? दुनिया कितनी बदलती जा रही है मगर हमारे लोग अपने ही रोजगार से चिपके हैं। आप समझदार हो, अपने लोगों को अच्छा रास्ता दिखाओ। डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने हम सबके लिए प्रगति का कितना बड़ा रास्ता बताया था।" (पृ. 76)

गाँधी जी ने यही मार्ग बताया था – "चाहे कितने भी पढ़-लिख जाओ, मगर काम-रोजगार अपने बाप-दादाओं का ही करो।" (पृ. 76)

सेवानगर में कली वाल्मीकियों से छुआछूत मानती है। बुदिया भाभी ने कली को समझाया – "अरे, जिन्होंने हम सबको अछूत बनाकर रखा है, उनसे जाकर लड़ो। हम सब तो एक जैसे लोग हैं, सबकी सेवा करने वाले, सेवा करके भी छोटे कहलाने वाले। हमें तो मिल-जुलकर रहना चाहिए। आपस में लड़ना कोई समझदारी नहीं है।" (पृ. 77)

उस दिन नीलिमा भी कली की बातों से आश्चर्यचकित रह गई थी। वह सोचने लगी, हमारे लोग कब सुधरेगें ?" (पृ. 79)

भीकू जी अनपढ़ जरूर है, मगर उनमें समझ-बूझ है। वे जानते हैं, पहले सभी दलित जातियों में जागृति लाना ज़रूरी है, तभी वे अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता को पहचान कर एक संगठन के रूप में जुड़ सकेंगे।" (पृ. 79)

रामकिसन और आकाश भीकू जी के साथ मिलकर सेवानगर में 14 अप्रैल को डॉ० भीमराव अम्बेडकर जयन्ती का कार्यक्रम आयोजित करना निश्चित करते हैं। (पृ. 80)

चन्दू पहलवान कहता है – "पहले मुझे बताओ, बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर ने हमारी जाति के लिए क्या किया ? (पृ. 83)

आकाश समझाता है डॉ० अम्बेडकर ने सभी शूद्र, अछूत, शोषित, पीड़ित, दलित, पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए बहुत संघर्ष किया है। उनके कार्यों और उनके जीवन के अनुभवों को आप सुनो और समझो।" (पृ. 85)

उस दिन देर से ही सही, मगर 'अम्बेडकर जयन्ती' कार्यक्रम मनाया गया (पृ. 90)

बुधिया को पहली बार शर्म महसूस हुई। उसने धीरे से अपना घूँघट पीछे खींच लिया। (पृ. 91)

चन्दरी ने कलिया को समझा दिया – "बच्चों को उनकी प्रगति और विकास के लिए भी पूरा समय मिलना चाहिए। रोजी-रोटी के लिए तो सभी जीते हैं, हमारे बच्चे देश और समाज के लिए अच्छा काम करें, यह बड़े गर्व और गौरव की बात है। (पृ. 95)

नीलिमा के मार्गदर्शन में चन्दरी और बुधिया ने अलग 'महिला मंडल' संस्था बना ली है। अब वे सभी महिलाओं को जाग्रत करके एक बड़े संगठन के रूप में समाज आन्दोलन से उन्हें जोड़ रही हैं।" (पृ. 97)

चन्दरी कहती – "अरी बहन बेटियों, अपने घर से निकलो, समाज से जुड़ो और समाज को जोड़ो।" बुधिया कहती – "सिंगार-पटार में बहुत समय गँवा दिया तुमने, अब आईना देखने के बदले समाज के काम से निकलो।" (पृ. 98)

दारूबंदी और नशाबंदी का मोर्चा भी महिलाओं ने संभाला। मजाल है, कोई पुरुष शराब पी सके या घर में धूम कर सके। वे तुरन्त उसे पुलिस थाने में गिरफतार करवाने की धमकी देती हैं। (पृ. 98)

एक दिन कली ने अपने बेटे सीताराम के हाथ रस्सी से बाँध दिए और बहू से कहा – "ले बेटी, आज तू भी इसकी जी भरके धुलाई कर ले।" (पृ. 99)

उर्मिला भी सेवानगर में प्रौढ़ वयस्क महिलाओं को अक्षर-ज्ञान कराती है। ... नीलिमा अबला स्त्रियों को सक्षम बना रही है। वह उन्हें बताती है कि हमारे देश के संविधान में हमें कौन-कौन से अधिकार मिले हैं। समाज में बेटा और बेटी के अधिकार बराबर हैं। हिन्दू कोड बिल के द्वारा हमें हिंसा और असमानता के विरुद्ध न्याय पाने के अधिकार मिले हैं।" (पृ. 100)

नीलिमा के लिए योग्य वर आकाश के अलावा और कोई नहीं है, इस विषय पर लोग खुले आम चर्चा करने लगे – "दूसरों को शिक्षा देते हैं, दुनिया की समाजसेवा करते हैं, मगर यही बात अपने घर से शुरू क्यों नहीं करते।" (पृ. 101)

मंडप में तथागत गौतम बुद्ध और डॉ० भीमराव अम्बेडकर की तस्वीर रखी गई। नीलिमा और आकाश की यह पहली शर्त हैं – "विवाह होगा तो बौद्ध पद्धति से ही होगा।" (पृ. 102)

कालीचरण नीलिमा के विद्रोही रूप को देखकर कहने लगे – "यह लड़की हमारी जाति में फैले अज्ञान के अँधेरे को जरूर दूर कर देगी। आकाश को ऐसी ही जीवनसाथी की ज़रूरत है।" (पृ. 103)

आकाश ने अपने पिता और चन्दू मामा से कहा – "अब जमाना बदल रहा है। पुराना सब कुछ बदलना होगा। तभी नयी रीति-परम्पराएँ शुरू होंगी। पुरानी बातों से चिपके रहकर हम नयी बातों की अच्छाई और लाभ समझ नहीं पाते हैं।" (पृ. 103)

रामकिसन नीलिमा के पास खड़ा होकर बोला – "मेरी बेटी लाखों में एक है। वह अकेली सबल और सक्षम है। नीलिमा और आकाश एक होने जा रहे हैं। ये वर-वधू नहीं हैं, बल्कि ये दोनों मिलकर एक नये नीले आसमान का निर्माण करेंगे, जो हम सबका होगा। हमारा अपना नीला आकाश।" (पृ. 104)

चन्दू चौहान ने कहा – "बेटी आज आपने इतनी जानकारी की बातें हम सबको बताई हैं, जिसे सुनकर ऐसा कौन बेवकूफ होगा, जो इस बात को नहीं समझेगा कि क्या सही है और क्या गलत।" (पृ. 105)

कालीचरण कहता है – "यह विवाह उत्सव के साथ विजय उत्सव है। पुरानी परम्पराओं पर नयी परम्पराओं की विजय। यह हमारे बच्चे नीलिमा और आकाश का विजय उत्सव है।" (पृ. 105)

विवाह सम्पन्न होते ही दो दलित जातियों के समाज एकता के सूत्र में बँध गए। (पृ. 105)

जैसे नीला आकाश स्वयं तक सीमित नहीं रह सकता, वैसे ही नीलिमा और आकाश को केवल अपने घर-गृहस्थी तक सीमित नहीं रहना है। उन्हें तो पूरे देश में अपना विस्तार पाना है।" (पृ. 106)

'नीला आकाश' का मूल प्रतिपाद्य दलित पिछड़े समाज को एकता, संगठन और संघर्ष का सन्देश देना है। साथ ही, नयी पीढ़ी को जाग्रत कर समाज के लिए उनकी जिम्मेदारी और कर्त्तव्यों का भान कराना है। समाज में शिक्षा के प्रति जागृति और आत्मसम्मान तथा स्वाभिमान की भावना का विकास करने के साथ ही सामाजिक कुरीतियों जैसे दहेजप्रथा, अविवेकी होकर अधिक संतान उत्पन्न करना, बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य और लालन-पालन के प्रति गैरजिम्मेदारी आदि को विनष्ट करना भी 'नीला आकाश' उपन्यास का लक्ष्य है। उपन्यासकार की अभिलाषा है कि लड़कियों को भी लड़कों के समान अधिकार मिलें। उन्हें भी मूलभूत सुविधाएँ, सुरक्षा और

विकास के समस्त अवसर मिलें जिससे उनका शारीरिक, बौद्धिक, शैक्षिक, चारित्रिक और सामाजिक उत्थान हो सके।

3.2.07. प्रमुख एवं सहायक पात्रों का चरित्र-चित्रण

3.2.07.01. भीकू जी

उपन्यास के प्रमुख पात्रों में भीकू जी महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। वे पुरानी पीढ़ी के हैं मगर जागरुक हैं। वे कलाकार हैं। साँवला रंग, मंझोले कद-काठी के भीकू जी बाजा बजाने का काम करते हैं। सफेद कुरता-पायजामा और गले में गमछा उनकी पोशाक है। वे हँसमुख, मिलनसार, परिवार के प्रति जिम्मेदार और समाज के प्रति जागरुक व्यक्ति हैं।

वे अपने घर में मुर्गा-मुर्गी, बकरा-बकरी, कुत्ते और तोता पालते हैं। पशु-पक्षियों के प्रति उनके मन में प्रेम है। गरीबी में भी वे जानवरों के खिलाने-पिलाने की चिन्ता करते हैं। वे पंखकटे पक्षी को पिंजरे में देखकर दुःखी होते हैं और उसे मुक्त कर देने की बात सोचते हैं। वे पक्षी की पराधीनता के साथ अपनी पराधीनता की तुलना करते हुए दुःखी हो जाते हैं। बेटे की नौकरी लगने पर उनकी पत्नी बड़ी पूजा में बकरे की बलि चढ़ाना चाहती है। मगर बलि चढ़ाने की प्रथा का वे पुरजोर विरोध करते हैं और उसे रोकने में सफल भी होते हैं। यह उनके मानवतावादी स्वभाव और व्यवहार का ठोस प्रमाण है।

बेटा-बेटी की पढ़ाई और उनके भविष्य के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। समाज में जहाँ जाति-पाँति और अन्याय का व्यवहार देखते हैं, उसका विरोध करते हैं। भीकू जी पहले धार्मिक स्वभाव के थे, ईश्वर पर आस्था रखते थे किन्तु बच्चों की शिक्षा का सपना टूटने पर उनकी आस्था भी टूट जाती है। वे राम और कृष्ण के चित्र के केलेण्डर बाँधकर अलग रख देते हैं।

भीकू जी प्रकृति-सौन्दर्य के सुख में सन्तोष का अनुभव करते हैं, मगर जब उन्हें कड़ी मेहनत करनी पड़ती है, तब उन्हें अपने जीवन के अभाव, कठिनाई, संघर्ष, भेदभाव और अपमान याद आते हैं। भीकू जी कालीचरण वाल्मीकि के बेटे कैलाश को शिक्षक द्वारा पीटते हुए देखते हैं तब शिक्षक का विरोध करके उसे रोकते हैं और कैलाश को सहारा देकर उसके घर तक पहुँचाते हैं जिससे वाल्मीकि परिवार उनका कृतज्ञ होता है। कैलाश जब 'हनुमान दल' के लिए काम करता है, तब वे उसे तर्क देकर समझाते हैं और उसे अपने परिवार और जाति-समाज के लिए काम करने के लिए कहते हैं। वे सभी को अच्छी बातें बताकर अपनी सामाजिक जिम्मेदारी निभाते हैं।

वे जातिगत परम्परा के पैतृक रोजगार-धंधे छोड़ना चाहते हैं। जब बेटे को मजबूरी में अपने पैतृक काम करते हुए देखते हैं, तब उनका हृदय विद्रोह करने लगता है। वे आदर्श पिता हैं। अपने जीवनभर की कठिन परिश्रम की जमा-पूँजी देकर भी बेटे को बैंक में नौकरी लगवाते हैं। वे एक आदर्श पति हैं। अपनी पत्नी के सुख-दुःख में

हमेशा सहभागी बनते हैं। बेटे-बेटियों के लिए सुयोग्य जीवनसाथी ढूँढकर उनकी शादी करते हैं। पौत्री नीलिमा को पढ़ाई के लिए प्रेरित करते हैं।

वे सेवानगर के कालीचरण और सभी वाल्मीकि भाइयों से भाईचारे का व्यवहार करते हैं। दुलारी के बेटे आकाश के सामाजिक कार्यों में भी अपना सक्रिय सहयोग देते हैं। स्कूल में सफाई की नौकरी में चन्दरी का अपमान होते देख वे उसे वह नौकरी छुड़वा देने का निर्णय करते हैं। वे अपने सम्मान-स्वाभिमान को महत्त्व देते हैं, अनपढ़ होने के बावजूद वे समझदार हैं। महाराष्ट्र के अम्बेडकरवादी नेताओं के भाषण सुनकर और उनकी बातों को समझकर वे अम्बेडकरवादी विचारधारा के समर्थक बन जाते हैं। वे जान गए हैं कि महाराष्ट्र के ज्योतिबा फुले, सावित्री फुले और डॉ० अम्बेडकर के प्रयत्नों से ही अछूतों और बहुजनों में जागृति आई है।

सेवानगर में 14 अप्रैल को अम्बेडकर जयन्ती मनाने में वे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कालीचरण और चन्दू चौहान को भी इसका महत्त्व समझाते हैं। नीलिमा के लिए योग्य वर के रूप में आकाश को पसंद करते हैं। यह विवाह होने पर उन्हें बहुत खुशी होती है। दो दलित जातियों में एकता लाने में वे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

3.2.07.02. चन्दरी

चन्दरी के माता-पिता ने उसका नाम चन्द्रकला रखा था। मगर गरीब अछूतों के नाम बिगाड़कर कहे जाने की परम्परा से सभी उसे चन्दरी कहते हैं। चन्दरी अपनी चार बेटियों और बेटे का पालन-पोषण कुशल माँ के रूप में करती है। वह अपने पति के सुख-दुःख का पूरा ख्याल रखती है। घर-परिवार के खर्च में सहयोग करती है। झाड़ू-टोकना बनाती और बेचती है।

वह प्रायवेट रूप से स्कूल और बैंक में सफाई का काम भी करती है। कड़ी मेहनत के बाद अच्छे भोजन के लिए मांस-मछली उसे पसंद है। वह कहती है – "कड़ी मेहनत के बाद खा-पीकर दिल खुश हो जाये, इससे ज्यादा और क्या चाहिए। (पृ. 20) वह अपनी कोई भी बात पति से मनवाकर ही रहती है। नहीं मानने पर रूठ जाती है। खाना नहीं बनाकर अपना विरोध प्रकट करती है। बेटा बेटी की शिक्षा में रुकावट आने पर वह दुःखी होती है। गुस्से में उन बेईमान शिक्षकों को बुरा कहती है। वह जब यह सुनती है कि मक्खनलाल मास्टर उसकी बेटी को कामुक दृष्टि से देखता है, तब वह गुस्से में उसे बुरा कहती है। स्कूल जाकर उसे गालियाँ भी देती है। (पृ. 36)

अपनी बेटियों की चिन्ता करते हुए वह सुयोग्य वर ढूँढकर उनका विवाह करती है। बेटे के लिए सुन्दर-सुशील बहू उर्मिला का चुनाव करती है। बहू को एक बेटी नीलिमा के बाद दूसरी सन्तान न होने पर नाराजगी प्रकट करते हुए रामकिसन को बेटा पाने के लिए दूसरा विवाह करने के लिए कहती है। सामाजिक परम्परा के अनुसार वह पुत्र को महत्त्व देती है मगर रामकिसन के समझाने पर वह अपनी गलती सुधार लेती है।

वाल्मीकि जाति के लोगों से वह अच्छा व्यवहार करती है। धर्मान्धता के विरुद्ध अपनी जानकारी और तर्क के आधार पर अपने विचार भीकू जी को बताते हुए वह कहती है – "शम्बूक को तो भगवान राम ने सिर काटकर मार डाला था।' (पृ. 42) ... चन्दरी बोल पड़ी – "अजी मैं तो यह कह रही थी, अपने पुराने रोजगार-धंधे और छुआछूत से छुटकारा पाने के लिए ऐसे कर्म करने चाहिए जिससे हम मनचाहा पा सकें। जन्म-जन्मान्तर की बातें तो सब झूठी बातें हैं। (पृष्ठ 43)

रामकिसन को नौकरी मिलने की खुशी में वह अपने सभी लोगों को बड़ी पूजा में आने का न्यौता देती है। चन्दरी अपने जाति-समाज के जीवन-स्तर को जानती है। अच्छी परिस्थितियों के अभाव में वह अपने जीवन में बड़े सपने नहीं देख सकी। वह भीकू जी को समझाती है – "सबके घर में मिट्टी के चूल्हे हैं। गरीबी तो जिन्दगी से लगी है। (पृ. 52)

ग्रहण के दान को चन्दरी भीख के समान मानती है और इसका विरोध करती है। (पृ. 58) वह ममतामयी समतावादी और मानवतावादी है। ग्रहण के समय दुलारी घर में अकेली है। डिलीवरी का दर्द होने पर नन्दलाल के बुलाने पर चन्दरी दुलारी के घर जाकर दाईपने का काम करती है, जिससे वाल्मीकि परिवार उसका कृतज्ञ होता है।

शिक्षित नीलिमा की प्रेरणा से चन्दरी भी समाज-जागृति और सामाजिक एकता के कार्य करती है। 14 अप्रैल को 'अम्बेडकर जयन्ती' के कार्यक्रम में चन्दरी बड़े उत्साह से सहयोग करती है। झगड़ा होने पर सबको समझाती है। नीलिमा के साथ वह भी 'महिला मंडल' से जुड़कर महिला-जागृति का काम करती है। (पृ. 97)

वह आकाश को नीलिमा के लिए सुयोग्य वर मानती है। नीलिमा और आकाश का विवाह होने पर चन्दरी भी खुशी में नाचती है। चन्दरी पुरानी पीढ़ी की होकर भी नयी पीढ़ी के साथ परिवर्तन की राह को स्वीकार करती है और अपना यथासम्भव सहयोग देती है।

3.2.07.03. आकाश

दुलारी और नन्दलाल का बेटा आकाश आकर्षक व्यक्तित्व का धनी है। वह बचपन से ही समझदार और शिक्षा पाने का अभिलाषी है। स्कूल में अपने प्रति भेदभाव और अपमान के बाद भी वह अपना ध्यान पढ़ाई-लिखाई पर केन्द्रित रखता है। वह बड़े उत्साह के साथ सामाजिक जागृति के कार्यों में निरत है।

आकाश और नीलिमा एक ही स्कूल में पढ़ते हैं। वे दोनों एक दूसरे को पसंद करते है। आकाश नीलिमा की सुरक्षा और उसके चरित्र की गरिमा का सम्मान करता है। आकाश जानता है कि दलित अछूत होने भी वह और नीलिमा दोनों भिन्न जातियों से सम्बन्धित हैं इसलिए उनके प्रेम को समाज स्वीकार नहीं करेगा। वह अपने प्रेमभाव को मन में ही रखता है।

बी.कॉम. प्रथम वर्ष में पढ़ते समय आकाश अपने जाति-समाज की शोषित और अपमानित स्थिति को देखकर पीड़ा से छटपटा उठता है। कालीचरण मामा का बेटा 'हनुमान दल' में काम करता है। आकाश उसे समझाकर अपने लोगों के लिए काम करने को प्रेरित करता है। वह अपने मामा-मामी, सभी परिचितों और सेवानगर के समस्त लोगों को इस हेतु जाग्रत करता है। आकाश अछूत बच्चों को निःशुल्क पढ़ाता है और उनमें एकता एवं संगठन का भाव जगाता है। 'छात्र संगठन' बनाकर वह विद्यार्थियों का उचित मार्गदर्शन करता है। समाज में व्याप्त दहेजप्रथा और शिक्षा के प्रति अरुचि को बदलकर समाज को प्रगतिशील बनने की राह बताता है। वह अपने माता-पिता को भी सामाजिक कार्यों से जोड़ता है। वह अपने छोटे भाइयों और बहन की पढ़ाई की जिम्मेदारी उठाता है। आकाश के सामाजिक कार्यों को देखकर नीलिमा भी उसका अनुकरण करती है। 14 अप्रैल को 'डॉ० भीमराव अम्बेडकर जयन्ती' कार्यक्रम को सफल बनाने में आकाश अपना पूरा सहयोग देता है।

नीलिमा और आकाश अपने अन्तरजातीय विवाह को बौद्ध पद्धति से करना चाहते हैं। इस पद्धति के विरुद्ध लोगों को समझाकर उन्हें सहमत करता है। विवाह के बाद नीलिमा और आकाश दोनों आजीवन सामाजिक-सेवा के कार्यों में जुड़ना चाहते हैं और इस तरह जनजागरण के कार्य को विस्तार देते हैं।

3.2.07.04. नीलिमा

रामकिसन और उर्मिला की बेटी नीलिमा बहुत सुन्दर और सुशील है। दादा-दादी की लाडली माता-पिता की एकमात्र बेटी सबके अरमानों का केन्द्र बनकर पली है। स्कूल में छुआछूत और जातिभेद के अपमान के बाद भी वह अपनी पढ़ाई जारी रखती है। चपरासी द्वारा ठीक से पानी न पिलाने पर वह कल्पना करती है कि – "वह शिक्षिका बन गई है, तब वह चपरासी को डाँटती है, अछूत बच्चों को कक्षा में सबसे आगे बैठाती है।" वह बहुत जिद्दी है, लगन की पक्की है, पढ़ाई में होशियार है। बचपन में भीकू जी उसे स्कूल छोड़ने जाते हैं। बड़ी होने पर वह साइकिल से अकेली ही जाती है। आकाश उसकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखता है। तिवारी गुरूजी उसे खूब पढ़ने का आर्शीवाद देते हैं। तब वह सोचती है तिवारी गुरूजी उसे अपने हाथों से घड़े का पानी लेने के लिए क्यों नहीं कहते ? क्या उनका आशीर्वाद और शुभचिन्ता दिखावा मात्र है ?

कॉलेज में आने के बाद नीलिमा सभी प्रकार की गतिविधियों में सहभागिता करती है। बी.ए. के बाद एम.ए. करके पी-एच.डी. के लिए रजिस्ट्रेशन कराती है। वह आकाश को पसंद करती है। आकाश की तरह समाज-जागृति और स्त्री-जागृति के काम करती है। वह अपनी दादी कली, दुलारी, बुधिया, कुसुम सभी को जनजागरण की जानकारियाँ देती है। उन्हें महिला मंडल से जोड़कर जनजागृति के काम करती है। अम्बेडकर जयन्ती के समय वह चन्दू चौहान की भ्रान्तियों को दूर कर उसे समझाने में सफल होती है। अपमानित होने पर चन्दरी द्वारा नौकरी छोड़ने पर वह खुश होती है। दुलीचन्द मामा द्वारा सुमेरसिंह को मुँहतोड़ जवाब देना उसे अच्छा लगता है। कली द्वारा वाल्मीकियों से छुआछूत का व्यवहार करना उसे दुःखी कर देता है। वह कली दादी को बहुत समझाती है।

नीलिमा खूब पढ़ना चाहती है । वह बचपन से शिक्षिका बनने का सपना देखती है । अपने कॉलेज की लाइब्रेरी से किताबें लेकर पढ़ती है और अपना ज्ञान बढ़ाती है । नीलिमा के स्वभाव और व्यवहार को देखकर बुधिया और दुलारी उसे बहुत पसंद करती हैं । नीलिमा और आकाश का अन्तरजातीय विवाह बौद्ध पद्धति से सम्पन्न होता है । विरोध होने पर नीलिमा स्वयं डॉ० अम्बेडकर के कार्यों और बौद्धधर्म के मानवतावादी पक्ष को सबके समक्ष प्रकट करती है । सभी उससे प्रभावित होते हैं । कालीचरण, नन्दलाल और चन्दू चौहान उसकी प्रशंसा करते हैं । आकाश के साथ विवाह-बन्धन में बँधते समय भी वह दलित-पिछड़े समाज और स्त्री-मुक्ति के उत्थान हेतु सतत प्रयत्नशील रहने का दृढ़ निश्चय करती है और सामाजिक एकता का सेतु बनती है ।

3.2.07.05. रामकिसन

भीकू जी के घर बेटा पैदा होने पर उनके मन में कई सपने जाग उठते हैं । वे सोचते हैं – "मेरा बेटा बाजा नहीं बजाएगा, मेरा बेटा खूब पढ़ेगा, अच्छी नौकरी करेगा ।" (पृ. 22) इकलौटा छोटा बेटा होने के कारण रामकिसन को परिवार में सभी लोग बहुत प्यार-दुलार करते हैं । बचपन से वह नदी किनारे पेड़ की डाल पर बैठकर मधुर स्वर में बाँसुरी बजाता है जिसे सुनकर भीकू जी खुश होते हैं । बचपन से ही उसे अच्छे संस्कार मिले हैं । घर में रूखी-सूखी रोटी खाकर भी वह हमेशा खुश रहता है । जातिभेद और छुआछूत के कारण रामकिसन अकेला ही खेलता और बाँसुरी बजाता है । "रामकिसन और कहाँ जाए ? स्कूल में साथ पढ़ने वाले बच्चे उसके साथ नहीं खेलते । गाँव में भी उसका कोई मित्र नहीं है । गाँव के सवर्ण लड़के उससे छुआछूत मानते हुए अपमानित करते हैं ।" (पृ. 39) ... रामकिसन को स्कूल में आठवीं कक्षा में बार-बार फेल किया जाता है जिससे हताश होकर वह स्कूल जाना छोड़ देता है और अपने पैतृक रोजगार करने लगता है ।" (पृ. 39-40)

बैंक में सफाईकर्मी की नौकरी मिलने के बाद रामकिसन घर में आर्थिक सहयोग करता है और अपनी बहनों की शादी के खर्च में हाथ बँटाता है । रामकिसन की शादी कामठी की पाँचवीं कक्षा पास उर्मिला से होती है । एक बेटी के बाद वे 'फेमिली प्लानिंग' कर लेते हैं और अपनी इकलौती बेटी नीलिमा को सुख-सुविधा से पालकर उसे उच्च शिक्षा के अवसर सुलभ करवाते हैं ।

रामकिसन अपने पिता के साथ समाज-जागृति के काम में भी बड़े उत्साह के साथ जुड़ता है । सेवानगर में आयोजित 'अम्बेडकर जयन्ती' कार्यक्रम में अपना योगदान देकर कार्यक्रम को सफल बनाने में सहयोग करता है । 'अम्बेडकर जयन्ती' का विरोध करने वाले गंगाराम बनसोडे को डॉ० अम्बेडकर के व्यक्तित्व और कृतित्व का महत्त्व समझाता है । वह चन्दू चौहान को समझाने के लिए पूछता है – "भैया चन्दू जी, भगवान वाल्मीकि जी आपके कौन हैं ?" (पृ. 84) ... रामकिसन फूलचन्द राठौर से कहता है – "मैं क्रान्ति के जनक लहू जी सालवे को अपना गुरु मानता हूँ । उन्होंने 'फकीरा' उपन्यास में कहा है – सौ दिन बकरी की तरह जीने की अपेक्षा एक दिन शेर बनकर जीना अच्छा है ।" (पृ. 88)

रामकिसन बेटी नीलिमा के लिए योग्य वर ढूँढता है मगर अपनी बेटी के लिए उसे आकाश से बढ़कर अच्छा लड़का कोई नहीं लगता। वह आकाश को नीलिमा के योग्य मानकर इस रिश्ते को स्वीकार करता है। विवाह मंडप में नीलिमा-आकाश का विवाह बौद्ध पद्धति से किये जाने का विरोध होता है तब रामकिसन कहता है – "मेरी बेटी लाखों में एक है। वह सबल और सक्षम है।" (पृ. 104) नीलिमा और आकाश का विवाह सम्पन्न होने पर रामकिसन खुशी में फूला नहीं समाता। रामकिसन का चरित्र प्रेम, अपनापन और भ्रातृत्व भाव का अनुपम उदाहरण है।

3.2.07.06. उर्मिला

रामकिसन की पत्नी उर्मिला उपन्यास में सहायक पात्र है। विवाह के बाद वह रामकिसन के घर-परिवार को अपनी कार्य-कुशलता और हँसमुख-मधुर व्यवहार से संभाल लेती है। नीलिमा के जन्म के बाद वह एक बच्चे के बाद ही 'फेमिली प्लानिंग' कराने के लिए सहमत हो जाती है। वह एक आदर्श पत्नी, आदर्श बहू, आदर्श माँ और सक्रिय सामाजिक-कार्यकर्त्ता है।

नीलिमा की प्रेरणा से वह सेवानगर की प्रौढ़ महिलाओं को अक्षरज्ञान कराती है और सामाजिक-जागृति के कार्यक्रमों में सहयोग करती है। नीलिमा के साथ 'महिला मंडल' में सक्रिय रहकर महिला-जागृति के काम करती है। 'अम्बेडकर जयन्ती' के अवसर पर बड़े उत्साह से उपस्थित रहती है। नीलिमा का आकाश से अन्तरजातीय विवाह करने में अपनी सहमति देती है। वह बौद्ध पद्धति से विवाह किये जाने के सम्बन्ध में भी सहमत होकर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देती है।

3.2.07.07. बुधिया

बुधिया कालीचरण की पत्नी है। वह घर की बड़ी बहू है। उसने प्रेम, विश्वास और युक्ति के साथ पूरे परिवार को एक सूत्र में बाँधा है। सास की जगह अब वह गाँव में सफाई का काम करती है। घर-परिवार के भोजन-पानी का इन्तजाम भी वही करती है। कैलास को शिक्षक ने बहुत पीटा था तब बुधिया बेटे की चोट पर तेल हल्दी लगाते हुए दुष्ट शिक्षकों को कोसती है। मातंग जाति की कली वाल्मीकियों से छुआछूत का व्यवहार करती है, यह देख बुधिया उसे समझाती है। "जो हमसे छुआछूत मानते हैं, उनसे जाकर लड़ो। हम तो सब एक जैसे लोग हैं। सेवानगर की बुधिया बड़ी समझदार है। चन्दरी उसे भाभी कहती है। चन्दरी की देखा-देखी कली भी उसे भाभी कहती है।" (पृ. 77)

बुधिया को नीलिमा अच्छी लगती है। वह उसकी और आकाश की बात मानकर सामाजिक जागृति के कार्यों से सक्रिय तौर पर जुड़ गई है। 'महिला मंडल' के साथ रहकर वह महिला जाग्रति के कार्य करती है। 'अम्बेडकर जयन्ती' के समय दुलारी से कहकर नन्दलाल मेघवाल को वहाँ से बुलवा लेती है। जयन्ती कार्यक्रम में घूँघट लेने पर उसे स्वयं पर शर्म आती है और वह अपना घूँघट हटा देती है। वह नीलिमा और आकाश के हर

रचनात्मक कार्य में उनका सहयोग करती है। उनके विवाह के अवसर पर वह हर्षोन्मत्त होकर खुशी से नाचती है। सामाजिक एकता और जागृति में अपना सम्पूर्ण योगदान देने वाली बुधिया उपन्यास का एक सशक्त चरित्र है।

3.2.07.08. सुगिया

सुगिया कालीचरण की माँ है। उसके आठ बेटे और एक बेटी है। पति की मृत्यु के बाद उसके बड़े बेटे कालीचरण और बहू बुधिया ने घर और गाँव के काम की जिम्मेदारी संभाल ली है। सुगिया अपनी बेटी दुलारी का विवाह दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही कर देना चाहती है क्योंकि प्रायः उसने देखा है कि गाँव के दबंग जाति के दुष्ट लोग उसकी बेटी पर बुरी नजर रखने लगे हैं। यह बात वह अपने बेटों को नहीं बताती क्योंकि उसे भय है कि कहीं वे उनसे झगड़ा न कर लें। वह अपने बेटे चन्दू की पत्नी के आत्महत्या करने के बाद उसकी याद में दुःखी रहने लगती है। दुःख ही दुःख में धीरे-धीरे बीमार हो जाती है और अन्ततः उसका निधन हो जाता है।

3.2.07.09. कालीचरण

कालीचरण सेवानगर में अपनी माँ सुगिया और सात भाइयों के साथ रहता है। कालीचरण समझदार भी है और गुस्सैल भी। वह पिता की तरह अपने सभी भाइयों और बहन दुलारी का ख्याल रखता है। बेटे का जन्म होने के बाद कैलाश को पढ़ाना चाहता है, मगर स्कूल में शिक्षकों की उपेक्षा और मारपीट के कारण कैलाश की पढ़ाई छूट जाती है। गुस्से में आकार कालीचरण शिक्षकों से लड़ने चला जाता है।

कालीचरण को इस बात का दुःख है कि मांग-मातंग जाति के लोगों ने हमारे रोजगार अपनाकर हमारे लोगों को बेरोजगार कर दिया है। इस बात की शिकायत वह लोकनाथ मेश्राम से करता है। कालीचरण का अधिकांश समय कन्हान गाँव में घूमने-फिरने में जाता है। वह वाल्मीकि जयन्ती मनाने की तैयारी करता है। इसी बीच अम्बेडकर जयन्ती मनाने की बात पर कालीचरण पहले विरोध करता है किन्तु समझाने पर सहमत भी हो जाता है। बहन के बेटे आकाश की प्रेरणा से वह भी समाज-सुधार के कार्यों से जुड़ता है।

कालीचरण आकाश के लिए नीलिमा को पसंद करता है। मगर उनका विवाह बौद्ध पद्धति से किए जाने का विरोध करता है। यहाँ भी आकाश और नीलिमा के समझाने पर बाद में वह मान जाता है। विवाह सम्पन्न होने की खुशी में वह हर्ष के साथ बाजा बजाता है। कालीचरण सबसे प्रेमभाव और भाईचारे का व्यवहार करता है। उपन्यास में कालीचरण एक दबंग व्यक्तित्व है किन्तु शिक्षा, ज्ञान, नौकरी और धन के अभाव में वह अभावपूर्ण और शोषित जीवन जीता है।

3.2.07.10. चन्दू चौहान

चन्दू चौहान कालीचरण का छोटा भाई है। उसका वास्तविक नाम चन्दन है लेकिन सब लोग उसे चन्दू पहलवान कहकर बुलाते हैं। वह अशिक्षित और अज्ञानी है। महर्षि वाल्मीकि के प्रति चन्दू पहलवान की अगाध

श्रद्धा है। 'अम्बेडकर जयन्ती' के समय उसके चरित्र का पूर्ण विकास दिखाई देता है। वह जिद्दी और दृढ़निश्चयी है किन्तु 'अम्बेडकर जयन्ती' के विरोध के समय आकाश और नीलिमा के समझाने पर वह जल्दी ही समझ जाता है। सन्तान न होने पर उसकी पत्नी सावित्री जलकर आत्महत्या कर लेती है तब वह दुबारा शादी न करने का निश्चय कर लेता है। चन्दू चौहान आकाश के साथ समाज-सेवा में जुट जाता है। अन्तरजातीय विवाह होने पर भी आकाश और नीलिमा के विवाह के प्रति उसका समर्थन है। उपन्यास में चन्दू चौहान जिज्ञासु चरित्र है। अम्बेडकर जयन्ती के अवसर पर वह पूछता है – "डॉ॰ अम्बेडकर ने हमारे लिए क्या किया ?"

3.2.07.11. कैलाश

कालीचरण का बेटा कैलाश जातिवादी शिक्षकों के कारण शिक्षा से वंचित रह जाता है। वह 'हनुमान दल' के लिए बढ़-चढ़ कर कार्य करता है। वहाँ भेदभाव और अपमान महसूस करने के बाद अपने दलित-पिछड़े समाज के उन्नयन के लिए काम करने में प्रवृत्त होता है। आकाश उसे सही मार्ग बताता है। पहले वह पत्नी और परिवार के लिए गैर-जिम्मेदार था लेकिन बाद में अपने बच्चों को पढ़ाने और स्वयं भी पढ़ने की बात सोचता है।

3.2.07.12. सीता, राधा, लक्ष्मी एवं पार्वती

भीकू जी और चन्दरी की बेटियाँ सीता, राधा, लक्ष्मी और पार्वती माता-पिता के साथ सेवानगर में रहती हैं। गुरुजी की उपेक्षा और अपमान के कारण वे शिक्षा से वंचित रह जाती हैं इसलिए घर में ही रहकर घर के कामकाज में माँ का हाथ बँटाती हैं। विवाह उपरान्त वे ससुराल में रहती हैं। वहाँ नौकरी और पैतृक रोजगार करके घर-खर्च उठाने में सहयोग करती हैं। वे नीलिमा को बहुत लाड़-प्यार करती हैं। नीलिमा और आकाश का विवाह होने पर वे बहुत प्रसन्नता के साथ नाचती हैं।

3.2.07.13. दुलीचन्द

दुलीचन्द उर्मिला का भाई और नीलिमा का मामा है। कामठी का सुमेरसिंह लाठी से डरा-धमका कर दुलीचन्द को बाजा बजाने के लिए अपने घर ले जाना चाहता है। जब सुमेरसिंह दुलीचन्द को बहन की गाली देता है तब दुलीचन्द क्रोधित हो उठता है। वह सुमेरसिंह का डटकर मुकाबला करता है। सुमेरसिंह उसे आश्चर्य से देखता रह जाता है।

3.2.07.14. दुलारी एवं नन्दलाल

दुलारी सुगिया की बेटी और कालीचरण की बहन है। वह दस-ग्यारह वर्ष की थी तभी से उसकी माँ उसके विवाह की चिन्ता करने लगी। नन्दलाल मेघवाल के साथ उसका विवाह कर दिया जाता है। बेरोजगार नन्दलाल ससुराल कन्हान के सेवानगर में एक अलग घर बनाकर रहने लगा। वह मजदूरी करके परिवार का पालन करता है।

दुलारी के तीन बेटे और एक बेटी है। सभी अच्छी शिक्षा पाते हैं। बड़ा बेटा आकाश एम.कॉम. के बाद सी.ए. की पदवी प्राप्त करता है। बेटे के प्रोत्साहन से दुलारी भी समाज-जागृति के कामों में बढ़-चढ़ कर सहयोग करती है।

नन्दलाल महर्षि वाल्मीकि के प्रति निष्ठावान है। वह अम्बेडकर जयन्ती का विरोध करता है। बुधिया के कहने पर दुलारी नन्दलाल को वहाँ से बुला ले जाती है। नन्दलाल एक अच्छा पति और अच्छा पिता है। वह मेहनती और स्वाभिमानी है। दुलारी और नन्दलाल अपने पुत्र आकाश के बौद्ध पद्धति से अन्तरजातीय विवाह करने के निर्णय को स्वीकार करते हैं।

3.2.07.15. कली

कली गंगाराम की पत्नी और सीताराम की माँ है। लड़ाकू स्वभाव के कारण सब उसे कलिया कहते हैं। वह पहले अपनी बहू रामबाई को अपने बेटे से पिटवाती थी। बाद में नीलिमा की प्रेरणा से सुधरकर बहू की पक्षधार हो जाती है। पहले वह वाल्मीकि लोगों से छुआछूत मानती थी लेकिन नीलिमा के समझाने पर अब वह जातिभेद भूलकर प्रेम और एकता से रहती है। नीलिमा के 'महिला मंडल' से जुड़कर वह बुधिया और चन्दरी के साथ-साथ समाज-जागृति और महिला-सशक्तीकरण के कार्यों में सक्रिय है। (पृ. 97) वह 'अम्बेडकर जयन्ती' कार्यक्रम में उत्साहपूर्वक उपस्थित रहती है। नीलिमा द्वारा अन्तरजातीय एवं बौद्ध पद्धति से विवाह करने के निर्णय में वह अपना समर्थन देती है और विवाह की खुशी में प्रसन्नतापूर्वक नाचती है।

3.2.07.16. सीताराम एवं गंगाराम

गंगाराम का बेटा सीताराम पहले अपनी पत्नी रामबाई को बहुत मारता-पीटता था। बाद में नीलिमा द्वारा महिला-जागृति के प्रयासों से वह सुधर जाता है। आकाश की मदद से वह ऑटो चलाने का काम शुरू करता है।

गंगाराम अपने घर का प्रमुख है। वह अपने बेटे और पत्नी कलिया को सुधार नहीं पाता। वह पहले 'अम्बेडकर जयन्ती' का विरोध करता है किन्तु बाद में समझाने पर सहमत होता है। वह पहले परम्परावादी था किन्तु बाद में आकाश और भीकू जी से प्रेरित होकर प्रगतिवादी बन जाता है।

3.2.07.17. लोकनाथ मेश्राम

सेवानगर में लोकनाथ मेश्राम का घर अन्य लोगों के घरों से सुन्दर, साफ-सुथरा और सुव्यवस्थित है। उनका बेटा यशवन्त नागपुर में 'भारतीय जीवन बीमा निगम' में नौकरी करता है। लोकनाथ अपने बेटे के साथ नागपुर में रहते हैं। कभी-कभार ही कन्हान में सेवानगर आते हैं। रेलवे में खलासी की नौकरी से सेवानिवृत्त लोकनाथ स्वयं को मांग और वाल्मीकियों से श्रेष्ठ और समझदार मानते हैं। वे कालीचरण, आकाश और अन्य सभी को व्यंग्य के साथ देखकर मुस्कराते हैं – "ये लोग क्या कभी सुधरेंगे ?"

3.2.08. 'नीला आकाश' उपन्यास का शिल्प-सौन्दर्य

'नीला आकाश' उपन्यास आकार में छोटा है मगर बहुत ही सारगर्भित है। इसे बिहारी के काव्य की भाँति 'गागर में सागर' कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसमें सामाजिक-सुधार के अनेक मुद्दों एवं ज्वलन्त मसलों को सहज एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रसिद्ध समीक्षक फारूक शाह के शब्दों में "उपन्यास का कथाक्रम, कथन की तकनीक, भाषा-ग्रंथन और शिल्प सभी सन्तुलित हैं। साहित्य में पीड़ित समुदायों की यातनाओं को प्रस्तुत कर मानवमुक्ति की सम्भावनाओं को तलाशा जा रहा है।" उपन्यास की कथा देश और काल के अनुरूप है। 'नीला आकाश' यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास है। इसमें सम-सामायिक तथ्यों का यथार्थपरक चित्रण किया गया है। उपन्यास में प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण के प्रति चिन्ता और पशु-पक्षियों के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। भारतीय संस्कृति में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों और रूढ़ियों को दूर कर समतावादी समाज की स्थापना करने का प्रयास इस उपन्यास का अपना वैशिष्ट्य है।

यह उपन्यास वाल्मीकि तथा मातंग जैसे अत्यन्त उपेक्षित समुदायों के अस्तित्व-संघर्ष को रेखांकित करता है। डॉ॰ सुरेश मुळे के शब्दों में " 'नीला आकाश' दलित साहित्य के तत्त्वों के आधार पर खरा उतरता है। ... इसमें दलित एकता की भावना लाने के सम्पूर्ण गुण दिखाई देते हैं।" (पृष्ठ 107) रंगकर्मी एवं समीक्षक शाम कुमार कहते हैं – "इस उपन्यास पर ढाई घंटे का मंचन करना चाहता हूँ। उपन्यास पढ़ते समय जिज्ञासा और एकाग्रता बनी रहती है। भाषा, डायलॉग अच्छे हैं। (पृष्ठ 108) डॉ॰ मनोहर भंडारे लिखते हैं – "इस उपन्यास का कथ्य और शिल्प पाठकों को आकर्षित करता है। उपन्यास का शीर्षक कथा के साथ पूर्ण रूप से जुड़ा है, इस कारण अधिक सार्थक लगता है। दलित उपन्यास में दलित महिला को पूरा न्याय दिया गया है। (पृष्ठ 108) केरल के डॉ॰ प्रमोद कोवप्रत के शब्दों में " 'नीला आकाश' दलित जीवन के कठोर यथार्थ का जीवन्त दस्तावेज है जो अतीत, वर्तमान और भविष्य की आशाओं-आकाक्षांओं को व्यक्त करता है। यहाँ दलितों के पूरे परिवेश का 'लाइव शो' प्रस्तुत किया गया है।"

दलित साहित्य में शिल्प और सौन्दर्य की अपेक्षा कथ्य की प्रामाणिकता और उसके होने वाले प्रभाव को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यहाँ भाषा को सौन्दर्य से पूर्ण नहीं बल्कि प्रहारात्मक और प्रभावकारी रूप में उत्तम माना जाता है। इस दृष्टि से 'नीला आकश' उपन्यास की कथावस्तु भाषा और शिल्प प्रशंसनीय है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि यहाँ दलित समुदायों के आपसी भेदभाव को उद्घाटित किया गया है। शिक्षा के क्षेत्र में किए जा रहे भेदभाव, अन्याय, अत्याचारों को उजागर किया गया है। भीकू जी, चन्दरी, आकाश और नीलिमा के माध्यम से दलितों की पीड़ा, संघर्ष और सफलताओं को चित्रित किया गया है। 'नीला आकाश' दलित जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है। यह समाज को सन्देश देने वाला उपन्यास है। यह डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक जागृति के आन्दोलन की विचारधारा को जन-जन तक पहुँचाने वाला उद्देश्य प्रधान उपन्यास है। उपन्यास की भाषा सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त शब्दों से युक्त है। यहाँ ध्यातव्य है कि उपन्यासकार ने परिवेशगत भाषा का प्रयोग बहुत सोच-समझ कर किया है। यथास्थान मुहावरों का भी समुचित प्रयोग हुआ है।

3.2.09. पाठ-सार

'नीला आकाश' दलित विमर्शमूलक उपन्यास है। यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ विश्लेषण करता है। इसमें भीकू जी, चन्दरी आदि पात्रों की कथा-योजना के माध्यम से स्वतन्त्रता के बाद बीसवीं शताब्दी के दलित जीवन की समस्याओं और विडम्बनाओं का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र आकाश और नीलिमा नयी पीढ़ी के ऊर्जावान प्रतिनिधि हैं जिनके माध्यम से इक्कीसवीं शताब्दी में दलित जीवन की समस्याओं को उद्घाटित करते हुए उनके निराकरण के उपाय भी बताए गए हैं। वास्तव में आज़ादी के सात दशकों बाद भी दलित-पिछड़ो के जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। अभी भी दलित-विरोध और दलित-शोषण की घटनाएँ उसी प्रकार घटित होती रहती हैं। जातिभेद और छुआछूत की भावना समाज की मानसिकता में अभी भी व्याप्त है। सवर्णवादी सोच के लोग अभी भी नहीं चाहते कि – "अछूत जाति के बच्चे उच्च शिक्षा प्राप्त करें। अपने सेवानगर में शेर की तरह दहाड़ने वाले कालीचरण और चन्दू चौहान जातिभेद, अपमान और अत्याचार के डर से सवर्णों के सामने डरे-सहमे रहते हैं।" (पृ. 70) उपन्यास के प्रमुख पात्र आकाश और नीलिमा सामाजिक-जागृति में जुटे हैं। उपन्यास का नायक आकाश 'मातंग समाज जागृति मित्र मंडल' संस्था का नाम बदलकर सर्वसम्मति से नाम रखता है – 'दलित समाज जागृति मित्र मंडल'। माने अब यह संस्था केवल मातंग समाज तक सीमित नहीं है बल्कि वाल्मीकि, चमार, नवबौद्ध, महार, मांग, बसोर, खटीक, पासी सभी दलित पिछड़ी जातियों के लिए काम करती है। इस प्रसंग के माध्यम से उपन्यासकार ने दलित जातियों की आपसी एकता की आवश्यकता पर बल देने का प्रयास किया है। उपन्यास का नायक आकाश महाराष्ट्र की 'डॉ० भीमराव अम्बेडकर समाज कल्याण संस्था' जैसी अनेक संस्थाओं की सरकारी योजनाओं का लाभ अपने दलित पिछड़ी जाति के युवा वर्ग को पहुँचाता है जिसके फलस्वरूप कैलाश और सीताराम बेरोजगार रहने की अपेक्षा ऑटो चलाने का व्यवसाय अपनाते हैं। पढे-लिखे दलित युवक-युवतियों को अपने समाज के अन्य लोगों के उत्थान हेतु प्रेरित करना, दलित पिछड़े वर्ग के जीवनस्तर में सुधार लाना और उनकी जीवन-समस्याओं का निदान सुझाना इस उपन्यास के अंतर्निहित लक्ष्य हैं। उपन्यास के माध्यम से यह सन्देश प्रसारित किया गया है कि अन्तरजातीय विवाह सामाजिक एकता, समता और बन्धुत्व भाव के लिए आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

3.2.10. बोध प्रश्न

1. 'नीला आकाश' की कथावस्तु को संक्षेप में लिखिए।
2. 'नीला आकाश' शीर्षक की सार्थकता बताइए।
3. भीकू जी और चन्दरी के जीवन की व्यथा को संक्षेप में लिखिए।
4. सामाजिक उन्नयन के लिए आकाश और नीलिमा द्वारा किए गए प्रयासों को सूचीबद्ध कीजिए।
5. 'नीला आकाश' उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट कीजिए।
6. उपन्यास के किस पात्र ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया है ? उस पात्र की चारित्रिक विशिष्टताएँ उद्घाटित कीजिए।
7. जातिविहीन समाज की स्थापना में अन्तरजातीय विवाह का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।

3.2.11. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. 'नीला आकाश' उपन्यास पढ़ने के उपरान्त अन्य दलित उपन्यासों का भी अध्ययन कीजिए और उनका तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
2. प्रमुख दलित आन्दोलनों की जानकारी जुटाइए और उन्हें अपने आस-पास के उन वंचित तबकों तक पहुँचाइए जो आज तक शोषित और अभावग्रस्त जीने को अभिशप्त हैं। उक्त उद्देश्य से अपने द्वारा किए गए जन-जागृति के कार्यों की सूची बनाकर एक रिपोर्ट तैयार कीजिए।

3.2.12. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. नीला आकाश, सुशीला टाकभौरे, प्रकाशक – विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर
2. दलित लेखन में स्त्री चेतना की दस्तक, सम्पादक – शिवरानी पुहाल, प्रकाशक – शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली
3. युद्धरत आम आदमी' का दलित विशेषांक (मलमूत्र ढोता भारत), सम्पादक – रमणिका गुप्ता, अतिथि सम्पादक – सुशीला टाकभौरे, प्रकाशक – शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली
4. दलित दर्शन, सम्पादक – रमणिका गुप्ता, ज्ञानसिंह बल, प्रकाशक – नेहा प्रकाशन, दिल्ली

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : उपन्यास

इकाई – 3 : जंगल के गीत – पीटर पौल एक्का एस. जे.

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य कथन
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. आदिवासी अवधारणा
3.3.3. जंगल के गीत : सांस्कृतिक सन्दर्भ
3.3.4. जंगल के गीत : सामाजिक सन्दर्भ
    3.3.4.1. प्रशासनिक व्यवस्था और आदिवासी दृष्टिकोण
3.3.5. उलगुलान : आदिवासी प्रतिरोध
3.3.6. जंगल के गीत : संरचना-शिल्प
    3.3.6.1. कथावस्तु
    3.3.6.2. पात्र-योजना
    3.3.6.3. प्रकृति-चित्रण
    3.3.6.4. भाषा-शैली
3.3.7. पाठ सार
3.3.8. बोध प्रश्न
3.3.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.2.0. उद्देश्य कथन

पीटर पॉल एक्का-कृत 'जंगल के गीत' उपन्यास झारखण्ड के आदिवासी जीवन पर केन्द्रित है । इस उपन्यास में आदिवासी समाज की सांस्कृतिक विशिष्टताओं के साथ उनकी समस्याओं को भी देखने की कोशिश की गई है । इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. 'आदिवासी' होने का अर्थ तथा आदिवासियों के प्रति मुख्यधारा की मानसिकता को समझ सकेंगे ।
ii. 'जंगल के गीत' में अभिव्यक्त आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था को जान सकेंगे ।
iii. आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति और महत्त्व को समझ सकेंगे ।
iv. बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' से परिचित हो सकेंगे ।
v. 'जंगल के गीत' में अभिव्यक्त आदिवासियों के संघर्ष को समझ पाएँगे ।
vi. 'जंगल के गीत' उपन्यास की संरचना और शिल्प से परिचित हो सकेंगे ।

3.2.1. प्रस्तावना

पीटर पॉल एक्का का जन्म झारखण्ड में हुआ इसीलिए यहाँ की प्रकृति, जंगल एवं ज़मीन से उनका आत्मीय रिश्ता है । उन्होंने यहाँ के जीवन और प्रकृति को बदलते एवं जंगल को नष्ट होते देखा है इसलिए आदिवासी सम्वेदना के धरातल पर आधारित उनका उपन्यास ‘जंगल के गीत’ अपनी ज़मीन, अपना घर, अपने होने का अर्थ तलाशती आदिवासियत की सच्ची दास्तान है। कथानक के रूप में लेखक ने आजादी से पहले के छोटानागपुर पठार के उरांव आदिवासी समाज के रहन-सहन, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, श्रम-उत्सव के साथ-साथ अंग्रेजों, ज़मींदारों और साहूकारों द्वारा आदिवासियों के शोषण तथा संघर्ष एवं आजादी के बाद पूँजीवादी विकास के बरअक्स आदिवासी जीवन में आए बदलाव को बिना किसी लाग-लपेट के सहज रूप में दिखाने की कोशिश की है। प्रस्तुत पाठ में आप आदिवासी-जीवन के सौन्दर्य और अपने अस्तित्व को बचाने के संघर्ष के सन्दर्भ में ‘जंगल के गीत’ का अध्ययन करेंगे।

3.2.2. आदिवासी अवधारणा

‘आदिवासी’ शब्द दो शब्दों ‘आदि’ और ‘वासी’ से मिलकर बना है जिसका अर्थ है – ‘आदिकाल से वास करने वाला’ यानी ‘मूल निवासी’। दरअसल आदिवासी देश के वे प्राचीनतम निवासी हैं जो आदिम समय से किसी ख़ास भौगोलिक परिवेश में अपनी आदिम सांस्कृतिक विशिष्ठता के साथ जंगलों-पहाड़ों में निवास करते हैं। प्रकृति के बीच, प्रकृति के साथ रहकर जीवन जीने वाला यह समुदाय बाजारू संस्कृति से दूर अपना परम्परागत जीवन जीता है। मौजूदा समय में तथाकथित मुख्यधारा के लोगों का नजरिया आदिवासियों के प्रति नकारात्मक रहा है। यही कारण है कि मुख्यधारा का समाज आदिवासियों को असभ्य, जंगली, बर्बर और पिछड़ा कहता है। मुख्यधारा के समाज में आदिवासियों को सम्बोधित करने के लिए प्रचलित शब्द हैं – ‘ट्राइब’, सेवेज’(जंगली), ‘बर्बर’, ‘जनजाति’, ‘गिरिजन’। इन सभी शब्दों में अपना अलग-अलग सामाजिक और राजनैतिक अर्थ निहित है। “ ‘ट्राइब’ पद का पश्चिम में स्वीकृत अर्थ जंगली और बर्बर समूह है जो आदिम अवस्थाओं में रह रहे हैं।” (आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगासहाय मीणा, पृष्ठ 22) ‘बर्बर’ शब्द का प्रयोग नृशंस, निर्दयी, उज्जड और हिंसक के अर्थ में किया जाता है।

वस्तुतः आदिवासी समाज प्रकृतिजीवी समाज है। आदिवासियों ने प्रकृति के साथ सहजीविता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए समानता, सामूहिकता, सहअस्तित्व के दर्शन से परिचालित अपनी सभ्यता का विकास किया। मुख्यधारा की तरह प्रकृति पर वर्चस्व स्थापित करने की मंशा उनकी कभी नहीं रही। इस सन्दर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं – “अपने समूह और समाज से जुड़कर प्रकृति का साथी बनकर जीना उसकी शैली और स्वभाव रहा है। वह प्रकृति से संवाद करता चलता है, उसका सहयात्री है, उसको गाय की तरह वह पोसता और दुहता है। कब्जे में लाने का कभी भी उसका लक्ष्य नहीं रहा। ... ज़रूरत भर उससे लेता है पर बदले में देता भी है अपना प्यार, अपनी देख-रेख और अपनी सम्वेदना।” (आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृष्ठ 8) जो समाज प्रकृति को ही अपना सब कुछ मानकर उससे तादात्म्य स्थापित कर जीवन जीता है, उसे बर्बर, हिंसक अथवा

असभ्य कहा जाना किसी भी दृष्टि से भी उचित नहीं है। इसीलिए 'ट्राइब' शब्द का प्रयोग आदिवासियों के लिए तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यह शब्द आदिवासियों के किसी भी गुण को व्यंजित नहीं करता है।

इसी तरह भारतीय संविधान की पाँचवीं अनुसूची में आदिवासियों के लिए 'जनजाति' पद का प्रयोग किया गया है। किन्तु यह 'जनजाति' पद भी आदिवासी समाज की आन्तरिक संरचना के अनुकूल नहीं है क्योंकि 'जनजाति' पद में निहित 'जाति' शब्द जाति-व्यवस्था का द्योतक है जबकि आदिवासी समाज में जाति-व्यवस्था है ही नहीं ! जाति-व्यवस्था गैर-आदिवासी समाज यानी हिन्दू समाज द्वारा पालित-पोषित है और यही कारण है कि हिन्दू समाज ऊँच-नीच, छुआछूत के भेदभाव से ग्रसित है। लेकिन आदिवासियों की सामाजिक संरचना का आधार 'जाति' न होकर के सहजीविता व सहअस्तित्व है इसलिए आदिवासियों के लिए 'जनजाति' संज्ञा किसी भी रूप में तर्कसंगत नहीं है।

युद्ध की विभीषिका, आक्रमणकारी बाहरी जातियों से आत्मरक्षार्थ तथा शान्ति से जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से आदिवासियों ने जंगलों की ओर पलायन किया तथा इन जंगलों में ही अपनी बस्तियाँ विकसित कीं। आदिवासियों द्वारा जंगलों में प्राकृतिक रूप से निवास करने और कंद-मूल, फल-फूल आदि को आहार रूप में ग्रहण करने के कारण मुख्यधारा के लोग इन्हें 'जंगली' कहते हैं। ध्यातव्य है कि आदिवासी जिस परिवेश में रहते हैं वह परिवेश जंगलों-पहाड़ों के मध्य स्थित है तब यह स्वाभाविक है कि वे अपने जीवन-यापन के लिए जंगलों-पहाड़ों में उत्पन्न होने वाले कंद-मूल, फल-फूल का ही सेवन करेंगे।

आदिवासियों की अपनी उन्नत कृषि व्यवस्था है जिसमें खेती की ज़मीन की प्राकृतिक स्थिति को बिना कोई नुकसान पहुँचाए वे अपनी आवश्यकता भर खेती करते हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है – "उत्तर भारत की आर्य भाषावली जातियों ने चावल की खेती करना मुंडा जातियों से सीखा था।" (झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, पृष्ठ 251) मुंडा एक आदिवासी समुदाय है। जब आर्य जातियों ने आदिवासियों से कृषि करना सीखा था तो स्पष्ट है कि आर्यों के आगमन से बहुत पहले से ही आदिवासी समाज में कृषि व्यवस्था मौजूद रही है। इसकी प्रमाण मुंडा समाज में गाये जाने वाले गीतों में भी मिलता है –

मुंडा को हिजु: लेना
मुंडा को बसा जना
ने दिसुम बोरोवनगी तइकेन रे
ने दिसुम अकांदल टोनंग तइकेन रे
मुंडा को चोपा केदा
मुंडा को सियु: चलु केदा
जेतय मडन्न काको तईकेन रे।

अर्थात् मुंडा आए, मुंडा बसे, तब यह देश घने जंगलों से भरा, बहुत डरावना था, जंगल साफ़ किया, खेत बनाए, हल जोतना शुरू किया, तब और कोई नहीं था।

आदिवासी समाज जंगलों के मध्य रहते हुए कृषि-कर्म कर रहा है और प्रकृति के साथ सामंजस्य बना कर रह रहा है तब ऐसे में किसी भी आधार पर आदिवासियों को जंगली, पिछड़ा और असभ्य नहीं माना जा सकता। वास्तव में आदिवासी समुदाय से ही हमारी सभ्यता और संस्कृति का प्रादुर्भाव माना जाना चाहिए क्योंकि "सभ्यता और संस्कृति मानव-समाज के इतिहास में कृषि-व्यवस्था से आरम्भ होती है।" (झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, पृष्ठ 251)

सर्वविदित है कि अंग्रेजों के विरुद्ध सबसे पहले लड़ाई आदिवासियों ने लड़ी थी और वह लड़ाई 'ज़मीन' के लिए लड़ी गई थी। भारत में सन् 1766 ई. के पहाड़िया आन्दोलन से लेकर चेरो आन्दोलन (1795-1800 ई.), चोआड़ आन्दोलन, भूमिज आन्दोलन (1834 ई.), कोल आन्दोलन, हो आन्दोलन, संथाल हूल आन्दोलन (1855 ई.), मुंडा आन्दोलन, भील आन्दोलन और 1910 ई. के टाना-भगत आन्दोलन तक सबके केन्द्र में आदिवासियों की 'ज़मीन' थी जिस पर उनकी कृषि-व्यवस्था, रीति-रिवाज, सामाजिक-प्रशासनिक व्यवस्था तथा स्वतन्त्र दुनिया आधारित थी। जो आदिवासी समाज सैकड़ों वर्षों से अपनी 'ज़मीन' के लिए लड़ रहा है, आजादी के लड़ रहा है, अपना अस्तित्व और अस्मिता बचाने के लड़ रहा है उसे जंगली या असभ्य नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि आदिवासियों के प्रति जो असभ्यता की अवधारणा रखी गई है वह दुराग्रहपूर्ण है और मुख्यधारा ने अमानवीय तरीके से उसे रेखांकित किया है।

ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो आदिवासी समुदाय के लिए 'आदिवासी' पद ही सर्वाधिक उपयुक्त है। 'आदिवासी' शब्द से एक ऐसे समाज की चेतना का बोध होता है जो सामन्ती और औपनिवेशिक वर्चस्ववादी शक्तियों से संघर्ष करते हुए अपनी विशिष्ट आदिम सांस्कृतिक पहचान के साथ जीवन जीता है।

3.2.3. जंगल के गीत : सांस्कृतिक सन्दर्भ

'जंगल के गीत' उपन्यास में पीटर पॉल एक्का ने आदिवासियों के संघर्ष को कम एवं उनके सांस्कृतिक पक्ष को ज्यादा उकेरा है। अब तक हिन्दी साहित्य में गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा आदिवासी-जीवन पर केन्द्रित जितना भी साहित्य लिखा गया वहाँ आदिवासी जीवन को देखने की लेखक की पहली दृष्टि आदिवासियों का संघर्ष ही रहा है, न कि उनका सांस्कृतिक वैभव। पीटर पॉल एक्का ने आदिवासी जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवेश को बहुत करीब से जिया है और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में आदिवासी समाज का जीवन-राग खुलकर सामने आता है। उपन्यास में आदिवासी जीवन-सौन्दर्य की छटा सहज ही देखी जा सकती है – "उस पहाड़ी की तराई में बसे तुंबा टोली के लोगों की जिन्दगी में एक नयी सुबह आ गयी थी। पूरे इलाके में आज बड़े त्योहार का दिन है। तराई में बसे उस इलाके के उरांव खद्दी (सरहुल) मनाने की तैयारी में हैं। हर कहीं उत्साह और उमंग है, खिले-खिले चेहरे, हँसते-गाते बच्चे। हवा में धुली-धुली ताजगी, सखुए के डालियों से छिटकते एक जानी-पहचानी सी ताजी-ताजी खुशबु, युवक-युवतियों में एक अलग ही उत्साह का आलम। सब उमंग में भागे चले जा रहे थे।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 87)

एक्का अपने उपन्यास में आदिवासी समाज के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के सभी पहलुओं यथा – नृत्य, गीत, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, जतरा-मेला, फग्गू, सेन्द्रा, सरना, अखड़ा, धुमकुड़िया आदि का स्वच्छ चित्रण करते हैं। नृत्य-गीत सामुदायिक आदिवासी जीवन का नैसर्गिक स्वभाव है । शायद इसीलिए कहा जाता है कि "आदिवासियों की गति में नृत्य है और वाणी में गीत । जब वह चलता है तो थिरकता है और जब बोलता है तो गीत के स्वर फूटते हैं ।" (आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृष्ठ 8) आदिवासी संस्कृति में जहाँ एक ओर पर्व-त्योहार, जतरा-मेलों का आयोजन जीवन के हर रस को महसूस करने का एक माध्यम है, वहीं नृत्य-गीत इनमें जीवन के हर रंग को भरने की कोशिश करते हैं । आदिवासियों के प्रत्येक पर्व-त्योहार में नृत्य का विशिष्ट महत्त्व है । "घर में चाहे खाने को ज्यादा कुछ न हो पर वे गीत गाएँगे जरूर, आधा पेट में भी नाचेंगे । नाचना-गाना जैसे उनके जीवन का एक अभिन्न अंग हो गया है ।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 127) उनके उत्सव-विवाह में ख़ुशी का मानक यह नहीं होता कि किसने कितना खर्च किया, बल्कि यह होता है कि फलाँ उत्सव-विवाह में कितना नाचा गया ! एकधागे में पिरोये पुष्पमाला की भाँति संगुम्फित आदिवासी समाज में आपसी सहयोग, साहचर्य, भ्रातृत्व, मैत्री, एकता आदि गुण ढोल-नगाड़े की धुन में एकताल हो जाते हैं । यहाँ कोई दर्शक नहीं होता और न ही कोई बाहर से विशेष तौर पर आमन्त्रित गायक या ढोलकिया होता है बल्कि यहाँ सभी एक साथ एक ही अखाड़े में मांदर-ढोल के ताल पर नाचते हैं, गाते हैं और स्वयं ही दर्शक होकर प्रसन्न होते हैं। आदिवासियों के नृत्यों में प्रायः गीतों की प्रधानता होती है । इन गीतों की मुख्य प्रवृत्ति है – 'संवाद शैली' । अखड़ा आदिवासियों का सांस्कृतिक स्थल है जहाँ वे दो टोलियों में कतारबद्ध होकर सामूहिक नृत्य करते हैं। जिसमें एक टोली प्रश्न करती है और दूसरी टोली उत्तर देती है। 'संवाद शैली' का गीत देखिए –

एंदरा लो खरखी कोय पेलो
बनारी परेता नू सोहोड़ बई॥
पके सादिम के खरखी कोय पेलो
बनारी परेता नू सोहोड़ बई॥

अर्थात् क्या रकपका रहा है, लड़की ! बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है । सूखी पत्तियाँ रकपका रही है, लड़की ! बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है। (जंगल के गीत, पृष्ठ 183)

झारखण्ड के आदिवासी इलाके में जगह-जगह साप्ताहिक हाट लगते हैं । आदिवासियों की बस्तियाँ शहर से अधिक दूर होती हैं जिससे उन्हें दुर्गम पहाड़ी रास्तों से होकर बाजार जाने में कठिनाई होती है इसलिए जंगल में ही विभिन्न बस्तियों के मध्य अनुकूल स्थलों पर साप्ताहिक हाट लगाए जाते हैं जहाँ आदिवासी लोग वन से प्राप्त उपज को हाट में बेचकर अपनी ज़रूरत की वस्तुएँ खरीदते हैं । आदिवासी संस्कृति में इन हाटों का विशिष्ट महत्त्व है । वस्तुतः ये हाट केवल क्रय-विक्रय के स्थल नहीं होते बल्कि उससे कहीं बढ़कर ये आदिवासी समाज के लोगों के मेल-मिलाप का माध्यम होता है । इस साप्ताहिक हाट में दूर-दराज के गाँवों के आदिवासी एकत्रित होते हैं और उल्लसित होकर नाचते-गाते हैं । केवल इतना ही नहीं, ये हाट आदिवासी युवक-युवतियों को मनपसंद जीवनसाथी चुनने का सुअवसर भी सुलभ कराते हैं । सच तो यह है कि ये साप्ताहिक हाट आदिवासियों के लिए किसी उत्सव-

त्योहार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । उपन्यासकार पीटर पॉल एक्का अपने उपन्यास 'जंगल के गीत' में पीठ-पड़हा में लगने वाले साप्ताहिक हाट का मनोहारी चित्र अंकित करने में सफल हुए हैं – "पीठ पड़हा में आज अन्य दिनों की अपेक्षा ज्यादा रौनक छायी थी । आज बाजार का दिन है । लोग बाजार-हाट की तैयारी में लगे हैं । बच्चों की अपनी उत्सुकता है । युवक-युवतियाँ किसी अनदेखे ख़्वाबों की ख़ुशी में मन ही मन थिरक रहे हैं । बड़े-बुजुर्गों को भी सौदा सुलभ करना है। बाजार की यहाँ अपनी अलग अदा थी । बाजार न हुआ कोई पर्व हो गया हो जहाँ जाने की ललक बच्चे-बुजुर्गों में एक जैसी होती है।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 147)

आदिवासी प्रकृति के पूजक हैं। 'सरना' आदिवासियों के पूजा-स्थल का नाम है। यह साल के वृक्षों का समूह होता है । यह पूजा-स्थल मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर जैसा कोई भवन नहीं होता है । 'सरना' आदिवासी जनजीवन और प्रकृति से जुड़ा होता है । इसे वे अपने पूर्वजों का निवास-स्थान मानते हैं इसलिए वे पहले अपने पुरखों का स्मरण करते हैं और फिर 'धर्मेश' (सूर्य) की पूजा करते हैं। 'जंगल के गीत' उपन्यास में 'सरना' की उल्लासमय स्थिति देखिए – "आज सरहुल का त्योहार है । गाँव के करीब का सरना खूबसूरती से सिंगारा गया था । लोगों की एक उमड़ती भीड़ ... बूढ़े, बच्चे, मर्द-औरत, युवक-युवतियाँ । सबों के चेहरे से ख़ुशी छिटक रही थी । सरहुल साल में एक ही बार तो आता है। पहान के आँगन में सब कोई जमा होने लगे हैं। ... सुबह की पहली किरण छिटकते ही पहान-पहानिन की शादी के रूप में सूर्य और धरती के प्रतीकात्मक विवाह की रस्म पूरी हो चुकी है। ... धरती-सूर्य के प्रतीकात्मक विवाह के रस्म में यही दुआ माँगी गई थी – 'सूरज देवता धरती पर खुश रहें, बरखा ठीक हो तो अच्छी फसल की आशा जगे। खुशहाली आए, सारा गाँव आबाद हो' ।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 97-98) विशेष रूप से ध्यातव्य है कि आदिवासियों की उक्त प्रार्थना वैयक्तिक हितार्थ नहीं है बल्कि पूरे अंचल-प्रांत की खुशहाली की कामना की गई है । यह आदिवासियों की सामूहिक चेतना का प्रतीक है कि आदिवासी समूह में रहता है और समूह में सोचता है।

उपन्यासकार पीटर पॉल एक्का न केवल आदिवासियों के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य कोउजागर करते हैं बल्कि साथ ही उनकी आन्तरिक समस्याओं को भी उद्घाटित करते हैं। वर्तमान दौर में आदिवासी समाज अन्धविश्वास के मकड़जाल में फँसा हुआ है । भूत-प्रेत, झाड़-फूँक, ओझा आदि में उनका अन्धविश्वास है । यह अन्धविश्वास आदिवासी समाज को भीतर ही भीतर खोखला कर रहा है। करमा लोगों को समझाता है कि कोई भूत-प्रेत नहीं होता। इसकी प्रामाणिकता के लिए वह अपने साथियों से शर्त बदकर मध्य रात्रि में श्मशान में खूँटा गाड़ आता है।

3.2.4. जंगल के गीत : सामाजिक सन्दर्भ

'जंगल के गीत' उपन्यास का सामाजिक सन्दर्भ पहले अध्याय से ही उद्घाटित होने लगता है। तुंबाटोली गाँव का आदिवासी समाज अपने मूलभाव में समतामूलक समाज है। सामन्ती या पूँजीवादी मानसिकता का प्रवेश यहाँ नहीं हुआ है । यही कारण है कि आदिवासी समाज में लैंगिक या श्रम के आधार पर छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है और न ही यहाँ स्त्री-पुरुष में कोई भेदभाव है । समाज में जो स्थान लड़कों को प्राप्त है उतना ही

महत्त्व लड़कियों को भी दिया जाता है। दोनों साथ-साथ श्रम करते हैं, साथ-साथ नाचते-गाते हैं। सरहुल त्योहार पर गाया जाने वाला गीत है –

खद्दी के लिए झंडा गाड़ा गया है
ऐ कुँवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए
सुबह में झंडा गाड़ा गया है
ऐ कुँवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए।

(– जंगल के गीत, पृष्ठ 88)

यह गीत लड़का-लड़की की स्वतन्त्रता का है। स्वतन्त्रता दोनों ओर है। यह गीत आदिवासी युवक-युवतियों की संस्था 'धुमकुड़िया' को व्यंजित करता है जहाँ लड़का-लड़की दोनों साथ-साथ रहते हैं। यह गीत सूचित करता है कि आदिवासी समाज में पर्दाप्रथा का प्रचलन नहीं है।

स्त्री-स्वातन्त्र्य आदिवासी समाज की आन्तरिक संरचना है। आदिवासी समाज में स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन नहीं रहतीं बल्कि उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। आर्थिक गतिविधियों में उनकी पुरुषों की तरह समान भागीदार होती है। उन पर कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं होता है। लड़कियों को कहीं भी घूमने-फिरने, आने-जाने की पूरी आजादी होती है।

उपन्यास के सभी युवा पात्र 'धुमकुड़िया' नामक संस्था के सदस्य हैं। यह 'धुमकुड़िया' आदिवासी समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है जो गाँव के बुजुर्गों द्वारा युवक-युवतियों के लिए बनायी गई है। मुंडा लोग इसे 'गित्ति:ओड़ा', मुरिया लोग 'घोटुल' और उरांव लोग 'धुमकुड़िया' कहते हैं। यह संस्था सभी आदिवासी समुदायों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन-सम्बन्धी मुख्य शिक्षण केन्द्र है। गाँव के सभी युवक-युवतियाँ दिनभर श्रम करते हैं और उनकी रात इन युवागृहों में बीतती है जहाँ इन्हें यौन-शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन से सम्बन्धित काम सिखाये जाते हैं। एक तरह से यह स्कूल है जिसमें विभिन्न दर्जे होते हैं। जैसे – (i) पूना जोंखर यानी नवसिख या छोटे लड़के, (ii) माज-तुडिया जोंखर यानी मझले लड़के, (iii) कोंहा जोखर यानी सयाने लड़के। पहले दो दर्जे के सदस्य तीन बरस तक सीखते हैं जबकि तीसरे दर्जे के सदस्य जब तक शादी नहीं कर लेते तब तक। यानी ग्यारह से बीस बरस की उम्र वाले 'धुमकुड़िया' की दीक्षा ग्रहण करते हैं और इसके बाद ही वे विवाह-योग्य समझे जाते हैं। यही कारण है कि आदिवासी समाज में बालविवाह कुप्रथा का भी प्रचलन नहीं है।

इन युवागृहों में आदिवासी युवक-युवतियाँ एक साथ रहते हैं जिससे एक-दूसरे को समझने का इन्हें भरपूर मौक़ा मिलता है। इस कारण इनमें यौन-कुण्ठा जैसी कोई विकृति भी नहीं पनप पाती है। जबकि गैर-आदिवासी समाज में लड़के-लड़कियों में भेदभाव किया जाता है और उन्हें साथ में नहीं रहने दिया जाता है जिससे वे यौन-कुण्ठा का शिकार होते हैं फलस्वरूप उनके समाज में छेड़खानी, बलात्कार जैसी दुर्घटनाएँ होती हैं। बाहरी दुनिया के लोग जब इन आदिवासियों के बीच आते हैं तो 'धुमकुड़िया' के बारे में उनका पूर्वाग्रह होता है – 'युवक-

युवतियों के बीच यौन-सम्बन्ध'। 'जंगल के गीत' उपन्यास में जब ज़मींदार का पौना चैतुसिंह अपने दो सिपाहियों के साथ तुंबा टोली गाँव के आदिवासियों से मालगुजारी वसूलने आता है तो वह गाँव की युवतियों से रंगरेलियाँ मनाना चाहता है किन्तु करमा के विरोध करने पर वह गाँव से भाग जाता है। उपन्यास में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि ये 'युवागृह' व्यभिचार का अड्डा नहीं है बल्कि यह युवक-युवतियों के अनौपचारिक शिक्षा का केन्द्र है जहाँ वे सामाजिक सरोकारों के बारे में सीखते हैं। यह ठीक है कि धुमकुड़िया में युवक-युवतियों को मिलने की आजादी है किन्तु कुछ सामाजिक पाबंदियाँ भी हैं। जैसे, 'धुमकुड़िया' के नियम के अनुसार बीस वर्ष के बाद ही लड़का-लड़की विवाह योग्य माने जाते हैं और इससे पूर्व यौन-सम्बन्ध स्थापित करना अपराध माना जाता है। यहाँ इस नियम की अवहेलना करने वालों के लिए दण्ड का प्रावधान भी है।

आदिवासियों की सामाजिक संरचना की सबसे बड़ी विशेषता है – 'विधवा-विवाह'। सन्तानवती होने पर भी विधवा का विवाह सम्पन्न होता है। 'जंगल के गीत' उपन्यास में बाईस साल की उम्र में ही 'झरियो' विधवा हो गई। उसका साल भर का एक बच्चा भी था किन्तु उसे भेड़िया खा गया। बच्चे की मौत ने झरियो भौजी को अकेला कर दिया। उसका घर उजड़ गया। गाँव का युवक फगुवा झरियो से विवाह कर लेता है। "फगुवा-झरियो के विवाह से गाँव का हर जन खुश था। पूरे गाँव ने उत्सव में हाथ बटाया। एक उजड़ा घर फिर से बस रहा था।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 136)

3.2.4.1. प्रशासनिक व्यवस्था और आदिवासी दृष्टिकोण

सभ्यता के विकास-क्रम में मानव ने अपनी जो सामाजिक व्यवस्था बनायी उसे सुदृढ़ रूप से चलाने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था का गठन किया जिसमें प्रखण्ड-थाना, जिला-कचहरी, विधानसभा-लोकसभा आदि प्रशासन की प्रमुख इकाइयाँ हैं। सज़ायाफ़्ता लोगों के लिए न्यायालय 'कारागार' की व्यवस्था करता है। यह प्रशासनिक व्यवस्था मुख्यधारा के समाज द्वारा निर्मित है। सुदूरवर्ती इलाकों में रहने वाले आदिवासियों ने भी इसी तरह अपनी प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण किया है; किन्तु अपने ढंग से। आदिवासियों की सामाजिक संरचना और जीवन-दर्शन मुख्यधारा के समाज से अलग है; तब निश्चित है कि उनकी प्रशासनिक व्यवस्था भी अलग होगी। आदिवासियों की न्यायिक प्रक्रिया मुख्यधारा की न्यायिक प्रक्रिया की तरह जटिल और खर्चीली नहीं है और न ही आदिवासियों के यहाँ 'जेल' जैसे किसी यातनागृह की कोई अवधारणा है। उपन्यास का पात्र 'करमा' कोर्ट-कचहरी के बारे में अपने साथियों को बताता है कि "अरे ऊ कोरट है न, वुहाँ इझार-पितार होता है। लाट साहेब, उकील न का कहे हैं, आपस में लड़े हैं। फिर बड़का साहेब डिगरी सुनाता है। अरे हुंवा जाओ तो डरसे ही आधा जान निकल जाता है। हमको भी सजा हो गया था। जेल का जिनगी, बाप रे डर से हियाँ काँपता है।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 108)

आदिवासी समाज में दुराचरण के लिए दोष-सिद्ध व्यक्ति को जुर्माने के रूप में थोड़ा-बहुत अनाज या एक-दो रुपया जमा कराने का दण्ड दिया जाता है या कुछ समय के लिए उसे अपने समुदाय से अलग कर दिया जाता है और नृत्य-उत्सव आदि में सहभागी होने से भी वंचित कर दिया जाता है। 'जंगल के गीत' उपन्यास में

'धुमकुड़िया' के नियम के अनुसार विवाह-पूर्व यौन-सम्बन्ध बनाने के जुर्म में गंदूरा और परबती को सजा होती है। इसके लिए उन्हें "दो खस्सी, बीस पैला चावल और एक गो रुपया और नहीं तो जात बाहर की सजा" (जंगल के गीत, पृ.160) सुनायी जाती है। अपने समूह और समुदाय से अलग कर दिया जाना सामूहिक जीवन जीने वाले आदिवासियों के लिए सबसे अधिक पीड़ादायक होता है। इसलिए आदिवासी जन सजा के तौर पर जुर्माने की राशि या अनाज जमा कराने को ही प्राथमिकता के साथ स्वीकार करना पसंद करते हैं। उपन्यास में गंदूरा भी जुर्माने की राशि जमा कराना ही स्वीकार करता है। लेकिन साथ ही वह पंचों के सामने एक प्रस्ताव रखता है कि "जुर्माने को केवल खाने-पीने में न लगाया जाय। दारू-हंडिया में उसे खर्च करने से क्या फायदा है! ... पूरे गाँव में बस एक ही चुवाँ है। क्यों न जुर्माने से मदद करके एक बड़ा साफ़ चुवाँ तैयार कर लिया जाए।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 161) गंदूरा के इस प्रस्ताव को पूरा गाँव स्वीकार करता है। यह आदिवासियों की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का सबसे बड़ा उदाहरण है।

आदिवासियों की प्रशासनिक व्यवस्था में सर्वोच्च सभा 'पड़हा पंचायत' है। इसकी प्राथमिक इकाई 'ग्रामसभा' है जिसे मुंडा आदिवासी 'हतु दुनु:' और उरांव आदिवासी 'पद्दा पंचायत' कहते हैं। ग्रामसभा का प्रधान अधिकारी 'महतो' या 'मुंडा' और 'पाहन' होता है। 'मुंडा' गाँव की प्रशासनिक व्यवस्था देखता है और 'पाहन' पूजा-पाठ का कार्य संभालता है। इन दोनों की कार्य-महत्ता को लेकर उरांव आदिवासियों में एक कहावत है – "पाहन गाँव बनाता है, महतो गाँव चलाता है।" अर्थात् पाहन गाँव के देवी-देवताओं को प्रसन्न रखता है जिससे गाँव में किसी तरह का दैवीय प्रकोप नहीं हो और गाँव में लोग भयमुक्त रहें जबकि महतो गाँव में अपनी शासन-व्यवस्था को दुरुस्त रखता है।

'पड़हा' कई गाँवों की एक सामूहिक पंचायत होता है जिसका प्रधान 'मानकी' या 'पड़हा राजा' होता है। गाँवों का यह समूह एक संघ की तरह होता है जिसे कई विद्वानों ने 'गणराज्य' भी कहा। 'पड़हा' को गाँवों की संख्या के आधार पर पुकारा जाता है, जैसे – पाँच पड़हा, बारह पड़हा, चौबीस पड़हा। जो पड़हा पाँच गाँवों से मिलकर बना होता है उसे 'पाँच पड़हा' कहते हैं।

3.2.5. उलगुलान : आदिवासी प्रतिरोध

समृद्ध संस्कृति का मालिक आदिवासी समुदाय आज अपने अस्तित्व के सबसे संकटकालीन दौर से गुजर रहा है। पहाड़ी अंचल में नाचते-गाते, कम संसाधनों में ही सन्तुष्ट रहकर हँसी-ख़ुशी से जीवन जीने वाला प्रकृतिजीवी आदिवासी समाज दिकुओं के शोषण व अत्याचार के खिलाफ़ सदियों से संघर्षरत है। 'दिकू' पद का प्रयोग आदिवासी उन बाहरी लोगों के लिए करते हैं जो उनका शोषण करते हैं।

इतिहासप्रसिद्ध है कि आदिवासी क्षेत्रों में पहली बार व्यापक पैमाने पर हस्तक्षेप ब्रिटिशकाल में हुआ। धीरे-धीरे आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर बाहरी कब्जे होने लगे। जंगलों का व्यापारीकरण शुरू हो गया। अंग्रेजों द्वारा आदिवासियों से मालगुजारी व लगान वसूला जाने लगा। इसके लिए अंग्रेजों ने सामन्तों व ज़मींदारों

को नियुक्त किया। ये सामन्त-ज़मींदार लगान-वसूली के लिए अपने ही देशवासियों का शोषण करते थे। 'जंगल के गीत' उपन्यास में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है – "पूरे तुंबा टोली में खबर बिजली की तरह फ़ैल गयी – ज़मींदार का पौना आया है – चैतुसिंह, साथ उसके दो सिपाही। पालकी में उन्हें ढोये भठ्टी पाढ़ा के लोग बेगारी में ले आए थे। बीस कोस का लम्बा फासला, यहाँ पहुँचते-पहुँचते बेचारों के कन्धे छिल गए थे, पाँव फट गए थे, जिनसे खून रिसने लगा था। ... चैतुसिंह के सिपाही छुट्टे साँड-सा गाँव के मुआयना को निकल गए। कन्धों में लट्ठ लिए वे बेफिक्र चलते थे। जहाँ जी चाहा घुस गए – आँगन में बकरे-मुर्गे दिखते, मन होता तो कह देते – पहुँचा देना। .... सिपाही घर-आँगन में जो भी चाहते, उठा लेते थे। किसी को कुछ कहने की हिम्मत नहीं थी। घर की बहू-बेटियाँ घर के किसी कोने में दुबकी पड़ी रहतीं, या फिर जंगल में निकल जाती थीं, कहीं यमराज की नजर न पड़ जाए।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 152-153) दिकूओं के आने से आदिवासी अपनी प्राकृतिक अवस्था में ठीक से जीने की बजाय अराजकता, अव्यवस्था और कुव्यवस्था के शिकार हैं। दिकूओं के शोषण से आहत आदिवासी समाज क्रान्तिकारी संघर्ष के रास्ते ही मुक्ति तलाशता है। उपन्यास का एक पात्र कहता है – "उलगुलान न करें तो कुछ नहीं मिलेगा। मालगुजारी, बेठ-बेगारी में पिसने से तो विद्रोह कर जान दे देना ज्यादे अच्छा है।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 149)

अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए आदिवासी अंग्रेजों से टक्कर लेने में पीछे नहीं रहे। सिद्धो कान्हू मुर्मू और बिरसा मुंडा का 'उलगुलान' इस सन्दर्भ में अपनी विशेष पहचान बनाते हैं। 'उलगुलान' मुंडारी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है – 'आन्दोलन'। 'उलगुलान' शब्द मूलतः बिरसा मुंडा के आन्दोलन से जुड़ा है। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में बिरसा मुंडा ने देशी और अंग्रेजी औपनिवेशिक तथा साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आन्दोलन किया था। 'जंगल के गीत' उपन्यास में लेखक ने तुंबा टोली के युवक करमा के माध्यम से बिरसा के 'उलगुलान' को ही आगे बढ़ाने का काम किया है। 'उलगुलान' के समय बिरसा मुंडा द्वारा कही गयी बातें तुंबा टोली गाँव के युवक करमा को याद आती है। वह अपने समाज के युवाओं को अत्याचार के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार करता है। करमा कहता है – "तुम कब तक भीख माँगते रहोगे ! तुम्हारे तीर-धनुष का क्या हुआ ! तुम्हारे सीने में आग क्यों नहीं सुलगती ! तुम चुपचाप यह सब क्यों सह लेते हो। उठो आगे बढ़ो, अपना हक़ ले लो।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 179)

आदिवासियों की लड़ाई अंग्रेजों के साथ-साथ ज़मींदारों और साहूकारों से भी है। साहूकार लोग आदिवासियों द्वारा परिश्रम से पैदा की गई उपज को उनसे सस्ते दाम में खरीदकर आगे व्यापारियों को महँगे दामों में बेचकर भारी मुनाफ़ा कमाते हैं। बाहरी लोग आदिवासियों को लूटने के लिए तरह-तरह के उपाय करते रहते हैं; जैसे आदिवासियों को शराब के नशे की लत लगाना। आजादी के बाद आदिवासी क्षेत्रों में जगह-जगह शराब की दुकानें खुल गई हैं। आदिवासी लोग शराब के नशे में चेतनाशून्य होकर आपस में लड़ते-झगड़े रहते हैं। उनकी इसी आपसी फूट का फ़ायदा उठाते हुए दिकू लोग उन्हें ठगते हैं। तुंबा टोली गाँव में भी सरकारी ठेके वाली किसन भट्ठी वाला दारू की दुकान खुल गई है। गौरतलब है कि शराब कभी भी आदिवासियों का पेय नहीं रहा; बल्कि बाहरी लोगों द्वारा गलत तरीके से आदिवासियों का शोषण करने के लिए उन्हें शराब का आदी बनाया जा रहा है।

बाहरी लोगों द्वारा अपने मुनाफे के लिए आदिवासियों को शराब पिलाकर उनमें आपसी फूट पैदा की जा रही है। दरअसल यह मुख्यधारा की औपनिवेशिक मानसिकता है जिसका उद्घाटन उपन्यासकार भी करते हैं – "जब से किसन भट्टी वाला दारू का ठेका ले बैठा है तब से गाँव के बड़े-बूढ़े, जवान बिगड़ने लगे थे। दारू पीकर बाजार के दिन नशे में गाली-गलौच होता, पुरानी दुश्मनी ताज़ी हो उठती तो लाठी-बलुआ, टांगी चलने की नौबत आ जाती थी। हर बाजार के दिन का अवसान ऐसे ही होने लगा था।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 163) इस विकृति से छुटकारा पाने के लिए 'धुमकुड़िया' के युवक-युवती लोग किसन भट्टी वाला के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। किसन अपनी जान बचाकर तुंबा टोली गाँव से भाग जाता है। करमा हाथ में तीर-धनुष लहराता हुआ बोला – "जाते-जाते सुन लो किसन महाराज, फिर कभी मुँह दिखाया तो मार कर तुम्हें फेंक देंगे तो जंगल में तुम्हारा पता भी नहीं चलेगा।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 165)

आदिवासियों के प्रति अन्याय के खिलाफ़ करमा विरोध करता है। ज़मींदार हरसुख सिंह के साम्राज्य में काँटा बनकर उभरे करमा की हत्या कर दी जाती है। उपन्यास का समापन आजादी के बाद झारखण्ड के आदिवासी इलाके में बाहरी लोगों के प्रवेश के कारण प्रकृतिजीवी आदिवासी समाज की संस्कृति में हुए बदलाव से होता है। उपन्यासकार पीटर पॉल एक्का इस बदलाव से आहत हैं। वे लिखते हैं – "तब से पूरा पहाड़ी अंचल किस कदर बदल गया था। जंगल के पेड़ काटे जा रहे थे। नयी योजनाओं की बातें चल रही थीं। अब न वह धुमकुड़िया रह गया था, न पेल्लो एड़पा। सरहुल, सोहराई, फग्गू, करम शादी-ब्याह के स्वरूप बदल गए थे। पर अब भी पहाड़ियों पर बसे उन गाँवों का दिल वही था, भाग्य वही था, इतिहास वही था। उनके जीवन में रचे-बसे उन बेहिसाब गीतों के बोल वही थे, भावना वही थी, स्पन्दन वही था, वही जंगल के गीत थे।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 194)

पीटर पॉल एक्का अपने उपन्यास के माध्यम से बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' का भी विश्लेषण करते हैं। ध्यातव्य है, किसी भी आन्दोलन की सफलता-असफलता उसकी नीतियों पर निर्भर करती है। बिरसा मुंडा ने अंग्रेजों के खिलाफ़ आदिवासियों को उत्साहित करते हुए कहा था – "किसी से डरने का कोई बात नहीं। बन्दूक का गोली भी मेरे परताप से पानी में बदल जाएगा। हम लोगों का विजय होगा और हम लोग अपना राज बनाएँगे।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 107) गोली का पानी में बदल जाने के विचार से ही अंग्रेजों और आदिवासियों के बीच आमने-सामने की लड़ाई में बहुत से आदिवासी मारे गए। लेखक इसे बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' की असफलता के रूप में देखते हैं। उपन्यास की पात्र करमी कहती है – "धरती आबा का उलगुलान, इसीलिए तो असफल रहा। गोली पिघलकर कब तक पानी बन पाता।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 188)

3.2.6. जंगल के गीत : संरचना-शिल्प

हिन्दी साहित्य की प्रमुख औपन्यासिक कृतियों 'गोदान', 'रंगभूमि', 'मैला आंचल', 'राग दरबारी', 'पहला गिरमिटिया' आदि की तुलना में 'जंगल के गीत' उपन्यास छोटे कलेवर में रचित है किन्तु कहीं से भी उपन्यास के गठन में अधूरापन नजर नहीं आता। कथा के प्रवाह में किंचिन्मात्र शिथिलता नहीं है। सभी प्रसंग

एक-दूसरे में संगुम्फित हैं। पाठकीय जिज्ञासा और कौतूहल अन्त तक बना रहता है। पीटर पॉल एक्का की विचारधारा स्पष्ट और स्थिर है। यही कारण है कि उपन्यास आद्योपान्त एक ही विचार-सूत्र को दृढ़ करता हुआ आगे बढ़ता है। जबकि उपन्यास सम्राट प्रेमचंद अपने यहाँ परस्पर विरोधी तत्त्वों यथार्थवाद और आदर्शवाद को एक साथ लेकर चलते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ समापन तक पहुँचते-पहुँचते भटकाव की स्थिति में आ जाती हैं। 'गोदान' उपन्यास की कथा में एक तरह का ढीलापन और बिखराव देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं – "गोदान की गति धीमी है। होरी के जीवन की गति की तरह। यहाँ सैलाब का आवेग नहीं है, लहरों के थपेड़े नहीं हैं। यहाँ ऊपर से शान्त दिखने वाली नदी के भँवरें हैं जो भीतर ही भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती है और दूसरों को वह तभी दिखाई देती है जब उसकी लाश उतराती हुई बहने लगे।" (प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ 27)

'जंगल के गीत' उपन्यास की संरचना में एक्का जिन तत्त्वों (कथावस्तु, पात्रों की स्थिति आदि) को माध्यम बनाते हैं वे सभी आदिवासी जीवन-दर्शन के अनुरूप हैं और यही आदिवासियत उपन्यास के शिल्प का भी निर्माण करती है।

3.2.6.1. कथावस्तु

पीटर पॉल एक्का-कृत उपन्यासों की कथावस्तु आदिवासी समाज के जीवन-राग और संघर्ष की पृष्ठभूमि में तैयार हुई हैं। वे आदिवासी समाज के जीवनोत्सव, नृत्य-गीत, पर्व-त्योहार, जतरा-मेलों का स्वच्छ चित्रण करते हैं। आदिवासियत की सुगन्ध उनके लेखकीय सामर्थ्य रूपी मकरन्द के सामंजस्य से और भी सुवासित और मनोहारी बन पड़ी है – "उधर अखाड़े में युवक-युवतियों की अलग-अलग टोलियाँ दो-चार के झुरमुट में चहक रही थीं। नाच के पहले कोई मोटियारी ठीक से बाँध रही थी, कोई जूड़े में फूल बागिर्का सजा रही थी। युवकों की टोली करमा, फगुवा, गंदूरा को अखाड़े की ओर ले चली थी। उधर आँगन में बुजुर्गों की भीड़ दोने से हड़िया सुड़क रही थीं। बातें कर रहे थे।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 100)

एक्का की औपन्यासिकता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे औद्योगिक सभ्यता के विकास में आदिवासियों के पिछड़ेपन का रोना नहीं रोते हैं। जबकि इसी परिप्रेक्ष्य को अपनी रचनाओं का आधार बनाकर साहित्य-सृजन करने वाले कुछ रचनाकार इसे अलग नजरिए से देखते हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार संजीव ने अपने उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में लिखा है – "आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं – अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता। अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है।" (पृष्ठ 14) ध्यातव्य है कि आदिवासियों का सम्पूर्ण जीवन अरण्यमुखी और उत्सवधर्मिता पर ही आश्रित है। वे आक्रमणकारियों से आत्मरक्षार्थ एवं शान्त जीवन जीने के उद्देश्य से ही सुदूर जंगलों-पहाड़ों के मध्य अपने सांस्कृतिक वैभव के साथ निवास करते हैं एवं सीमित संसाधनों में भी सन्तुष्ट रहकर अपना गुजर-बसर करते हैं। उनके जीवन का सारा सन्तोष इसी पर केन्द्रित है। जंगल आदिवासियों के लिए केवल जीविकोपार्जन का साधन भर नहीं है बल्कि इससे आदिवासियों का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रिश्ता भी जुड़ा है। पीटर पॉल

एक्का विरचित इस उपन्यास का शीर्षक ही है – 'जंगल के गीत'। 'जंगल' यानी 'अरण्य', 'गीत' यानी 'उत्सव'। एक लेखक जो इसी तथ्य को केन्द्र में रखकर अपना सम्पूर्ण लेखन-कर्म करता है जबकि एक दूसरा गैर-आदिवासी लेखक कहता है कि "नहीं ! ये आदिवासियों के पिछड़ेपन का कारण हैं।" दरअसल, यह दो भिन्न मानव समुदायों के जीवन-दर्शन का अन्तर है जिसमें पहला श्रम और आनन्दप्रधान आदिवासी समाज है जो प्रकृतिजीवी है तथा जिसके श्रम के प्रतिफल की आकांक्षा पूँजी नहीं प्रत्युत आनन्द की प्राप्ति रही है; जबकि दूसरा गैर-आदिवासी समाज है जिसने सभ्यता के विकासक्रम में प्रकृति का निरन्तर विनाश किया तथा जिसके विकास का पैमाना व्यक्तिगत आर्थिक उन्नयन है। उपन्यासकार संजीव जब यह कहते हैं कि अरण्यमुखी तथा उत्सवधर्मी होना आदिवासियों के पिछड़ेपन का कारण है तो इसका मतलब है कि संजीव आदिवासी समाज के जीवन-दर्शन को भी नकारते हैं, जो प्रकृति के केन्द्र में है। आदिवासी दर्शन है – 'सहजीवी, सहअस्तित्व, सामूहिकता, सामुदायिकता तथा श्रम-आनन्द की प्राप्ति। एक्का के लेखन की बुनावट में आदिवासी जीवन-दर्शन निहित है। यही कारण है कि एक्का कभी आदिवासी समाज के पिछड़ेपन का रोना नहीं रोते हैं। इसे आदिवासी लेखन के अनिवार्य प्रतिमान के रूप में देखा जा सकता है।

3.2.6.2. पात्र-योजना

उपन्यासकार पीटर पॉल एक्का 'पात्रों' के निर्माण के प्रति सम्वेदनशील दिखाई देते हैं। वे आदिवासी जीवन-सौन्दर्य एवं संघर्ष को व्यक्त करने लिए अपने उपन्यास 'जंगल के गीत' में आदिवासी और गैर-आदिवासी पात्रों का निर्माण करते हैं। करमा, करमी, जित्तन, जित्तनी, बुधवा, सनिचरवा, फगुआ, एतवारी, परबती, गंदुरा आदि आदिवासी पात्र हैं जबकि चैतुसिंह, हरसुख, किसन आदि गैर-आदिवासी पात्र हैं।

लेखक अपने औपन्यासिक पात्रों की पहचान आदिवासी जीवन की सामूहिक चेतना के रूप में करते हैं। उनके पात्र वैयक्तिक या व्यक्तिवादी नहीं हैं; कारण कि अदिवासी लोग सामूहिक जीवन जीने में विश्वास करते हैं। उनके समाज में किसी एक व्यक्ति की नहीं बल्कि समूह की चेतना होती है। 'जंगल के गीत' उपन्यास में पात्रों के माध्यम से आदिवासी समुदाय का सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष ही केन्द्र में रहता है; जैसे – करमा और करमी जन्मजात रूप से उपन्यास में नायक-नायिका नहीं हैं और न ही जिस तरह से मुख्यधारा के उपन्यासों में नायक-नायिका पात्र गढ़े जाते हैं, बल्कि करमा और करमी को उनके 'धुमकुड़िया' के लोग चुनते हैं। यानी यहाँ पर नायक-नायिका चुनने में कथाकार की अपनी भूमिका नहीं है बल्कि उनका दृष्टिकोण सामाजिक और सांस्कृतिक है। इस चयन में उपन्यासकार आदिवासी समुदाय के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के प्रति सजग दिखाई देता है। इसीलिए इस उपन्यास में पात्रों की बुनावट बनावटी नहीं लगती है। यहाँ जब पात्र इस रूप में व्यक्त होते हैं तो उपन्यासकार का केन्द्र पात्र नहीं रहता बल्कि उसकी चिन्ता उस समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आदिवासी रचनाकारों के उपन्यासों में निजता को महत्त्व नहीं दिया जाता। यह प्रवृत्ति मुख्यधारा के उपन्यासों में ही देखी जा सकती है। सच तो यह है कि यह प्रवृत्ति मुख्यधारा के उपन्यासों की खासियत ही नहीं उनकी आत्मा भी है। चंद्रकांत बांदिवडेकर लिखते हैं कि "काव्य में जो स्थान अनुभव की ऐन्द्रिय-प्रतीती देने वाले बिम्बों और प्रतीकों का होता है, वही स्थान उपन्यास विधा में चरित्रों का माना जाने लगा। चरित्र ही बिम्ब समझे

गए।" (उपन्यास : स्थिति और गति, पृष्ठ 2) यही कारण है कि मुख्यधारा के उपन्यासकारों ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष रुचि दिखाई है। पात्रों का चरित्र-चित्रण मुख्यधारा की औपन्यासिकता का एक प्रतिमान माना गया। प्रेमचंद-कृत 'गोदान', निराला-कृत 'बिल्लेसुर बकरिहा', अज्ञेय-कृत 'शेखर एक जीवनी', गिरिराज किशोर-कृत 'पहला गिरमिटिया' आदि उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

3.2.6.3. प्रकृति-चित्रण

पीटर पॉल एक्का की औपन्यासिकता का परिवेश आदिवासी संस्कृति के मूल आधार से जुड़ा है और इसकी प्रामाणिकता की कसौटी प्रकृति-आधारित आदिवासी जीवन है। वस्तुतः प्रकृति आदिवासी जीवन की धुरी है। आदिवासियों के सभी सांस्कृतिक सरोकार प्रकृति से ही जुड़े हैं। 'जंगल के गीत' उपन्यास में जो आदिवासी-परिवेश यथार्थ के साथ उभरकर आता है वह प्रकृति और जंगल से मिलकर बना है। नैसर्गिक सौन्दर्य-चित्रण का अभिव्यक्ति कौशल देखिए – "कुदरती खूबसूरती में प्रकृति-प्रांगण के एक-ब-एक खुलती अनेकों कड़ियों में जीवन फिर से शुरू हो गया था। हरी-भरी वादियाँ, छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, ऊँची-ऊँची चोटियाँ, उन्मुक्त खुले आकाश में बेफिक्र उड़ते परिन्दों का झुण्ड, हर दिशा में बहती क्वारी हवाएँ, खुला-खुला माहौल, ताज़ी खुली-खुली खुशबू, पहाड़ी हरियाली का अनोखा समां। पूर्व का आकाश लाल रंग में रंगने लगा था। धीरे-धीरे पवन के झोंके पूरे प्रकृति प्रांगण में बेरोक-टोक आ-जा रहे थे। भूरे-भूरे सखुए के दरख्तों में कलियाँ छिटक आई थीं। ... पूरी घाटी में फैले छोटे-छोटे गाँवों में एक खुशगवार ज़िन्दगी शुरू हो गयी थी।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 87)

आदिवासी समाज प्रकृति के साथ सहजीवी बनकर रहता है। यही कारण है कि उनके गीत-संगीत और नृत्य में कल-कल करती बहती नदियों का उल्लास है, जंगल की विविधता एवं सम्पन्नता है और सघन झाड़ों की आत्मीयता है –

परेता टोंगरी झरियंती निंदिरका,
अयंग राजी अकय सुन्दर रे।

अर्थात् जंगल टोंगरी, नदी और नालों से भरा है, यह जन्मभूमि कितनी खूबसूरत है।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 121)

पीटर पॉल एक्का अपने उपन्यासों की कथा को प्रभावशाली बनाने के लिए छायावादी कवियों की तरह प्रकृति को माध्यम नहीं बनाते हैं और न ही वे प्रकृति का मानवीकरण करते हैं बल्कि प्रकृति उनके कथा-साहित्य में सहज-स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त होती है। यह सहजता आदिवासी समाज की मूलभूत विशेषता है। उपन्यास में आदिवासी जीवन-सौन्दर्य की सहज अभिव्यक्ति देखिए – "नहा-धोकर, सज-सँवरकर जब वे चलने लगीं तो सूरज ऊपर चढ़ने लगा था। पूरे माहौल में सखुए के फूलों की महक छिटक रही थी। एक अनोखे समां में जंगल के दरख़्त झूम रहे थे। नन्हीं, पतली, सुकुमार डालियाँ जब-तब एक दूसरे की बाहों में उलझ जाती थीं।" – यह नैसर्गिक सौन्दर्य का स्वाभाविक चित्रण है। जबकि प्रसाद, निराला आदि के साहित्य में 'प्रकृति' उद्दीपन के रूप में

है। मुख्यधारा के साहित्यकारों का "प्रकृति-प्रेम श्रीनगर के निशात बाग़ का बनावटी निर्झर है; दिल्ली के बिड़ला मन्दिर में बनी हुई मिट्टी की पहाड़ी है और जयपुर के कृत्रिम नगर में चिड़ियाघर के लिए बना हुआ जंगल है। जो स्वभावतः ही पाठकों के मन-बहलाव की वस्तु है। कालिदास चित्रकूट के पर्वत-शिखर पर से मेघ के द्वारा अलकापुरी सन्देश भेज चुकने के बाद फिर उज्जयिनी के राजमहलों में लौट जाते हैं। वर्ड्सवर्थ पहाड़ी के नीचे धान के खेतों में गाती हुई लड़की की टेर से थोड़ी देर मन बहलाकर फिर क्लब की ओर चले जाते हैं और सूरदास अपनी बन्द आँखों से वृन्दावन के करील कुंजों में रासलीला के दृश्य देखकर फिर अपने तानपुरे के स्वरों में खो जाते हैं। किन्तु मुंडा प्रकृति के आँगन में कहीं से चलकर नहीं आता और वहाँ से चलकर उसे अन्यत्र कहीं नहीं जाना है।" (बाँसुरी बज रही, पृष्ठ 34) सभ्यता के विकास-क्रम में मुख्यधारा के समाज ने स्वयं को प्रकृति से हटा लिया है और प्रकृति अब उसके लिए अपरिचिता-सी हो गई है; जबकि आदिवासी समाज के साहित्यकार की रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य सहज ही अभिव्यक्त होता है। उसका मूल कारण यही है कि आदिवासी साहित्यकार सदियों से जंगलों-पहाड़ों में प्रकृति के साथ तादात्म्य बना कर रह रहा है। प्रकृति उसका जीवन है और बिना प्रकृति उसका कोई क्रिया-कलाप सम्भव नहीं। यही कारण है कि पीटर पॉल एक्का की रचनाओं में भी प्राकृतिक सौन्दर्य सहज ही अभिव्यक्त हुआ है।

3.2.6.4. भाषा-शैली

आदिवासी सम्वेदना के रचनाकार होने के नाते पीटर पॉल एक्का ने उपन्यास की भाषागत विश्वसनीयता को ध्यान में रखकर आदिवासियों के भाषा-संस्कार के निकट ही अपनी कथा-भाषा अर्जित की है। उपन्यास में यत्र-तत्र आदिवासी पात्र अपनी सदानी भाषा मिश्रित हिन्दी में संवाद करते हुए दिखाई देते हैं – "तीर धनुष एहें वास्ते हम लोग भी उठाया था। ऊ लोग भी हमारा सगा जात-भाई है न। हम लोग उसी उलगुलान में गिया था।" (जंगल के गीत, पृष्ठ 107) गीतों और पहेलियों की भाषा मूल रूप से आदिवासियत ही है। उपन्यास में व्यक्त एक पहेली का भाषिक सौन्दर्य देखिए – "भितरी कुक्क, बाहरी पंजरा, आदि याईया ऐड़ो पोट्टा – एंदरा तली तेंगा।" (वही, 116) लेखक द्वारा स्थानीय भाषा का प्रयोग कथा के परिवेश को उसके सम्पूर्ण राग-बोध में विश्वसनीयता के साथ उपस्थित करने की समझ का ही परिणाम है।

3.2.7. पाठ सार

'जंगल के गीत' उपन्यास आदिवासी सम्वेदना की सशक्त अभिव्यक्ति है। इसमें कथाकार ने आदिवासी जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। साथ ही, मुख्यधारा की सामन्ती व पूँजीवादी मानसिकता का भी उद्घाटन किया है। बाहरी लोगों द्वारा किये जा रहे शोषण के खिलाफ आदिवासी प्रतिरोध के स्वर को गुंजायमान करती यह कृति बेहद रोचक और पठनीय बन पड़ी है।

उपन्यास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि दुनिया के सबसे प्राचीन निवासी आदिवासी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के जनक और समर्थक हैं। उनकी सामाजिक संरचना सामूहिकता एवं समानता पर आधारित है। वहाँ

वर्गवाद जैसी कोई विकृति नहीं है। समानता की अवधारणा का प्रसार स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी देखा जा सकता है। समाज में जितना अधिकार पुरुषों को है उतना ही अधिकार महिलाओं को भी प्राप्त है। आदिवासी स्त्रियाँ न केवल सांस्कृतिक गतिविधियों में बल्कि संघर्ष में भी पुरुषों के बराबर भागीदार होती हैं।

'जंगल के गीत' एक विशेष कलात्मक उपन्यास है। इसमें लेखक ने मुख्यधारा के औपन्यासिक प्रतिमानों से इतर आदिवासी जीवन-दर्शन के अनुरूप वस्तु-संरचना एवं शिल्प-विन्यास का संयोजन कुशलतापूर्वक किया है।

3.2.8. बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'आदिवासी' होने का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. आदिवासियों की सामाजिक संरचना का वर्णन कीजिए।
3. आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
4. 'प्रतिरोध की संस्कृति और आदिवासी' के सन्दर्भ में 'जंगल के गीत' उपन्यास की समीक्षा कीजिए।
5. संरचना और शिल्प की दृष्टि से 'जंगल के गीत' उपन्यास की प्रमुख विशेषताएँ रेखांकित कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'उलगुलान' का क्या अर्थ है?
2. आदिवासी गीत-नृत्यों की विशेषताएँ बताइए।
3. 'धुमकुड़िया' क्या है?
4. 'जंगल के गीत' उपन्यास की पात्र-योजना स्पष्ट कीजिए।

3.2.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मुंडा, डॉ॰ रामदयाल (2014). 'आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल' नयी दिल्ली. प्रकाशन संस्थान. ISBN : 81-7714-071-X.
2. गुप्ता, रमणिका (2014). 'आदिवासी साहित्य यात्रा'. नई दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. ISBN : 978-81-8361-218-0.
3. लुगुन, अनुज (2015). 'आदिवासी अस्मिता, प्रभुत्त्व और प्रतिरोध'. दिल्ली. अनन्य प्रकाशन. ISBN : 978-93-81997-51-2.
4. गुप्ता, रमणिका (2008). 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' नयी दिल्ली. वाणी प्रकाशन. ISBN : 81-7055-908-1.

5. मीणा, हरिराम (2014). 'आदिवासी दुनिया' नयी दिल्ली. राष्ट्रीय पुस्तक न्यास. ISBN : 978-81-237-6672-0.
6. अनुराग, फैसल (2009). 'संताल हूल, आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति'. नयी दिल्ली. प्रकाशन संस्थान, ISBN : 81-7714390-5.
7. एल्विन, वेरियर (2008). 'मुरिया और उनका घोटुल'. नयी दिल्ली. राजकमल प्रकाशन. ISBN : 978-81-267-1297-7.

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : कहानी

इकाई – 1 : अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी – सुधा अरोड़ा

इकाई की रूपरेखा

4.1.00. उद्देश्य कथन
4.1.01. प्रस्तावना
4.1.02. कथाकार सुधा अरोड़ा : एक परिचय
    4.1.02.1. व्यक्तित्व
    4.1.02.2. कृतित्व
4.1.03. कथा-संरचना और 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी'
4.1.04. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' : युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता बोध
    4.1.04.1. स्त्री की सामाजिक स्थिति
    4.1.04.2. आकांक्षा और स्वीकृत मूल्यों का संघर्ष
    4.1.04.3. स्त्री-जीवन को यांत्रिकता में बदलते पारम्परिक तथ्य
    4.1.04.4. स्त्री-मनोविज्ञान की कहानी
4.1.05. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में अभिव्यक्ति के अन्य पहलू
    4.1.05.1. अन्नपूर्णा मंडल का अन्तर्द्वन्द्व
    4.1.05.2. पुरुष समाज में निहित स्वार्थ की अभिव्यक्ति
4.1.06. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' का शिल्पगत वैशिष्ट्य
4.1.07. पाठ सार
4.1.08. कठिन शब्दावली
4.1.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.1.10. बोध प्रश्न

4.1.00. उद्देश्य कथन

सुप्रसिद्ध साहित्यकार सुधा अरोड़ा ने हिन्दी कथा-साहित्य को आधुनिकताबोध से सम्पन्न कराने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सृजन किया है। व्यक्ति और समाज के बदलते सन्दर्भों का उनकी कहानियों में जीवन्त चित्रण मिलता है। उनकी कहानियों का विषय मुख्यतः सामाजिक एवं पारिवारिक होता है जहाँ उन्होंने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक द्वन्द्व और सामंजस्य को वास्तविक अभिव्यक्ति प्रदान की है। अपनी कहानियों में घटनाओं के कोरे वर्णन के बजाय उन्होंने मनुष्य के अन्तर्मन की परतों को उघाड़ने का सफल प्रयास किया है। यही वजह है कि उनकी कहानियों में भावात्मक गहराई और विशेष प्रकार की वैचारिकता का अद्‌भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। प्रस्तुत कहानी में उन्होंने व्यक्ति (स्त्री) को सामाजिक सन्दर्भ में न देखते हुए स्वतन्त्र वैयक्तिक सत्ता के रूप में महत्त्व देकर उसके अन्तर्द्वन्द्वों, मानसिक संघर्षों, मनोविकारों और पीड़ाओं का विश्लेषण किया है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के बाद आप –

i. कथाकार सुधा अरोड़ा के व्यक्तित्व व कृतित्व से परिचित हो सकेंगे ।
ii. कथा संरचना के आलोक में 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' की व्याख्या कर सकेंगे ।
iii. युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता-बोध की अभिव्यक्ति के निहितार्थ कहानी में स्त्री की सामाजिक स्थिति, आकांक्षा और स्वीकृत मूल्यों का संघर्ष, स्त्री-जीवन को यांत्रिकता में बदलते पारम्परिक तथ्य और नारी मनोविज्ञान को समझ सकेंगे ।
iv. कहानी की मुख्य पात्र अन्नपूर्णा मंडल के माध्यम से स्त्री के अन्तर्द्वन्द्व और पुरुष समाज में निहित स्वार्थ की अभिव्यक्ति जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं की विवेचना कर सकेंगे ।
v. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' के शिल्पगत वैशिष्ट्य की समीक्षा कर सकेंगे ।

4.1.01. प्रस्तावना

नये और पुराने मूल्यों के बीच टकराहट के प्रसंग व्यक्ति के मानसिक संघर्ष को अभिव्यक्त करते हैं । अस्मिता की पहचान, समान अधिकार प्राप्त करने की इच्छा, स्वयं निर्णय लेने की स्वतन्त्रता जैसे स्त्री व्यक्तित्व को गढ़ने वाले विमर्श के प्रति समकालीन समाज की समझ को विकसित करना 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी का केन्द्र-बिन्दु है । शालिनी माथुर के अनुसार " 'सुधा अरोड़ा की कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' को हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठतम कहानियों में रखा जा सकता है । ऐसी कलात्मक कहानी लिखने वाली कथाकार ने एक पत्रकार की भाँति सामाजिक परिघटनाओं और उनमें चोट खाती, छटपटाती और संघर्ष करके फिर से उठती हुई स्त्रियों पर आलेख लिखे हैं और सहज-सरल भाषा में टिप्पणियाँ की हैं । उनका स्त्री-विमर्श यथार्थ का ज्वलन्त चित्र ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु भविष्य के पथ को संकेतित करने की वजह से आश्वस्त भी करता है ।" स्वयं सुधा अरोड़ा यह स्वीकार करती हैं कि "सदियों से औरतों का अनुकूलन किया गया है । वे हर तरह के तापमान की इस कदर अभ्यस्त हो जाती हैं कि एक नये घर-परिवार के नये सदस्यों और नये माहौल के बीच धीरे-धीरे बढ़ते तापमान के साथ तालमेल बिठाना सीख जाती हैं और यह तालमेल अन्ततः उनकी मर्यादित शोभायात्रा में उनकी माँग में सिन्दूर के रूप में उनकी सजी हुई अर्थी में दिखता है । लेकिन आज समय ने करवट बदली है । सभी औरतें मरती नहीं । वे देर से ही सही पर बढ़ते हुए तापमान को पहचानना सीख गई हैं ।"

4.1.02. कथाकार सुधा अरोड़ा : एक परिचय

समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में सुधा अरोड़ा का महत्त्वपूर्ण स्थान है । समकालीन महिला कथाकारों में सुधा अरोड़ा का कथा-साहित्य एक नयी चेतना लेकर आता है । वे समूची मानव-जाति की चिन्ता करने वाली रचनाकार हैं । उनकी आकांक्षा है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी पूरी चेतना-शक्ति से उठ खड़ा हो और अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को जाने-समझे । वे हिन्दी की उन कथाकारों में से हैं जिन्होंने अपने समकालीन परिवेश के यथार्थ को सशक्त अभिव्यक्ति दी । वास्तव में साहित्य की सार्थकता इसी में है कि जब उसमें जीवन के प्रत्येक पक्ष को अभिव्यक्त करने की क्षमता निहित हो । सुधा अरोड़ा ने अपनी कहानियों में जीवन के विविध पहलुओं को उद्घाटित किया है, फिर वह चाहे नारी-मन की व्यथा हो, पुरुष का अहंकारवादी रवैया हो, समाज में

व्याप्त शोषण व अत्याचार हों या फिर राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार हो। कमोबेश जीवन के प्रत्येक अनछुए पहलू की यथार्थ अभिव्यक्ति उनके कथा-साहित्य में हुई है।

4.1.02.1. व्यक्तित्व

सुधा अरोड़ा का जन्म एक सामान्य मध्यमवर्गीय परिवार में 04 अक्टूबर, 1946 को लाहौर (अविभाजित) में हुआ। लेकिन उनका बचपन कलकत्ता में गुजरा। कला और साहित्य की समझ के साथ ईमानदार जीवन-मूल्यों वाले सात्विक, शाकाहारी और संस्कारी (एक सीमा तक परम्परावादी) परिवार में उनका लालन-पालन हुआ। उल्लेखनीय है कि बचपन से ही अत्यन्त भावुक और विलक्षण प्रतिभा की धनी सुधा अरोड़ा ने वर्ष 1967 ई. में अपनी उच्च शिक्षा (एम.ए. हिन्दी) कलकत्ता विश्वविद्यालय से पूरी की। और आगे वर्ष 1968-1971 ई. में उन्होंने कलकत्ता के महाविद्यालयों में अध्यापन करने के साथ अपने रचनात्मक दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वहन किया। वर्ष 1972 ई. में मुंबई आने के बाद से आज तक वे सक्रिय लेखन के साथ-साथ 'हेल्प' नामक संस्थान से जुड़कर सामाजिक कार्यों के प्रति समर्पित हैं।

4.1.02.2. कृतित्व

सुधा अरोड़ा सातवें दशक की बहुचर्चित हिन्दी कथाकार हैं। वैसे तो साहित्य लेखन के प्रति संस्कार व रुझान उन्हें विरासत में प्राप्त हुई है। ध्यातव्य है कि उनके माता-पिता का साहित्य के प्रति गहरा लगाव था फलतः साहित्य के प्रति लगाव के संस्कार उन्हें अपने परिवार से बाल्यकाल में ही प्राप्त होने लगे। अपने लेखन की शुरुआत उन्होंने डायरी-लेखन से की। बाद में विविध विधाओं में उनका लेखन प्रारम्भ हुआ। अब तक उनके कुल तेरह कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'महानगर की मैथिली', 'काला शुक्रवार', 'रहोगी तुम वहीं', 'एक औरत : तीन बटा चार', 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी', 'बुत जब बोलते हैं' आदि बहुचर्चित हैं। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, फ्रेंच, पोलिश, डच, जर्मन आदि भाषाओं में भी उनकी कहानियों का अनुवाद हो चुका है। 'आम औरत : जिन्दा सवाल', 'एक औरत की नोटबुक' आदि पुस्तकों में संकलित उनके स्त्री विषयक आलेख अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। ध्यातव्य है कि कहानी-लेखन के साथ ही उन्होंने समाचार पत्र-पत्रिकाओं के लिए नियमित स्तम्भ-लेखन भी किया है। हिन्दी कथा-साहित्य में उनके रचनात्मक अवदान के लिए उन्हें विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है जिनमें उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान (1978), भारत निर्माण (2008), प्रियदर्शनी अकादमी (2010), महाराष्ट्र हिन्दी साहित्य अकादमी (2012), केंद्रीय हिंदी निदेशालय पुरस्कार (2013), वाग्मणि सम्मान (2014), मुंशी प्रेमचंद कथा सम्मान (2014) प्रमुख हैं।

4.1.03. कथा-संरचना और 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी'

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' की सबसे बड़ी पहचान उसकी बदलती सम्वेदना है। समकालीन परिवेश में नयी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों का उभार सहज ही देखा जा सकता है। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में कथाकार ने अनुभूति की प्रामाणिकता पर अपेक्षाकृत अधिक विचार किया है।

दरअसल अनुभव के तात्कालिक आवेश को अनुभूति में पर्यवसित कर लेने की प्रक्रिया रचना की शक्ति और सामर्थ्य के दृष्टिकोण से उपयोगी ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है। चूँकि, प्रामाणिक अनुभूति का आग्रह कथाकार सुधा अरोड़ा की कहानियों के लिए महज एक नारा नहीं है, इसलिए वह उनकी सम्पूर्ण रचनात्मकता की अन्तर्दृष्टि है।

किसी भी रूप में अतिशय आत्मकेन्द्रित हो जाना या फिर स्वनिर्मित सीमाओं में कैद होकर समाज और परिवेश से कट जाने का आग्रह खुद ही अपनी रचना के प्रभाव को कम कर देने का कारण भी हो सकता है। 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का मुहावरा 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' के सन्दर्भ में भी लागू होता है। चूँकि, कथाकार के यहाँ अपने रचना-संसार को सीमित कर लेने की कोई विवशता नहीं दिखाई देती, इसलिए उनकी दृष्टि का खुलापन आलोच्य कहानी को और अधिक प्रभावशाली बनाता है। उदाहरण के तौर पर कहानी की नायिका अन्नपूर्णा मंडल अन्ततः निराश होकर मृत्यु का चयन करती है। फिर भी अपनी पौत्रियों की आकांक्षाओं के प्रति चिन्तित होकर कहती है – "ये दोनों अगर आसमान छूना चाहें, इन्हें रोकना मत।" अन्नपूर्णा मंडल का यह कथन कहीं-न-कहीं आरोपित लगता है। कथाकार भी इससे इनकार न करते हुए यह स्वीकार करती हैं कि "जब यह कहानी वागर्थ में प्रकाशित हुई थी, सचमुच यह वाक्य उसमें नहीं था। लेकिन कहानी का पाठ जब मैंने वकोला स्थित वीमेंस सेंटर में किया, कई औरतों ने कहा कि पूरी हताशा से भरी इस कहानी में कोई तो एक आशा का तन्तु दिखाई दे। मुझे भी लगा कि जिस लड़की की सबसे बड़ी तकलीफ यह थी कि रेलवे की नौकरी वाले एक अदद सुदर्शन वर का रिश्ता आते ही उसे बी.ए. की सालाना परीक्षा में बैठने नहीं दिया गया और दूसरे दर्जे की आरक्षित श्रेणी में बिठाकर विदा कर दिया, वह अवश्य चाहेगी कि उसकी बेटियों को पनपने के पूरे अवसर दिए जाएँ। निश्चित रूप से यह वाक्य आरोपित लगता है, लेकिन यह लेखकीय जिम्मेदारी के आलोक में आवश्यक भी है।"

वस्तुतः प्रामाणिक अनुभूति का आग्रह ही उस विवेक को जन्म देता है जिसके माध्यम से कथाकार पारम्परिक मूल्यों एवं वर्जनाओं का विरोध करने की दृष्टि पाता है। उदाहरण के लिए 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी के इस अंश को देखिए – "यह मेरी शादी की पाँचवीं बरसात है। बरसात के ठीक पहले ही तुमने मेरी शादी की थी। जब बांकुड़ा से बंबई के लिए मैं रवाना हुई तुम सबकी नम आँखों में कैसे दीये टिमटिमा रहे थे। जैसे तुम्हारी बेटी न जाने कौन से परीलोक जा रही है, जहाँ दिव्य अप्सराएँ उसके स्वागत में फूलों के थाल में हाथों में लिए खड़ी होंगी। यह परीलोक, जो तुम्हारा देखा हुआ नहीं था, पर तुम्हारी बेटी के सुन्दर रूप के चलते उसकी झोली में आ गिरा था, वरना क्या अन्नपूर्णा और क्या उसके डाकिया बापू शिबू मंडल की औकात थी कि उन्हें रेलवे की स्थायी नौकरी वाला सुदर्शन वर मिलता। तुम दोनों तो अपने जमाई राजा को देख-देखकर ऐसे फूले नहीं समाते थे कि मुझे बी.ए. की सालाना परीक्षा में भी बैठने नहीं दिया और दूसरे दर्जे की आरक्षित डोली में बिठाकर विदा कर दिया।"

समकालीन सामाजिक सन्दर्भों में इस तथ्य की सच्चाई को दरकिनार नहीं जा सकता कि पुरातन मूल्यों एवं आदर्शों का विरोध करने वाला भाव-बोध ही अनुभव की प्रामाणिकता को इंगित करता है। क्योंकि पुरानी

और नयी पीढ़ी का भाव-बोध ही रचना की शक्ति एवं प्रभाव को और अधिक बढ़ाता है। बहरहाल, अत्यधिक तेजी से घटित होने वाले सामाजिक संक्रमण को जब रचनाकार अपनी रचना का आधार बनाता है तो स्थितियों एवं सम्बन्धों के परिवर्तन, मूल्यों के ध्वंस और नैतिक प्रतिमानों के विघटन को वह जिस रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे अनिवार्य रूप से नये प्रतीक भी ढूँढने पड़ते हैं। दरअसल सार्थक अनुभव बिम्बों व प्रतीकों की तलाश कथाकार के लिए धैर्य और सामर्थ्य दोनों की माँग करता है। सुधा अरोड़ा की कहानियों में दुरूहता के प्रति कोई आग्रह नहीं है। वे परिचित बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से भावों को सहजता के साथ अभिव्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। उदाहरण के लिए उनकी कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में प्रकृति है, जनजीवन है, घर है, लोग हैं, रीति-रिवाज हैं, नाते-रिश्ते हैं; लेकिन वे वैसे नहीं हैं जिन्हें मेघदूत, कादम्बरी या कामायनी में देखा जा सकता है। आलोच्य कहानी में बरसात के मौसम का ख़ास तौर पर ज़िक्र हुआ है। पहली बार वहाँ जहाँ अन्नपूर्णा मंडल छोटी बच्ची है। कथाकार अपनी बात कहने के लिए प्रतीक-संयोजना करती हैं – "मौसम की पहली बरसात देखकर हम कैसे उछलते-कूदते माँ को बारिश के आने की खबर देते थे जैसे पानी की बूँदें सिर्फ हमें ही दिखाई देती हैं और किसी को नहीं।" अन्नपूर्णा मंडल की वयस्कता के समय बरसात का दुबारा ज़िक्र आता है – "तुम्हें पता है न बंबई में बरसात का मौसम शुरू हो गया है। मैं तो मना रही थी कि बरसात जितनी टल सके, टल जाए; लेकिन वह समय से पहले ही आ धमकी और मुझे जिसका डर था वही हुआ। इस बार बरसात में पार्क की गीली मिट्टी सनी सड़क से उठकर उन्हीं लाल केंचुओं की फौज घर के भीतर तक चली आई है। रसोई में जाओ तो मोरी के कोनों से ये केंचुए मुँह उचका कर झाँकते हैं, नहाने जाओ तो बाल्टी के नीचे कोने पर वे बेखौफ चिपके रहते हैं।"

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आलोच्य कहानी में कथाकार का उद्देश्य केवल कहानी कहना नहीं, अपितु बदलते हुए यथार्थ और सम्बन्धों को सम्प्रेषित करना है। यही वजह है कि 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में चरित्र की अपेक्षा स्थितियाँ ही प्रमुख रूप से उभर कर सामने आती हैं। भाषा के स्तर पर यह कहानी साहित्य व जीवन की भाषा के अन्तर को मिटाती हुई-सी प्रतीत होती है। उत्तरार्ध में कहानी अपने गहरे निहितार्थ को प्रकट करने में पूर्णतया सफल हुई है। सूद समेत बेटी को लौटाने से ठीक पहले व्याप्त आतंक का चित्रांकन विलक्षण है – "जब बाहर सड़क पर मैदान के पास की गीली मिट्टी में केंचुओं को सरकते देखती हूँ तो इन दोनों की शक्ल दिखाई देती है। मुझे डर लगता है कहीं मेरे पति घर में घुसते ही इन पर चप्पलों की चटाख-चटाख बौछार न कर दें। या मेरी सास इन पर केतली का खौलता हुआ पानी न डाल दें। मैं जानती हूँ कि यह मेरा वहम है पर यह लाइलाज है और अब इस वहम का बोझ नहीं उठा सकती।" स्त्री-विमर्श की प्रतिनिधि कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में स्त्री, स्त्री भी है और केंचुओं का गुच्छा भी। इस वस्तु सत्य को विश्वसनीयता का आकार देने में कथाकार सुधा अरोड़ा पूरी तरह सफल हुई हैं।

पुरुषप्रधान समाज में रचित साहित्य में किंवदन्तियों के रूप में मत्स्य कन्या (आधी कन्या-आधी मछली) खासी विश्वसनीय रही है। इस अवधारणा के पार्श्व में निश्चित रूप से पुरुष की प्रभुत्ववादी सोच एवं स्त्री के प्रति उसकी संकीर्ण और वासनाजन्य कुत्सित दृष्टि ही अन्तर्निहित है। सुधा अरोड़ा-कृत 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी

चिट्ठी' कहानी इस पुरुषवादी मानसिक कुत्सा के प्रति सीधा विद्रोह है – "एक दिन एक केंचुआ मेरी निगाह बचाकर रसोई से बाहर चला गया। सास ने उसे देख लिया। उसकी आँखें गुस्से से लाल हो गईं। सास ने चाय की खौलती हुई केतली उठाई और रसोई से बिलबिलाते हुए सब केंचुओं पर गालियाँ बरसाते हुए उबलता पानी डाल दिया। सच मानो बाबा मेरे पूरे शरीर पर जैसे फफोले पड़ गए थे जैसे खौलता हुआ पानी उस पर नहीं मुझ पर डाला गया हो। वे सब फौरन मर गए, एक भी नहीं बचा, लेकिन मैं ज़िंदा रही।"

4.1.04. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' : युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता बोध

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता बोध का मर्म तलाशती कहानी है। कहानी के मूल में अस्मिता की खोज का सवाल ही प्रधान रूप से अन्तर्निहित है। कहानी का कथानक और अस्मिता की खोज के सूत्र कहीं-न-कहीं आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं। अतः कहानी के सन्दर्भ में स्त्री-अस्मिता की खोज के सवाल पर विचार करना आवश्यक है। स्त्री-अस्मिता के सवाल पर सबसे पहले कथाकार सुधा अरोड़ा की स्थापना पर विचार करना प्रासंगिक होगा। उन्होंने लिखा है – "स्त्री विमर्श का पहला उपाख्यान है अस्मिता-विमर्श। दरअसल स्त्रियों के शोषण के कारण असंख्य हैं और बहुस्तरीय भी। स्त्री-विमर्श के तहत हम स्त्री-मुक्ति के इतिहास, उसके क्रमिक-विकास और आन्दोलन की बात करते हैं। हिन्दी साहित्य के बहुत छोटे-से दायरे में सिर्फ सैद्धान्तिक बहस होती है जिससे स्त्रियों के जीवन में बहुत बड़ा बदलाव आना सम्भव नहीं है जब तक उसे व्यावहारिक स्तर पर देखा-परखा न जाए। अस्तित्व की पहचान के लिए स्त्री-शिक्षा पहली सीढ़ी है। स्त्री-अस्मिता का सवाल हो या दलित-अस्मिता का, किसी भी हाशिए पर धकेले गए तबके की अस्मिता को जगाने के लिए या अहसास दिलाने के लिए साक्षरता और शिक्षा का होना पहली शर्त तो है, पर शिक्षित हो जाना ही एकमात्र समाधान नहीं है। जहाँ स्त्रियों के लिए शिक्षा का प्रावधान नहीं है, वहाँ स्त्रियाँ अपनी नामहीन, अस्तित्वविहीन भूमिका में ही आज भी रहती, जीती और सहती दिखाई देंगी। ऐसा नहीं कि शिक्षित महिलाएँ पुरुष-सत्ता और सामाजिक संरचना में अपनी जगह बनाना और लड़ना सीख गई हैं, या कि उनके सामने जीने के राज-मार्ग खुल गए हैं, या कि उन्होंने अपनी मंजिल को पा लिया है। स्त्री-अस्मिता का मुद्दा अपने आप में एक विस्तृत बहस की जगह घेरता है।"

युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता को सुधा अरोड़ा एक सामाजिक परिघटना के रूप में देखती हैं। अपनी जड़ों से उन्मूलित या विस्थापित होने की वजह से ही मनुष्य में गहरी आत्मशून्यता और अभाव व्यवस्था का जन्म होता है। आलोच्य कहानी में अन्नपूर्णा मंडल की मनोदशा व आत्मनिर्वासित अनुभूति को 'अस्मिता संकट' से जोड़कर देखा जा सकता है। कथाकार के शब्दों में "आज की औरत का पूरा संघर्ष अपने से उस छोटे से हिस्से को बचाने में है जिस पर उसके दोनों पाँव टिके हैं। उस हिस्से को बनाए रखना उसकी पहली प्राथमिकता है। इस ताकत को बचाए रखने की ताकत उसे शिक्षा से ही मिलेगी, इसलिए बहुत आवश्यक है कि गाँव हो या कस्बा, शहर हो या महानगर में बसे छोटे-छोटे उपनगर, हिन्दुस्तान के हर राज्य में लड़कियों के लिए हर जगह शिक्षा मुफ्त हो और अनिवार्य हो।" 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में खोये हुए आत्म की तलाश अपने चरम रूप में परिलक्षित होती है। अपने से बिछुड़ने का आतंक आधुनिक युग में मनुष्य के 'आत्म-उन्मूलन' का सबसे

मर्मान्तक अनुभव है। ध्यातव्य है कि अन्नपूर्णा मंडल अन्तिम समय तक अपने प्रति अजनबी बनी रहती है और कहीं-न-कहीं स्वयं को 'आत्म' से संयुक्त नहीं कर पाती है और अन्ततः निराश होकर आत्महत्या का वरण करती है।

निःसन्देह 'आत्म-विस्मृति' आधुनिक युग का सबसे बड़ा संकटऔर समकालीन परिवेश की सबसे बड़ी चुनौती है। इस मायने में युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता बोध के आलोक में 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी स्त्री की सामाजिक स्थिति, आकांक्षा और स्वीकृत मूल्यों का संघर्ष, स्त्री-जीवन को यांत्रिकता में बदलते पारम्परिक तथ्य और स्त्री मनोविज्ञान का प्रभावी आख्यान प्रस्तुत करती है।

4.1.04.1. स्त्री की सामाजिक स्थिति

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति को गहराई के साथ उद्घाटित करती है। इस कहानी के पात्र परिस्थितियों से लड़ते नहीं बल्कि आत्मपीड़ा के भाव से ग्रस्त रहते हैं। सुधा अरोड़ा ने सामाजिक-पारिवारिक क्षेत्र के चिर-परिचित अनुभवों को कहानी की विषयवस्तु नहीं बनाया है प्रत्युत युगीन-यथार्थ और स्त्री-अस्मिता से जुड़े उन महत्त्वपूर्ण सवालों को उठाया है जो मानवीय मूल्य समझे जाते हैं। पश्चिमी देशों में भी इन सवालों पर लगाता बहस जारी है।

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी के माध्यम से सुधा अरोड़ा ने प्रेमचंद और नागार्जुन की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए स्त्री-अस्मिता की सुरक्षा के मद्देनज़र भारतीय समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है जहाँ एक लड़की को अपनी इच्छा और सपनों को ताक पर रखकर माता-पिता की इच्छा (या आदेश) का सम्मान करते हुए किसी पूर्णतः अपरिचित व्यक्ति के साथ अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने को बाध्य होना पड़ता है। इतना ही नहीं, अपनी रुचि-अरुचि, पसंद-नापसंद को दरकिनार कर उसे अपना सम्पूर्ण प्रेम पति के चरणों में समर्पित करना पड़ता है। ध्यातव्य है कि वर्तमान भारतीय सामाजिक सन्दर्भों में इस समर्पण के साथ मन की कोई स्वीकृति नहीं है। परिणामस्वरूप भारतीय स्त्री न तो अच्छी पत्नी ही बन सकी, और विद्रोह की सारी स्थितियों के बावजूद भी वह न ही संस्कारों व परम्पराओं की लौह दीवारों को तोड़ सकी।

यह वर्तमान समय का दुर्भाग्य ही रहा कि पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति और दर्शन से प्रभावित भारतीय जनमानस न तो अपने अतीत की गौरवमयी परम्पराओं की आस्था को निष्ठापूर्वक बचाकर रख सका है और न ही जीवन-दर्शन के तहत मानवीय मूल्यों को कोई महत्त्वपूर्ण ठोस आधार ही दे पाया है। मूल्यहीनता की स्थिति और मृत आदर्शों की रूढ़ियाँ भारतीय समाज को आधारहीनता की विकृत भूमि पर खड़ा करती है। चूँकि, समकालीन भारतीय स्त्री और उसका जीवन-दर्शन स्वयं अपने समसामयिक आधार खोज रहा है, इसलिए 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी के माध्यम से कथाकार सुधा अरोड़ा इस दिशा में सक्रिय पहल करती हैं। वे युगीन यथार्थ को भाँपकर स्त्री-अस्मिता की बात करती हैं। वे स्त्री को स्त्री मानती हैं, चाहे वह सामान्य या विशिष्ट; विवाहित हो या एकाकी; माँ हो या पुत्री; बहिन हो या पत्नी। इस आलोक में कथाकार सुधा अरोड़ा की पहल मानवीय

दृष्टिकोण को अपनाती है। उदाहरण के तौर पर भारतीय समाज में मातृत्व के प्रति भावुक सम्मोहन को बढ़ावा देना केवल पुरुषवादी राजनीति नहीं, पूरे परम्परागत समाज का एक तयशुदा प्रारूप है जिसे बदलने और समझने में बहुत समय लगेगा। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में मातृत्व के महिमामण्डन और त्रासदी पर वरिष्ठ रचनाकार, चिन्तक, आलोचक एवं समीक्षक मुद्राराक्षस की टिप्पणी उल्लेखनीय है – "विचित्र बात है, सदियाँ बीतती हैं स्त्री को यह सवाल पूछते कि जीने का अर्थ क्या है और सदियों से एक ही उत्तर वह सुनती है माँ बनना। आखिर मातृत्व महिमामण्डन के इस अतिरेक का रहस्य क्या है ? महाभारत सहित सभी धार्मिक पुस्तकों, धर्मग्रन्थों में स्त्री को लेकर घोर निन्दनीय बातें कही गई हैं और अक्सर खासी अश्लील भाषा में। ऐसी स्थिति में मातृत्व के महिमामण्डन का अतिरेक कारण क्या हो सकता है ? इसका कारण देख पाना ज्यादा कठिन नहीं है। पुरुष निरन्तर यह कोशिश करता रहा कि स्त्री पुरुष-निर्भरता को अपना संस्कार बना ले, वह एक वेश्या की ज़रूरत भी पूरी करे और निःशुल्क दासता भी करे। गाय, बकरी या कुतिया की तरह घर से बँधी रहे और मर्द की ज़रूरत के अनुसार पुत्र पैदा करने वाली एक मशीन बनी रहे। इस दयनीय स्थिति में स्त्री सन्तुष्ट और खुश भी रहे। माँ अपनी बेटी को, बेटी अपनी बेटी को इसी जीवन-पद्धति का उपदेश भी देती रहे। हिन्दू धर्म ने तो स्त्री की इस भूमिका का आश्चर्यजनक व्याख्यान किया है।"

कहना गलत न होगा कि स्त्री-मन भावना और सम्वेदना से संचालित होता है जहाँ मातृत्व एक महत्त्वपूर्ण धारक है। इस सन्दर्भ में 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी का एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण प्रस्तुत है – "तुम चारों मुझे घेरकर खड़े हो गए ... भला पहला बच्चा भी कोई गिराता है। पहला बच्चा गिराने से फिर गर्भ ठहरता ही नहीं। माँ बनने में ही नारी की पूर्णता है। माँ बनने के बाद सब ठीक हो जाता है, जीने का अर्थ मिल जाता है। माँ तुम अपनी तरह मुझे भी पूर्ण होते हुए देखना चाहती थीं। मैंने तुम्हारी बात मान ली और तुम सबके सपनों को पेट में सँजो कर वापस लौट आई।" अपने वर्चस्व और अहंकार की पुष्टि के लिए पुरुष स्त्री के इसी कमजोर भावनात्मक पक्ष पर वार करता है। चूँकि, प्रकृति ने महिलाओं को मातृत्व की सूक्ष्म सम्वेदनाओं और भावनाओं से परिपूर्ण किया है ऐसे में स्त्री के मातृत्व के प्रति सम्मोहन को उसी के खिलाफ हथियार बनाकर इस्तेमाल करने पर उसका सामाजिक परिस्थितियों में ध्वस्त हो जाना असहज व अस्वाभाविक नहीं है।

4.1.04.2. आकांक्षा और स्वीकृत मूल्यों का संघर्ष

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में युगीन यथार्थ और स्त्री-अस्मिता बोध को एक अन्य रूप में भी देखा जा सकता है। विवेच्य कहानी में 'विधान' और 'प्रवृत्ति' का द्वन्द्व भी विद्यमान है। 'विधान' यानी 'मान्य और स्वीकृत मूल्य' तथा 'प्रवृत्ति' से अभिप्राय है 'व्यक्ति की अपनी इच्छा'। प्रस्तुत कहानी में जिन सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं का उल्लेख है, वह विधान का अंग है। अन्नपूर्णा मंडल के लिए सामाजिक मान्यताओं व पारम्परिक मूल्यों की बाध्यता है कि वह उसे शिरोधार्य कर ले। हालाँकि, अपनी आकांक्षा और स्वीकृत मूल्यों के संघर्षों से जूझती अन्नपूर्णा यह भी स्वीकार करती है कि "माँ, मुझे बार-बार ऐसा क्यों लगता है कि मैं तुम्हारी तरह एक अच्छी माँ कभी नहीं बन पाऊँगी जो जीवनभर रसोई की चारदीवारी में बाबला और मेरे

लिए पकवान बनाती रही और फालिज की मारी ठाकुर माँ की चादरें धोती-समेटती रही। तुम्हारी नातिनों की आँखें मुझसे यह सब माँगती हैं जो मुझे लगता है, मैं कभी उन्हें दे नहीं पाऊँगी।"

कथाकार सुधा अरोड़ा ने 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में आकांक्षा और स्वीकृत मूल्यों को मानवीय चिन्ता से जोड़ा है। अन्नपूर्णा मंडल का सम्पूर्ण व्यक्तित्व दरअसल स्त्री जीवन-मूल्य और सामाजिक मान्यताओं के इर्द-गिर्द घूमता है। स्त्री-जीवन के इस परिक्रमण के रचनात्मक बोध में चिन्ता की कठोरता भी मानवीय बनकर व्यक्ति हृदय को सहजता से खोल देती है। इस अभिव्यक्ति में कहीं भी फिसलन नहीं है बल्कि काई को फाड़ने की अदम्य शक्ति है। अपनी अस्मिता और आकांक्षा को अपना अवसाद मानकर उसे संघर्षशील बनाने की प्रवृत्ति अन्नपूर्णा मंडल को बेचैन किए रखती है। वह कहती है कि "बाबा, कभी मन होता था, इन दोनों को बाँधकर तुम्हारे पास पार्सल से भिजवा दूँ कि मुझसे नहीं संभलतीं, अपनी ये लक्ष्मी-सरस्वती सी नातिनें तुम्हें ही मुबारक हों, पर हर बार इनकी बिटर-बिटर सी ताकती हुई आँखें मुझे रोक लेती थीं।"

जिन विषम और संघर्षपूर्ण सामाजिक जीवन-मूल्यों में 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी की यात्रा आरम्भ होती है उनमें तमाम आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पारम्परिक दबाव स्वाभाविक रूप से ध्वनित होते सुने जा सकते हैं। ये विभिन्न दबाव न केवल अन्नपूर्णा मंडल के मूल स्वर को परिवर्तित करते हैं बल्कि समसामयिक समस्याओं, कुण्ठाओं, विसंगतियों और युगीन अविश्वसनीयता को भी उद्‌घाटित करते हैं। इस सन्दर्भ में उद्धरण द्रष्टव्य है – "इन दोनों को अपने पास ले जा सको तो ले जाना। बाबला और बउदी शायद इन्हें अपना लें। बस, इतना चाहती हूँ कि बड़ी होने पर ये दोनों अगर आसमान को छूना चाहें तो यह जानते हुए भी कि वे आसमान को कभी छू नहीं पाएँगी, इन्हें रोकना मत।"

4.1.04.3. स्त्री-जीवन को यांत्रिकता में बदलते पारम्परिक तथ्य

भारतीय समाज में स्त्री को मातृत्व की देवी सिद्ध कर विभिन्न उपमाओं से गौरवान्वित किया गया है। हालाँकि इस महिमामण्डन के बावजूद कभी उसे पाँच पुरुषों को सौंप दिया जाता है; कभी द्यूत-क्रीड़ा में अपनी सम्पत्ति मानकर दाँव पर लगा दिया जाता है; जब कभी किसी अधम व्यक्ति द्वारा उसका अपहरण कर लिया जाए तो उसे अग्निपरीक्षा देने को बाध्य किया जाता है; अग्निपरीक्षा के बावजूद भी आदर्श संस्थापनार्थ उसे अस्वीकार कर दिया जाता है; पति मर जाए तो पति की मृतदेह के साथ उसे जीवित जलाया जाता है। सच तो यह है कि भारतीय समाज में स्त्री का अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा स्थापित कर पाना, सम्मानजनक स्थिति प्राप्त करना दुर्लभतम है; क्योंकि सामाजिक व्यवस्था की बुनावट में स्त्री स्वतन्त्र रूप से न तो सत्ता-शक्ति की अधिकारी होती है, न सम्पत्ति की और न ही अपनी दैनिक जीवनचर्या की। वास्तव में तो इन सबसे बहुत दूर वह पुरुषप्रधान समाज की दासता पर निर्भर रहती है। इस स्थिति का अनुभव होने पर स्त्री-मन में उत्पन्न घबराहट व बेचैनी का परिचय 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में मिल जाता है – "फोन के तारों पर मेरी आवाज जैसे ही तैरती हुई तुम तक पहुँचती है तुम्हें लगता है सब ठीक है, जैसे मेरा ज़िंदा होना ही मेरे ठीक रहने की निशानी है और फोन पर तुम्हारी आवाज सुनकर मैं परेशान हो जाती हूँ, क्योंकि फोन पर मैं तुम्हें बता नहीं सकती कि तुम जिस आवाज को

मेरी आवाज समझ रहे हो, वह मेरी नहीं है। फोन पर तुम मेरा कुशल-क्षेम ही सुनना चाहते हो और तुम्हें केंचुओं के बारे में कैसे बता सकती हूँ।"

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में सम्बन्धों के बदलाव और तनाव की पारम्परिक स्थितियों के सन्दर्भ में स्त्री-जीवन को इस ढंग से व्यक्त किया गया है कि स्त्री की वर्तमान स्थिति के भरपूर संकेत मिलने लगते हैं। बदली हुई स्थितियाँ पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले पारम्परिक अवशेषों और संस्कारों को चुनौती देती प्रतीत होती हैं तथा सम्बन्धों का परम्परागत ढाँचा अटपटा-सा लगने लगता है। सूद समेत बेटी को लौटाने से ठीक पहले व्याप्त आतंक का अत्यन्त मार्मिक व सजीव चित्रांकन द्रष्टव्य है – "इस बार की बरसात ने आकर मेरी आँखों पर छाए सारे परदे गिरा दिए हैं। ये दोनों घिसटना सीख गई हैं। सारा दिन कीचड़-मिट्टी में सनी केंचुओं से खेलती रहती हैं। जब ये घुटने घिसटती हैं, मुझे केंचुए रेंगते दिखाई देते हैं और जब बाहर सड़क पर मैदान के पास की गीली मिट्टी में केंचुओं को सरकते देखती हूँ तो इन दोनों की शक्ल दिखाई देती है। मुझे डर लगता है कि मेरे पति घर में घुसते ही इन पर चप्पलों की चटाख-चटाख बौछार न कर दें।"

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में अन्नपूर्णा मंडल के यन्त्रवत् जीवन की झाँकी सर्वत्र मिल जाती है। यह कहानी मानवी से भोग्य वस्तु में तब्दील स्त्री की अस्मिता के भौतिक सत्य की सारगर्भित दास्तान प्रस्तुत करती है। कहानी दो छोटे भाई-बहनों के खेल से आरम्भ होती है। बारिश होती है तो दोनों बच्चे पूकुर के पास रेंगते हुए केंचुओं पर नमक डाल-डाल कर उन्हें मारने का उपक्रम करते हैं – "बाबा तुम डाकघर से लौटते तो पूछते – तुम दोनों हत्यारों ने आज कितनों की हत्याएँ कीं ? फिर मुझे पास बिठाकर प्यार से समझाते – बाबला की नकल क्यों करती है रे ! तू तो माँ अन्नपूर्णा है, देवी स्वरूपा, तुझे क्या जीव-जन्तुओं की हत्या करना शोभा देता है।" वरिष्ठ रचनाकार, चिन्तक, आलोचक एवं समीक्षक मुद्राराक्षस के शब्दों में "स्त्री यह सच जानती है, पर उसकी स्वतन्त्र चिन्तन की ताकत पथरा चुकी होती है, इसलिए वह स्त्री को माँ बनाकर अपने वजूद को सफल बनाने की सलाह देती है पर बेटी के जन्म से घबरा जाती है।"

4.1.04.4. स्त्री-मनोविज्ञान की कहानी

यह एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है कि व्यक्ति के मानसिक विकास पर उसके परिवेश और परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस अवधारणा को स्त्री-मन और उसके परिवेश-परिस्थितियों से जोड़कर देखने पर 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में निहित अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों की पहचान सहजतापूर्वक की जा सकती है। हालाँकि स्त्री-मनोविज्ञान में उसकी पारिवारिक संरचना की भूमिका को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इसे सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ में देखा जा सकता है कि परिवार व्यवस्था का स्त्री-मनोविज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक संस्कारों को आत्मसात किए हुए स्त्री अपनी युवावस्था में सामाजिक परिवेश को अपने ढंग से देखने-समझने के सोपान तक पहुँचती है। लेकिन शादी के बाद उसका संसार केवल पति और उसके परिवार तक सिमट जाता है। तब उसकी जिज्ञासा के अन्य समस्त मार्ग ससुराल की स्वेच्छा से अचानक बंद हो जाते हैं। वरिष्ठ चिन्तक मुद्राराक्षस भी इस तथ्य को भली-भाँति स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं – "वह खाना बनाती

है, घर संभालती है, बच्चे पैदा करती है और पालती है। उसकी रचनात्मकता सलाद की प्लेट सजाने या तकिए के गिलाफ पर कढ़ाई करने या कैनवस पर चित्रकारी करने तक में सीमित हो जाती है। रचनात्मकता अगर बहुत अधिक उत्तेजित करे तो हथेली में मेंहदी लगाने या गमलों में पौधे लगाने में प्रतिफलित होती है। निश्चय ही यह वातावरण स्त्री के अबाध मानसिक विकास में सबसे बड़ी बाधा होता है और इस बाधा में जीने और सन्तुष्ट रहने का स्त्री का हजारों वर्ष पुराना अभ्यास होता है।"

मानसिक अवसाद कैसे स्त्री की अपनी आवाज को स्वयं से ही अपरिचित कर देता है, इसका उदाहरण विवेच्य कहानी में सहज ही देखा जा सकता है। अन्नपूर्णा मंडल अन्ततः आत्महत्या का वरण करती है, लेकिन कुण्ठा और संत्रास से ग्रसित उस स्त्री-मन में कहीं भी उसका विरोध नहीं है। वह कहती है – "बाबा, तुम कहते थे न आत्माएँ कभी नहीं मरतीं। इस विराट व्योम में, शून्य में, वे तैरती रहती हैं – परम शान्त होकर। मैं उस शान्ति को छू लेना चाहती हूँ। मैं थक गई हूँ बाबा। हर शरीर के थकने की अपनी सीमा होती है। मैं जल्दी थक गई, इसमें दोष तो मेरा ही है। तुम दोनों मुझे माफ कर सको तो कर देना।" कहना गलत न होगा कि कथाकार सुधा अरोड़ा ने अन्नपूर्णा मंडल की आत्महत्या के रूप में (स्त्री) हत्या का संयोजन बड़े कौशल एवं सर्वथा नूतन ढंग से नियोजित किया है। इस आलोक में वरिष्ठ चिन्तक मुद्राराक्षस की सार्थक टिप्पणी ध्यातव्य है – "अन्नपूर्णा मंडल की आत्महत्या पर यह आत्महत्या से ज्यादा एक हत्या ही है सद्यप्रसूता बेटियों की, क्योंकि वे दोनों दरअसल 'अन्नपूर्णा मंडल' ही हैं।"

4.1.05. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में अभिव्यक्ति के अन्य पहलू

कथाकार सुधा अरोड़ा के अनुसार आर्थिक आत्मनिर्भरता घरेलू हिंसा से निबटने की पहली शर्त है। बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उनका कहना है कि "घरेलू हिंसा के आँकड़ों में नहीं जाना चाहती, पर यह सच है कि दहेज के नाम पर या पति की अपनी किसी कुण्ठा के तहत औरतें तरह-तरह की यातना का शिकार होती हैं। इसके परिणाम में अगर औरत को अस्पताल भी ले जाना पड़े तो वह बहाने बना देती है कि बाथरूम में फिसल कर गिर पड़ी या नहाकर उठते समय नल से सिर टकरा गया। यहाँ तक कि मिट्टी का तेल छिड़ककर अपने को आग लगा लेने या जला दिए जाने से अस्सी-नब्बे प्रतिशत जली हुई औरतें, दम तोड़ते हुए भी अपनी आँखों के सामने अपनी बेटी या बेटे को देखकर हत्यारे पति को बचाने के लिए स्टोव के फटने की कहानी गढ़कर सच्चाई को सामने नहीं आने देना चाहतीं ताकि बच्चे के सिर पर पिता का साया बना रहे।"

घरेलू हिंसा का स्तर यदि हत्या तक नहीं भी पहुँचता तो भी स्त्रियाँ झेलने और समझौता कर घर-गृहस्थी चलाने की ताकत रहने तक अपने घर-परिवार के लोगों को अपनी तकलीफ की खबर नहीं लगने देतीं। उन्हें लगता है, माँ-बाप ने शादी कर अपनी जिम्मेदारी निभा दी, अब आगे की ज़िन्दगी का दारोमदार सिर्फ उन पर है जिसे उन्हें अपने दम पर निभाना है। किसी भी शहर, महानगर या कस्बे में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी में स्त्री-मन के अन्तर्द्वन्द्व और पुरुष समाज में निहित स्वार्थ की सार्थक व सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

4.1.05.1. अन्नपूर्णा मंडल का अन्तर्द्वन्द्व

आजादी के बाद लिखित हिन्दी साहित्य समेत सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का केन्द्रीय विषय एक ही रहा है – 'परम्परागत मूल्य भ्रमों से मुक्ति'। आजादी के बाद के कालखण्डों में रचित साहित्य में प्रमुख रूप से स्वप्न-मोहभंग, आत्मसंघर्ष और यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी तरह परम्परागत मूल्यों को तोड़ने से ही है। समकालीन साहित्य के केन्द्र में भी परम्परागत मूल्य भ्रमों से मुक्ति की छटपटाहट सहज ही अनुभूत है। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में भारतीय स्त्री वर्तमान जीवन की त्रासद स्थितियों के बीच परम्परागत मूल्यों से मुक्त होने की छटपटाहट में जीने-मरने के लिए विवश है। यद्यपि यह भी सत्य है कि परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध पूरी तरह खड़ी होने का सामर्थ्य वह अब तक विकसित नहीं कर पाई है। चूँकि, मानवीय चेतना एक भौतिक तत्त्व की मानसिक स्थिति होती है, इसलिए आलोच्य सन्दर्भ में कहना गलत न होगा कि अन्नपूर्णा मंडल के रूप में आज की स्त्री यदि इतिहास के प्रति सचेत होती है तो अपने आप को सृष्टि के आदि में ही देखती है जब रीढ़हीन केंचुओं का पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ होगा। शादी के उपरान्त पति के घर आ चुकी अन्नपूर्णा मंडल को घर के केवल दो स्थल ही अधिक याद आते हैं – पहला, रसोईघर तथा दूसरा, स्नानघर। ध्यातव्य है कि शादी के उपरान्त भारतीय स्त्रियों का गहरा सम्बन्ध घर की तीन जगहों से ही होता है – रसोई, स्नानघर और शयनकक्ष। प्रस्तुत कहानी में अन्नपूर्णा मंडल का अपनी नियति से साक्षात्कार रसोई और स्नानघर में ही होता है। वैसे भी घर की बैठक, खाने का कमरा, छत, दरवाजे, खिड़की और बरामदे आदि स्त्री के लिए नहीं होते।

अन्नपूर्णा मंडल के अन्तर्द्वन्द्व को एक परम्परागत परिपाटी के आलोक में समझना आवश्यक है जिसके मूल में एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि आखिर एक स्त्री की अपनी सामाजिक हैसियत क्या होती है! क्योंकि, आज भी भारतीय समाज में स्त्री की हैसियत उसके पति द्वारा निर्धारित होती है। हमारे समाज में स्त्री-सम्मान की यह नियति रही है कि उसके सम्मान की गारंटी केवल उसका पति हो सकता है। कहानी में अन्नपूर्णा मंडल के इस कथन "... वर्ना क्या अन्नपूर्णा और क्या उसके डाकिए बापू शिबू मंडल की औकात थी कि उन्हें रेलवे की स्थायी नौकरी वाला सुदर्शन वर मिलता?" के गहरे निहितार्थ हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि अन्नपूर्णा का अन्तर्द्वन्द्व केवल परिवेशजनित नहीं है अपितु उसमें वर्षों पुरानी परम्पराओं की जबरदस्त जकड़न भी है जहाँ निराश होकर वह आत्महत्या का वरण करती है। लेकिन किसी अन्तर्द्वन्द्व की परिणति अथवा समस्या का समाधान 'आत्महत्या' तो कतई नहीं हो सकता। यही वजह है कि कथाकार सुधा अरोड़ा स्त्रियों के लिए समुचित शिक्षा की वकालत करती हैं, क्योंकि अपने पैरों पर खड़े होने लायक शिक्षा और आर्थिक निर्भरता किसी भी स्त्री को अपने पर होने वाली यातना को पहचान पाने की इतनी ताकत तो देती ही है कि वह उससे बाहर निकलकर अपने लिए एक राह बनाए।

4.1.05.2. पुरुष समाज में निहित स्वार्थ की अभिव्यक्ति

सामाजिक परिवेश और उससे पैदा हुई विसंगतियाँ रचनाकार के सम्वेदनशील मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती हैं। परम्परापोषित पुरुषवर्चस्वशाली समाज में निहित पुरुष-स्वार्थ की अभिव्यक्ति 'अन्नपूर्णा मंडल की

आखिरी चिट्ठी' कहानी में परोक्ष रूप से ही सही किन्तु प्रभावपूर्ण ढंग से हुई है। अन्नपूर्णा मंडल के पूरे व्यक्तित्व में पुरुष समाज का स्वार्थ स्पष्ट रूप से झलकता है। अन्नपूर्णा मंडल का यह कथन कि "तुम फोन पर मेरा कुशल-क्षेम ही सुनना चाहते हो और मैं तुम्हें केंचुओं के बारे में कैसे बता सकती हूँ?" आधुनिक स्त्री-विमर्श के तमाम बिन्दुओं को अपने भीतर पूरी तरह समाहित कर लेता है। सही मायने में देखा जाए तो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ आज भी पुरुष समाज द्वारा ही निर्धारित और व्याख्यायित है। भारतीय समाज में स्त्रियों के लिए अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात है कि पुरुष (चाहे वह पिता, भाई, पुत्र या पति हो) क्या सुनना चाहता है। स्त्री-दासता से अभिनन्दित पुरुष समाज का भय स्त्री को मानसिक तौर पर आतंकित करता है। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी की स्त्री का भय देखिए – "... मुझे डर लगता है कहीं मेरे पति घर में घुसते ही इन चप्पलों की चटाख-चटाख बौछार न कर दें।" अन्नपूर्णा मंडल की कहानी अपने में लम्बी कालावधि की स्त्री दास्तान को समेटे हुए है जिसमें स्वार्थी पुरुष प्रधान समाज के बरअक्स स्त्री-चेतना के विविध आयामों का आकलन किया जा सकता है।

4.1.06. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' का शिल्पगत वैशिष्ट्य

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी पत्रात्मक शैली तथा यथार्थवादी शिल्प में लिखी गई एक विशिष्ट रचना है। अन्नपूर्णा मंडल के रूप में स्त्री मनोदशा का जीवन्त चित्रण कहानी का सशक्त पहलू है, जहाँ यथार्थ के कई अनछुए पक्ष उद्घाटित हुए हैं। उल्लेखनीय है कि पितृसत्ता के अन्यायों की पहचान तथा प्रतिकार के साथ-साथ दायित्वों के बोध व अंगीकार का सामंजस्य और विवेक आधुनिक भारतीय स्त्री को अपेक्षाकृत दृढ़ बनाए हुए है। वैसे तो कहानी के समापन में नायिका अन्नपूर्णा मंडल आत्महत्या का चुनाव करती है, लेकिन कहानी में यह 'आत्महत्या' की सामान्य घटना नहीं है, अपितु इसमें सदियों की सामाजिक मान्यताओं और रूढ़ियों को तिरोहित करने का माद्दा है। अन्नपूर्णा मंडल अपने सोचने-समझने व कहने की सहजता से यह अहसास दिला जाती है कि आधुनिक भारतीय स्त्री का अपने समय के साथ केवल संवाद ही नहीं, अपितु अपने संवाद के माध्यम से स्त्री-समय की निर्मिति, पहचान, व्याख्या, उसके परिवर्तन की योजना और आयोजन में भी उसकी अपनी हिस्सेदारी भी है।

कथाकार सुधा अरोड़ा मिली-जुली भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण परिनिष्ठित और शुद्ध भाषा-प्रयोग के प्रति आग्रही नहीं है। भाव-स्थितियों के मूर्तीकरण के लिए जिस किसी स्रोत से शब्द मिले, उन्हें वे अपना लेती हैं। अपनी कहानियों में वे तत्सम (दिव्य, एकान्त, पूर्ण, कपालकुण्डला, विराट, व्योम, परम, आज्ञाकारिणी), तद्भव (सत्रह, महीना, दूसरा, सपना, घर), देशज (पोखर, पिलपिला, गिजगिजी, खत, मरगिल्ली, बिछुआ, झाँझर, चटाख, बिटर) और विदेशी (सूद, ऑफिस, नकल, दहशत) शब्दों का सन्दर्भानुकूल प्रयोग करती हैं।

कहानी का शीर्षक 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी की मूल कथावस्तु व उसकी सम्वेदना के सर्वथा अनुकूल है। यह शीर्षक कथाकार की भाषागत रुचि की ओर भी संकेत करता है और उसे उसका

आवश्यक व अनिवार्य भाग माना जाना ही ज्यादा तर्कसंगत है। यह शीर्षक सधा हुआ और सोच-समझकर निर्धारित किया गया है जो पाठकीय कौतूहल में वृद्धि करने में समर्थ है और सम्पूर्ण कहानी के मन्तव्य को भी अपने में समेटे हुए है।

4.1.07. पाठ सार

'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कथाकार सुधा अरोड़ा की एक अति विशिष्ट कहानी है जिसमें आधुनिक भारतीय स्त्री की मानसिकता और पारिवारिक सम्बन्ध बड़ी कुशलता से समाविष्ट किए गए हैं। कथाकार सुधा अरोड़ा समकालीन भाववादी-व्यक्तिवादी कथाकारों से भिन्न यथार्थवादी रचनाकार हैं। वरिष्ठ रचनाकार व चिन्तक मुद्राराक्षस के शब्दों में "कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' की पृष्ठभूमि पर चर्चा करते हुए हमें अपने समाज में नारी की गुत्थियों पर प्रकाश डालना अति आवश्यक प्रतीत होता है। अन्नपूर्णा मंडल के माध्यम से स्त्री जीवन पर कथाकार की टिप्पणी अत्यन्त मार्मिक है कि "इन दोनों के रूप में तुम्हारी बेटी तुम्हें सूदसहित वापस लौटा रही हूँ। इनमें तुम मुझे देख पाओगे शायद।" इस कहानी की मूल सम्वेदना स्त्री के एकरस जीवन, उसकी सहनशीलता और उसके द्वारा परम्परा के साथ मजबूरन किए गए समझौतों से सम्बन्धित है जो स्त्री-जीवन की एक भयंकर त्रासदी है।

4.1.08. कठिन शब्दावली

द्यूतक्रीड़ा	–	जुआ
अवसाद	–	विषाद, दुःख
तिरोहित	–	अदृश्य
व्योम	–	आकाश
पोखर	–	तालाब
झाँझर	–	पैजनी

4.1.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. अरोड़ा, सुधा, औरत की कहानी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
2. अरोड़ा, सुधा, श्रेष्ठ कहानियाँ, डायमंड बुक्सप्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली.
3. सिंह, नामवर, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, नई दिल्ली.
4. अरोड़ा, सुधा, एक औरत की नोटबुक, मानव प्रकाशन, कोलकाता.
5. अवस्थी, देवीशंकर, नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
6. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़.
7. यादव, राजेन्द्र, कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

4.1.10. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी कहानी के विकास में सुधा अरोड़ा के अवदान पर प्रकाश डालिए।
2. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' की शिल्प-योजना पर विचार कीजिए।
3. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी के मूल प्रतिपाद्य का विश्लेषण कीजिए।
4. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी के आधार पर सुधा अरोड़ा की कथा-दृष्टि का प्रतिपादन कीजिए।
5. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में अभिव्यक्त स्त्री-विमर्श की समीक्षा कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' की कथावस्तु रचनात्मक प्रतिवाद की व्यंजना में लक्षित की जा सकती है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।
2. "कथाकार सुधा अरोड़ा की कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' छोटे आकार में महागाथा है।" उक्त कथन की पुष्टि कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सामाजिक बदलाव की पहली शर्त है –
   (क) आर्थिक आत्मनिर्भरता
   (ख) सामाजिक विद्रोह
   (ग) कानून व विधि अनुकूलता
   (घ) उपर्युक्त सभी

2. 'तू तो माँ अन्नपूर्णा है, देवीस्वरूपा' – कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' में यह कथन किसके द्वारा कहा गया है ?
   (क) अन्नपूर्णा मंडल का
   (ख) बाबला का
   (ग) शिबू मंडल का
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' पर किस रचनाकार का एक चिन्तनपरक आलेख बहुचर्चित हुआ ?
   (क) मधुरेश
   (ख) मुद्राराक्षस
   (ग) राजेन्द्र यादव
   (घ) रमणिका गुप्ता

4. कहानी में अन्नपूर्णा मंडल का अपनी नियति के साथ समूचा साक्षात्कार किन-किन स्थलों पर होता है ?
   (क) रसोई और स्नानघर
   (ख) रसोई और शयनकक्ष
   (ग) शयनकक्ष और स्नानघर
   (घ) रसोई, शयनकक्ष और स्नानघर

5. 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य है –
   (क) मानवी से भोग्या वस्तु में तब्दील स्त्री की अस्मिता का आख्यान
   (ख) सदाचार एवं त्याग का उद्घाटन
   (ग) परम्पराओं का विरोध
   (घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : कहानी

इकाई – 2 : अम्मा – ओमप्रकाश वाल्मीकि

इकाई की रूपरेखा

4.2.00. उद्देश्य कथन
4.2.01. प्रस्तावना
4.2.02. ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व
4.2.03. ओमप्रकाश वाल्मीकि का रचना-संसार
4.2.04. दलित जीवन-संघर्ष एवं दलित साहित्य की वैचारिकी
4.2.05. ओमप्रकाश वाल्मीकि की सामाजिक एवं साहित्यिक दृष्टि
4.2.06. ओमप्रकाश वाल्मीकि के कथा-साहित्य में विचार और कथ्य
4.2.07. 'अम्मा' कहानी की संक्षिप्त कथावस्तु
4.2.08. 'अम्मा' कहानी का मूल प्रतिपाद्य एवं कथानक विस्तार
4.2.09. 'अम्मा' कहानी में दलित जीवन की समस्याएँ और संभावनाएँ
4.2.10. सहज मानवीय भावनाओं एवं श्रम-आधारित जीवन
4.2.11. 'अम्मा' कहानी के प्रमुख पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य
4.2.11.1. अम्मा
4.2.11.2. सुकड़ू
4.2.11.3. शिवचरण
4.2.11.4. मुकेश
4.2.12. 'अम्मा' कहानी का शिल्प और भाषिक सौन्दर्य
4.2.13. पाठ सार
4.2.14. बोध प्रश्न
4.2.15. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.2.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई वरिष्ठ दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की चर्चित कहानी 'अम्मा' पर आधारित है। इस पाठ के अन्तर्निहित लक्ष्य हैं कि इसका अध्ययन करने के उपरान्त आप समतावादी समाज व्यवस्था के निर्माण में अपने योगदान का मूल्यांकन कर सकें। 'अम्मा' कहानी के माध्यम से अछूत दलित जाति समुदाय की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक और नैतिक स्थिति का अध्ययन-चिन्तन-मनन करें। यह समझ सकें कि चारित्रिक दृढ़ता, आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता किसी भी मनुष्य के चरित्र को गौरवशाली बनाते हैं। शिक्षा के महत्त्व को समझ सकें। यह जान सकें कि किसी भी जाति, वर्ग, समुदाय की प्रगति का मार्ग केवल 'शिक्षा' के माध्यम से ही प्रशस्त किया जा सकता है। साथ ही, शोषकों के प्रति शोषितों के आक्रोश और विद्रोही भाव के औचित्य को समझ सकें। प्रत्यक्ष रूप से इस पाठ का उद्देश्य है कि आप समझ सकें कि –

i. भारतीय समाज में व्याप्त विषमता का मूल कारण वर्ण और जाति व्यवस्था है।

ii. भारतीय समाज में जाति के अनुसार पैतृक रोजगार निश्चित किए गए हैं जो आज भी अधिकांशतः उसी रूप में किए जा रहे हैं।

iii. भारतीय समाज में अछूत जातियों में सफाईकर्मी जातियों की स्थिति सर्वाधिक पिछड़ी, अशिक्षित, शोषित और अभावग्रस्त है जिसका संताप उस जाति की स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अधिक सहती हैं।

iv. चरित्र के प्रति निष्ठा, सामाजिकता और मानवता का भाव अछूत जाति की स्त्रियों में भी उतना ही होता है जितना तथाकथित कुलीन जातियों की स्त्रियों में। कामगार स्त्रियाँ होने के कारण अपनी अस्मिता के रक्षार्थ उन्हें प्रतिदिन संघर्ष करना पड़ता है।

v. दलित अछूत जाति की स्त्रियाँ परिवार और समाज के जीवन-व्यवहार में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

4.2.01. प्रस्तावना

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ दलित जीवन की सम्वेदनशीलता और अनुभवों की कहानियाँ हैं, जो एक ऐसे यथार्थ से साक्षात्कार कराती हैं, जहाँ हजारों साल की पीड़ा अँधेरे कोने में दुबकी पड़ी है। उनकी कहानियों में दलितों के जीवन-संघर्ष, उनकी व्यथा तथा छटपटाहट का जीवन्त चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं के माध्यम से लेखक ने शोषित वर्ग की पीड़ा को मुखरता दी है, साथ ही सामाजिक विसंगतियों पर करारी चोट भी की है। 'अम्मा' कहानी की नायिका श्रम-संघर्ष के साथ कष्टमय अभाव का जीवन जीती है मगर अपने उसूलों को नहीं छोड़ती। यह इस कहानी का केन्द्रीय भाव है, जो 'अम्मा' के चरित्र को सशक्तता प्रदान करता है। सन् 2000 ई. में प्रकाशित 'सलाम' कहानी-संग्रह में संकलित 'अम्मा' कहानी उत्तर भारत के सामाजिक जीवन में दलित अछूतों की दारुण स्थिति तथा अछूत परिवारों में स्त्रियों की संघर्षमय स्थिति का प्रामाणिक चित्रण है। 'अम्मा' कहानी दलित साहित्य की प्रतिनिधि रचनाओं में अग्रणी है। यह कहानी दलित जीवन की अनेक समस्याओं की वस्तुस्थिति को उजागर करती है। 'अम्मा' कहानी का अध्ययन दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के अन्तर्गत किया जाना चाहिए।

साधारणतः कोई भी साहित्यकार जिस परिवेश से सम्बन्ध रखता है, प्रधान रूप से उसी परिवेश की समस्याओं को वह अपने साहित्य में निरूपित करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दू समाज के जिस वर्ण और जाति से सम्बन्धित हैं, वहाँ व्यक्ति की पहचान उसके नाम से नहीं बल्कि जाति से होती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अम्मा का चित्रण इसी रूप में किया है, जहाँ वह अपने नाम से नहीं, बल्कि अपने जातिगत काम से पहचानी जाती है। अम्मा नैतिक दृष्टि से चरित्रवान स्त्री है। चरित्र की रक्षा के लिए वह अपने हित को महत्त्व नहीं देती, लाभ छोड़कर हानि स्वीकार करती है। वह स्वावलम्बी रहकर स्वाभिमान के साथ जीना चाहती है। बड़ा बेटा शिवचरण और बिसन का बेटा मुकेश जब अम्मा के सिद्धान्तों के विरुद्ध काम करते हैं, तब वह दुःखी हो जाती है।

4.2.02. ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून 1950 को उत्तरप्रदेश के मुजफ्फरनगर जनपद के अन्तर्गत बरला गाँव में एक दलित वाल्मीकि परिवार में हुआ। उनकी शिक्षा पहले बरला गाँव और बाद में देहरादून के स्कूल-कॉलेज में हुई। बचपन से ही दलित अछूत जीवन के कड़वे अनुभवों को सहते हुए और निर्धनता तथा अभावग्रस्त जीवन को जीते हुए उन्होंने अपनी युवावस्था का समय गुजारा। उनके परिवार में पाँच भाई, दो बहन, दो चाचा, एक ताऊ और माता-पिता थे। उनकी माता का नाम मुकन्दी, पिता का नाम छोटेलाल और दादा का नाम जाहरिया था। परिवार में सबसे छोटा होने के कारण उन्हें लाड़-प्यार मिला और शिक्षा-प्राप्ति हेतु प्रेरित किया गया। अनेक सामाजिक कठिनाइयों को सहते हुए उन्होंने सन् 1964 ई. में त्यागी इन्टर कॉलेज से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1966 ई. में वे 12वीं कक्षा में अध्ययनरत थे। अपने पूर्वाग्रह के कारण उनके रसायनशास्त्र के अध्यापक ने उन्हें रसायनशास्त्र का प्रेक्टीकल नहीं करने दिया फलतः वे 12वीं कक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके। अगले वर्ष सन् 1967 ई. में उन्होंने डी.ए.वी. इन्टर कॉलेज, देहरादून से 12वीं कक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1968 ई. में वे आर्डिनेंस फैक्टरी ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट, जबलपुर के लिए चुने गए। वहाँ से ड्राफ्टमेन के उच्च प्रशिक्षण के लिए जुलाई 1970 में अंबरनाथ, मुम्बई आये। जून 1985 तक वे चन्दपुर में रहे। वहाँ से ट्रांसफर होकर पुनः देहरादून आने के बाद अपनी बी.ए. और एम.ए. की पढ़ाई उन्होंने हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर से क्रमशः सन् 1990 ई. और सन् 1992 ई. में पूरी की।

इन्टर में प्रवेश के बाद के अनेक अनुभव उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखे हैं। आर्थिक कठिनाई और पारिवारिक परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़कर ट्रेनिंग लेकर नौकरी करना आवश्यक समझा। ट्रेनिंग और नौकरी के दौरान उन्हें महाराष्ट्र में रहना पड़ा। यहाँ उनका परिचय अनेक साहित्यकारों और नाटककारों से हुआ। महाराष्ट्र के दलित लेखकों और उनके द्वारा विरचित दलित साहित्य ने ओमप्रकाश वाल्मीकि को गहरे प्रभावित किया। महाराष्ट्र में निवास के दौरान उन्होंने अम्बेडकरवादी दलित आन्दोलन को भी नजदीक से देखा और समझा। साथ ही अनेक दलित आन्दोलनकारियों से भी उनका सम्पर्क हुआ। दलित साहित्य और दलित आन्दोलन के व्यापक अध्ययन के प्रभावस्वरूप उनके लेखन में अम्बेडकरवादी विचारधारा का समावेश हुआ। उनकी कहानियाँ और कविताएँ अम्बेडकरवादी दलित पत्रिकाओं में छपने लगीं और एक सम्वेदनशील दलित साहित्यकार के रूप में उनकी पहचान बनी। सन् 1998 ई. से सन् 2001 ई. तक उन्होंने जबलपुर में नौकरी की। नौकरी के साथ ही वे वहाँ के साहित्यिक वातावरण से भी लाभान्वित होते रहे।

जनवरी 2010 में सेवानिवृत्ति के बाद वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में शोधरत रहे। इस बीच उनकी तबीयत लगातार खराब रही। आँत के केंसर के ऑपरेशन के बाद भी वे शोधकर्म में निरन्तर रत रहे। 17 नवम्बर 2013 को उनका निधन हो गया। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी दलित साहित्य के प्रतिष्ठित और स्थापित साहित्यकार हैं। उनके द्वारा विरचित साहित्य उनके विचारों को पाठकों तक पहुँचाकर समता, एकता और बन्धुत्व भाव का निर्माण सतत् रूप से कर रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि निःसन्तान थे लेकिन सन्तान न होने का

दुःख उन्होंने कभी नहीं माना। वे कहते थे – "मेरे साहित्य को पढ़ने वाले, मेरे मन के भाव समझने वाले शोधार्थी-छात्र ही मेरी सन्तान हैं।"

4.2.03. ओमप्रकाश वाल्मीकि का रचना-संसार

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी दलित साहित्य के प्रसिद्ध, लोकप्रिय और स्थापित साहित्यकार हैं। उन्होंने कविता, कहानी, नाटक, आत्मकथा, वैचारिक लेख, समीक्षा आदि अनेक साहित्यिक विधाओं में लेखन-कार्य किया है। उनकी आत्मकथा 'जूठन' का अनुवाद देश-विदेश की अनेक भाषाओं में हुआ है। उनके द्वारा विरचित रचनाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) कविता-संग्रह – सदियों का संताप (सन् 1989 ई.), बस ! बहुत हो चुका (सन् 1997 ई.), अब और नहीं (सन् 2009 ई.), शब्द झूठ नहीं बोलते (सन् 2012 ई.)
(2) आत्मकथा – जूठन पहला भाग (सन् 1997 ई.), जूठन दूसरा भाग (सन् 2015 ई.)
(3) कहानी-संग्रह – सलाम (सन् 2000 ई.), घुसपैठिए (सन् 2003 ई.), छतरी (सन् 2013 ई.)
(4) आलोचना – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (सन् 2001 ई.), सफाई देवता (सन् 2007 ई.), मुख्यधारा और दलित साहित्य, दलित साहित्य : अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ (सन् 2013 ई.)
(5) नाटक – दो चेहरे (सन् 2012 ई.), उसे वीर चक्र मिला था
(6) अनुवाद – मराठी कवि अरुण काले के कविता-संग्रह का मराठी से हिन्दी अनुवाद 'सायरन का शहर', कांचा इलैय्या की अंग्रेजी पुस्तक 'व्हाई आई एम नॉट ए हिन्दू' का हिन्दी अनुवाद 'मैं हिन्दू क्यों नहीं', लोकनाथ यशवंत की मराठी कविताओं का हिंदी अनुवाद
(7) सम्पादन – 'प्रज्ञा साहित्य' पत्रिका के दलित साहित्य विशेषांक के अतिथि सम्पादक (सन् 1995 ई.), 'तीसरा पक्ष' त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादकीय सलाहकार

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अनेक नाटकों में अभिनय भी किया है। अभिनय के साथ कुछ नाटकों का निर्देशन भी किया है। इनके नाटक 'दो चेहरे' का नाट्य संस्थाओं ने मंचन किया है। 'जूठन' के हिन्दी एवं पंजाबी भाषा में नाट्य रूपान्तर की लुधियाना, जालन्धर, चंडीगढ़, कैथल आदि शहरों में मंचन कर प्रस्तुति की गई है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाएँ महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मलित की गई हैं तथा उन पर निरन्तर अनेक शोधकार्य हो रहे हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि को अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है जिनमें अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार, सन् 1993 ई., परिवेश सम्मान, सन् 1995 ई., जयश्री सम्मान, सन् 1997 ई., कथाक्रम सम्मान, सन् 2001 ई., आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन न्यूयार्क अमेरिका सम्मान, सन् 2006 ई., साहित्य भूषण सम्मान, सन् 2007 ई. एवं उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ सम्मान प्रमुख हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का लेखन भाषा, शिल्प और विचार सभी दृष्टियों से सुदृढ़ माना जाता है। दलित कहानीकार के रूप में वे सबसे सशक्त साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने साहित्य में दलित अछूत जीवन की पीड़ा,

प्रताड़ना, त्रासदी, संघर्ष और अपमान को बहुत गहराई के साथ चित्रित किया है। उनकी आत्मकथा 'जूठन' उनके अपने भुक्त जीवन का सत्य है।

4.2.04. दलित जीवन-संघर्ष एवं दलित साहित्य की वैचारिकी

दलित जीवन-संघर्ष की तमाम स्थितियाँ ही दलित साहित्य का स्रोत और आधार बनी हैं। इस वस्तुसत्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि दलित आत्मकथाओं में इन्हीं स्थितियों का जीता-जागता चित्रण है। स्वतन्त्रता-पूर्व वर्णभेद और जातिभेद से उत्पन्न छुआछूत, अपमान, अन्याय और अत्याचार की स्थितियाँ स्वतन्त्रता के बाद भी समाज के व्यावहारिक जीवन में मौजूद रही हैं जिन्हें अभी भी यहाँ-वहाँ देखा जा सकता है। दलित अत्याचार की घटनाएँ अखिल भारतीय स्तर पर अभी भी घट रही हैं। दक्षिण भारत में दलित उत्पीड़न से मुक्ति का आन्दोलन लम्बे समय तक चला है। उत्तर भारत में गुजरात का ऊणा काण्ड, महाराष्ट्र का खैरलांजी काण्ड, धर्मपुर में हिंसा, राजस्थान में हिंसा, हरियाणा का गोहाना अग्निकाण्ड, मिर्चपुर नारायणपुर बेलछी का हत्याकाण्ड आदि घटनाओं से सिद्ध है कि पूरे देश में दलित उत्पीड़न की परम्परा लगातार जारी है। दबंग जातियाँ वजह-बेवजह दलितों पर अत्याचार करती हैं। जूठन और उतरन पर जीने के लिए विवश किए दलितों की प्रगति अभी भी असहनीय है। दलितों के लिए पाँवों में चप्पल पहनना, सवर्णों के सामने खाट पर बैठना, दूल्हे का बारात में घोड़े पर बैठना, मन्दिर परिसर के नजदीक जाना जैसी कुप्रथाएँ आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में अपराध मानी जाती हैं जिसका दण्डस्वरूप सामूहिक नरसंहार, अग्निकाण्ड, खुलेआम बलात्कार और पूर्णतः बहिष्कार जैसी घटनाओं घटित होती हैं। यह प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता, संस्कृति और गौरवशाली इतिहास के लिए कलंकहै। आज इस विषय पर विचार-विमर्श किया जाना आवश्यक है कि कैसे इन अत्याचारों का अन्त करके एक समतामूलक समाज की स्थापना की जा सकती है।

महाराष्ट्र में चवदार तालाब आन्दोलन और कालाराम मन्दिर प्रवेश आन्दोलन के साथ ही दलित आन्दोलन ने तीव्र गति से विस्तृत रूप ग्रहण कर लिया था जिससे दलित जाग्रति अभियान में भी तेजी आई। सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरित हो साहित्य में भी दलित जीवन की व्यथा-कथाएँ लिखी जाने लगीं। दलित रचनाओं को छापने के लिए पृथक् से दलित विमर्शमूलक पत्रिकाओं और समाचार पत्रों के प्रकाशनों में भी गति आई फलतः इन घटनाओं और विचारों का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से सम्भव हो सका। डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर ने सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षणिक स्तरों के साथ ही लेखन, प्रकाशन और सम्पादन के स्तरों पर भी जनजागृति का आन्दोलन चलाया था, दलित साहित्य उन्हीं प्रयासों का वृहत रूप है।

दलित साहित्य दलित आन्दोलन का एक माध्यम है। स्वतन्त्रता से पूर्व सम्पूर्ण भारत में वर्णव्यवस्था, जाति-व्यवस्था, छुआछूत, अन्याय और शोषण के विरुद्ध अनेक आन्दोलन अस्तित्व में आए। महाराष्ट्र और पंजाब में आदिधर्म आन्दोलन, उत्तरप्रदेश में आदिहिन्दू आन्दोलन, तमिलनाडु में आदिद्रविड आन्दोलन, बंगाल में नमोशूद्र आन्दोलन, केरल में नारायण स्वामी गुरु आन्दोलन, तटीय आन्ध्रप्रदेश में आदिआन्ध्र आन्दोलन, हैदराबाद में आदिहिन्दू आन्दोलन, महाराष्ट्र में अम्बेडकरवादी दलित आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सन् 1972 ई.

में 'दलित पेंथर' की स्थापना के साथ दलित आन्दोलन में तीव्रता आई जिसने दलित चेतना और दलित अस्मिता को जाग्रत किया। दलित साहित्य-लेखन को इन सबसे आन्तरिक ऊर्जा मिली। इन आन्दोलनों की वैचारिकी ही दलित साहित्य की वैचारिकी बनी है।

4.2.05. ओमप्रकाश वाल्मीकि की सामाजिक एवं साहित्यिक दृष्टि

ओमप्रकाश वाल्मीकि का लेखन दलित साहित्य-विमर्श में एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है। उन्होंने दलित-जीवन की पीड़ा, दर्द और संघर्ष के स्वर को व्यापकता के साथ प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य पर मराठी दलित साहित्यकारों एवं दलित आन्दोलन का प्रभाव देखा जा सकता है। सशक्त दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित विमर्श को व्यापकता के साथ हिन्दी साहित्य में शीर्ष पर स्थापित किया। दृढ़ता और प्रतिबद्धता उनकी पहचान है। उनके लेखन के केन्द्र में जातिभेद, अपमान, अन्याय, अत्याचार और दलितों का संघर्ष है। उनकी कविता, कहानी, आत्मकथा, वैचारिक समीक्षाएँ आदि भाषा, शिल्प और सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट रूप में सराहनीय हैं। उनका मानना है कि दलित-लेखन केवल दलितों के अधिकार एवं मूल्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक सन्दर्भों के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बनता है। वे धर्म जैसी मान्यताओं को मनुष्य के लिए गैर-ज़रूरी मानते हैं। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण को उन्होंने दलितों के विकास में बाधक और आरक्षण-विरोधी माना। दलित साहित्य ने अम्बेडकरवादी विचारधारा को ऊर्जा का केन्द्र माना है। साथ ही बुद्ध के अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, समता, एकता, भाईचारे को स्वीकार किया है। दलित साहित्य ब्राह्मणवाद, सामन्तवाद, धार्मिक जड़ता, आडम्बरवाद, अधिनायकवाद, वर्णवाद, जातिवाद, स्त्री-पुरुष भेद के साथ ही विषमतावादी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने रचनाकर्म द्वारा इस अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया है। वे वैवाहिक मूल्यों और स्त्री के चरित्र की पवित्रता को महत्त्वपूर्ण मानते थे। 'अम्मा' कहानी उनकी इस विचारधारा का सशक्त उदाहरण है।

4.2.06. ओमप्रकाश वाल्मीकि के कथा-साहित्य में विचार और कथ्य

गद्य-साहित्य में कहानी विधा पाठकों में सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। संभवतः इसीलिए साहित्यकारों ने कहानी विधा में ही अपेक्षाकृत अधिक लेखन किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं – 'सलाम', 'घुसपैठिए' और 'छतरी'। 'सलाम' कहानी-संग्रह में सलाम, बैल की खाल, सपना, भय, कहाँ जाए सतीश, जिनावर, कुचक्र, अम्मा, खानाबदोश, गोहत्या, ग्रहण, पच्चीस चौका डेढ़ सौ, बिरम की बहू और अंधड़ कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों में लेखक का स्वयं का संघर्ष दिखाई देता है। सभी कहानियों के पात्र दलित समाज के पीड़ित, अपमानित एवं अभावग्रस्त जनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे अपने पूरे जीवन संघर्ष से जूझते नजर आते हैं। कहानियों में वातावरण का सृजन इन्हें सजीव और यथार्थ रूप प्रदान करता है। इन कहानियों में जीवन की विसंगतियाँ, समस्याएँ, अन्धविश्वास, अपमान, अन्याय, अत्याचार का यथार्थ निरूपण हुआ है। 'सलाम' कहानी सलाम करने की अन्यायपूर्ण परम्परा को तोड़ती है। वहीं 'अम्मा' कहानी अपनी खुद्दारी और

अपने सिद्धान्तों पर अडिग एक दलित नारी के चरित्र को उजागर करती है। 'बैल की खाल' कहानी मरे हुए बैल के प्रसंग पर केन्द्रित है। 'सपना' कहानी मन्दिर के बदले कॉलेज बनाए जाने के कभी न सच होने वाले सपने को लेकर बुनी गई है। 'खानाबदोश' कहानी में सुकिया और मानो के माध्यम से ईंट-भट्ठों पर श्रम करने वाले मजदूरों के साथ किए जा रहे धोखे और बेईमानी की दास्तान बयां करती है जिसके कारण उन्हें खानाबदोश का जीवन जीना पड़ता है। 'गोहत्या' कहानी बेकसूर श्रमजीवी दलित और उसकी पत्नी को फँसाये जाने की व्यथा-कथा है। 'कहाँ जाये सतीश' में जातिभेद के कारण किराये के घर को हासिल न कर पाने की समस्या अभिव्यक्त हुई है। 'जिनावर' कहानी में ससुर द्वारा बहू का शोषण उद्घाटित हुआ है। इस तरह उक्त सभी कहानियाँ अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में जातिभेद, अन्याय, अपमान, आर्थिक शोषण, अत्याचार और स्त्री-शोषण के भयग्रस्त जीवन की कहानियाँ हैं।

'घुसपैठिए' कहानी-संग्रह में घुसपैठिए, यह अन्त नहीं, मुम्बई काण्ड, शवयात्रा, प्रमोशन, कूड़ाघर, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, दिनेश पाल जाटव उर्फ दिग्दर्शन, रिहाई, ब्रह्मास्त्र, हत्यारे और जंगल की रानी कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों में दलित जीवन का मार्मिक चित्रण हुआ है। कहानियों के शीर्षक से ही इन कहानियों के कथानक का अनुमान किया जा सकता है। 'शवयात्रा' सबसे चर्चित कहानी रही है जो दलितों के बीच भी जातिभेद के मुद्दे को उठाती है। 'यह अन्त नहीं' कहानी गाँवों में दलित स्त्रियों के शोषण की कथा है। 'घुसपैठिए' कहानी भी दलितों के संघर्ष की व्यथा-कथा है। गाँवों से पलायन कर शहरों में बसने के बाद भी दलितों को अपमान सहना पड़ता है। शहर में, मेडीकल कॉलेज में, हॉस्टल में, बस में सभी जगह दलित विद्यार्थियों के साथ जातिभेद, अपमान और मारपीट होती है। दिनेश पाल जाटव को 'जाटव' सरनेम लिखने से प्रताड़ना सहनी पड़ती है। वह 'जाटव' है, केवल इसी कारण उसे कहीं भी नौकरी नहीं मिलती। तब वह 'जाटव' सरनेम के बदले 'दिग्दर्शन' सरनेम लिखने लगता है। सरनेम में परिवर्तन होते ही उसे अखबार में उपसम्पादक की नौकरी मिल जाती है। जाति के कारण कई पात्रों में हीन-भावना भी है। कहीं जाति छिपाने का प्रयत्न भी है। 'कूड़ाघर' कहानी भी जाति-व्यवस्था पर कटाक्ष करती है।

'छतरी' कहानी-संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। इसकी भूमिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं – "दलित जीवन की विसंगतियों, विषमताओं, अनुभवों, संघर्षों, सरोकारों और उनकी जिजीविषा को उकेरती ये कहानियाँ भारतीय जीवन की सामाजिक व्यवस्था के भीतर छिपी अमानवीयता को भी उघाड़ने की कोशिश करती हैं।" इस संग्रह में बारह कहानियाँ संकलित हैं – छतरी, चिड़ीमार, प्रायवेट वार्ड, गौकशी, शाल का पेड़, रमेसरी अथकथा, बपतिस्मा, मकड़जाल, बन्धुआ लोकतंत्र कंडक्टरी, मंगलवार, आउट सोर्स।

'छतरी' कहानी में जय नामक दलित छात्र की छतरी को शिक्षक लड़कों को पीटने के लिए डंडे की तरह उपयोग में लाकर जान-बूझकर उस छतरी को तोड़ देता है। यह गरीब दलित पात्र के साथ अन्याय है। 'चिड़ीमार' कहानी में एक दलित लड़की के साथ छेड़खानी और उसे डराने-धमकाने के प्रसंग हैं। 'प्रायवेट वार्ड' कहानी जातिभेद से दुःखी दलित लड़की की कहानी है। 'गौकशी' में बेगुनाहों को फँसाने और उन्हें पीड़ित करने का षड्यन्त्र है। 'रमेसरी अथकथा' में दलितों को प्राप्त आरक्षण के विरुद्ध सवर्णों का आक्रोश व्यक्त हुआ है। 'शाल

का पेड़' प्रतीकात्मक कहानी है। यहाँ दलित अधिकारियों के साथ होने वाले अपमान के प्रसंग हैं। 'बंधुआ लोकतंत्र' कहानी में चौधरी भूपसिंह सरपंच की आरक्षित सीट पर दलितों को चुनाव लड़ने से रोकता है। 'मकड़जाल' जातिवाद की कहानी है। 'कंडक्टरी' कहानी बताती है कि गाँव में दलित दूल्हे को बारात में घोड़ी पर बैठने नहीं दिया जाता है, जिससे सभी दलित भयभीत रहते हैं। 'मंगलवार' कहानी में मंगलवार को हनुमान के प्रतीक बन्दरों को चने खिलाने की कथा है। इस अन्धविश्वास के कारण रणदीप को अपनी जान गँवानी पड़ती है। 'आउट सोर्स' कहानी में ठेकेदारी प्रथा द्वारा गरीब मजदूरों और छोटी नौकरी वालों के शोषण को बयां किया गया है। इस तरह सभी कहानियाँ सामाजिक विषमता, अन्धविश्वास, दलितों के अपमान, अन्याय और शोषण की व्यथा-कथा कहती हैं।

4.2.07. 'अम्मा' कहानी की संक्षिप्त कथावस्तु

'अम्मा' कहानी की अम्मा कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि यह एक प्रतिनिधि पात्र है जो सफाई का काम करने वाले जाति समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। "यह कहानी अम्मा की है आप कह सकते हैं, लेकिन किसी एक अम्मा की नहीं। न जाने कितनी अम्मा सुबह-सबेरे हाथ में झाड़ू-कनस्तर थामे हुए गली-मुहल्लों में मिल जाएँगी, जिनका जर्जर शरीर वक्त के थपेड़े खाकर पुराने दरख्त की तरह समय के साथ गलने लगा है।" (पृष्ठ 113) अम्मा का नाम कोई नहीं जानता। अम्मा के पति का नाम सुकडू था। ससुराल में उसे सुकडू की बहू कहते थे। पहले अम्मा स्वस्थ और जवान थी। बुढ़ापे में घिसटकर धीमे कदमों से चलती है। पहला बेटा शिवचरण होने के बाद पति उसे शिबु की अम्मा कहता था। बाद में सब उसे अम्मा कहने लगे थे। सत्तर वर्ष की अम्मा का नाती-पोतों से भरा परिवार है। वह जोड़ों के दर्द से परेशान है, फिर भी दस-पन्द्रह घरों में सफाई का काम करती है। विवाह के बाद उसकी सास उसे मालिकों के घर 'सलाम' के लिए ले गयी थी। सास ने ही उसे शौचालयों की सफाई का काम सिखाया था। वे अपने लिए कप या गिलास अलग रखते थे। शिवचरण, बिसन और किरण उसके दो बेटा और एक बेटी थे। सास-ससुर, देवर-देवरानी सबका सम्मिलित कुटुम्ब-परिवार था। पति और देवर की कमाई कम थी। सरदार प्रीतम सिंह के बड़े कर्ज की किस्त भी हर माह देते थे।

अम्मा के हिस्से पन्द्रह घरों के काम थे। चौपड़ा के घर उसे अधिक आमदनी होती थी। चौपड़ा दिन भर अपनी कपड़ों की दुकान में रहता, बच्चे स्कूल चले जाते। तब चौपड़ा की पत्नी से मिलने अक्सर कोई आदमी आता था। एक दिन अम्मा उन दोनों को आपत्तिजनक स्थिति में देखती है। अम्मा मिसेस चोपड़ा से नफरत करती है। चोपड़ा की पत्नी उसे पाँच रुपये से बढ़कर दस रुपये प्रति माह देती है और उसे खुश करने के लिए मीठी बातें करती है।

एक दिन मिसेज चोपड़ा बाथरूम में थी। उसका प्रेमी विनोद अम्मा को पानी देने के साथ उसे जबरदस्ती पकड़ता है। इस पर अम्मा उसे झाड़ू से बुरी तरह मारती है। वह चोपड़ा के घर का काम अपनी साथी हरदेई को बेच देती है। इस पर अम्मा की सास उसे बहुत डाँटती और गालियाँ देती है फिर भी वह चोपड़ा के घर काम नहीं करती। सुकडू उसे रुपये देता है कि हरदेई को बीस रुपये लौटाकर चोपडा के घर का काम वापस लौटा ले मगर वह

नहीं लेती है। एक छोटे आँगन में टीन की छत और लकड़ी के पट्टों के छोटे घर में अम्मा का परिवार रहता है। बुढ़ापे में अम्मा के सण जैसे रूखे बाल, झुर्रियों से भरा चेहरा, मिचमिची आँखें और सामने के दाँत टूटे हुए हैं।

शिवचरण अपनी जाति के लोगों से घूस लेकर उन्हें नौकरी देता है। दलाली की बात सुनकर अम्मा दुःखी होती है। वह बेईमानी की कमाई नहीं खाना चाहती। स्वयं सफाई का मेहनत का काम करके अपना जीवन जीती है। मुकेश का शादीशुदा और दो बच्चों की माँ के साथ रहना भी अम्मा का दिल तोड़ देता है।

4.2.08. 'अम्मा' कहानी का मूल प्रतिपाद्य एवं कथानक विस्तार

अम्मा कहानी में तीन प्रसंग महत्त्वपूर्ण हैं जिनके माध्यम से कथानक का समुचित विस्तार किया गया है और अम्मा के माध्यम से दलित समुदाय की स्त्री के श्रमपूर्ण-त्यागमय जीवन, चारित्रिक उदात्तता, दृढ़-निश्चयता, नैतिकता एवं जीवन-मूल्यों के प्रति उसकी निष्ठा को उजागर किया गया है।

पहला प्रसंग अम्मा का श्रमपूर्ण, अभावपूर्ण पारिवारिक और सामाजिक जीवन को सामने लाता है। छोटे घर में बड़े परिवार के बीच अम्मा और उसके पति का दाम्पत्य जीवन है जहाँ कठोर मेहनत के काम करते हुए सुन्दर युवा स्त्री (अम्मा) का उम्र से पहले बूढ़ी और कमजोर होना दिखाया गया है। सास और पति को कर्ज और घर-खर्च में आर्थिक सहयोग देते हुए बेटा-बेटी की परवरिश करना और उन्हें शिक्षित करने का सपना पूरा करना अम्मा के जिम्मेदार व्यक्तित्व को दर्शाता है।

कहानी के दूसरे प्रसंग में चोपड़ा की पत्नी को चरित्रहीन देखकर अम्मा का उससे नफरत करना, विनोद का अम्मा के साथ अश्लील व्यवहार करने पर अम्मा द्वारा उसे पीटना और चोपड़ा की पत्नी से यह कहना कि – "भैण जी, इस हरामी के पिल्ले को कह देणा, हर एक औरत छिनाल ना हौवे है।" – अम्मा की निडरता एवं चारित्रिक उत्कृष्टता को प्रकट करता है। खिन्न अम्मा का चोपड़ा के घर का काम हरदेई को बेचना और सास एवं पति के कहने पर भी चोपड़ा के घर का काम फिर से स्वीकार नहीं करना अम्मा का अपनी बात पर अडिग और स्थिर रहना प्रकट करता है।

तीसरे प्रसंग में अम्मा के बड़े बेटे शिवचरण द्वारा अपने ही लोगों को नौकरी दिलाने में दलाली के रुपये लेना – "रामकिशन को नौकरी दिलवाने के तीन हजार लिए थे। सभी जाणे हैं।" – अम्मा को दुःखी कर देता है। इससे अम्मा का भ्रष्टाचार-विरोधी स्वरूप सामने आता है। बिसन के बेटे मुकेश द्वारा एक शादीशुदा दो बच्चों की माँ स्कूल टीचर के साथ अनैतिक सम्बन्ध होने की ख़बर जानकर अम्मा का दुःखी होना और अपने पोते मुकेश को चरित्रहीन रूप में देखना अम्मा के लिए असह्य होना – "इज्जत से उसे ब्याह के घर ले आता, भले ही दो जातकों की माँ है। मेरा दिल खुश हो जाता। अपनी बहू बणा के रखती। पर यो तो ठीक ना है।" (पृ. 122) – अम्मा का नैतिक मूल्यों और सामाजिक-व्यवस्था के प्रति सम्मान भाव प्रकट करता है। अम्मा द्वारा जीवन के अन्तिम समय तक अपना काम न छोड़ने का फैसला सुनाना अम्मा का स्वाभिमानी एवं आत्मनिर्भर होने का गुण दर्शाता है।

4.2.09. 'अम्मा' कहानी में दलित जीवन की समस्याएँ और संभावनाएँ

'अम्मा' कहानी में दलित जीवन की समस्याएँ, संघर्ष एवं उनका प्रतिकार करने की संभावनाएँ उद्घाटित की गई हैं जिन्हें मुख्य रूप से निम्नलिखित बिन्दुओं में सूचीबद्ध किया जा सकता है –

i. अम्मा का नाम किसी को पता न होना – भारतीय समाज में दलित स्त्री की पहचान नहीं होने का संकेत।

ii. कुटुम्ब-परिवार की मर्यादा के कारण सुकडू का देर रात कुछ ही देर के लिए पत्नी के पास जाना – निर्धन और अभावग्रस्त जीवन में दाम्पत्य सुख का नाश होने का संकेत।

iii. युवावस्था में रूपसी अम्मा के लम्बे-घने बाल, चंचल गहरी काली आँखें और साँवला-सलोना रूप, भरा-पूरा शरीर । बाद में उसी अम्मा के सण जैसे रूखे बाल, झुर्रियों से भरा चेहरा मिचमिची आँखें, घिसट-घिसट कर धीमे कदमों से चलना, समय से पहले दाँत टूटना – श्रमपूर्ण जीवन के कारण असमय ही वृद्धावस्था का आगमन होने का संकेत।

iv. अम्मा की सफेद साड़ी जो अब सफेद होने का एहसास भर है – कामगार स्त्रियों की विपन्नता का प्रतीक।

v. सास द्वारा ठिकानों में 'सलाम' के लिए ले जाना – गुलामी स्वीकारने और परम्परा की आड़ में जबरन दूसरे पर थोपने की कुप्रथा का प्रकटीकरण।

vi. सास द्वारा बहू को सफाई के काम की ट्रेनिंग देना – पीढ़ी-दर-पीढ़ी पैतृक आजीविका के हस्तान्तरण का संकेत।

vii. हर एक ठिकाने में अपना एक गिलास या कप अलग रखा होना – दलित अछूत समुदाय के प्रति छुआ-छूत और भेदभाव की भावना का प्राकट्य।

viii. सरदार प्रीतम सिंह का कर्जा, जिसका ब्याज हर महीने चुकाना – पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा किए जा रहे शोषण का उद्घाटन।

ix. अम्मा के साथ विनोद का दुस्साहसपूर्ण व्यवहार करना – "विनोद ने दबाब बढ़ा दिया। कसकर सीने से भींच लिया। अम्मा को लगा जैसे किसी आदमखोर ने उसे दबोच लिया है।" – दलित स्त्रियों के साथ दुराचार और मनमानी करने का प्रमाण प्रस्तुतीकरण।

x. अम्मा द्वारा झाड़ू से विनोद को पीटना – दलित स्त्री के चरित्रवान और खुद्दार होने का प्रमाण प्रस्तुतीकरण।

xi. अम्मा बिसन से कहती है – "पढ़-लिखकर आदमी बणजा, किसी दफ्तर में किलारक नहीं तो चपरासी ही लग जायगा। इस गंदगी से तो छूट जायगा। जहाँ न दो टेम की रोटी ढंग से मिले है, न इज्जत। गले-गले तक कर्ज मे डूबे हैं। – शिक्षा के प्रति विश्वास एवं पैतृक काम-काज छोड़ने की उत्कट इच्छा का प्रकटीकरण।

xii. अम्मा ने बच्चों को हमेशा झाडू के काम से दूर रखा यह अम्मा की जिद थी – पैतृक काम मजबूरी में करने के प्रमाण का प्राकट्य।

xiii. अम्मा शिवचरण की दलाली की कमाई की रोटी नहीं खाना चाहती, वह उससे अलग रहना चाहती है – निर्धन होने पर भी भ्रष्टाचार का विरोधी होने का संकेत।

xiv. मुकेश के अनैतिक जीवन को वह सह नहीं पाती है, दुःख के साथ अपने काम में लगी रहती है – अनैतिकता का विरोध और जीवन-मूल्यों के प्रति आस्थावान होने का संदेश।

कहानीकार आशावादी हैं। उन्होंने दलित जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों को प्रकट किया है किन्तु साथ ही अम्मा के माध्यम से उनका प्रतिकार करने की संभावनाएँ भी उजागर की हैं।

4.2.10. सहज मानवीय भावनाओं एवं श्रम-आधारित जीवन

अम्मा बहुत मेहनती और चरित्रवान है। चोपड़ा की पत्नी का प्रेमी अम्मा के साथ जबरन अनैतिक सम्बन्ध कायम करना चाहता है। क्रोधित अम्मा झाड़ू से उसकी बुरी तरह पिटाई करती है। वह 'सादा जीवन उच्च विचार' के अनुसार जीती है, अपने चरित्र को महत्त्व देती है। चोपड़ा की पत्नी की बदचलनी देखकर उससे इतनी घृणा करने लगती है कि चोपड़ा के घर का काम मात्र बीस रुपये में हरदेई को बेच देती है। अम्मा अपने परिवार और समाज में सबके साथ सहज मानवीय सम्बन्ध रखती है। सत्तर वर्ष से अधिक अवस्था होने के बावजूद भी स्वयं परिश्रम करके अपनी मेहनत और ईमानदारी की कमाई पर जीना चाहती है। बड़े बेटे शिवचरण का रिश्वत लेकर काम करना उसे पसंद नहीं है। बिसन के बेटे की चरित्रहीनता की सूचना सुनकर वह दुःखी हो जाती है। अम्मा का जीवन ईमानदारी, चारित्रिक बल और मानवीयता से परिपूर्ण है। वह पथ-भ्रष्ट स्कूल टीचर को ससम्मान अपने पोते की बहू बनाने के लिए भी तैयार है।

4.2.11. 'अम्मा' कहानी के प्रमुख पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य

4.2.11.1. अम्मा

अम्मा का वास्तविक नाम किसी को मालूम नहीं है। सब उसे सुकडू की बहू कहकर बुलाते थे। छोटे घर में बड़ा परिवार रहता है इसलिए अम्मा का पति रात में थोड़ी देर के लिए ही उससे मिलने आ पाता है। अपनी युवावस्था के दिनों में अम्मा बहुत सुन्दर थी। सास उसे भी परम्परा-प्राप्त कार्य (लोगों के घरों में सफाई का काम) में झोंक देती है। उसका पति उसे शिबू की अम्मा कहकर बुलाता है। धीरे-धीरे सब लोग उसे अम्मा ही कहने लगते हैं। अम्मा अपने बच्चों को परम्परा-प्राप्त कार्य में नहीं झोंकना चाहती इसलिए अपने तीनों बच्चों को स्कूल में पढ़ाती है। पति की कमाई कम होने से अम्मा अधिक घरों का काम करके परिवार का खर्च चलाती है। वह चरित्रवान और मेहनती है। चोपड़ा की पत्नी का प्रेमी अम्मा को पकड़कर भींच लेता है, तब अम्मा उसे झाड़ू से मारती है और गालियाँ देती है। चोपड़ा की पत्नी की चरित्रहीनता देख अम्मा उसके घर का सफाई का काम हरदेई को बेच देती है। सास और पति के बहुत दबाव देने पर भी वह चोपड़ा के घर काम करना स्वीकार नहीं करती।

अम्मा अपनी बेटी किरण को प्यार से किरणलता कहकर बुलाती है। पुत्रों की अपेक्षा पुत्री को अधिक प्यार करती है। कहती है कि एक दिन उसे पराये घर जाना है। वह अपने बच्चों को खूब पढ़ाकर अच्छी नौकरी करते हुए देखना चाहती है, मगर उसके सपने टूटने लगते हैं। मुकेश की चरित्रहीनता की ख़बर सुनकर उसे चोपड़ा की पत्नी और उसके प्रेमी का अनैतिक सम्बन्ध याद आता है। शिवचरण द्वारा दलाली लेने से भी वह दुःखी होती है। दुःखी होकर अम्मा अधिक मेहनत के काम करने का निश्चय करती है। वृद्धावस्था होने पर भी वह सफाई का काम नहीं छोड़ना चाहती क्योंकि वह अपने बेटों की कमाई के भरोसे नहीं रहना चाहती। "बेटी ससुराल से जब अपने बच्चों को लेकर आती है तब उनको देने के लिए मेरे पास कुछ होना चाहिए।" वह बेटों से कुछ भी माँगना नहीं चाहती। उसे इस बात का बहुत दुःख है कि मेहनत करके वह अपने बच्चों को अच्छा इंसान बनाना चाहती थी मगर शिवचरन और मुकेश गलत राह पर चल पड़े थे।

4.2.11.2. सुकड़ू

अम्मा का पति सुकड़ू नगरपालिका का सफाई कर्मचारी है। उसकी कमाई घर-खर्च चलाने के लिहाज से बहुत कम है। छोटे घर में संयुक्त परिवार रहने के कारण सुकड़ू दिन में अपनी पत्नी से बात नहीं कर पाता है। पारिवारिक मर्यादा के कारण वह रात में चोरी-छिपे अपनी सुन्दर युवा पत्नी से थोड़े समय के लिए मिल पाता है। वे दिन उसे हमेशा याद रहते हैं। चोपड़ा के घर का काम छोड़ने पर सुकड़ू अपने वेतन के रुपये अम्मा को देकर कहता है कि हरदेई के बीस रुपये लौटाकर चोपड़ा के घर का काम लौटा लो। सेवानिवृत्त होने पर उसको मिला रुपया सरदार का कर्ज चुकाने में चला जाता है। पूरे परिवार की चिन्ता उसकी पत्नी 'अम्मा' ही करती है।

4.2.11.3. शिवचरण

अम्मा का बड़े बेटे शिवचरण को मैट्रिक उत्तीर्ण करने के बाद नगरपालिका के ऑफिस में क्लर्क की नौकरी मिलती है। मजदूर नेता के साथ रहकर वह भी नेतागिरी करने लगता है। वह अपने ही समाज के लोगों से रिश्वत लेकर उन्हें नौकरी लगवाने का काम शुरू कर देता है। रामकिसन को नौकरी दिलवाने के लिए वह उससे तीन हजार रुपये रिश्वत लेता है। धीरे-धीरे समाज में स्वार्थी दलाल के रूप में उसका अपयश फैल जाता है। लोग कहते थे – "उसकी आँख में सुअर का बाल है।" उसकी कमीशनखोरी की प्रवृत्ति से नाराज अम्मा सोचती है कि उसकी कोख से एक आदमखोर ने जन्म लिया है जो अपनों को ही खा रहा है।

4.2.11.4. मुकेश

बिसन का बेटा मुकेश एम.ए. करने के बाद बेरोजगार है। तनाव और डाँट-फटकार के कारण वह दिन भर अपने घर में नहीं रहता। एक स्कूल टीचर के साथ अनैतिक सम्बन्ध बनने पर वह उसी के घर रहने लगता है। स्कूल टीचर अपने पति को छोड़कर अपने दो बच्चों के साथ अलग रहती है। मुकेश उसके बच्चों को दिन भर संभालता है और देर रात अपने घर लौटता है। बिसन और अम्मा को जब इस बात की जानकारी होती है तो वे उसे घर से निकाल देते हैं। अम्मा को दुःख है कि उसका पोता किसी अन्य पुरुष की ब्याहता के साथ अनैतिक

सम्बन्ध रखता है और उसके बच्चों का नौकर बनकर उसके घर में रहता है। इससे तो अच्छा था कि वह उससे विवाह कर उसे अपने घर ले आता। मुकेश के बिगड़े चाल-चलन को देखकर अम्मा उसका विवाह किसी भी लड़की से करने से इनकार कर देती है। उसका कहना है कि वह किसी निर्दोष बच्ची को जान-बूझकर गड्ढे में नहीं धकेलेगी।

4.2.12. 'अम्मा' कहानी का शिल्प और भाषिक सौन्दर्य

ओमप्रकाश वाल्मीकि मुजफ्फरनगर जिले के बरला गाँव के निवासी थे। बाद में देहरादून में रहने लगे थे। उनकी भाषा पंजाबी और हरियाणवी से मिलती-जुलती 'कौरवी' भाषा है। यह उनकी घरेलू-पारिवारिक बोलचाल की भाषा है। वे हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के अच्छे जानकार थे। कुछ वर्ष महाराष्ट्र में रहने के कारण वे मराठी भाषा की जानकारी भी रखते थे। पंजाब और हरियाणा प्रदेश नजदीक होने के कारण पंजाबी और हरियाणवी भी समझते-बोलते थे। अंग्रेजी भाषा भी जानते थे। बांग्ला की भी अच्छी समझ उनमें थी। ऐसे बहुभाषाविद् लेखक की रचनाओं में भाषा का सटीक प्रयोग और उसका सौन्दर्य निश्चित ही देखा जा सकता है। 'अम्मा' कहानी में शब्दों, मुहावरों और वाक्यांशों का समुचित और सार्थक प्रयोग किया गया है।

'अम्मा' कहानी का भाषिक सौन्दर्य बढ़ाने में सहायक प्रयुक्त शब्दावली देखिए – जर्जर शरीर, वक्त के थपेड़े, पुराने दरख्त की तरह, अदृश्य भविष्य, तमाम भविष्यवाणियाँ, बौद्धिक कलाबाजियाँ और संकल्पनाएँ, खसम, सण जैसे सूखे बाल, भड़भूजे की कढ़ाई में उछलते मकई के दानों की तरह हिलता दाँत, ठिकाने, ट्रेनिंग, परवाने, तनख्वाह, सूद, बिरमदेई, हरदेई (नाम), किश्त, प्लीज, बेडरूम, मिसेज, भैण जी, इस हरामी के पिल्ले से कह देणा, हर एक औरत छिनाल ना होवे है, वहशीयत, बदजबान औरत, नाशपिट्टी, अपनी माँ के यार, थिगनी का नाच, जुलुस, लिक्कड़जात्ता, चोद्दे का, ऐसी लुगाइयों का इलाज मैं जाणूँ हूँ, लोट, बोत एहसान हैं म्हारे ऊपर, बखत-कुबखत, जिब भी ज़रूरत पड़े थी, अच्छी तरियों पिछाणूँ, उन्ने, तैन्ने, कबजाणे, घोघामाई बणके बैठ्ठी है।

सटीक मुहावरों के यथासम्भव प्रयोग ने भी कथा के शिल्प-सौन्दर्य को बढ़ाया है। पढ़-लिख के आदमी बनना, छूत की बीमारी लगना, खींच-तान करके घर चलाना, दूसरों का मुँह ताकना, दिन पलटना, आँख में सुअर का बाल होना।

कहानी विवरणात्मक शैली में लिखी गई है। अम्मा का चरित्र-चित्रण, दलितों की पारिवारिक-सामाजिक स्थिति और स्त्रियों के नैतिक चरित्र की महत्ता को भावनात्मक शैली में लिखा गया है। कहानी का समापन आदर्शोन्मुख यथार्थवादी भावना से किया गया है। यहाँ दलित चेतना के प्रतीक विरोध, आक्रोश और विद्रोह का प्रस्तुतीकरण करना लेखक का अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत स्त्री के परम्परागत संस्कारी और नैतिकतावादी स्वरूप को प्रधानता दी गई है।

4.2.13. पाठ सार

'अम्मा' कहानी एक चरित्रवान और परिश्रमी दलित सफाईकर्मी महिला की चरित्रप्रधान कहानी है। इस कहानी की केन्द्रीय पात्र अम्मा है । अम्मा एक आदर्श बहू है जो सास के बताए हुए काम को निष्ठा के साथ स्वीकार करती है। वह आदर्श पत्नी है जो संयुक्त परिवार में रहकर सबकी जिम्मेदारी उठाते हुए अपने कर्त्तव्य निभाती है। वह अपने बच्चों को शिक्षित बनाकर अच्छी नौकरी करते हुए देखना चाहती है। उनकी शिक्षा का खर्च जुटाने के लिए अधिक परिश्रम करती है। बड़े बेटे शिवचरण के रिश्वतखोर सिद्ध होने पर उससे नाराज हो जाती है और उसे अलग रहने के लिए कहती है। पौत्र मुकेश के परस्त्रीगामी होने से दुःखी होकर कहती है – "भले ही दो बच्चों की माँ है, उसे ब्याह के बाद अपने घर ले आता तो वह उसे अपनी बहू बना लेती।" वह अपने बच्चों को अच्छा इंसान बनाना चाहती थी मगर उसके सपने पूरे नहीं होते । वह पराश्रित नहीं होना चाहती इसलिए वृद्धावस्था में भी कठोर परिश्रम करना स्वीकार करती है। यह कहानी दलित महिला के स्वाभिमानी और खुद्दार चरित्र को प्रतिष्ठापित करती है। व्यक्ति जाति, वर्ग या धर्म से बड़ा-छोटा नहीं होता। वह अपने चरित्र से ही महान् या अधम होता है । सवर्ण जाति में जन्मी चोपड़ा की पत्नी चरित्रहीन है मगर दलित जाति की स्त्री 'अम्मा' चरित्रवान है। वह चरित्रहीनों से नफरत करती है चाहे वह स्वयं उसका पौत्र ही क्यों न हो। 'अम्मा' पात्र का चरित्र प्रेरक और अनुकरणीय है।

4.2.14. बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अम्मा' कहानी के माध्यम से दलित जीवन की समस्याओं का उद्घाटन कीजिए।
2. 'अम्मा' कहानी की भाषा एवं शिल्प का विश्लेषण कीजिए।
3. वर्तमान समय में 'अम्मा' कहानी की प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'सलाम' प्रथा को स्पष्ट कीजिए।
2. अम्मा के स्वाभिमानी चरित्र को व्यक्त करने वाली प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. शिवचरण और मुकेश द्वारा चयनित मार्ग के विषय में अपना मत रखिए।
4. अम्मा अन्ततः अपना सफाई का काम क्यों नहीं छोड़ना चाहती ?
5. अम्मा का चरित्र दलित स्त्रियों को क्या सन्देश देता है ?

4.2.15. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. सलाम (कहानी-संग्रह), ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2000

2. ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्ति, विचारक और सृजक, सम्पादक – जयप्रकाश कर्दम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016
3. दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि : समग्र मूल्यांकन, लेखक – डॉ० हरगोविन्द पुरी, नमन प्रकाशन, दिल्ली, 2017
4. दलित साहित्य – अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
5. भारतीय दलित साहित्य – आन्दोलन और चिन्तन, बजरंग बिहारी तिवारी, शब्दारम्भ प्रकाशन, दिल्ली
6. दलित विमर्श की भूमिका, कँवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद/फरीदाबाद
7. आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, डॉ० देवेन्द्र चौबे, ओरियन्ट ब्लेकस्वॉन प्रायवेट लिमिटेड

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : कहानी

इकाई – 3 : मैना – रोज केरकेट्टा

इकाई की रूपरेखा

4.3.00. उद्देश्य कथन
4.3.01. प्रस्तावना
4.3.02. आदिवासी दर्शन, आदिवासी जीवन-दृष्टि और वैचारिकता
4.3.03. सहज मानवीय सम्बन्धों और श्रम-आधारित जीवन पर आधारित कहानी 'मैना'
4.3.04. प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का सम्बन्ध, पशु-पक्षियों से सहज आत्मीयता
4.3.05. आदिवासी क्षेत्रों के हाट-बाजार : मेल-जोल, सूचना आदान-प्रदान और वनोपज विक्रय-केन्द्र
4.3.06. सामूहिकता के जीवन-मूल्य पर आधारित कहानी 'मैना'
4.3.07. 'मैना' कहानी का शिल्प
4.3.08. पाठ सार
4.3.09. बोध प्रश्न
4.3.10. कठिन शब्दावली
4.3.11. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.3.00. उद्देश्य कथन

रोज केरकेट्टा हिन्दी की समर्थ रचनाकार हैं। उन्हें आदिवासी जीवन के यथार्थ को सामने लाने और सरल, सहज जीवन जीने वाले आदिवासियों के अनदेखे संसार का सफल चित्रण करने में महारत हासिल है। उनकी कहानियों में हिन्दी और देशज शब्दों के साथ-साथ झारखण्ड के वन-परिवेश के गाँवों की बोलियों का प्रयोग तो है ही, भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों और बिम्बों में भी झारखण्ड के माटी की महक है तथा वन-प्रांतर की खुशबू विद्यमान है। वे अपने लेख, वक्तव्य और कहानियों के जरिये लगातार अपनी सृजनात्मक क्षमता प्रदर्शित करती रही हैं।

हिन्दी कथा-साहित्य में आदिवासी लेखक पचास-साठ के दशक से ही दस्तक दे रहे थे। प्रथम आदिवासी महिला कथाकार एलिस एक्का की कहानियाँ जिस कालखण्ड में रची गई उसी कालखण्ड में 1960 के दशक से रोज केरकेट्टा निरन्तर कथा-लेखन कर रही हैं। हिन्दी की आदिवासी कहानी के विकास की दृष्टि से यह अतिशय महत्त्वपूर्ण युग है। रोज केरकेट्टा की अधिकतर कहानियाँ जो 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' में संकलित हैं, 20वीं सदी के अन्तिम चार दशक में लिखी गई हैं। प्रस्तुत पाठ में आप रोज केरकेट्टा द्वारा लिखित 'मैना' कहानी का अध्ययन करेंगे। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'मैना' कहानी के पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को समझ सकेंगे।
ii. जंगल और पशु-पक्षियों से आदिवासियों के आत्मीय सम्बन्ध को महसूस कर सकेंगे।
iii. आदिवासी अपनी किसी भी समस्या का समाधान किस प्रकार करते हैं, इसकी समझ विकसित होगी
iv. हिन्दी में देशज आदिवासी शब्दों के प्रयोग से परिचित हो सकेंगे।
v. आदिवासी जीवन-मूल्य, जो सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता और सहभागिता पर आधारित हैं, को जानने-समझने का अवसर मिलेगा।
vi. रोज केरकेट्टा की कहानी-कला तथा शिल्प से परिचित हो सकेंगे।
vii. आदिवासियों को अपने क्षेत्र में सांस्कृतिक संगठन की आवश्यकता क्यों हुई, इस तथ्य को जान सकेंगे।

4.3.01. प्रस्तावना

रोज केरकेट्टा एलिस एक्का के बाद हिन्दी की दूसरी पीढ़ी की प्रमुख आदिवासी महिला कथाकार हैं, जो वाचिक पुरखा परम्परा से कहानी-लेखन की दुनिया में प्रवेश करती हैं। अपनी मातृभाषा खड़िया के साथ-साथ हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में डॉ० रोज केरकेट्टा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कथाकार रोज केरकेट्टा अपने आदिवासी समाज की आन्तरिक शक्तियों को पहचानती हैं अतः देशज स्वाद की कृतियों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। कथाकार के पास आदिवासी जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है, आदिवासी समाज का गहरा साहचर्य है, अपने क्षेत्र के परिवेश और वातावरण की अच्छी समझ है अतः इनकी कहानियों में अनुभव की प्रामाणिक आँच अपनी पूरी उष्णता के साथ उपस्थित है। रोज केरकेट्टा की कहानियों का प्रथम संग्रह सन् 2009 ई. में 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस कहानी-संग्रह में संकलित भंवर, घाना लोहार का, छोटी बहू, गंध, आँचल का टुकड़ा, मैना, दुनिया रंग-रंगीली बाबा, पगहा जोरी-जोरी रे घाटो आदि कहानियाँ अपनी मौलिक और प्रभावशाली परम्परा का निर्माण करती हैं। कथाकार न सिर्फ अपने समाज की विशिष्ट संरचना को पहचानती हैं बल्कि गैर-आदिवासी समाज से अपने समाज की भिन्नता से भी भली-भाँति वाकिफ़ हैं। वे अनेक स्तरों पर अपनी बात प्रमुखता से उठाती हैं। कथाकार पाठकों को आदिवासियों के समाज के भीतर तक ले जाती हैं। वे आदिवासियों के खान-पान, परिधान, सपने, संघर्ष, आजीविका, खेती-बाड़ी, श्रम-आधारित जीवन के संग आनन्दपूर्ण जीवन के इर्द-गिर्द कहानी का ताना-बाना बुनती हैं। रचाव-बचाव के लिए वे निरन्तर अपनी सृजनात्मक सक्रियता बनाए रखती हैं। कहानी, कविता और निबन्ध में इनकी रचनात्मक सक्रियता देखते ही बनती है। 'आधी दुनिया' के सम्पादक के तौर पर निरन्तर सक्रिय रहने वाली रोज केरकेट्टा आदिवासी, महिला, दलित और समाज के दबे-कुचले आदमी की लड़ाई में हमेशा उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ी दिखती हैं। राँची विश्वविद्यालय के जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग से सेवानिवृति के पश्चात् रोज केरकेट्टा वर्तमान में स्वतन्त्र लेखन के साथ-साथ कई जन-संगठनों से जुड़कर सक्रिय हैं। जन-आन्दोलनों को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने तथा संघर्ष की हर राह में वे अग्रिम पंक्ति में रहती हैं।

रोज केरकेट्टा सोशल एक्टिविस्ट रही हैं। पचहत्तर वर्ष से अधिक अवस्था होने के बावजूद वे आज भी निरन्तर सक्रिय हैं। झारखण्ड आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण नेता रहने के कारण और प्रारम्भ से ही सामाजिक सरोकार से जुड़े रहने के कारण उनकी भंवर, घाना लोहार का, छोटी बहू, गंध, आँचल का टुकड़ा, मैना, दुनिया रंग-रंगीली बाबा, पगहा जोरी-जोरी रे घाटो आदि कहानियों में सामाजिकता के अनेक पहलू दिखाई पड़ते हैं।

कहानी कहने और सुनने की कला विश्व की सबसे प्राचीनतम कला-परम्पराओं में से एक है। आदिवासियों के पुरखों ने अपने जीवन-दर्शन और अनुभवों को व्यक्त करने के लिए कहानियों की रचना की और उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुँचाया। श्रमपूर्ण जीवन में आनन्द की सृष्टि के लिए भी पुरखों ने कथा कहने-सुनने की परम्परा प्रारम्भ की। इससे उनका श्रमपूर्ण जीवन रसपूर्ण बन गया। सहस्त्राब्दियों से वाचिक परम्परा में कहानी कहने और सुनने-सुनाने की इसी विरासत से आधुनिक कथा-लेखन प्रारम्भ हुआ। यह अलग बात है कि आधुनिक साहित्य के इतिहासकार और आलोचक आदिवासियों को इसका श्रेय नहीं देना चाहते। वास्तविकता यह है कि हिन्दी में कहानी लिखने की शुरुआत एलिस एक्का द्वारा पचास के दशक में प्रारम्भ होती है जबकि आदिवासी भाषाओं में विशेषकर मुंडारी में पुरखा साहित्यकार मेनस ओड़अः ने कथा-लेखन की शुरुआत की। सन् 1920 ई. के आस-पास मेनस ने 'मतुराः कहनी' लिखा जो खूँटी के समीप नये मुंडा गाँव बसाये जाने की कथा से प्रारम्भ होता है।

सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम कहानी माना जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सन् 1907 ई. में प्रकाशित बंग महिला की कहानी 'दुलाईवाली' को प्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। कहानी के विकास के केन्द्र में प्रेमचन्द को रखकर उसे तीन चरणों में बाँटा गया है – प्रेमचंद पूर्व युग की कहानी, प्रेमचंद युग की कहानी, प्रेमचंदोत्तर युग की कहानी। इस कथा-यात्रा के अनेक पड़ाव आए, जैसे – नयी कहानी, समकालीन कहानी, अकहानी, साठोत्तरी कहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी, सक्रिय कहानी आदि। शिल्प, कथ्य, शैली और विचार में बहुत परिवर्तन देखा गया। हिन्दी में छठे दशक से आंचलिक कथाओं में आदिवासी अंचल दिखाई देते हैं। जबकि राधाकृष्ण के सम्पादकत्व में सन् 1947 से प्रकाशित हो रही झारखण्ड (तत्कालीन बिहार) की 'आदिवासी पत्रिका' में पचास-साठ के दशक से कथाकार एलिस एक्का की हिन्दी में लिखी कहानियाँ छपने लगी थीं। वाल्टर भेंगरा का कहानी-संग्रह 'लौटती रेखाएँ' (1980), 'देने का सुख' (1983), 'जंगल की ललकार' (1989) और 'अपना अपना युद्ध' (2014); प्रख्यात आदिवासी कथाकार पीटर पॉल एक्का का कहानी-संग्रह 'खुला आसमान बंद दिशाएँ' (1980) और 'परती ज़मीन' (2011); मंगल सिंह मुंडा का कथा-संग्रह 'महुआ का फूल' (1998); कथाकार रोज केरकेट्टा का कथा-संग्रह 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' (2009) और 'पीरुआर गमछा' (2016); फ्रांसिस्का कुजूर का कथा-संग्रह 'मूसल' (2011); रूपलाल बेदिया का कथा-संग्रह 'शून्य में अटके परिन्दे' (2012) हिन्दी के आदिवासी कथा-साहित्य में प्रमुख स्थान रखते हैं।

'मैना' कहानी रोज केरकेट्टा के प्रथम कथा-संग्रह 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' की प्रतिनिधि कहानी है। 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' इस संकलन की दूसरी प्रतिनिधि कहानी है। 'आदिवासी बच्चों के खेलों में जीवन

दर्शन' आलेख में 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' खेल को स्पष्ट करते हुए रोज केरकेट्टा लिखती हैं – "जाड़े के दिनों में ठंड से बचने के लिए दौड़-धूप वाले खेल ज्यादा खेलते हैं। जाड़े के दिनों में प्रवासी पक्षी जिन्हें घाटो, सरहेइर (जंगली बत्तख) बोलते हैं दक्षिण की ओर पंक्तियों में उड़ते हैं। घाटो के लिए माना जाता है कि यदि वे सिर के ऊपर से उड़कर जा रहे हों तब नीचे से एक साँस में घास की सात गाँठें बाँध ली जाएँ, तो घाटो दूर जाने की बजाय आसमान में चक्कर काटते रह जाएँगे। वास्तव में यह बच्चों (लड़कों) का खेल है कि वे गाँठ बाँधने की कोशिश में दौड़ लगाएँ। वे गाँठ भी बाँधें और चिल्लाते जाएँ – 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' यानी 'रस्सी से जोड़ दिया गया घाटो'। एक साँस में गाँठ लगाना असम्भव भी है।" (– स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति)

रोज केरकेट्टा का दूसरा कहानी-संग्रह 'बिरूआर गमछा तथा अन्य कहानियाँ' प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। बिरूआर गमछा, फिक्स डिपोजिट, प्रतिरोध, फ्रांक, जिद, बड़ा आदमी, माँ, मैग्नोलिया प्वाईंट आदि इस कहानी-संग्रह में संकलित प्रमुख कहानियाँ हैं। रोज केरकेट्टा की हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों में 'खड़िया लोक कथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन' और 'प्यारा मास्टर' प्रमुख हैं। रोज केरकेट्टा ने प्रेमचंद की कहानियों का अपनी मातृभाषा खड़िया में अनुवाद भी किया है। साहित्य के क्षेत्र में रोज केरकेट्टा के उल्लेखनीय योगदान के लिए मध्यप्रदेश सरकार ने उन्हें प्रथम 'वीरांगना रानी दुर्गावती' राष्ट्रीय सम्मान, 2008 से सम्मानित कर उनकी महत्ता को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दी है। रोज केरकेट्टा को भेंट किए गए प्रशस्ति पत्र में मध्यप्रदेश सरकार ने लिखा है – "आप न केवल उच्चकोटि की समाज सेविका, शिक्षाविद्, भाषाविद् और अपनी सांस्कृतिक परम्परा के पुनरुत्थान में जुटी एकाकी सेना के समान हैं बल्कि गरीब आदिवासियों के सशक्तीकरण, जागरण, उन्नति तथा उन्हें न्याय दिलाने के लिए भी निरन्तर सक्रिय हैं।"

रोज केरकेट्टा-कृत निबन्ध-संग्रह 'स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति' और काव्य-संग्रह 'अबसिब मुरडअ' (पहली बारिश) खड़िया एवं हिन्दी में एक साथ प्रकाशित हुए हैं। कथाकार रोज केरकेट्टा की कहानियों में झारखण्डी संस्कृति की अनेक रंग दिखते हैं। हाट-बाजार, खेत-खलिहान, रोपनी-कटनी, खान-पान, परिधान और ठेठ झारखण्डी परिवेश। इनकी कहानियाँ अत्यन्त सरस और रोचक हैं। इन कहानियों में झारखण्डी समाज है, संस्कृति है। पाठक को ये कहानियाँ, उनके पात्र और उनमें वर्णित घटनाएँ अपने बीच की-सी लगती हैं। इन कहानियों को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो कथाकार स्वयं हमारे समीप उपस्थित होकर उन कहानियों को मद्धम-मद्धम स्वर में हमें सुना रही हों। ये कहानियाँ पाठक को न सिर्फ बाँधे रखती हैं बल्कि सोचने के लिए विवश भी करती हैं।

कथाकार रोज केरकेट्टा अपनी कहानियों में घटना के साथ-साथ दृश्य-विधान का भी विशेष ख्याल रखती हैं। इससे पाठकों में सम्वेदना जगती है और वे कहानी के घटना के परिणामों को जानने की चेष्टा करते हैं। 'मैना' कहानी में कथाकार प्रकृति व मानवेतर प्राकृतिक जगत से आदिवासी समुदाय के सहअस्तित्व को भी प्रमुखता देती हैं। आदिवासियों के दर्शन में सहजीविता मौजूद है इसीलिए उनके साहित्य में सिर्फ मनुष्य ही नहीं बल्कि जंगल, पहाड़, नदियाँ, झरने, पक्षी, जीव-जन्तु, कीट-पतंगे सभी को समान महत्त्व प्राप्त हुआ है। रोज केरकेट्टा ने मैना कहानी में जिन पात्रों को लिया है उनके जीवन में जटिलताओं का अभाव है क्योंकि आदिवासी प्रायः सीधे

और सरल होते हैं और उनके जीवन में जटिलताएँ न्यूनतम होती हैं। रोज केरकेट्टा के कथा-साहित्य का मूल्यांकन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जब आदिवासी संस्कृति भिन्न है, उनकी जीवन शैली भिन्न है, उनके जीवन-मूल्य भी भिन्न हैं तो आदिवासी साहित्य की आलोचना के प्रतिमान भी भिन्न होंगे।

4.3.02. आदिवासी दर्शन, आदिवासी जीवन-दृष्टि और वैचारिकता

आदिवासी विश्वदृष्टि को स्पष्ट करते हुए वन्दना टेटे लिखती हैं – "आदिवासी ज्ञान-परम्परा अथवा उसके दर्शन के पाँच बुनियादी तत्त्व हैं – सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, समानता और सामुदायिकता। वे समूह में रहना पसंद करते हैं। प्रकृति के सभी सजीव-निर्जीव अवयवों की उपस्थिति एक-दूसरे के लिए ज़रूरी मानते हैं। हर किसी को जीने का प्राथमिक हक है और वह तभी जीवित रह सकेगा जब दूसरे भी जीवित रहें, यानी किसी एक व्यक्ति की भलाई से पूरे समुदाय की भलाई का टकराव नहीं होता। एक व्यक्ति का लाभ दूसरे व्यक्ति का नुकसान नहीं है, इसमें उनका दृढ़ विश्वास है। सृष्टि में सभी समान हैं चाहे वह सजीव कीड़ा या इंसान है या कि निर्जीव रेत या पत्थर। और समूची सृष्टि एक अटूट समुदाय है।" (– वाचिकता आदिवासी दर्शन साहित्य और सौन्दर्यबोध)

आदिवासियों ने आदिम अवस्था से लेकर आधुनिक वर्तमान युग तक के विकास-क्रम में प्रकृति को हमेशा सहभागी बनाए रखा। खेल टांड़ बनाते वक्त जंगलों का पूरी तरह सफाया नहीं किया। नदी, झरिया, झरनों के अस्तित्व को स्वीकारा। पहाड़-पहाड़ी के चट्टानों को कमोबेश पूर्व के स्वरूप में ही बचाए रखा। आदिवासी स्त्रियाँ अपने व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र हैं और जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में पुरुषों के साथ उनकी समान सहभागिता दिखाई देती है। यदि किसी शिकार अभियान में किसी के कुत्ते ने भूमिका निभायी है तो उस मूक प्राणी की हिस्सेदारी भी मनुष्य के बराबर मानी जाती है। समानता के कारण ही गाँव के ग्राम-प्रधान और एक सामान्य सदस्य में हैसियत का कोई ख़ास अन्तर नहीं होता। श्रम की महत्ता के पीछे प्रत्येक व्यक्ति के मन में यही समानता का भाव निहित होता है।

प्रकृति और मनुष्य की एकता में आदिवासियों की गहरी निष्ठा है। वे प्रकृति और मनुष्य के बीच भेद नहीं करते। आदिवासी संस्कृति में व्यक्तिवादिता के लिए कोई स्थान नहीं है। भारत की अधिकांश संस्कृतियाँ व्यक्तिवादी हैं परन्तु आदिवासी सहअस्तित्व, सामंजस्य, सहजीवन और सहभागिता के आदर्श को जीते हैं।

'मैना' कहानी के मुख्य पात्र रूपु और फिलमोन धांगर हैं। वे किसानों के सहायक हैं। अपने श्रम के प्रति निष्ठा और आनन्द का भाव रखने वाले हैं। सामूहिकता के कारण किसी भी कार्य को करने में आनन्द प्राप्त होता है। खेत जोतने, हल चलाने, घर बनाने, कुआँ खोदने, विवाह-उत्सव का भोज-भात बनाने में गाँव के युवक सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। अखड़ा के कारण जीवन में उल्लास और उमंग बनी रहती है। आदिवासियों की संस्कृति की भिन्नता इस अर्थ में भी है कि वे अतिशय संचय नहीं करते। प्रकृति से उतना ही लेते हैं, जितना लेने की उन्हें ज़रूरत है। वे प्रकृति का अनावश्यक दोहन नहीं करते। वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं होने के कारण समाज में

ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, छूत-अछूत की अवधारणा ही नहीं होती। आदिवासियों ने अपनी आदिवासियत को सहस्राब्दियों से बचा कर रखा है। अपने जीवन-दर्शन द्वारा धरती और प्रकृति को सुन्दर बनाए रखा है।

भारत के सबसे पुराने वाशिन्दे आदिवासियों की संस्कृति और जीवन-मूल्य तथाकथित मुख्यधारा वाले वर्ग की संस्कृति और जीवन-मूल्यों से नितान्त भिन्न हैं। आदिवासी श्रम-संस्कृति में अग्रणी रहने वाली आदिवासी स्त्रियाँ स्वाभिमानी होती हैं। उन्हें यहाँ कम से कम असमानता झेलनी पड़ती है। स्त्री कथा-लेखन की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए वन्दना टेटे लिखती हैं – "आदिवासी स्त्री लेखन न तो नारीवाद के प्रभाव से उपजा है और न ही दलितवाद की तरह किसी एक खास सामाजिक वर्ग से मुक्ति चाहता है। आदिवासियों का सच एक अलग सांस्कृतिक विश्व है जहाँ आदिवासी स्त्रियाँ अपनी विशिष्ट स्त्रीगत समस्याओं पर बात करते हुए भी गैर-आदिवासी स्त्री-लेखन की तरह 'देह' की मुक्ति या 'पुरुष सत्ता' के सवालों को नहीं उठातीं बल्कि अपनी सामूहिक आदिवासी चेतना के कारण वे सीधे-सीधे उस विश्व से टकराती हैं जो श्रम और सृष्टि की अवमानना करता है। जो इंसानी समाज का नस्लों, धर्मों, जातियों के आधार पर, रंग, भाषा और लिंग के आधार पर भेदभाव करता है, उसका संकुचन व संक्षेपण करताहै।" (– एलिस एक्का की कहानियाँ)

आदिवासियों की अदम्य जिजीविषा इसी सामुदायिकता के कारण है। कृषि और जंगल-आधारित अर्थव्यवस्था बिना सामुदायिकता और सहयोगिता के सम्भव ही नहीं है। आदिवासियों ने जीवित रहने के लिए ज़रूरत भर (कम से कम) लेकर अपनी आदतों और रीति-रिवाजों को प्रकृति के साथ जोड़ लिया ताकि उनका और प्रकृति का सहअस्तित्व कायम रह सके। अगर गाँव में दस आम के पेड़ हैं तो आदिवासी उतने ही आम तोड़ेंगे जितना स्वयं खा सकते हैं, शेष आम वे समुदाय के अन्य लोगों के लिए छोड़ देंगे। वे उन्हें आने वाले कल के लिए संग्रह करके नहीं रखते और न ही उन्हें आजीविका का साधन ही बनाते हैं। जंगल में से आम तोड़कर लाने का दायित्व किशोरावस्था के बालकों पर होता है किन्तु तोड़कर लाये गए आमों में सभी अवस्था के लोगों का हिस्सा बराबर होता है। अवस्था या श्रम देखकर न तो किसी को अधिक दिया जाता है और न किसी को कम। यही सामूहिकता पकड़कर लायी गई मछलियों के बँटवारे में भी देखी जा सकती है। मछली मारने के लिए युवा लोग जाते हैं किन्तु प्राप्त मछलियों का पूरे समुदाय में बराबर बँटवारा किया जाता है। यदि कोई बीमार है या अशक्त है जिसका मछली पकड़ने में योगदान नहीं है उसे भी मछली पकड़ने वाले की बराबर मात्रा में मछलियाँ दी जाती हैं। इस तरह आदिवासी क्षेत्रों में बचपन से ही सामूहिकता की भावना सिखायी जाती है।

आदिवासियों के लिए जंगल जीवन का आधार है। जंगल उनके लिए सामूहिकता की पाठशाला भी है। अपनी आजीविका और जीवन-निर्वाह के लिए आदिवासी जन खेती-बाड़ी, मिसनी-कटनी के अतिरिक्त जंगलों से महुआ, फूल, गोंद, धुवन, सरई बीज, शहद, चिरौंजी, डोरी, लाह, रस्सी, जड़ी-बूटियाँ भी प्राप्त करते हैं। भूख लगने पर जंगल से जामुन, आम, केंदु आदि खा लेते हैं। उन्हें प्रायः प्रत्येक पेड़-पौधे और जड़ी-बूटी की जानकारी रहती है।

अपने प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आदिवासी इन प्राकृतिक संसाधनों का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग करते हैं। वे प्रायः सखुआ, महुआ, आम, करंज, जामुन, कटहल, केंदु के पेड़ों को नहीं काटते हैं। जलावन के लिए, लोहा गलाने के लिए और काष्ठ-कोयला बनाने के लिए असुर सूखे, मृत सखुआ की डालियों को काटते थे। आदिवासियों के जंगल-हितैषी होने के कारण ही सारंडा, नेतरहाट, पलामु, हजारीबाग के जंगलों के पेड़ कुछ हद तक बचे हुए हैं। यह आदिवासी जीवन-दर्शन ही है जो प्रकृति के साथ अपनी संस्कृति को जोड़कर जीता आया है।

आदिवासियों की विशिष्ट संस्कृति के कारण आदिवासी-लेखन के मूल्यांकन के लिए नये सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता पर विचार करते हुए रोज केरकेट्टा एक साक्षात्कार में स्वीकार करती हैं – "हिन्दी आदिवासी-लेखन के मूल्यांकन के लिए सौन्दर्यशास्त्र का विस्तार करने की ज़रूरत है। आप हिन्दी के सौन्दर्यबोध से आदिवासी साहित्य को नहीं समझ सकते। चाहे वह हिन्दी में लिखा जा रहा हो या आदिवासी भाषाओं में। जब आप यह मानते हैं कि आदिवासी एक विशिष्ट संस्कृति है फिर उसके साहित्य को परखने के लिए भी एक विशिष्ट सौन्दर्यबोध की ज़रूरत होगी। इस ओर न हमारे आदिवासी लेखकों का ध्यान है और न ही हिन्दी का। यह समझना होगा कि हिन्दी साहित्य को आदिवासी-लेखन समृद्ध कर रहा है तो उसका मूल्यांकन नयी दृष्टि से किया जाना चाहिए। (– आदिवासी साहित्य-विमर्श)

4.3.03. सहज मानवीय सम्बन्धों और श्रम-आधारित जीवन पर आधारित कहानी 'मैना'

कहानी रूपु और ढोम्बे की बातचीत से प्रारम्भ होती है –

उसने ढोम्बे से कहा – 'मैं भी बइलसेरा जाऊँगा। वहाँ भी तो तुम्हें चरवाहे की ज़रूरत पड़ेगी भतीजा। तो मैं ही क्यों न संभाल लूँ?'

* * *

ढोम्बे ने कहा – 'मैं तुम्हें ले जाता हो काका। लेकिन तुम्हारी माँ से बात नहीं हो सकी है। बिना बात किए कैसे तुम्हें ले जा सकता हूँ?'

रूपु – 'ठीक है। अभी तो माघ पूरने में दो महीना बाकी है। मुझे यहीं धंगराई नापोगे तो ढाने में सहज होगा। वैसे मुझे चरवाही का काम अच्छा लगता है। पर चलो ठीक है। यहीं का घर पहरा करूँगा।

ढोम्बे – 'कबुराडीह में ही रहो। यहीं का धान समेटो। काटने-मीसने का काम तो है ही। मैं वहाँ जटंगी-कुरथी भी समेटूँगा और घर भी पूरा करूँगा।'

रूपु सत्रह-अट्ठारह वर्ष का युवक था, जो गाँव की नातेदारी के आधार पर ढोम्बे का चाचा था, जबकि भतीजा ढोम्बे अधेड़ उम्र का बाल-बच्चेदार आदमी। झारखण्ड के गाँवों में ऐसी रिश्तेदारी खूब निभायी जाती है।

गाँव में बुजुर्गों को 'आजा-आजी' के साथ 'बड़ा-बड़ी' कहकर उनके साथ मर्यादित व्यवहार किया जाता है। आदिवासी संस्कृति में कुछ रिश्ते हास-परिहास के भी होते है। आजी-नातिन के बीच और आजी-नाती के बीच खूब हँसी-मजाक होता है।

झारखण्ड में धांगर-गोमके अन्य समाज के नौकर-मालिक की तरह नहीं होते। धांगर गोमके (मालिक) का सहायक होता है। यहाँ धांगर कोई अछूत, शूद्र या अस्पृश्य नहीं होता। धांगर अपने गोमके के साथ मजबूत रिश्ते में बँधा होता है। वह गोमके के परिवार का महत्त्वपूर्ण अंग होता है । गोमके के खेतों में हल चलाना, खेतों की देखभाल करना, गाय-बैलों और बछड़ों की देखभाल करना आदि कृषि आधारित समस्त कार्यों में वह गोमके के बराबर परिश्रम करता है। गोमके और धांगर एक साथ खेत-खलिहान, घर-बाड़ी, वन-पतरा में काम करते हैं। आदिवासी संस्कृति में धांगर को बासी ओर बचा-खुचा भोजन देने की परम्परा नहीं है। धांगर और गोमके खाने के लिए आमने-सामने बैठते हैं। गोमके से पहले धांगर को गरम, सुरुचिपूर्ण और भरपूर भोजन ग्रहण कराया जाता है। यहाँ धांगर के लिए अलग से भोजन नहीं बनता। उसे वही भोजन प्रस्तुत किया जाता है जो गोमके और परिवार के अन्य सदस्यों के लिए बनता है। गोमके और धांगर के बीच का रिश्ता मधुर और टिकाऊ होता है। मधुर सम्बन्धों के कारण वे जीवन भर एक दूसरे की मदद करते हैं।

कथाकार रूपु की मनःस्थिति का वर्णन करती हैं। रूपु उदास हो गया, क्योंकि तीन वर्षों से वह ढोम्बे के घर में काम कर रहा था। गोमके और धांगर के बीच मधुर रिश्ता होने के कारण वह सीधे-सीधे इनकार तो नहीं कर पाया। ढोम्बे के यहाँ रूपु ने तेरह वर्ष की उम्र में काम करना प्रारम्भ किया था। प्रारम्भ में उसे गमछा और करया (लंगोट) दिया जाता था। उम्र बढ़ने के साथ उसे बरकी दिया जाने लगा। छोटे बच्चे को बेतराने के काम भी आते हैं। रोज केरकेट्टा के सद्यप्रकाशित कहानी-संग्रह में संकलित 'बिरूआर गमछा' कहानी में उन्होंने झारखण्ड के गमछा को केन्द्रित करके उम्दा कथानक गढ़ा है।

झारखण्ड में चीक-बड़ाईक जनजाति द्वारा अपने घरों में लकड़ी के बने करघों में वस्त्रों का निर्माण किया जाता है। पूर्वोतर के कपड़ों की विशिष्ट शैली है। उसी प्रकार झारखण्ड के इन कपड़ों की भी विशिष्ट शैली है। गाँव-देहात के हाट-बाजारों में इन कपड़ों की अच्छी बिक्री होती है। ये कपड़े काफी मजबूत और टिकाऊ होते हैं तथा झारखण्ड की संस्कृति की पहचान कराते हैं। सन् 1960 ई. के दशक में लिखी इस कहानी के पात्र रूपु का शिल्पी जनजाति से सम्बन्ध जान पड़ता है। औद्योगिकीकरण के कारण सर्वाधिक क्षति शिल्पी जनजातियों की हुई है। उनका पारम्परिक ज्ञान-कौशल जीविकोपार्जन की क्षमता से दूर होने लगा। भूमिहीन होने या कम ज़मीन होने के कारण अधिकांश शिल्पी जनजाति के कमिया आदिवासी कृषक जातियों जैसे खड़िया, उराँव, मुंडा, हो के यहाँ धांगर का काम करने लगे। कुछ लोग थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त करके गाँव-कस्बों में शिक्षक बन गए।

धांगर को गमछा, करया, बरकी पहनने-ओढ़ने के लिए दिया जाता है। पूस महीने में धान काटने-मीसने के पश्चात् मेहनाताना स्वरूप दो से छह काठ तक धान दिया जाता है। यह मात्रा प्रत्येक आगामी वर्ष में बढ़ती जाती है। धान सीधे खलिहान से बड़ी डाली में नापा जाता है। शिल्पी जनजातियों के साथ रोज केरकेट्टा के परिवार की

गहरी आत्मीयता रही है। वे लिखती हैं – "ये जो किसानों के साथ शिल्पी थे, वे किसानों के साथ ग्रामीण रिश्तेदारी निभाते थे। आपस में सम्मान और आदरपूर्वक जीवन-यापन होता था। किसान उनके हर काम के बदले अनाज देता था। अनाज देने के लिए तुरी खंडियाही डाली (20-30 सेर अनाज समाने वाली टोकरी) और ढारा डाली (50-60 सेल वाला) बनाते थे। साधारण लेन-देन के लिए नापने के वास्ते पैला होता था, किन्तु शिल्पियों को और धांगरों को ढेर में से सीधे अनाज उठाकर तयशुदा अनाज दिया जाता था।" (– स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति)

समता, सामूहिकता, सामुदायिकता, भाईचारा, स्वतन्त्रता, सहयोगिता और समस्त कार्यों में स्त्री-पुरुष-भागीदारी आदिवासी संस्कृति की विशेषताएँ हैं। आदिवासी समाज में ऊँच-नीच, छल-कपट, जमाखोरी, अतिशय मुनाफा या सम्पत्ति जुटाने की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रत्येक गोमके अपने काम-काज के निपटान में धांगर के सहयोग का महत्त्व भली-भाँति जानता है। उसी तरह धांगर भी हीन-भावना से ग्रस्त नहीं रहता और न ही वह अपने द्वारा सहयोग करने का दर्प निज मन में उठने देता है। धांगर किसान का सहायक होता है, और सहयोगी भी। गोमके और धांगर के मध्य पारस्परिक सम्मान की भावना होती है। आदिवासी समूह में आज भी मानवीयता के प्राकृतिक तत्त्व सुरक्षित हैं। उनकी भाईचारा, समानता और सहभागिता-आधारित जीवन-शैली आज भी अक्षुण्ण है।

ढोम्बे ने रूपु को कबुराडीह में छोड़ने का मन बना लिया था। खेतों में धान की फसल तैयार थी। वह दिन में धान काटता और धान धोकर खलिहान में सजाता। रात को खाना खाकर खलिहान की रखवाली करता। मस्तमौला स्वभाव का होने के कारण सबको हँसाता रहता। श्रम करते-करते भी उमंग में जीने वाले झारखण्डी समुदाय के लोगों का कथाकार ने रोचक वर्णन किया है।

4.3.04. प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का सम्बन्ध, पशु-पक्षियों से सहज आत्मीयता

आदिवासियों ने अपने स्वार्थ और समृद्धि के लिए जंगलों को आपस में बाँटकर उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति का हिस्सा कभी नहीं बनाया। उनकी परम्पराओं और मान्यताओं से स्वतः ही पर्यावरण एवं वनों, पहाड़ों और नदियों का संरक्षण होता है। आदिवासी वृक्ष संस्कृति में सखुआ पेड़ों का झुण्ड यानी सरना, जाहेरथान, बड़े पहाड़ यानी मराङबुरू, इकिर बोंगा यानी नदियों को अपनी आस्था के केन्द्र जानते-मानते आए हैं। जंगलों के पेड़, जीव-जन्तु और पक्षी उनके गोत्र, टोटेम के रूप में उनके जीवन से जुड़कर संरक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

झारखण्ड में जंगलों की अधिकता है जो हमेशा मैना, तोता, तीतर, कबूतर, मंजूर, नीलकंठ, पंडुक, बगुला, गौरैया, कोयल, बगेरी, अबाबील आदि नाना प्रकार के पक्षियों के मधुर कलरव से गुंजायमान रहते हैं। जंगल के पेड़-पौधों के समान ही आदिवासी लोग पशु-पक्षियों से भी सहअस्तित्व का सम्बन्ध कायम रखते आए हैं। चरवाहे अपने हाथों में छड़ी-सोंटी पकड़े तो रहते हैं किन्तु वह मवेशियों को मारने तथा प्रताड़ित करने के लिए नहीं होता है। उनके हाथों में छड़ी के साथ बाँसुरी भी होती है जिसकी धुन के दायरे में मवेशी चरते हैं।

कथाकार ने रूपु और फिलमोन का अपने दोस्तों के साथ मैना पालने का उल्लेख किया है। आदिवासी लोग मैना आदि पक्षियों की स्वतन्त्र उड़ान पर जबरन प्रतिबन्ध नहीं लगाते। आषाढ़ के महीने में रूपु और फिलमोन ने अपने दोस्त कातिक, फिलिप लेबुई, रामचन्दर के समान अपनी-अपनी मैना के लिए केन्दू पत्ती से पिंजरा बनाया। आम तौर पर पिंजरा लोहे या लकड़ी से बनाया जाता है परन्तु यहाँ मैना केवल तब तक पिंजरे में रहती है जब तक उसे देखभाल की ज़रूरत होती है। कीट-पतंगों का सेवन करके मैना दो महीने में ही युवा हो जाती है। फिर चरवाहों के पास उड़ती-फुदकती रहती है। कथाकार ने मैना के बोलने-गुनगुनाने का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया है –

रूपु और फिलमोन ने अपनी-अपनी मैनाओं को गीत सिखाया था। इस गीत को वे उल्लास के, उदासी के, ख़तरे के समय में अलग-अलग सुर में गाती थीं।

रूपु की मैना गाती –

'टपु टापु टपु टड़ब टड़ब टपु टापु टपु टड़ब टड़ब
गाड़ा गितिल मैना लोलो गिया।'

(नदी की रेत मैना तप रही है।)

फिलमोन की मैना गाती –

'ददा रे दा जोई दादा रे दादा जोई,
पोंयरी ओबबयकायेम',
'हंसली ओबबयकायेम',
'चंदोवा ओबबयकायेम',
ददा जोई इञ्अथोङगा।

(दादा रे दादा, पायल बनवा देना, हंसली बनवा देना, चंदना बनवा देना मेरे लिए।)

4.3.05. आदिवासी क्षेत्रों के हाट-बाजार : मेल-जोल, सूचना आदान-प्रदान और वनोपज विक्रय-केन्द्र

कथाकार ने रूपु और फिलमोन के हाट में मिलने के साथ ही उनकी दोस्ती का वर्णन करके कहानी को आगे बढ़ाया है। रूपु और फिलमोन मइटखुपा के रहने वाले थे। वे दोनों कबुराडीह में धांगर थे। एक वर्ष दोनों ने कबुराडीह में बिताया। अगले वर्ष रूपु ढोम्बे के यहाँ कबुराडीह में ही रह गया। फिलमोन मइटखुपा में जगत बड़ाईक मास्टर के यहाँ रह गया। जगत मास्टर साल भर में उसे तीन हजार रुपया नकद देते। मइटखुपा और कबुराडीह के बीच में सलंगापूंछ पड़ता है। यहाँ लोगों ने पिछले तीन वर्षों से छोटा-सा-हाट लगाना शुरू किया है। पहले यह हाट पाँच कि.मी. दूर कोरंजों में लगता था। कोरंजों मिशन स्टेशन था। बर्लिन से फादर गोस्सनर द्वारा भेजे गए मिशनरियों ने 2 नवम्बर 1845 ई. को अपना तम्बू वर्तमान गोस्सनर लुथरन चर्च, राँची के अहाते में खड़ा

किया था। सन् 1902 ई. में कोरंजो मिशन स्टेशन की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने उन्हें आदिवासियों के बीच धर्म-प्रचार एवं शिक्षा-स्वास्थ्य सम्बन्धी काम करने की अनुमति दी। छोटानागपुर के सुदूर क्षेत्रों में भी मिशन स्टेशन स्थापित किए गए। जब तक मिशनरी यहाँ थे तब तक इनकी चमक थी। मिशनरी चले गए तो कोरंजों हाट, स्कूल सबकी चमक जाती रही। वहाँ तक पहुँचने में झरिया लाँघना पड़ता था जिससे बड़ी तकलीफ होती थी। छोटे व्यापारियों और मनिहारी दुकानदारों ने सलंगापूंछ में हाट लगाने की सलाह दी।

आदिवासी क्षेत्रों में हाट-बाजार की परम्परा नहीं थी। वस्तुओं की खरीद-बिक्री नहीं की जाती थी बल्कि वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। यह समाज वस्तुओं के आदान-प्रदान में विश्वास करता रहा है। हाटों में आदिवासी लोग अपने निकट सम्बन्धियों और दोस्तों से मिलने-जुलने तथा सूचनाएँ लेने-देने के लिए जाते थे। खरीदने-बेचने की प्रक्रिया तो बहुत बाद में शुरू हुई। अब वे लोग फसल और वनोपज बेचने तथा नमक और कपड़े खरीदने के लिए हाट जाने लगे हैं। यहाँ हाट-बाजार महज वस्तुओं का क्रय-विक्रय नहीं है बल्कि लोगों का सम्मेलन स्थल भी है। आदिवासी समाज में कर्ज, ब्याज, मुनाफा जैसे शब्दों का अस्तित्व नहीं है। अगहन के बाद जंगल के आस-पास के गाँव वाले बहुत कम दाम में अनाज बेच देते थे। गर्मी भर लाह, कुसुम, डोरी, चिरौंजी, महुआ, हर्रा, बेहड़ा का बाजार गरम रहता है। सलगापूंछ में प्रत्येक मंगलवार को लगने वाली इसी हाट में रूपु और फिलमोन मिला करते थे।

आदिवासी की आर्थिक संरचना प्रकृति-आधारित है। वे प्रकृति से उतना ही लेते है जितने की उन्हें आवश्यकता है। माटी, काष्ठ, बाँस के घर-छप्पर, बाँस और झाड़ियों से बारी बगान बनाकर जीवन-यापन करते आदिवासी महुआ, सरई बीज, लाह, गोंद (धुवन), शहद, चिरौंजी, कत्था, फल-फूल, कंद-मूल के लिए जंगलों पर निर्भर रहते आए हैं। झारखण्ड में सामूहिकता, सामुदायिकता आदि जीवन-मूल्यों के कारण हाट-बाजार, मेला-जतरा का विशेष महत्त्व है। गाँव के लोगों को जब किसी काम से अन्य गाँव जाना होता है तो वे हाट का दिन देख कर निकलते हैं क्योंकि वहाँ हाट में उस गाँव के लोग भी आते हैं। बातचीत करते-करते आदिवासी लोग कोसों की दूरी, पथरीली पगडंडियाँ, नदी और झरिया भी बड़ी आसानी से पार कर लेते हैं।

4.3.06. सामूहिकता के जीवन-मूल्य पर आधारित कहानी 'मैना'

उस वर्ष फसल बहुत अच्छी हुई थी। कुवार से लेकर माघ तक हाटों में पैकारों और मनिहारों की गहमा-गहमी रहेगी। हाट के दिन पैकारा दरी, बोरा आदि बिछाकर बैठ जाते और सेर बटखरा, ढारा से अनाज और लाह खरीदते। ग्रामीणों से मुर्गियाँ और बकरियाँ भी खरीदते। मनिहारी दुकान वाले प्लास्टिक के सामान, खिलौने और रंग-बिरंगे फीते, क्लिप, खोंसो, कंघी, बेचते नजर आते। इस वर्ष लाह, जटंगी, कुरथी खूब हुआ है। बच्चों के हाथों में भी लाह के पैसे हैं। सारे किसान फसल बेचकर अपने परिवार के लिए धूस, कम्बल, चादर, पिंधना, बरकी, पेछौरी और पहनने का कपड़ा खरीद रहे थे। पूस में ईसाइयों का प्रमुख त्योहार जनम पर्व अर्थात् क्रिस्मस निकट ही था, इसलिए ईसाइयों में कपड़े खरीदने की होड़ लगी थी। हाट में शंख नदी के दूसरी ओर के लोग भी आते थे और खरीददारी करके दोपहर तक वापस लौट जाते थे इसलिए दोपहर में अच्छी बिक्री हो जाती थी। यहाँ

कथाकार ने हाट में लगातार लाभ होने के कारण बाहर से आने वाले सौदागरों का वर्णन भी किया है। अतिशय मुनाफ़े के कारण अब वे लोग ट्रक लेकर आने लगे हैं। इस बार अच्छी फसल ने तो ट्रकों की संख्या बढ़ा दी। कुछ लोग ट्रकों में सामान लादने के लिए मोटिया बन गए थे। ये ट्रक वाले खाली समय में हाट में घूमते और चाय की गुमटियों में अड्डा मारते। हाट के किनारे के वृक्षों के नीचे बैठकर ये लोग दिनभर ताश खेलते और बीड़ी फूँकते रहते। शाम को ट्रक-मालिक जब अपना सामान समेट कर आवाज लगाता तभी ये लोग अपनी जगह से उठते और ट्रक ले जाते।

त्योहारों के समय आदिवासी क्षेत्रों के हाट में अलग ही छटा होती है। कुँवारी लड़कियाँ मिल-जुल कर हाट आतीं और अपने लिए मनपसंद कपड़े खरीदतीं। माता-पिता या बुजुर्ग कभी हस्तक्षेप नहीं करते थे। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि आदिवासी समाज में लड़कियों को समानता का दर्जा हासिल है। अपने जीवन के फैसले वे स्वयं लेती हैं। खेत-खलिहानों में काम करती हैं, जंगल से वनोपज लाती हैं और बिक्री के लिए हाट-बाजार भी जाती हैं। लाह उत्पादन में छोटानागपुर क्षेत्र को अग्रणी माना जाता है। भारत विश्वभर के अस्सी प्रतिशत लाह का उत्पादन करता है। उसमें भी अकेला झारखण्ड भारत के सत्तर फीसदी लाह का उत्पादन करता है। लाह की खेती वैज्ञानिक ढंग से हो इसके लिए राँची में 'लाह अनुसंधान संस्थान' स्थापित किया गया है। लाह का उत्पादन कुसुम, बेर और पलास के पेड़ों से होता है।

उस दिन भवनाडीपा की चार लड़कियाँ त्योहार के कपड़े खरीदने हाट में आयी थीं। सूरज ढलने से पहले ही वे हाट से बाहर निकल गईं। हँसती-खिलखिलाती वे गाँव की पगडंडी पर आ गईं। अब उनके कदम तेज हो गए क्योंकि सूरज डूबने तक उन्हें गाँव की सीमा में प्रवेश कर लेना था। आदिवासी क्षेत्रों के गाँव जंगल-पहाड़ी के मध्य स्थित होते हैं। भवनाडीपा भी तीन ओर से पहाड़ियों से घिरा है। रास्ते के घने जंगल में सियार, चीता, रामसियार, भालू जैसे विभिन्न प्रकार के जंगली जानवर भी हैं। आदिवासी लोग जंगल से होकर आते-जाते रहते हैं इसलिए उन्हें पता है कि जंगल में आजकल भालुओं का एक जोड़ा आया हुआ है। उनके साथ दो शावक भी हैं। बच्चे वाली मादा भालू अपेक्षाकृत ज़्यादा खूँखार होती है। शाम होने से पहले ही भालुओं का झुण्ड जंगल से निकल आता है। अतः गाँव वालों को भालुओं के भय से शाम होते-होते अपने घर पहुँचने की जल्दी रहती है। भवनाडीपा की इन चार लड़कियों को भी इन्हीं भालुओं का डर था। अपने क्षेत्र में रहने वाले इन्सान से कोई डर नहीं था। वे जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाने लगीं।

हाट से निकलकर पगडंडी में आ गईं। वहाँ ताश खेल रहे चार लोगों के बगल से होकर गुजरीं। उनके चेहरे मनपसंद कपड़े खरीदने के कारण उल्लसित था। वे हँसती-मुस्कुराती अपने में मगन बढ़ती जा रही थीं। पूर्वोक्त है कि झारखण्ड में आदिवासियों की रिहाइश जंगल-पहाड़ों के मध्य होती है। जंगल-पहाड़ों के कारण वहाँ अच्छी वर्षा होती है। जंगल-पहाड़ वर्षा के पानी को अपने भीतर संचित रखते हैं। इससे वर्ष भर पहाड़ों से पानी के सोते फूटते रहते हैं। यही कारण है कि झारखण्ड बहुत ज़्यादा संख्या में नदी, झरने और जल-प्रपात पाए जाते हैं। लड़कियाँ झरिया के निकट पहुँची और उसे लाँघने की तैयारी करने लगीं। छोटे-छोटे चरवाहे पास ही थे। झरियाडीपा, मइटखुपा के लड़के गेंद खेल रहे थे। खेल देखने के बहाने रूपु और फिलमोन पगडंडी की ओर पीठ

फेर कर बैठे थे। तभी ताश खेलने वालों में से एक उठा। उसने अंगड़ाई ली और जोर से आवाज निकाली। लड़कियों ने पलटकर देखा। लेकिन उनके मन में कोई शंका-आशंका नहीं उठी।

लड़कियों ने झरिया लाँघ कर पीछे मुड़कर देखा। वह आदमी तेज कदमों से पगडंडी पर उनकी की ओर आ रहा है। उसके पीछे उसके दोनों दोस्त भी आ रहे हैं। लेकिन चौथा उसी जगह बैठा सामान समेटने लगा। आदमी को तेज कदमों से अपनी ओर आते देख लड़कियाँ भय से दौड़ने लगीं। उन्हें दौड़ते देख उस आदमी ने भी अपनी गति बढ़ायी। घबराहट में लड़कियों ने अपने खरीदे हुए कपड़े फेंक दिए। दो लड़कियाँ गेंद खेलने वालों की तरफ दौड़ी। गेंद खेलने वाले युवक लड़कियों को भागते और इन पुरुषों को पीछा करते देख चिल्लाने लगे – "वो देखो, सियार मुर्गी को दौड़ा रहा है।" फिर तो सारे लड़के खेल रोक कर चिल्लाने लगे – "वह देखो, देखो, देखो सियार मुर्गी को दौड़ा रहा है।" लेकिन वे वहीं तक सीमित रहे। मैदान से बाहर कोई नहीं आया। कथाकार ने यहाँ लड़कों की इच्छा-शक्ति में कमी पर प्रहार किया है। सब कुछ देख-समझ कर भी वे लोग दुष्ट व्यक्तियों से निरीह लड़कियों की रक्षार्थ अपने स्थान से हिले तक नहीं।

यहाँ कहानी अपने उत्कर्ष को प्राप्त करती है। जो लड़की जंगल की ओर भागी थी वह अकेली पड़ गई। तीनों दौड़ाने वाले लोग उसके पीछे भागे और दबोच लिया। उसे जंगल में घसीट कर ले गए। एक पेड़ के नीचे दो लोगों ने उस लड़की को गिरा दिया। एक ने सिर की तरफ दोनों बाँहों को दबाया। दूसरे ने दोनों पैरों को दबाया। लड़की रोने-चीखने-लड़ने लगी। पर अन्त में लाचार हो गयी। तीसरा आदमी जल्दी-जल्दी अपने पाजामे की डोरी खोलने लगा। इधर रूपु और फिलमोन की मैना उड़कर जंगल में आ गई। रूपु और फिलमोन की मैना युवा होने के कारण लोहे के मजबूत पिंजरों में कैद नहीं थी। जंगल, घर, चरवाहों के आसपास चहकती-गाती रहती थीं। स्वतन्त्र रूप से उड़ती, हँसती थीं। उन्होंने अपनी धुन में गाया –

टपु-टापु, टापु टड़ब-टड़ब
गड़ा गितिल मैना लोलो गिया।

फिलमोन की मैना गा उठी –

ददा रे, ददा जोई
पोंयरी ओबबयकम, हंसली ओबबयकम
चंदोवा ओबबयकम, ददा रे ददा जोई।

फिर दोनों मैना ठठाकर हँसी। बोलने लगी –

'घुर रे घुर, हिंर्रे रे गोला हिंर्रे।'

नाड़ा खोलने वाला आदमी ठिठक गया। अन्य दोनों व्यक्ति भी चौंक कर उठ खड़े हुए। उन्हें लगा पास में ही चरवाहे हैं। वे घर की ओर लौट रहे हैं। अतः वहाँ से खिसकने में ही अपनी भलाई समझने लगे। इधर रूपु और

फिलमोन, जो प्रत्येक मंगलवार सलंगापूंछकी हाट में मिलते थे, ने अपनी-अपनी मैना के गीत सुने। सुर को पहचाना। उन्हें अपनी मैना का सुर सुनते ही खतरे का आभास हुआ और समझते देर ना लगी कि मैनाएँ आगाह कर रही हैं। वे दोनों अविलम्ब पतरा की ओर जी-जान से दौड़े। वे झाड़ियों-पत्थरों को रौंदते, ठोकर मारते दौड़ रहे थे।

जंगल में सूखी पत्तियों और झाड़ियों के कारण दौड़ने की आवाज अधिक तेज होती है। तीनों आदमी सहम गए। उन्हें लगा कि कुछ लोग आ रहे हैं। वे पगडंडी की ओर दौड़ने लगे। उधर से रूपु और फिलमोन दौड़ रहे थे और इधर से ये तीनों। पतरा में ही सभी जोर से टकरा गए और सभी बुरी तरह गिर गए। घुटने, कुहनियाँ, माथा, उँगलियों में चोट लग गई। खून बहने लगा। सभी कराहने लगे लेकिन पाँचवाँ आदमी जिसने साजिश रची थी, वह बच निकला।

गाँव में बात हवा की तरह फैल गई। इन चारों लड़कियों को लोग देखते। कुछ मुँह बिचकाते। कुछ गुस्सा झाड़ते। कुछ व्यंग्य करते। कुछ मजाक उड़ाते। युवक चिढ़ाते– 'मुर्गी को चील पकड़कर ले जा रहा था, बच गई।' कोई कहता – 'क्या ज़रूरत है सिंगार-पतार की। इसी से तो नज़र गड़ती है लोगों की।' बुजुर्ग कहते – 'बच गई। नहीं तो हमारी जात चली जाती। हम मुँह दिखाने के लायक नहीं रहते।' बात जितनी फैलती गई, जलते मिर्च की गंध साथ फैलाती गई। आखिर एक सप्ताह बाद पंचायत बैठायी गई।

आदिवासी क्षेत्रों में न्याय के लिए उनकी अपनी व्यवस्था है। पड़हा पंचायत होती है जिसमें गाँव के सभी व्यक्ति गोलाकार घेरा बनाकर बैठते हैं और न्याय-कार्य सम्पन्न होता है। सरपंच ने फैसला सुनाया– 'पहले ऐसा नहीं होता था। लड़कियाँ माँ-बाप जो देते थे, वही पहनती थीं। लड़कियों को नरहोड़ तक साड़ी पहनना चाहिए। आजकल जैसा पइरलक लाल-पियर पहनने से क्या होता है, देख रही हैं न ? आज के बाद माँ-बाप को समझ जाना चाहिए कि बनाव-सिंगार और लहर-फहर से बेटियों को कितना ख़तरा है ? बनाव-सिंगार के कारण ही दूसरों की नज़र इन पर पड़ती है। अच्छा हुआ कि चार जन मिलकर गई थीं। आगे से अकेली-दुकेली लड़की हाट नहीं जाएगी। घर के लोगों के साथ ही हाट या कहीं जाएगी।' सभा से लौटकर सबने अपने-अपने घर में फरमान सुना दिया।

रूपु और फिलमोन पतरा में जोरदार टक्कर के कारण बुरी तरह घायल हो गए थे। वे हाय-हाय करते अपने-अपने घर गए। सरसों तेल और हल्दी का लेप लगाकर पट्टी बाँधी। पाँच दिन बाद वे फिर से काम पर जुट गए। कटनी-मिसनी समाप्त हो गई। उसके बाद उन्होंने समस्या का हल निकालने की सोची। इस तरह चुपचाप रहने और यथास्थिति को स्वीकारने से काम नहीं चलेगा। आज हमारे गाँव की इन लड़कियों के साथ दुर्घटना होते-होते बची, लेकिन भविष्य में फिर से इसकी पुनरावृति न हो, इसके लिए हमें संगठित होना होगा। दोनों ने मइटखुपा, सलंगापूंछ और कबुराडीह के लड़कों को संगठितकिया। जब युवक जमा हो गए तो इन दोनों ने उन्हें बताया कि 'हम हमारे ही घर-आँगन में अपनी मर्जी से घूम सकें, अपनी मर्जी से बोल सकें, जी सकें, खा-पहन

सकें, गा सकें, नाच सकें यह हमारा अधिकार है। इसलिए हमको संगठित होकर रहना है। हमारी मैनाएँ गीत नहीं गातीं तो हम भवनाडीपा की लड़की को बचा नहीं पाते। तब लूसी का क्या होता ?'

फिलमोन बोला – 'डर से हम अपने घरों में क्यों बंद रहें ? हम भी भात खाते हैं। गुंडे-बदमाश भी भात खाते हैं। तब वे क्यों अकड़कर रहेंगे और हम उनसे डरते रहेंगे ? उस दिन हम गिर गए, नहीं तो गुंडों को बता देते। इन सबसे बचने के लिए लड़का-लड़की सबको एक दूसरे का हाथ देना चाहिए। तभी हम अपनी आजादी की रक्षा कर सकेंगे।'

कथाकार सांस्कृतिक संगठनकी आवश्यकता पर बल देते हुए कहानी को आगे बढ़ाती हैं। इस संगठन में धीरे-धीरे गाँव के बुजुर्ग भी शामिल होते हैं। रूपु के इस काम से ढोम्बे प्रभावित होता है और उसे कबुराडीह में ही खेतों की देखभाल का जिम्मा सौंप देता है। इस प्रकार रूपु और फिलमोन की दोस्ती न सिर्फ कायम रहती है बल्कि उनकी दोस्ती से समाज में अच्छे उद्देश्य की पूर्ति भी होती है।

'मैना' कहानी में रोज केरकेट्टा की सशक्त रचनात्मक अभिव्यक्ति से एक सम्वेदनशील मुद्दे को सही दिशा मिली है। केवल समस्या-उद्‌घाटन ही कथाकार का लक्ष्य नहीं है अपितु वे समस्या का समुचित समाधान भी सुझाती हैं। कहानी का समापन उद्देश्यपूर्ण है। समस्या है तो उसे हल करने का सामूहिक प्रयास भी है। युवतियों की आज़ादी कायम रह सके, वे पूर्ववत हाट-बाजार जाएँ, अखड़ा में नाच सकें, इसके लिए सांस्कृतिक संगठन की आवश्यकता पर बल देकर कथाकार रोज केरकेट्टा आदिवासी क्षेत्रों में जल, जंगल, ज़मीन और आम जन को बचाने के संघर्ष में सामूहिकता का प्रबल आह्वान करती प्रतीत होती हैं जो आदिवासी जीवन-मूल्य का सर्वाधिक उज्ज्वल पक्ष भी है। आज जिस समता और स्वतन्त्रतामूलक समाज की स्थापना के लिए दूसरी संस्कृतियाँ प्रयासरत हैं वह विशिष्टता आदिवासी समाज में बहुत पहले से स्थापित है।

4.3.07. 'मैना' कहानी का शिल्प

'मैना' रोज केरकेट्टा की प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी में वर्णनात्मकता और घटना-प्रधानता का आग्रह अधिक है। "इधर रूपु और फिलमोन ने अपनी-अपनी मैना के गीत सुने। सुर को पहचाना। वे दोनों पतरा की ओर जी-जान से दौड़ने लगे। वे झाड़ियों को, पत्थरों को रौंदते, ठोकर मारते दौड़ रहे थे। धम्म-धम्म की आवाज़ आ रही थी। तीनों आदमी आवाज़ सुनकर पगडण्डी की ओर दौड़ने लगे। इधर से रूपु और फिलमोन दौड़ रह थे, उधर से वे तीनों। पतरा में ही चार लोगों की जोरदार टक्कर हुई। चारों आदमी छितिछान गिरे। उनके घुटने, कुहनियाँ, माथे और उँगलियाँ फूट गईं। वे उठकर हाय-हाय करने लगे। लेकिन पाँचवाँ आदमी जो असली साजिशकर्त्ता था, वह बच निकला।"

आदिवासियों में वार्तालाप की एक खास शैली होती है। कहानी-कला की विशिष्टता इसी में है कि संवाद पात्रों के अनुकूल हों। 'मैना' कहानी के संवाद झारखण्ड के ग्रामीण परिवेश की सांस्कृतिक विशेषताओं के

अनुकूल हैं। यथा – "ठीक है। अभी तो माघ पूरने में दो महीना बाकी है। मुझे यहीं धंगराई नापोगे तो ढाने में सहज होगा। वैसे मुझे चरवाही का काम अच्छा लगता है। पर चलो ठीक है। यहीं का घर पहरा करूँगा।"

रोज केरकेट्टा की कहानियों के पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा आदिवासी समुदाय में प्रयुक्त भाषा के अनुकूल है। उन्होंने अपनी कहानियों में जिस आदिवासी समाज को चित्रित किया है उस समाज की भाषा को यथावत पाठकों के सामने रखा है। जिस अंचल विशेष के पात्रों का उल्लेख कहानी में हुआ है उस अंचल विशेष की भाषा के देशज शब्दों की प्रधानता कहानी में देखी जा सकती है। कोड़हा, घंगराई, छाहुर, झरिया, दो काठ, करिया गाय, चकरी गाय, गोला बाछा, टिकला, डेम्बू, सोंटी, छितिछान, सिंगार पतार, लहर-फहर, नरहोड, कुवार, पूस, अगहन, कातिक, जनमपरब, पतरा आदि ऐसे ही देशज शब्द हैं।

रोज केरकेट्टा की कहानियों की भाषा बोलचाल की भाषा के निकट है। स्वाभाविकता, सरलता, सहजता बोलचाल की भाषा की विशेषताएँ हैं। उदाहरण देखिए – "मैं तुम्हें ले जाता हो काका। लेकिन तुम्हारी माँ से बात नहीं हो सकी है। बिना बात किए कैसे तुम्हें ले जा सकता हूँ?"

कहानी झारखण्ड के छोटानागपुर के सिमडेगा जिले से सम्बन्धित है। इसके स्वाभाविक चित्रण के लिए वहाँ के आदिवासियों की भाषा के देशज शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। कथाकार की भाषा हिन्दी और देशज शब्दों के सहज मेल से बनी है। इसमें तत्सम शब्दों का अभाव है जबकि तद्भव शब्दों की अधिकता है। देशज शब्दों के मेल से भाषिक-सौन्दर्य प्रभावशाली बन पड़ा है। 'सियार का मुर्गी को दौड़ाना' जैसे आदिवासियों के मध्य प्रचलित मुहावरों के प्रयोग द्वारा भी आदिवासी समाज के यथार्थ को जीवन्त बनाने का सार्थक प्रयास किया गया है। कहानी में कई प्रसंगों में व्यंग्योक्तियों का भी प्रयोग किया गया है। यथा–

"मुर्गी को चील पकड़कर ले जा रहा था, बच गई।"

* * *

"क्या ज़रूरत है सिंगार-पतार की। इसी से तो नज़र गड़ती है लोगों की।"

शब्द अपने साथ पूरा परिवेश, सम्पूर्ण मानसिकता और स्पष्ट दृष्टिकोण लेकर आते हैं। आदिवासियों की शब्द-शैली में संक्षिप्तता उनकी भाषा की विशेषता है। भारी-भरकम वाक्य-विन्यास का आदिवासी अभिव्यक्ति में अभाव पाया जाता है। उदाहरण देखिए –

"कबुराडीह में ही रहो। यहीं का धान समेटो। काटने-मीसने का काम तो है ही। मैं वहाँ जटंगी-कुरथी भी समेटूँगा और घर भी पूरा करूँगा।"

* * *

"बच गई। नहीं तो हमारी जात चली जाती। हम मुँह दिखाने के लायक नहीं रहते।"

कहानी में पात्रों के चारित्रिक विकास के लिए कथाकार ने मुख्यतः दो विधियाँ अपनायी हैं। पहला तो पात्रों की गतिविधियों का संक्षिप्त वर्णन और दूसरा, पात्रों के संक्षिप्त तथा स्वाभाविक संवाद। पात्रों की गतिविधियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है –

"आषाढ़ के महीने में रूपु, फिलिप, फिलमोन, लेबुइ, रामचन्दर, कातिक सबने मैना पाला था। उन्होंने केंदु पत्ती से अपनी-अपनी मैना के लिए पिंजड़ा बनाया था। उसमें धान का भूसा और कोड़हा मिलाकर भरा था। इससे पक्षी को आरामदायक गर्मी मिलती। सुबह-दोपहर सारे चारवाहे एक साथ निकलते थे। मैदान में छाता, अंगोछा रख देते। सोंटी लेकर फतिंगों का शिकार करते और अपनी-अपनी मैना को खिलाते थे। भरपेट भोजन मिलने के कारण मैनाएँ दो माह में युवा हो जाती थीं। चरवाहों के साथ रहने के कारण मैनाएँ 'घूर रे घूर, हियो-हियो-हियो, हिर्रे रे हिर्रे' आदि स्वत: सीख जाती हैं। हटहटा कर हँसना और सीटी बजाना मैनाओं का शौक होता है। जब मैनाएँ वे सारी बातें सीख जाती हैं तब चरवाहे उन्हें 'देखना रे, घुराना रे' कहकर आप खेलने का समय बना लेते हैं। रूपु लोग भी ऐसा ही करते थे। ख़तरा होने पर मैनाएँ अलग ध्वनि निकाल कर मवेशियों की सतर्क करतीं। चरवाहे ख़तरा भाँप कर स्वयं मवेशियों की देखभाल में लग जाते।"

कथाकार ने बिम्बों का प्रयोग परिवेश के आधार पर 'कहन' शैली में किया है –

"जाड़े के मौसम में भी आमदनी की गरमी से उनके माथों पर पसीने चुहचुहा रहे थे।"

* * *

"बात जितनी फैलती गई, जलते मिर्च की गंध साथ फैलाती गई।"

छोटानागपुर के खड़िया, मुंडा, उराँव, हो, संथाली आदिवासी आपस में प्रायः अपनी भाषा में ही बात करते हैं। हिन्दी का प्रयोग विद्यालयों, कार्यालयों, हाट-बाजारों आदि सार्वजनिक स्थलों में होता है। आदिवासियों के बीच हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार मध्यकाल से प्रारम्भ हुआ, जब व्यापारी इस क्षेत्र में आए थे। हिन्दी का विशेष प्रचार-प्रसार अंग्रेजों के आने के साथ चर्च द्वारा हुआ। आदिवासियों के उच्चारण में एक तरह की संगीतात्मकता होती है और महाप्राण ध्वनियों का अभाव होता है। उदाहरणार्थ –

"कबुराडीह का ढोम्बे जब संख-पार बइलसेरा गाँव लाँघ रहा था, ..."

कथाकार ने ठेठ झारखण्डी लहजे में कुछ वाक्य गढ़े हैं जो आम तौर पर इसी क्षेत्र में प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे –

"उनके घुटने, कुहनियाँ, माथे और उँगलियाँ फूट गईं।"

* * *

“अच्छा हुआ कि चार जन मिलकर गई थीं।”

* * *

“जब मैनाएँ वे सारी बातें सीख जाती हैं तब चरवाहे उन्हें ‘देखना रे, घुराना रे’ कहकर आप खेलने का समय बना लेते हैं। रूपु लोग भी ऐसा ही करते थे।”

* * *

“झरिया के निकट पहुँची और लाँघने की तैयारी करने लगीं।”

* * *

“रूपु और फिलमोन हाय-हुस करते अपने-अपने घर गए।”

कहानी-कला का सम्बन्ध कहानी के शीर्षक से भी है। शीर्षक एक नाम है पर नाम का जीवन में भी महत्त्व है और साहित्यिक कृतियों में भी। ‘मैना’ कहानी का शीर्षक सार्थक तथा सर्वथा उपयुक्त है। कहानी के उत्कर्ष में भी ‘मैना’ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सबसे प्रमुख यह है कि कहानी के शीर्षक रूप में एक पक्षी ‘मैना’ का नाम चुनकर कथाकार रोज केरकेट्टा ने आदिवासी समुदाय और पशु-पक्षियों के मध्य आत्मीय सम्बन्ध को महत्त्व दिया है।

4.3.08. पाठ सार

‘मैना’ कहानी पाठकों के समक्ष आदिवासी क्षेत्रों की समस्या और उनके समाधान का एक सम्पूर्ण चित्र उद्घाटित करती है। रोज केरकेट्टा ने आदिवासी समुदायों की जीवन-शैली और जीवन-मूल्यों में सरलता, सहजता, सहज मानवीय सम्बन्ध, श्रमशीलता तथा मवेशियों और पक्षियों से लगाव-जुड़ाव को प्रमुखता से उभारा है। साथ ही उनके आनन्दपूर्ण जीवन, हाट-बाजार में वनोपज और कृषि के फसलों से अपने जीवन-यापन करने का वर्णन किया है। कथाकार ने अपने जीवन के विविध अनुभव जो उन्होंने देखे, अनुभव किये उन्हें रचनात्मक अभिव्यक्ति का विषय बनाया है।

प्रेमचंद ने अपनी कई कहानियों में पशु-पक्षियों, कुत्ते, बैल आदि प्राणियों को कहानी का पात्र बनाया है। कथाकार भुवनेश्वर ने भी भेड़ियों को कहानी का विषय बनाया है। ‘मैना’ कहानी में रूपु धांगर है। ये गाय-बैल, बछड़े उसके अपने नहीं हैं, तब भी वह इनसे आत्मीयता रखता है। यही तो है एक आदिवासी का पशु के साथ मानवीय सम्बन्ध। रूपु और फिलमोन छोटी मैना के लिए पिंजरा बनाते हैं। पिंजरा केंदु पत्ती से बना होता है। वे

उसके रहने की आरामदायक व्यवस्था करते हैं, परन्तु पक्षी की स्वतन्त्रता, उसकी उड़ान, उसके विचरने पर पाबंदी नहीं लगाते। मैना और रूपु-फिलमोन की बीच भाषा की दीवार नहीं होती। मैना रूपु की बात समझती है और रूपु मैना की बात। रूपु और फिलमोन ने अपनी मैना को गीत सिखाया था। इस गीत को वह अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न सुर में गाती थीं। उल्लास, उदासी और खतरे के समय का सुर अलग-अलग था। चरवाहों के साथ रहने के कारण 'घूर रे घूर, हियो-हियो-हियो, हिर्रे रे हिर्रे' आदि सीख जातीं। चरवाहे इसी टेर के साथ गाय-बैलों को हाँकते थे। चरवाहे भी अपनी मैनाओं पर पूरा भरोसा करते थे। उन्हें 'देखना रे, 'घुराना रे' कहकर ज़िम्मेदारी सौंप देते और मवेशियों की तरफ से निश्चिन्त होकर दोस्तों के साथ खेलते रहते थे। खेल आदिवासियों के सामूहिक जीवन का परिचायक होते हैं। हॉकी, खोखो, कबड्डी आदि खेल समूह में खेले जाने वाले खेल होते हैं।

आदिवासियों के प्रिय पक्षी 'मैना' को केन्द्र में रखकर कथाकार ने 'मैना' कहानी का कथानक गढ़ा है। रूपु और फिलमोन के बीच अच्छी दोस्ती थी। रूपु कबुराडीह ढोम्बे के यहाँ धांगर रह गया और फिलमोन जगत बड़ाईक का धांगर बन गया। सलंगापुंछ में मंगलवार के दिन हाट लगता था। दोनों दोस्त हर मंगलवार हाट के दिन मिला करते थे। रूपु और फिलमोन ने कुछ दोस्तों के साथ मैना पाली थी। मैना के कारण ही भवनाडीपा की लड़की के सम्मान की रक्षा होती है, क्योंकि मैना उल्लास, उदासी, खतरे के समय अलग-अलग सुर में गाती थीं। कथाकार यहाँ यह बताने का सफल प्रयास करती हैं कि बाहर से आने वाले दिकुओं के कारण आदिवासी क्षेत्रों में जीवन जीने की स्थितियाँ किस प्रकार बदलती हैं, लेकिन आदिवासी सामूहिकता के जीवन-मूल्य के कारण रूपु और फिलमोन अपने क्षेत्र की समस्या के समाधान के लिए एकजुट होकर सांस्कृतिक संगठन का निर्माण करते हैं और आदिवासी बालाओं की जीवन-स्थितियाँ पूर्ववत होती हैं।

बाहर से आने वाले दिकुओं के कारण 'मैना' कहानी में भवनाडीपा की चार युवतियों की स्वतन्त्रता बाधित होती है। उनकी जीवन-स्थितियों में फर्क पड़ता है। वे मनपसंद कपड़े खरीदने के लिए हाट गईं थीं। लाह बेचने के कारण उनके पास काफी रुपये थे। उनके माता-पिता और बड़े-बुजुर्ग उनके हाट-बाजार जाने, सौदा बेचने, मनपसंद खरीदारी करने से रोकते नहीं थे। बाहर से आने वाले ट्रक के मोटिया (दिकू) से उनके जीवन में परेशानियाँ आने लगती हैं। रोज केरकेट्टा सहजता से इस सच्चाई को उद्घाटित करती हैं – "साहित्य विषय में स्कूल के दिनों में ही हमें संक्षेपण करना सिखाया जाता है। स्त्रियों के बारे में समाज भी हमें ऐसा ही नजरिया देता है। हमारा समाज, इतिहास और साहित्य जीवन के हर क्षेत्र में स्त्रियों का संक्षेपण करता है। विशेषकर, हम आदिवासी स्त्रियों का। हमारा लेखन ऐसे संक्षेपण के खिलाफ है।" (– स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति)

गाँव में पंचायत बैठायी जाती है जिसमें युवतियों को ही दोषी माना जाता है। बनाव-शृंगार नहीं करने के लिए कहा जाता है। भविष्य में घर वालों के साथ हाट जाने का फरमान सुना दिया जाता है। आदिवासी बालाओं के इस संक्षेपण के खिलाफ रूपु और फिलमोन लड़कों को संगठित करते हैं जिसमें लड़कियाँ भी सहभागी होती हैं। वे कहते हैं – "हम हमारे ही घर-आँगन में अपनी मर्जी से घूम सकें, अपनी मर्जी से बोल सकें, जी सकें, खा-पहन सकें, गा सकें, नाच सकें यह हमारा अधिकार है। इसलिए हमको संगठित होकर रहना है। हमारी मैनाएँ गीत नहीं गातीं तो हम भवनाडीपा की लड़की को बचा नहीं पाते। तब लूसी का क्या होता ?" इस प्रकार सांस्कृतिक

संगठन बनाकर सामूहिकता की जीवन-शैली के कारण क्षेत्र की आजादी कायम रखी जाती है। अपने क्षेत्र में सम्मानपूर्वक जीवन-यापन करने का अधिकार सभी युवतियों को मिलता है।

4.3.09. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

01. ढोम्बे ने रूपु को कहाँ छोड़ने का मन बना लिया था ?
(क) वइलसेरा
(ख) सलंगापूंछ
(ग) कुबुराडीह
(घ) मइटखुपा

02. झारखण्ड में धान के साथ किस फसल की उपज अधिक होती है ?
(क) जटंगी, कुरथी
(ख) चना, ज्वार
(ग) जौ, गेहूँ
(घ) बाजरा, सरसों

03. “नदी की रेत मैना तप रही है” – किसकी मैना गाती है ?
(क) फिलमोन
(ख) रूपु
(ग) फिलिप
(घ) कातिक

04. मइटखुपा में फिलमोन किसके यहाँ धांगर रह गया ?
(क) जगत बड़ाईक
(ख) गुलाब बड़ाईक
(ग) सुखदेव बड़ाईक
(घ) मंगरा बड़ाईक

05. ‘मैना’ कहानी में मइटखुपा और कबुराडीह के बीच किस गाँव का उल्लेख आया है ?
(क) कोरंजो
(ख) भवनाडीपा

(ग) झरिया डीपा
(घ) सलगापूंछ

06. 'मैना' कहानी में बरकी, पेछोरी, पिंधना, धूस, कम्बल, चादर कहाँ खरीदे-बेचे जाते हैं ?
(क) मेला
(ख) मॉल
(ग) जतरा
(घ) हाट

07. रोज केरकेट्टा विरचित द्वितीय कहानी-संग्रह है –
(क) स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति
(ख) पगहा जोरी जोरी रे घाटो
(ग) विरूआर गमछा
(घ) पहली बारिश

08. रोज केरकेट्टा को मध्यप्रदेश सरकार द्वारा किस राष्ट्रीय सम्मान से सम्मानित किया गया ?
(क) रानी दुर्गावती सम्मान
(ख) ज्योतिबा फूले सम्मान
(ग) माकी मुंडा सम्मान
(घ) सिनगी दई सम्मान

09. प्रथम आदिवासी महिला कथाकार महिला कथाकार हैं –
(क) एलिस एक्का
(ख) फ्रांसिस्का कुजूर
(ग) रोज केरकेट्टा
(घ) ज्योति लकड़ा

10. रोज केरकेट्टा किस आदिवासी समुदाय से सम्बद्ध हैं ?
(क) मुंडा
(ख) उरांव
(ग) खड़िया
(घ) हो

लघुत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी कहानी के विकास में रोज केरकेट्टा के योगदान का परिचय दीजिए।
2. 'मैना' कहानी के भाषिक-वैशिष्ट्य पर विचार कीजिए।
3. 'मैना' कहानी में रूपु और फिलमोन ने सलंगापूंछ, मइटरूपा, कबुराडीह के लोगों को संगठित क्यों किया ?
4. हिन्दी के आदिवासी कथाकारों पर परिचयात्मक टिप्पणी लिखिए।
5. 'मैना' कहानी में मैना की भूमिका उद्घाटित कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'मैना' कहानी के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिए।
2. 'मैना' कहानी के शीर्षक पर विचार करते हुए उसकी सार्थकता पर टिप्पणी कीजिए।
3. 'मैना' कहानी के आधार पर झारखण्ड में हाट-बाजार के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए।
4. "सामूहिकता, समता, श्रम-आधारित जीवन और सहअस्तित्व को आदिवासी जीवन-मूल्यों में विशेष महत्त्व प्राप्त है।" 'मैना' कहानी के आधार पर उक्त कथन का आकलन कीजिए।
5. 'मैना' कहानी के कथा-शिल्प की विशेषताएँ बताइए।

4.3.10. कठिन शब्दावली

हुंडार	–	रामसियार
अगहन	–	मार्गशीर्ष
कोड़हा	–	मोटे चावल की ऊपरी परत के कण
जनम परब	–	क्रिसमस
छाहुर	–	गाँव की चौड़ी पगडंडी
पतरा	–	विरल जंगल
झरिया	–	छोटी नदी
हटहटा कर हँसना	–	खिलखिलाकर हँसना
दो काठ	–	दो डाली धान
खोंसो	–	जूड़ा पिन
सोंटी	–	सेन्दुआर, बाँस की छड़ी
मोटिया	–	ट्रकों में सामान उतारने-चढ़ाने वाले
छितिछान	–	छिन्न-भिन्न
पैकार	–	हाट में अनाज, लाह खरीदने वाले
लहर-फहर	–	सलीके से बात करना
सेर, बटखरा, ढारा	–	मापतौल का समान

नरहोड़	–	एड़ी तक
बरकी, पिछौरी	–	ओढ़ने, बिछाने वाला चादर
कुँवार	–	आश्विन महीना
पिंधना	–	चीक बड़ाईकों द्वारा बुनी गई लाल पाड़ की साड़ी
पूस	–	पौष

4.3.11. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. केरकेट्टा, रोज (2009), पगहा जोरी-जोरी रे घाटो, बिहार/झारखण्ड, देशज प्रकाशन, पृष्ठ क्रमांक 94-101, ISBN 978-81-908959-2-7
2. मीणा, गंगा सहाय (2014), आदिवासी साहित्य विमर्श, नई दिल्ली, अनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ क्रमांक 31-34, ISBN 978-81-7975-580-8
3. टेटे, वन्दना (2016), वाचिकता आदिवासी दर्शन साहित्य और सौन्दर्यबोध, भागलपुर, संस्कृति प्रकाशन, पृष्ठ क्रमांक 73, ISBN 978-81-932198-5-0
4. टेटे, वन्दना (2015), एलिस एक्का की कहानियाँ, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ क्रमांक 22, ISBN 978-81-8361-791-8
5. केरकेट्टा, रोज (2014), स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, राँची, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, पृष्ठ क्रमांक 70 और 135, ISBN 978-93-81056-43-1

❖❖❖

खण्ड – 5 : आत्मकथा

इकाई – 1 : मुर्दहिया – तुलसीराम

इकाई की रूपरेखा

5.1.00. उद्देश्य कथन
5.1.01. प्रस्तावना
5.1.02. प्रो॰ तुलसीराम का जीवन-परिचय, शिक्षा एवं अकादमिक योगदान
5.1.03. प्रो॰ तुलसीराम का रचना-संसार
5.1.04. दलित आत्मकथाओं की पृष्ठभूमि एवं संक्षिप्त परिचय
5.1.05. 'मुर्दहिया' आत्मकथा का सारांश
5.1.06. 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त लोकजीवन
5.1.07. 'मुर्दहिया' और दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
5.1.08. 'मुर्दहिया' का भाषा-शिल्प और सौन्दर्यशास्त्र
5.1.09. 'मुर्दहिया' में व्यक्त विचारों का विश्लेषण
5.1.10. प्रो॰ तुलसीराम एवं उनकी मुर्दहिया का मूल्यांकन
5.1.11. पाठ सार
5.1.12. बोध प्रश्न
5.1.13. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
5.1.14. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

5.1.00. उद्देश्य कथन

प्रसिद्ध साहित्यकार प्रोफेसर तुलसीराम की चर्चित आत्मकथा 'मुर्दहिया' हिन्दी साहित्य जगत की अमूल्य निधि है। 'मुर्दहिया' उनकी आत्मकथा का पहला खण्ड है। दूसरा खण्ड 'मणिकर्णिका' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। 'मुर्दहिया' का प्रकाशन सन् 2010 ई. में हुआ है। तुलसीराम जी ने अपनी आत्मकथा को अपने कुटुम्ब, परिवार, गाँव, समाज, रीति-रिवाज, अन्धविश्वास और अनेक पौराणिक बातों के उल्लेख से समाजशास्त्रीय रूप में चित्रित किया है। वास्तव में दलित आत्मकथा एक व्यक्ति का आत्मकथ्य होकर भी केवल एक व्यक्ति की कथा नहीं होती बल्कि वह अपने में सम्पूर्ण दलित समाज की कथा को समेटे होती है। दलित आत्मकथाकार अपने समाज के प्रतिनिधि के रूप में निज बात कहते हुए सम्पूर्ण दलित समाज की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक स्थितियों का चित्रांकन करता है। यहाँ इस पाठ में इसी रूप में 'मुर्दहिया' आत्मकथा का अध्ययन किया जाएगा और 'मुर्दहिया' के माध्यम से यह अन्वेषण किया जाएगा कि गाँव में दलितों का जीवन कैसा होता है, उनके बीच अन्धविश्वास और दन्तकथाएँ किस तरह व्याप्त हैं, लेखक के बचपन में ऐसी कौनसी घटनाएँ घटीं जिनके कारण वे अपने कुटुम्ब-परिवार के लाड़ले होने के बावजूद अपशकुन माने गए, लेखक के दादा जी की मृत्यु और दादी जी के दीर्घजीवी होने के विषय में गाँव के लोगों में क्या प्रवाद

फैला हुआ था, लेखक के जन्म के बाद उनका नामकरण और उनकी शिक्षा के आरम्भ के समय ब्राह्मणों के शुभाशीष को आवश्यक क्यों माना गया, क्या यह मात्र एक परम्परा थी या नियोजित रूप से बनाए गए नियम थे जिनके चंगुल में फँसे रहना ही दलित-शोषित जीवन की विवशता रही है और जिन्हें समूचे दलित समुदाय ने अपना भाग्य और ईश्वर का आदेश मान लिया है। क्या ठेठ गाँव-देहातों में आज भी ये परम्पराएँ उसी रूप में प्रचलित हैं या जागरण के फलस्वरूप इन धारणाओं और दलित-जीवनस्तर में शनैः शनैः परिवर्तन आया है !

'मुर्दहिया' का अध्ययन करते समय यह भी विचारणीय है कि लेखक ने अपनी आत्मकथा के प्रथम खण्ड को 'मुर्दहिया' शीर्षक क्यों दिया है ! क्या इस नाम या क्षेत्र ने आत्मकथाकार के बालमन की सोच और उसके जीवन को गहरे प्रभावित किया है ! यहाँ लेखक के दार्शनिक विचारों को समझना भी आवश्यक है तभी इस आत्मकथा-लेखन के मूल उद्देश्य एवं इसकी विस्तृत सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को बेहतर समझा जा सकेगा।

प्रो॰ तुलसीराम जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में प्रोफेसर के प्रतिष्ठित पद पर कार्यरत रहे। वे मार्क्सवाद के आन्दोलन के नेता और कार्यकर्त्ता रहे हैं। वे मार्क्सवाद और बुद्धिज़्म के विद्वान हैं। क्या वे अपनी आत्मकथा के माध्यम समाज, देश और विश्व को सन्देश कोई देना चाहते हैं या यह आत्मकथ्य महज़ एक अभिव्यक्ति है । क्योंकि प्रसिद्ध साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रख्यात आलोचक और समीक्षक राजकिशोर द्वारा सम्पादित 'हरिजन से दलित' पुस्तक में संकलित अपने आलेख में अपने दलित जीवन के अनुभवों को याद करते हुए लिखा है – "आत्मकथा लिखना यानी अपनी भोगी हुई यातनाओं को फिर से याद करके सहना है ।" यह महत्त्वपूर्ण तथ्य समझना आवश्यक है तभी 'मुर्दहिया' का समुचित आकलन किया जा सकता है।

5.1.01. प्रस्तावना

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' का प्रथम खण्ड सन् 1995 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर सन् 1997 ई. में ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' प्रकाशित हुई जिसमें दलितों की गरीबी, अभाव, घर-मुहल्ले का वर्णन, दलित बच्चों को शिक्षा से वंचित करने के सवर्णों के षड्यन्त्र, उच्च पद पर पदासीन होने के बाद भी अपमानजनित और उपेक्षित जीवन, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विषमता, अपमान, भेदभाव सहने की पीड़ा वर्णित है। तदन्तर सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' प्रकाशित हुई। इसी क्रम में सन् 2010 ई. में प्रो॰ तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' का प्रकाशन साहित्य और समाज के क्षेत्र में क्रान्तिकारी घटना मानी गई। 'मुर्दहिया' आत्मकथा पर दलित आलोचकों और समीक्षकों के वक्तव्यों-समीक्षाओं की अपेक्षा सवर्ण आलोचकों और समीक्षकों ने अपने विचारों को अधिक तार्किक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने आत्मकथाकार की विद्वतापूर्ण वैश्विक दृष्टि के साथ ही उनके लेखन-कौशल और भाव-प्रस्तुति की अनुपम शैली की मुक्त कण्ठ से सराहना की है।

'मुर्दहिया' की रचना-प्रक्रिया के विषय में स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है कि आत्मकथा लिखने की उनकी कोई नियोजित योजना नहीं थी। सन् 2007 ई. में लखनऊ में एक विशेष कार्यक्रम में 'तद्भव' पत्रिका के सम्पादक अखिलेश ने उन्हें 'तद्भव' के लिए कुछ लिखने और विशेष रूप से आत्मकथा लिखने का सुझाव दिया था। उन्हीं के आग्रह पर तुलसीराम जी ने 'तद्भव' पत्रिका के अंकों में क्रमशः प्रकाशित करने के लिए आत्मकथा-लेखन शुरू कर दिया। लेखक ने महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन की पाँच खण्डों में लिखित आत्मकथा का अध्ययन किया था जिसमें राहुल जी की समाज, संस्कृति, इतिहास, भूगोल और राजनीति आदि विषयों पर विचार-अभिव्यक्ति ने लेखक को प्रभावित किया था। तुलसीराम जी 'बुद्ध चरित्र' से भी प्रभावित थे। 'तद्भव' पत्रिका के अंकों में क्रमशः प्रकाशित 'मुर्दहिया' की लोकप्रियता को देखकर प्रो० तुलसीराम ने भी अपनी आत्मकथा पाँच खण्डों मे लिखने की योजना बनाई थी। मगर जीवन के अन्तिम वर्षों में निरन्तर अस्वस्थ रहने के कारण वे अपनी आत्मकथा के दो खण्ड ही लिख सके। शेष खण्डों का नहीं लिखा जाना हिन्दी साहित्य के लिए अपूरणीय क्षति है। पाठक-वर्ग उनके अनुभवों को पूर्णरूपेण जानने से वंचित रह गया।

5.1.02. प्रो० तुलसीराम का जीवन-परिचय, शिक्षा एवं अकादमिक योगदान

तुलसीराम का जन्म उत्तरप्रदेश के आजमगढ़ जिले के अन्तर्गत धरमपुर गाँव में दिनांक 1 जुलाई 1949 को एक दलित परिवार में हुआ। उनके दादा का नाम जूठन और दादी का नाम मुसड़िया था। उनके पिता पाँच भाई थे – सोम्मरराम, नग्गरराम, मुनेस्सरराम, मुन्नरराम और तेरसीराम। तुलसीराम के पिता का नाम तेरसीराम और माता का नाम धीरजा देवी था। तुलसीराम तीन भाई थे – तुलसीराम, रामअवताराम और सुरेशराम। अपने भाइयों में वे सबसे बड़े थे। उनका विवाह सन् 1988 ई. में प्रभा चौधरी से हुआ। प्रभा जी सन् 1996 ई. में अर्थोराइटिस से पीड़ित हो गईं। उनकी एकमात्र पुत्री अंगिरा चौधरी का जन्म सन् 1991 ई. में हुआ। तुलसीराम जी अपनी पुत्री को प्यार से 'लूबा' कहते थे। 'लूबा' रसियन शब्द है, जिसका अर्थ है 'प्यारा'।

प्रोफेसर तुलसीराम 1 जुलाई 2014 को जे.एन.यू. से सेवानिवृत्त हुए। उनकी प्रतिभा, ज्ञान और अनुभव की महत्ता को देखते हुए विश्वविद्यालय ने उनका कार्यकाल तीन वर्ष बढ़ा दिया। वे सन् 2008 ई. से ही लगातार डायलिसिस द्वारा अपने स्वास्थ्य पर नियन्त्रण रखते हुए जिजीविषा के साथ कर्त्तव्य-निर्वहन में निरत रहे। निरन्तर अस्वस्थता के कारण दिनांक 13 फरवरी 2015 को उनका निधन हो गया।

तुलसीराम जी की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा उनके गाँव से दूर शेरपुर कुटी के सरकारी स्कूल में जबकि कॉलेज स्तर की शिक्षा डी.ए.वी. कॉलेज, आजमगढ़ में सम्पन्न हुई। बी.ए की डिग्री उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस से प्राप्त की थी। बाद में वहीं से राजनीति विज्ञान विषय में एम.ए. भी किया। एम.ए. के उपरान्त उन्होंने 'नक्सलवाद' विषय में शोधकार्य शुरू किया किन्तु इसी बीच वे 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' से जुड़े और वहाँ एक समर्पित कार्यकर्त्ता के रूप में योगदान देने लगे। अपना शोधकार्य अधूरा छोड़कर पार्टी के काम से वे दिल्ली आ गए और कॉमरेड्स के साथ मिलकर पार्टी के सर्जनात्मक एवं संगठनात्मक कार्य करने लगे। सन्

1977 ई. में उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में 'अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन' विषय में प्रवेश लिया। साथ ही इतिहास विषय में प्रवेश परीक्षा दी जिसमें अव्वल रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञ तुलसीराम जी ने जे.एन.यू. के 'रूसी और मध्य एशिया अध्ययन केन्द्र' से प्रोफेसर जफर इमाम के निर्देशन में 'सोवियत पॉलिसी टुवाईस कम्युनिस्ट मुवमेन्ट इन इंडिया : ए केस स्टडी ऑफ इरान' विषय पर शोध करके पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सन् 1986 ई. में वे जे.एन.यू. के इसी विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर पद पर नियुक्त होकर अध्यापन-कार्य करने लगे। वे इस केन्द्र के चेयरपर्सन भी रहे और 'अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान' के 'यू.जी.सी. एरीया स्टडी प्रोग्राम ऑन रसिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' के निदेशक भी रहे। सन् 1988 ई. में वे इंस्टीट्यूट ऑफ ओरिएंटल स्टडीज़, मास्को और सेन्ट पीटर्सबर्ग में फेलो भी रहे। प्रो॰ तुलसीराम सोवियत राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन, बौद्ध दर्शन, अम्बेडकरवाद, बहुजन राजनीति और ट्रान्स काकेर्शिया में समाज एवं राजनीतिशास्त्र के विशेषज्ञ थे। वे 'अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान' जे.एन.यू. में लम्बे समय तक 'अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन' पर एक प्रश्नपत्र भी पढ़ाते रहे।

1917 की रूसी क्रान्ति के बाद वहाँ की सरकारी योजनाओं में किसानों, मजदूरों और गरीब तबके को प्राथमिकता देने की नीतियों की वजह से तुलसीराम सोवियत संघ के समर्थक थे। उन्होंने 'मुर्दहिया' आत्मकथा में लिखा है – "मैं बचपन से ही समूह खेती जैसी अवधारणा से प्रभावित हो गया।" वे बुद्ध, मार्क्स और अम्बेडकर को अपना आदर्श प्रेरक मानते थे। इन्हीं की विचारधारा के आधार पर उन्होंने विचार, अभिव्यक्ति और लेखन किया था।

5.1.03. प्रो॰ तुलसीराम का रचना-संसार

'मुर्दहिया' आत्मकथा के प्रकाशन से पूर्व तक डॉ॰ तुलसीराम की प्रसिद्धि एक विचारक के रूप में थी। 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' के प्रकाशनोपरान्त वे साहित्यिक क्षेत्र में विशेष चर्चित हुए। 'मुर्दहिया' में उन्होंने बहुत ही तटस्थ रहकर सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत किया है। सहज रूप से लिखा गया सामाजिक यथार्थ पाठकों के मन को गहरे प्रभावित करता है। प्रो॰ तुलसीराम ने अनेक वर्षों तक 'भारत अश्वघोष' पत्रिका का सम्पादन किया है, साहित्यिक क्षेत्र में यह उनका बड़ा योगदान है। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं जिनमें 'अंगोला का मुक्तिसंग्राम', 'सी.आई.ए. कम्युनिस्ट मूवमेन्ट इन ईरान', 'परसिया टू ईरान' (वन स्टेप फारवर्ड टू स्टूप्स बेक), 'आइडियोलॉजी इन सोवियत ईरान रिलेशन' (लेनिन टू स्टालिन) आदि प्रमुख हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं जिन्हें संकलित कर पुस्तक रूप में प्रकाशित करना पाठकों के लिए उपादेय होगा। सन् 1988 ई. में वे दूसरी बार रूस गए। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने 16 सितम्बर 2002 से 29 सितम्बर 2002 तक 'गोर्की की माँ से मुलाकात' शीर्षक से डायरी लिखी जो तद्भव पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई है। वे 'जे.एन.यू. परिसर' पत्रिका के लिए भी लिखते रहे। प्रो॰ तुलसीराम हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखते थे। जातिवाद, वर्णभेद और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लेखन से उनकी विशिष्ट पहचान बनी। उनके साक्षात्कार भी उनके सामाजिक सरोकार को प्रदर्शित करते हैं।

अपनी बहुचर्चित आत्मकथा 'मुर्दहिया' के लिए प्रो॰ तुलसीराम को वर्ष 2011 के 'अयोध्याप्रसाद खत्री स्मृति सम्मान' से सम्मानित किया गया। लखनऊ में उन्हें 'ओमप्रकाश वाल्मीकि सम्मान' से भी सम्मानित किया गया। सन् 2012 ई. में वे दलित लेखक संघ के अध्यक्ष निर्वाचित किए गए। प्रो॰ तुलसीराम को केवल 'दलित साहित्यकार' कहना उनकी पहचान को सीमित करके आँकना है। सच तो यह है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वक्ता, विलक्षण प्रतिभा के कुशल साहित्यकार और बौद्ध दर्शन, मार्क्सवाद तथा अम्बेडकरवाद के अध्येता थे।

5.1.04. दलित आत्मकथाओं की पृष्ठभूमि एवं संक्षिप्त परिचय

दलित आत्मकथाओं में दलितों का भोगा हुआ सच अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ कल्पना की उड़ान नहीं है और न ही सम्मान, शोहरत, वैभव, दौलत, रंगीन सपने या प्रेम का प्रस्तुतीकरण है, जैसा कि सवर्ण और सम्पन्न आत्मकथाकारों की आत्मकथाओं में अभिव्यक्त हुआ देखा जा सकता है। दलित आत्मकथाओं में दलित जीवन-यथार्थ का चित्रण है। गैर-दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति विशेष केन्द्रित होती हैं जबकि दलित आत्मकथाएँ दलित समाज और उनकी समस्याओं को उद्घाटित करती हैं। वास्तव में दलित आत्मकथा एक व्यक्ति के माध्यम से समूचे दलित, अछूत, शोषित और पीड़ित समाज की दीन-हीन, अभावग्रस्त, अपमान और यातना के दलदल में धँसे जीवन की व्यथा-कथा है। दलित आत्मकथाओं में शिक्षा के अभाव और आर्थिक-सामाजिक विषमता के फलस्वरूप अनेक समस्याओं से जूझता दलित-जीवन अभिव्यक्त हुआ है। सच तो यह है कि दलित-जीवन इतना संतप्त रहा है कि उस संताप से उत्पन्न ताप के विस्फोटस्वरूप ही ये दलित आत्मकथाएँ मुखर हुई हैं। सदियों से गूँगे-बहरे बने रहने को मजबूर ये बहिष्कृत लोग अम्बेडकरवादी दलित आन्दोलन से उत्पन्न हुई चेतनास्वरूप ही सोचने, विचारने, बोलने और लिखने लगे थे, अपनी व्यथा-कथा सुनाने लगे थे। सर्वप्रथम महाराष्ट्र में उत्पन्न यह दलित-चेतना शनैः शनैः पूरे देश में प्रसारित होने लगी थी।

हिन्दी दलित आत्मकथा-लेखन की पृष्ठभूमि में मराठी दलित आत्मकथा-लेखन की महत्ता को समझना आवश्यक है। मराठी दलित आत्मकथाओं में दया पवार की आत्मकथा 'अछूत' उल्लेखनीय है। रोचक शैली में लिखित इस आत्मकथा के प्रसंग बहुत गहराई के साथ अपनी बात कहते हैं। इसी तरह लक्ष्मण माने-कृत आत्मकथा 'पराया', लक्ष्मण गायकवाड़-कृत आत्मकथा 'उचक्का', शरण कुमार लिम्बाले-कृत आत्मकथा 'अक्करमासी' भी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। मराठी दलित स्त्री आत्मकथाओं में बेबी ताई कामले-कृत 'जीवन हमारा', शान्ताबाई कामले-कृत 'मेरे जीवन की चित्तर कथा' एवं 'नाजा', उर्मिला पवार-कृत 'आयदान' प्रमुख रचनाएँ हैं। मराठी दलित पुरुष आत्मकथाओं में जाति-भेद, अपमान, गरीबी, अभाव, शोषण, अन्याय का प्रस्फुटन हुआ है जबकि मराठी दलित स्त्री आत्मकथाओं में जिनमें जाति-भेद, स्त्री-पुरुष भेद, स्त्री-शोषण, घरेलू हिंसा और सामाजिक अन्याय तथा अपमान के प्रसंग चित्रित हुए हैं। उक्त समस्त मराठी दलित आत्मकथाओं के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिशराय-कृत 'अपने अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि-कृत 'जूठन', सूरजपाल चौहान-कृत 'तिरस्कृत', कौशल्या बेसंतरी-कृत 'दोहरा अभिशाप', के. नाथ-कृत

'तिरस्कार', डॉ॰ डी.आर. जाटव-कृत 'मेरा सफर मेरी मंजिल', पूर्व राज्यपाल माताप्रसाद-कृत 'झोपड़ी से राजभवन तक', प्रो॰ तुलसीराम-कृत 'मुर्दहिया', डॉ॰ श्योराजसिंह बेचैन-कृत 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' प्रमुख कृतियाँ हैं। हिन्दी दलित स्त्री आत्मकथाओं में डॉ॰ सुशीला टाकभौरे-कृत 'शिकंजे का दर्द' (2011), रजनी तिलक-कृत 'अपनी ज़मीं अपना आसमाँ' (2017), कावेरी-कृत 'टुकड़ा-टुकड़ा जीवन' (2017), अनिता भारती-कृत 'छूटे हुए पन्ने की उड़ान' (2018) प्रमुख रचनाएँ हैं।

दलित आत्मकथाएँ वेदना, सम्वेदना, संघर्ष, विरोध और विद्रोह से आप्लावित हैं। आत्मकथाकारों ने इनमें अपने दीन-हीन और अपमानित जीवन का यथार्थ चित्रण विस्तारपूर्वक किया है। अपने-अपने पिंजरे, जूठन, तिरस्कृत, तिरस्कार, मुर्दहिया, मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, अक्करमासी, पराया उचक्का आदि आत्मकथाओं में जीवन-संघर्ष के कटु अनुभव वर्णित किये गए हैं। प्रो॰ तुलसीराम-कृत 'मुर्दहिया' में बचपन के दिनों से लेकर बारहवीं कक्षा तक की शिक्षा-प्राप्ति के लिए किये गए संघर्षों का विवरण है। 'मुर्दहिया' के आगे की बात आत्मकथा के दूसरे खण्ड 'मणिकर्णिका' में कही गई है। 'मणिकर्णिका' में आत्मकथाकार के वयस्क जीवन के प्रसंग, कॉलेज की शिक्षा, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी संगठन के कार्य, नौकरी के लिए की गई यात्राएँ, संघर्ष और जीवन की अन्य समस्याओं का चित्रण है।

उत्तर-आधुनिककाल में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श जैसे अनेक विमर्शों को समाज-कल्याण और मानवाधिकार की दृष्टि से आवश्यक माना जा रहा है। इनको समझने के लिए सम्बन्धित वर्ग की आत्मकथाओं का अध्ययन आवश्यक है। आत्मकथाओं में अपने वर्ग या समुदाय के जीवन की स्थिति और समस्याओं का सत्य-निरूपित होता है। यथार्थ-निरूपण आत्मकथा-लेखन की कसौटी है। इनकी प्रामाणिकता ही इन्हें लोकप्रिय बनाती है। दलित आत्मकथाओं का साहित्य और समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये आत्मकथाएँ दलित समुदाय की सामाजिक स्थिति और व्यवस्था के विश्लेषण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनका अध्ययन दलित विमर्श को समझने में सहयोगी है। इस दृष्टि से दलित आत्मकथाओं का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो गया है।

5.1.05. 'मुर्दहिया' आत्मकथा का सारांश

'मुर्दहिया' की भूमिका में प्रो॰ तुलसीराम लिखते हैं – " 'मुर्दहिया' हमारे गाँव धरमपुर (आजमगढ़) की बहुद्देशीय कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वहीं से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाजार हो या मंदिर, यहाँ तक कि मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो भी मुर्दहिया से ही गुजरना पड़ता था। हमारे गाँव की 'जिओ-पॉलिटिक्स' यानी 'भू-राजनीति' में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केन्द्र जैसी थी। जीवन से लेकर मरन तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी। विशेष रूप से मरे हुए पशुओं के मांसपिंड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कलास्थली के रूप में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की 'हुआं-हुआं' वाली आवाज़ उसकी निर्जनता को भंग कर देती थी।

हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुःख-दर्द अपने अंदर लिए मुर्दहिया में दफन हो गए थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' ही होता।"

'मुर्दहिया' आत्मकथा-लेखन में लेखक ने अपने जीवन की विभिन्न घटनाओं का वर्णन निम्नलिखित सात शीर्षकों के अन्तर्गत किया है – (i) भुतही पारिवारिक पृष्ठभूमि (ii) मुर्दहिया तथा स्कूली जीवन (iii) अकाल में अंधविश्वास (iv) मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोकजीवन (v) भुतनिया नागिन (vi) चले बुद्ध की राह (vii) आजमगढ़ में फाकाकशी।

(i) भुतही पारिवारिक पृष्ठभूमि –

प्रकरण के प्रारम्भ में ही लेखक स्पष्ट कर देते हैं कि उनके पूर्वज अन्धविश्वास के दलदल में आपादमस्तक धँसे हुए थे। शिक्षा और वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण वे लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अज्ञानता के अन्धकार में जिये जा रहे थे। लेखक लिखते हैं कि "मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी।" उनके दादा की मृत्यु के विषय में प्रवाद फैला हुआ था कि किसी भूत ने उन्हें पीट-पीटकर मार डाला। इसके पीछे का सत्य लेखक का बालमन नहीं जानता। उसे बस यह आशंका है कि किसी दुश्मन ने उन्हें मार डाला और उनकी मृत्यु का कारण भूत को बता दिया था। अज्ञान और अन्धविश्वास के कारण घर के लोग भूत के क्रोध से बचने के लिए भूत बाबा की पूजा भी करने लगे थे। ऐसे अन्धविश्वास के वातावरण में आजमगढ़ जिले के धरमपुर गाँव के एक दलित परिवार में तुलसीराम का जन्म हुआ। दादी मुसड़िया सौ वर्ष से अधिक अवस्था तक जिन्दा रही थी। किसी माह की तेरहवीं तिथि के दिन पैदा होने के कारण लेखक के पिता का नाम तेरसी रखा गया था। माँ का नाम धीरजा था। तुलसीराम के जन्म के बाद उनकी माँ की चारपाई के नीचे जिन्दा मछली रखी गई ताकि नवजात बालक भी पिता की तरह 'मछरमरवा' बने। उनका नामकरण शिव मन्दिर के पुजारी बाबा हरिहरदास ने किया था। तुलसीराम के पहले पैदा हुए बच्चे जीवित नहीं रहे थे इसलिए उनके पिता ने मन्दिर के महन्त बाबा का आशीर्वाद प्राप्त किया। वे शिवभक्त बन गए। उनके लगाये हुए पीपल के पेड़ के साथ ही तुलसीराम का जीवन भी बढ़ता गया। जब वे तीन वर्ष के थे तब चेचक महामारी के कारण अस्वस्थ होने पर उनके कुटुम्ब परिवार के लोग बीमारी में डॉक्टर से इलाज करवाने की बजाय चमरिया माई और डीह बाबा की पूजा करते रहे। पूजा में बलि के अलावा हलवा, सोहारी धार तथा पुजौरा चढ़ाते रहे। चेचक के कारण तुलसीराम की एक आँख की रोशनी चली गई तब लोग उन्हें 'कनवा' कहकर बुलाने लगे और एक आँख वाला होने के कारण उनका सामने आना अपशकुन मानने लगे। इस पीड़ा और अपमान से तुलसीराम बचपन में बहुत दुःखी हो जाते थे। तुलसीराम के दादा-दादी सवर्ण ज़मींदारों के खेतों में बंधुआ मजदूर थे। उनके दादा और पिता हरवाही का काम छोड़ने को पाप समझते थे। इसी से जीवन भर हरवाही का काम ही करते रहे। उनके पिता के अन्य भाइयों के बेटे कलकत्ता की जूट मिलों में और अन्य ऐसी ही जगहों पर नौकरी करते थे। उनके पिता के सबसे बड़े भाई सोम्मर चाचा बारह गाँव के चौधरी थे। वे अपने ज्ञान और तर्क से जीवन भर चौधरी का पद और सम्मान पाते रहे। उनके पिता के दूसरे नम्बर के बड़े भाई मुनेस्सर थे। तीसरे नम्बर के भाई नग्गर बहुत गुस्सेल थे। उनका परिवार शिवनारायण पंथ का अनुयायी था। वे लोग हर साल सामूहिक रूप

में पुजैया का आयोजन करते थे। पूजा में सुअर की बलि और प्रसाद भोजन होता था। ऐसे घोर अन्धविश्वासी और पिछड़े परिवार का बालक तुलसीराम सन् 1954 ई. में स्कूल जाने लगा, यह युगान्तरकारी घटना थी।

(ii) मुर्दहिया तथा स्कूली जीवन

इस प्रकरण में तुलसीराम की शिक्षा के प्रारम्भ तथा गाँव के दलितों में व्याप्त अन्धविश्वास का चित्रण किया गया है। गाँव के अम्बिका पाण्डे पंचांग देखकर किसी कार्य का शुभमुहूर्त बताते थे। स्कूल में एडमीशन के समय तुलसीराम का जन्म बरसात के दिनों में होना बताने पर उनकी जन्म-तारीख कल्पना के आधार पर 1 जुलाई 1949 लिखी गई थी। स्कूल में छुआछूत की प्रवृत्ति के कारण दलित अछूत बच्चों को कोई छूता नहीं था। गलती करने पर शिक्षक उन्हें 'चमरकिट' कहकर अपना क्रोध प्रकट करते थे। कक्षा पास करने के लिए गुरुजी लोग पसकराई की फीस या घूस लेते थे। स्कूल में गणित दौड़ के खेल-खेल में पढ़ाई भी होती थी। लेखक के परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। दादी ने भरूकी में बिस्टोरिया सिक्के जमा किए थे। वे तुलसीराम को बहुत प्यार करती थीं। उनके गाँव में हींग वाला आता था। गाँव में नोनिया जोगी भी था जिसका नाम रामजीत था। वे किसी के मुँह से कोई शब्द सुनते ही काव्य-पंक्ति बना लेते थे। एक बंकिया डोम था जो बाँस के टोकरे चंगेरी बनाता था और सिंघा नामक बाजा बजाता था। वह किसी से नाराज होने पर उसे बदनाम करता था। लोग उसके विद्रोही तरीके से घबराते थे। वह अच्छे लोगों की तारीफ भी करता था। गाँव में हिंगुहारा की तरह पटहारा, चूड़ीहारा, कपड़हारा अपनी अलग तरह की लय में गाते हुए अपना सामान बेचने आते थे। इसी तरह जादूगर और बाइस्कोप वाला भी आता था।

दलित बस्ती में बहुत गरीबी थी। लोग अनाज के बदले वस्तु खरीदते थे। बरसात के दिनों में दलित बस्ती में भुखमरी रहती। गरीबी के कारण दलित लोग चूहे मारकर खाते थे। बरसात का पानी छत से घर के अन्दर टपकता रहता था। ठंड की रातें भयानक कष्टदायक होती थीं। लेखक का कुटुम्ब-परिवार बहुत बड़ा था, गरीबी बहुत थी। पिता एक धोती के दो टुकड़े करके पहनते थे। घर में एक भी रजाई और कम्बल नहीं था। ठंड की रात में सब लोग पुआल बिछाकर और पुआल ही ओढ़कर सोते थे। ठंड के मौसम में दलित लोग रात में आग जलाकर तापते, उस समय राजनीति और शहर की खबरों पर बातचीत होती। सन् 1957 ई. में तुलसीराम तीसरी कक्षा में पढ़ते थे। वे गाँव वालों को चिट्ठी पढ़कर सुनाया करते थे। चुनाव के समय कम्युनिस्ट नेता चन्द्रजीत यादव और सुरजनराम अपनी पार्टी के प्रचार के लिए दलित बस्ती में आये। उनकी बातों और 'हँसिया बाली' के चित्र से बालक तुलसीराम बहुत प्रभावित हुए थे। तुलसीराम के मन में बचपन से ही कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति लगाव जाग गया था। उन दिनों चुनाव में दलितों पर कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव अधिक था। बच्चे कई तरह के खेल खेलते थे। बचपन में तुलसीराम दोस्तों के साथ गाय-भैंस चराने जाते थे तब वे झाड़ों पर चढ़कर लखनी और ओल्हापाती खेलते थे। इस बीच सियार बकरियों को मार डालते थे। गाँव में कई तरह के अन्धविश्वास व्याप्त थे। किसी भी आपत्ति की आशंका होने पर तुलसीराम की दादी चमरिया मैया की मनौती मानकर पूजा करवाती थीं। बड़े चाचा के कहने पर तुलसीराम भी भूत बाबा की पूजा करने उनके स्थान पर जाते थे।

ब्राह्मण सुदेस्सर पाण्डे की माँ का खरवांस के समय निधन हो जाने के कारण उनका दाह संस्कार सम्भव नहीं था इसलिए पन्द्रह दिन के लिए उन्हें मुर्दहिया में दफन कर दिया गया। खरवाँस खत्म होने पर लाश को फिर से कब्र से निकाल कर जलाया गया था। कब्र खोदने से लेकर कब्र की रखवाली तक का काम तुलसीराम को सौंपा गया। पन्द्रह दिन बाद लाश को कब्र से निकालने का भयानक प्रसंग भी यहाँ चित्रित किया गया है। तुलसीराम ने अपने पिता के साथ मिलकर उस लाश को कब्र से बाहर निकाला और फिर जलाया था। उस दिन पहली बार लेखक ने महसूस किया कि उसके मन में भी एक 'मुर्दहिया' जन्म ले चुकी है जहाँ भविष्य के न जाने कितने दुःख-दर्द को दफन होना शेष है। पन्द्रह वर्ष की उम्र में तुलसीराम ने हाईस्कूल पास किया। आगे की पढ़ाई छूट जाने के भय से वे सन् 1964 ई. में घर से भाग गए तब मुर्दहिया से गुजरते समय उन्हें महसूस हुआ कि 'मुर्दहिया' भी उनके साथ चल रही है।

(iii) अकाल में अंधविश्वास

सन् 1958 ई. में तुलसीराम चौथी कक्षा में पढ़ते थे। उन दिनों भी गाँव में अंधविश्वास अपने चरम पर था। स्कूल के पाँच शिक्षकों का दोपहर का भोजन स्कूल में ही पकाया जाता था। स्कूल की कक्षाएँ पोखर के किनारे पेड़ के नीचे लगती थीं। स्कूल में छुआछूत का प्रसार था। दलित विद्यार्थी स्कूल के कुएँ के पास नहीं जा सकते थे। कक्षा का छात्र मिसिर बाबा उन्हें दूर से पानी पिलाता था। 15 अगस्त, 26 जनवरी और 2 अक्टूबर के दिन स्कूल के छात्र अपने हाथ के बने तिरंगे लेकर गाँव में प्रभातफेरी निकालते थे। गाँधी, नेहरू और सरदार पटेल जिन्दाबाद के नारे लगाते थे। इन अवसर पर शिक्षकगण अछूतोद्धार पर भाषण देते थे। तुलसीराम ने एक दिन अनजाने में कुएँ के चबूतरे को छू दिया तब मिसर बाबा ने चिल्लाकर सबको बताया था कि चमरा ने कुआँ छू लिया। तब शिक्षक ने उन्हें बहुत गालियाँ दी थीं। रामलीला में मिसिर बाबा को सीता की भूमिका मिलती और दलित लड़कों को राक्षस सेना की। राक्षसों को रोज मरना पड़ता था। स्कूल में दोपहर के भोजन के लिए तुलसीराम अपने घर से अंगोछे में लाटा बाँधकर लाते थे जिसे वे नाले के किनारे जाकर सबसे छिपकर अकेले में खाते थे और नाले का पानी पीकर लौट आते थे क्योंकि लाटा खाना दरिद्रता का परिचायक था। स्कूल से कुछ दूर वैदिक संस्कृत पाठशाला थी। दलित बच्चे वहाँ जाकर संस्कृत के सूत्रों को सुनकर, उनमें कुछ भी मन से जोड़कर पाठशाला के विद्यार्थियों को चिढ़ाते थे। पण्डितों द्वारा चिढ़कर उन्हें गाली देने और खदेड़ने पर दलित बच्चों का मनोरंजन होता था। चौथी-पाँचवीं में पढ़ते समय तुलसीराम सहपाठियों में सबसे होशियार थे और कक्षा में सवालों के उत्तर सबसे पहले देते थे। उनसे नाराज सवर्ण बच्चे उन्हें 'काना' कहकर चिढ़ाते थे। पाँचवीं कक्षा में उन्हें हेडमास्टर परशुरामसिंह पढ़ाते थे। वे जब तुलसीराम की बुद्धिमत्ता से खुश होते तब कहते थे – "ई चमरा एक दिन हमरे स्कूले क इज्जत बढ़ाई।"

एक बार उनके प्राइमरी स्कूल में चमार जाति के डिप्टी साहब आये थे। उनको भोजन परोसने के लिए तुलसीराम को घर से थाली और लोटा लाने को कहा गया। 'हेडमास्टर ने विद्यार्थियों को अपने गाँव ले जाकर खेत के गन्ने छिलवाये हैं' – यह जानकारी मिलने पर डिप्टी साहब बहुत नाराज हुए थे। बाद में एक बार अन्य किसी व्यक्ति को स्कूल की ओर हेट लगाए आते देखा तो उन्हें डिप्टी साहब समझकर शिक्षक अपनी चिलम की

आग अरहर के खेत में फेंककर कक्षा में पढ़ाने लगे। खेत में आग सुलगने लगी तब बच्चों ने अपनी पाटी से आग बुझाई थी। सन् 1957 ई. में अकाल पड़ा। दलितों को भुखमरी का सामना करना पड़ा। वे चीनी मिल से गन्ने के रस से निकाला गया चोटा का रस घोलकर, उसे पीकर अपनी भूख मिटाते थे। इससे उन्हें और बच्चों को पेचिस की शिकायत हो जाती। मटर की दाल पानी में भिगोकर एक-दो मुट्ठी खाकर पानी पी लेते थे। जलाभाव के कारण स्नान न करने से दलितों को खुजली हो जाती थी। तुलसीराम की दादी घरेलू उपचार बताकर इलाज करती थी। भूखे दलितों को साहूकार सवाया या डेढ़िया की शर्त पर अनाज देते थे जिसमें मारपीट भी होती थी, तब सभी दलित पंचायत के लिए तुलसीराम के घर आकर उनके चौधरी चाचा से न्याय करवाते थे। वहाँ भी दलितों और ब्राह्मणों के बीच लड़ाई होती थी। खेत-मालिकों द्वारा बुलाने पर, सुबह के पहले ही उनके खेत में काम के लिए जाना दलितों की मजबूरी थी। अकाल में सिंचाई करना भी बड़ी मेहनत का काम था। अकाल के दिनों में और टिड्डी दल द्वारा फसल खराब करने पर दलित लोग किसी तरह अपना गुजारा करते थे। नाई, धोबी, मुसहर, नट सभी जातियों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। ये लोग मुफ़्त में काम करते थे। रबी और खरीफ़ की फसल आने पर इन्हें इनके हिस्से का थोड़ा-बहुत अनाज मिलता था। भूत-चुड़ैल के भय का इलाज ओझा करता था जो बहुत धन खर्च करवाता था। तुलसीराम के मुन्नेस्सर चाचा अकाल के दिनों में कलकत्ता से 'रामचरितमानस' ले आये थे। बालक तुलसीराम ने सुन्दरकाण्ड पढ़कर सुनाया जिससे सभी दलित उनकी प्रशंसा करते थे। अविवाहित नन्हकू पाण्डे के लिए गाँव के ब्राह्मण लड़के परसुपुर गाँव की एक विधवा ब्राह्मणी का अपहरण करके ले आते हैं और नन्हकू का विवाह रचाते हैं। तभी थाने से पुलिस आकर विधवा ब्राह्मणी और ब्राह्मणों को उठा ले जाती है। सन् 1959 ई. के समय गाँव में बभनौटी में घटित यह विशेष घटना थी।

(iv) मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोकजीवन

अकाल विभीषिका के चरम पर था। उन्हीं दिनों तुलसीराम को पाँचवीं के बच्चों के साथ परीक्षा देने के लिए उनके गाँव से सात मील दूर पैदल चलकर बबुरा धनहुवाँ गाँव के स्कूल जाना था। भोजन के लिए सभी दलित छात्र अपने साथ लाटा-सत्तू ले गए थे। जाते समय दादी ने तुलसीराम से कहा था कि बबुरा धनहुवाँ गाँव पहुँचकर सबसे पहले किसी पोखरे में नहाकर चमरिया माई की मनौती मान लेना ताकि परीक्षा में पास हो सके। वे नहाने लिए पोखर की ओर जाते हैं लेकिन वहाँ उन्हें रामचरन यादव मिलता है जो उन्हें निम्न जाति का होकर भी पोखर में नहाने की हिम्मत करने के लिए बुरी तरह फटकारता है। इस कारण वे गाँव के पोखर में स्नान नहीं कर पाते। स्कूल लौटकर नल के पानी से ही हाथ-पैर और मुँह धोकर चमरिया माई को धार और पुजौरा चढ़ाने की मनौती मानते हैं। लेखक के पोखर में नहाने की बात पर रामचरन यादव ने उन्हें भयंकर अपमानित किया था, यह बात तुलसीराम को बाद में कई बरसों तक पीड़ा देती रही। उस समय वे इस बात पर फूट-फूटकर रोये थे। रात में भी रोते-रोते ही सोये। ऐसी अवसादग्रस्त स्थिति में ही उन्होंने अपनी परीक्षा दी। बावजूद इसके वे परीक्षा में अव्वल दर्जे से उत्तीर्ण हुए। तुलसीराम सशंकित थे कि दो माह की छुट्टियों के बाद छठवीं कक्षा में उनका प्रवेश सम्भव होगा भी या नहीं। क्योंकि पिता कहते थे कि "अब तुम मेरी हरवाही संभालो !" दूसरी तरफ मुन्नर चाचा कहते थे कि "मैं तुम्हें मरे जानवर का चमड़ा निकालने का काम अच्छी तरह सिखा दूँगा।" तुलसीराम अंग्रेजी

सीखना चाहते थे मगर यह सम्भव हो सकेगा या नहीं, इस बात की बड़ी चिन्ता थी। एक बार रमौती नामक एक दलित स्त्री मरे बैल का कलेजा काटकर, पकाकर खाने के लिए अपने घर ले जाती है। बच्चों द्वारा यह जानकारी मिलने पर पंचायत में चौधरी उसके परिवार को कुजात घोषित कर देते हैं। रमौती का परिवार जाति-बहिष्कार का दण्ड हटाने के लिए सभी दलितों को सुअर-भात खिलाकर अधिक कर्ज में डूब जाता है।

गाँव के दलितजन तुलसीराम से चिट्ठी लिखवाते और पढ़वाते थे। इस प्रकरण में लेखक ने कई लोगों के विषय में विषद् जानकारी दी है। जैसे – किसना भाभी, टंडवा गाँव का पग्गल या पगला, जेदी चाचा आदि। इन व्यक्तियों का लेखक पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसे स्वीकारते हुए स्वयं लेखक का कहना है – "आज जब मैं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक बड़े सेन्टर का प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बन चुका हूँ, तो यह स्वीकारने में गर्व होता है कि इसके पीछे मेरी प्रेरणा के असली जनक वे तीन गरीब मजदूर थे, जिन्होंने मुझे छोटी उम्र में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरफ अनजाने में ही खींचा था। इनमें एक थे सोवियत संघ में 'समोही खेती' वाले मुन्नर चाचा, दूसरे सोनई और तीसरे जेदी चाचा।

1 जुलाई 1959 के दिन तुलसीराम बहुत बेचैन थे। उनकी शिक्षा के विरोध में घर भर में कोहराम मचा था, मगर दादी ने उनके छठवीं कक्षा में एडमीशन के लिए चार आने फीस दे दी। इसके साथ ही लेखक की अंग्रेजी की पढ़ाई के साथ-साथ दसवीं कक्षा तक पढ़ने का मार्ग भी खुल गया। यह तुलसीराम के जीवन में युगान्तरकारी घटना थी। छठवीं कक्षा में अंग्रेजी पढ़ाने वाले शिक्षक मुशाफिर लाल बहुत मेहनती, अनुशासनप्रिय तथा समतावादी थे। इससे तुलसीराम की रुचि अंग्रेजी में बहुत बढ़ी। दो साल लगातार अकाल पड़ने के बाद घनघोर बारिश होने से गाँव में खुशहाली आई। उसी बरसात में नटों के एक झुण्डने दलित बस्ती के दक्षिण में अपना तम्बू बना लिया था। वे लोग गाँव के लोगों को पहलवानी सिखाते थे। पन्द्रह दिन बाद वे अन्य जगह चले जाते। उन्हें जाते देखकर लेखक के बालमन में विचार आता है कि यदि मैं भी उनके क़ाफ़िले में रहता तो बड़ा आनन्ददायी होता। किसनी भौजी लगातार चिट्ठियाँ लिखवाती और पढ़वाती थीं। लोक-कलाएँ मनोरंजनकारी होने के साथ-साथ सन्देशवाहक भी थीं। हास्य और व्यंग्य शैली में कविता या गीत के माध्यम से समाज में प्रचलित कुरीतियों के विरुद्ध जागरण किया जाता था।

सन् 1960 ई. में तुलसीराम सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। परीक्षा की फीस के लिए चार आने मिलना भी मुश्किल रहता था। सतत धनाभाव और निरन्तर विरोध से दुःखी तुलसीराम घर से भाग जाना चाहते हैं किन्तु लगभग पन्द्रह कि.मी. पैदल जाने के बाद वे लौटने का निर्णय लेते हैं। घर लौटने पर सबको दुःखी पाते हैं। इसी के साथ उनकी पढ़ाई का विरोध भी खत्म हो जाता है। इस बीच माँ को रतोन्ही आने लगती है जिसका इलाज परिवार के लोग डॉक्टर की बजाय टोटकों से करते हैं। इस दौरान तुलसीराम की पढ़ाई अच्छी चलती है। वे अपने साथियों को भी पढ़ाई में सहयोग देते हैं। पिता के खेत-मालिक की बेटी आशा को कन्धे पर उठाकर नाला पार कराने पर तुलसीराम की बदनामी होती है। साथ ही आशा की पढ़ाई छुड़ाकर उसकी शादी कर दी जाती है। तुलसीराम याद करते हैं कि अफगान के राजा की बेटी मलालई को भी एक गुलाम से प्रेम करने पर जेल में डाल दिया गया था।

(v) भुतनिया नागिन

इस प्रकरण में लेखक ने नट परिवार के मुखिया सोफी और उसकी बेटी ललती (नटिनिया) का विस्तार के साथ चित्रण किया है। नटिनिया प्रत्येक ध्वनि पर नाचती थी। तुलसीराम मुर्दहिया में दलित लड़कों के साथ गोरू चराते समय खेलते हुए बाजा बजाते थे। नटिनिया उनके साथ खेलती और नाचती थी। वह तुलसीराम से अंग्रेजी सिखाने का आग्रह भी करती है। एक वाक्य अंग्रेजी का सीखकर अन्य लोगों के सामने उसे दोहराती है, तब लोग नटिनिया और तुलसीराम की दोस्ती का शक करते हैं। तुलसीराम के परिवार के लोग उसे कहते हैं कि "यह तो आवारा बन गया है।" उन दिनों वे सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। एक दिन मुर्दहिया में नटिनिया 'साँप-साँप' चीखकर भागती है। तुलसीराम साँप को ढूँढकर मार देते हैं। तब तुलसीराम के घर-परिवार के लोग और दलित बस्ती अन्य सभी लोग कहते हैं कि यह नाग मुर्दहिया का पुराना भूत था। अब नागिन भूतनी बनकर बदला लेगी। 'नटिनिया के लिए नाग को मारा' – इस बात के लिए भी तुलसीराम को लांछित करते हैं। रात में नागिन के डर से उन्हें भैंस बाँधने के भैसउर स्थान पर सुलाते हैं।

इस बीच तुलसीराम के नग्गर चाचा कोढ़ होने से बीमार हो गए। दवा के नाम पर उन्हें सिर्फ पोहरी बाबा की अगियारी (राख) दी जाती थी। वे राख खाते और उसी को शरीर पर भी मलते परन्तु कोई लाभ नहीं हो रहा था। ओझा से झाड़-फूँक करवाते रहे। परभू चौबे के कहने पर यज्ञ करके पाँच सौ एक ब्राह्मणों को भोजन भी कराया किन्तु उससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में एक हफ्ते बाद चौधरी की मृत्यु हो गई। बारह गाँव के लोग मृत्यु कार्यक्रम में आए। गाजीपुर की गंगा में उन्हें जल्समाधि दी गई। इसी प्रकरण में तुलसीराम की माँ से पिता के झगड़े का भी उल्लेख हुआ है। पिताजी माँ से झगड़ा करते और मारपीट भी करने लगे। एक दिन पिताजी फरही लेकर माँ को मारने दौड़े तब तुलसीराम ने उन्हें एक चाँटा मारा। प्रत्युत्तर में पिता भी उन्हें चाँटा मारते हैं मगर उस दिन के बाद पिताजी माँ को पीटना छोड़ देते हैं।

सन् 1961 ई. के नवम्बर में स्कूल में 'चक्रधारी' फिल्म दिखाई गई थी। उनके पिता कलकत्ता की कोइलरी में काम करने जाते हैं, मगर पन्द्रह दिन में ही लौट आते हैं और फिर से हरवाही का काम करने लगते हैं। तुलसीराम को दुलरिया भाभी के पेट-दर्द के इलाज के लिए भभूत लाने का काम सौंपा जाता है। तुलसीराम ओझे की भभूत लाने के बदले नटिनिया या अपने घर की राख की पुड़िया बनाकर दे देते हैं उस राख की पुड़िया से भी भाभी का पेट-दर्द ठीक हो जाता था। वास्तव में उनके पेट-दर्द का कारण अन्धविश्वास और मनोरोग था। इस प्रकरण में गन्ने की खेती के विषय में भी विस्तृत जानकारी दी गई है। रात में सिंचाई के समय लालटेन का तेल खत्म होने पर तुलसीराम को तेल लेने दूसरे गाँव अकेले भेजा जाता था। मुर्दहिया से होकर लौटते समय तुलसीराम वहाँ के भयावह वातावरण से भयभीत हो जाते थे। सन् 1962 ई. में देश के तीसरे आम चुनाव में करपात्री स्वामी की पार्टी जीतती है। वे वर्णभेद और जातिभेद के समर्थक तथा डॉ॰ अम्बेडकर के विरोधी थे फलतः तुलसीराम भी उनके प्रति विरोध-भाव रखते थे। उस समय 'हँसिया ली' चिह्न वाली कम्युनिस्ट पार्टी का भी बहुत प्रचार था। तुलसीराम इस पार्टी के समर्थक थे। होली त्योहार के समय दलित बस्ती ओर बभनौटी के बीच तकरार चलती थी, तब दलित महिलाएँ भी पुरुषों के साथ मिलकर सवर्णों का सामना करती थीं। तुलसीराम के कुटुम्ब-परिवार में

चचेरी बहनों की शादी का अवसर आया। शादी में बरात के लोगों के साथ लड़की वालों का शास्त्रार्थ हुआ। शिक्षित और ज्ञानी होने के कारण तुलसीराम हमेशा की तरह शास्त्रार्थ में विजयी हुए। मेधावी होने के कारण तुलसीराम की बहुत प्रशंसा होती थी। वे प्रश्न भी पूछते थे और उत्तर भी बताते थे। जुलाई 1962 में तुलसीराम आठवीं कक्षा में पढ़ते थे। उन दिनों उन्हें रेखागणित विषय में बहुत रुचि थी। 20 अक्टूबर 1962 को भारत-चीन युद्ध शुरू हुआ तब स्कूल में देश-प्रेम पर भाषण होते थे। स्त्रियाँ भी देश-प्रेम में उत्साहित होकर लड़ाई के खर्च के लिए अपने गहने और रुपये ख़ुशी-ख़ुशी दे देती थीं। तुलसीराम अक्सर धोती पहनते थे। जब वे पहली बार पायजामा पहनकर स्कूल जाते हैं तब उन्हें बड़ा संकोच और असुविधा होती है। उनके स्कूल के सवर्ण छात्र उनकी हँसी उड़ाकर उन्हें अपमानित करते हैं।

(vi) चले बुद्ध की राह

इस प्रकरण में तुलसीराम लिखते हैं कि नौवीं कक्षा की पढ़ाई भविष्य की दार्शनिक उड़ान के हिसाब से एक नया मोड़ बनकर आयी। अनेक अध्यापकों के गुणों और ज्ञान-अनुभव का लाभ तुलसीराम को मिला। प्रिंसिपल धर्मदेव मिश्र वीररस के कवि थे। वे कभी-कभी तुलसीराम की कक्षा को हिन्दी साहित्य पढ़ाते थे। गोपी-कृष्ण के वस्त्र-हरण प्रकरण को वे इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत करते थे कि छात्र भी किसी के वस्त्र-हरण करने की कल्पना करने लगते थे। उन्हीं दिनों स्कूल के पास वाले मन्दिर में एक साधु आये। वे स्त्री-रूप में साज-शृंगार करते थे। वे कृष्णाश्रयी शाखा के भक्त थे और सखी रूप में कृष्ण की भक्ति करते थे। अध्यापक पारस पाण्डे हिन्दी पढ़ाते थे। वे राहुल सांस्कृत्यायन के गाँव कनैला के रहने वाले थे। उन्होंने बताया था कि राहुल जी बचपन में ही घर से भागकर कम्युनिस्ट बन गए थे। राहुल सांस्कृत्यायन के लेखन, ज्ञान और घुमक्कड़ी स्वभाव का तुलसीराम पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इसी वर्ष तुलसीराम अंग्रेजी विषय में संकलित पाठ 'गौतम बुद्ध' से भी बहुत प्रभावी हुए थे। उनकी नौवीं कक्षा की पुस्तक 'फाइटर्स ऑफ फ्रीडम' (स्वाधीनता के सेनानी) में गौतम बुद्ध, अब्राहम लिंकन, गाँधी, नेहरू आदि छह महापुरुषों के पाठ थे। शिक्षक सूर्यभानसिंह द्वारा पढ़ाये गए सभी पाठ तुलसीराम ने आत्मसात कर लिए थे। 'गौतम सिद्धार्थ का जन्म', 'उनका एकान्तवासी होना' और 'ज्ञान की खोज में घर छोड़कर जाना' – पूरी कहानी से तुलसीराम गहरे प्रभावित हुए। बुद्ध के समान ही तुलसीराम भी मुर्दहिया के पीपल के पेड़ की जड़ों के पास बैठकर विचार करते थे। वे भी घर से भागने की कल्पना करने लगे थे। दसवीं के बाद आगे की पढ़ाई के लिए गाँव में कोई साधन-सुविधा नहीं थे। घर में रहकर पढ़ाई सम्भव नहीं थी। सन् 1963 ई. बात है, जब तुलसीराम के घर का बूढ़ा बैल मर गया तब मुन्नर चाचा और तुलसीराम ने उसका चमड़ा उतारा था। बैल के कंकाल की स्मृति से तुलसीराम उदास और निराश हो जाते थे। 14 अप्रैल 1963 में राहुल सांस्कृत्यायन के निधन की ख़बर ने उन्हें दुःखी कर दिया। तुलसीराम के रिश्तेदारों के गाँव के ज़मींदार के बेटे लालबहादुर सिंह ने एक बार उन्हें जबरन शराब पिलाई थी। घर में नगर चाचा के क्रोध और गालियों का सामना करना पड़ा इससे वे दुःखी हुए। नौवीं की परीक्षा के बाद छुट्टियों में पिता उन्हें मजदूरी करने के लिए विवश कर रहे थे। पिता ने उन्हें खेत-खलिहान के काम से लगा दिया जिससे पढ़ाई छूटने का भी भय बना। जुलाई, 1963 में स्कूल खुलने पर परिवार के विरोध के बाद

भी तुलसीराम दसवीं कक्षा के लिए स्कूल जाने लगे। सुबह भूखे स्कूल जाना, शाम को घर आकर पशुओं का दाना-पानी करना, रात में रोशनी के अभाव में पढ़ाई न कर पाना मानो तुलसीराम के धैर्य की परीक्षा थी। कष्टों से परेशान तुलसीराम एकान्त में रोते थे। मेधावी होने के कारण स्कूल में सम्मान तो मिलता था किन्तु जातिगत भेदभाव के कारण उन्हें अपमानित भी किया जाता था। सवर्ण विद्यार्थियों में अंबिका सिंह उन्हें सबसे अधिक अपमानित किया करते थे। क्षत्रिय जाति के सवर्ण सुग्रीव सिंह अध्यापक उनके प्रेरक और संरक्षक बन गए थे। इसी तरह चिन्तामणि सिंह नामक सहपाठी का सहयोग भी मिला। चिन्तामणि सिंह घोड़े पर और महेन्द्र सिंह हाथी पर बैठकर तुलसीराम से मिलने मुर्दहिया और उनके घर तक आते थे। दलित बस्ती के लोग यह दृश्य देखकर आश्चर्य करते थे। चिन्तामणि सिंह को पढ़ाने के लिए वे तीन माह तक उनके घर जाते रहे। रात का खाना वहीं खाते और सोते भी वहीं थे। उनकी दसवीं कक्षा की तीस रुपये फीस अध्यापक सुग्रीव सिंह ने भरी थी। चण्डेसर डिग्री कॉलेज में परीक्षा हुई। वहाँ उन्हें एक माह रहना था। चिन्तामणि सिंह उनके रहने की व्यवस्था करना चाहते थे मगर जातिभेद के कारण तुलसीराम को किराये पर कमरा नहीं मिला। तब वहाँ की दलित बस्ती में रहकर उन्होंने परीक्षा दी। छुट्टियों में पुनः मजदूरी के काम करने पड़े। कॉलेज जाने की सम्भावना नहीं थी। 27 मई 1964 को जवाहरलाल नेहरू के निधन का समाचार आया। नेहरू के निधन की खबर सुनकर तुलसीराम स्तब्ध रह गए। दसवीं कक्षा में तुलसीराम प्रथम श्रेणी में पास हुए जबकि चिन्तामणि और हीरालाल फेल हो गए थे। पूरे स्कूल में अव्वल आने पर स्कूल के संस्थापक बाबा हरिहरदास और प्रिंसिपल धर्मदेव मिश्र स्वयं तुलसीराम के घर आये और बधाई दी। तुलसीराम की इस उपलब्धि पर गाँव के ब्राह्मणों ने भी मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा की। मगर अब आगे की पढ़ाई जारी रहने की सम्भावना नहीं थी। ऐसे में तुलसीराम घर से भाग जाने की योजना बनाने लगे।

वे अपने ननिहाल तरवाँ गाँव गये। वहाँ उनके चचेरे मामा रामखेलावन राम आजमगढ़ के डी.ए.वी. कॉलेज में बी.ए. प्रथम वर्ष के छात्र थे। उन्होंने बताया कि प्रथम श्रेणी में पास विद्यार्थी का एडमिशन ग्यारहवीं कक्षा में हो जाएगा। दलित लड़कों को सरकारी हॉस्टल में रहने की सुविधा मुफ्त दी जाती है। स्कॉलरशिप के सत्ताईस रुपयों से खाने-पीने का खर्च भी निकल जाएगा। आजमगढ़ पहुँचने का यात्रा-व्यय और शुरू के छह माह का खर्च उठाने के लिए अध्यापक सुग्रीव सिंह जी ने मदद की। उनसे तीस रुपये लेकर तुलसीराम 30 जून 1964 को अपना घर त्याग कर आजमगढ़ चले गए। मुर्दहिया से गुजरते समय नटिनिया उन्हें रोकती है। मगर वे 'देर हो रही है' ऐसा कहकर तेजी से आगे बढ़ जाते हैं। वे आगे बढ़ते रहे और मुर्दहिया पीछे छूटती रही। प्रियजन, परिवारजन और उनकी सभी यादें भी पीछे छूट रही थीं। नटिनिया को स्मरण करते हुए वे लिखते हैं – "गौतम बुद्ध के लिए जो स्थान था आम्रपाली का, सम्भवतः वही थी मेरे लिए नटिनिया।" मुर्दहिया छोड़ते समय उनके नेत्रों से अश्रुधारा फूट पड़ी थी।

(vii) आजमगढ़ में फाकाकशी

तुलसीराम पन्द्रह वर्ष की आयु में अपने परिवार वालों से छिपकर, बिना किसी को बताए जहानागंज तक पैदल आए। वहाँ से इक्के में बैठकर आजमगढ़ आए। यात्रा कष्टमय थी लेकिन मुर्दहिया का परित्याग उससे कहीं अधिक पीड़ादायक था। वे लिखते हैं – "इस भगोड़ी यात्रा ने साबित कर दिया कि ज्ञान प्राप्त करना कोई आसान

काम नहीं था।" सिधारी से पहले, इक्का से चूण्डेसर उतरने वाले व्यक्ति ने तुलसीराम की आँख देखकर कटाक्ष करते हुए इक्केवान से कहा था – "एक फाटक बन्द है।" तुलसीराम सहज ही समझ गए कि यह अपमानजनक बात उन्हीं को लक्ष्य करके कही गई है। मगर उन्होंने चुपचाप अपमान का घूँट पी लिया। सिधारी पहुँचे। सामने टौंस नदी पर पुल था, दूसरी तरफ आजमगढ़। तुलसीराम ने तभी पुल पर से गुजरती रेलगाड़ी को जीवन में पहली बार देखा। तुलसीराम बताते हैं कि इसी टौंस नदी को पहले तमसा नदी कहते थे जहाँ वनवास जाते समय राम ने एक दिन बिताया था। तुलसीराम बौद्धभिक्षु सारिपुत्र के प्रसंग को याद करते हुए कहते हैं कि बुद्ध ने अपने समकालीन जिस चाण्डाल का वर्णन किया है, मेरी स्थिति उससे जरा भी भिन्न नहीं थी। पोस्टमार्टम हाउस के सामने रखी लाशों को देखकर रिक्शेवाला बताता है कि यहाँ ऐसे आठ-दस कत्ल रोज़ होते हैं। सवर्ण, सामन्तों और ज़मींदारों के बेटे कातिलों को कोई सजा नहीं मिलती।

रिक्शा अम्बेडकर छात्रावास पहुँचता है। तुलसीराम के मामा ने छात्रावास का नाम 'हरिजन छात्रावास' बताया था। तुलसीराम तब तक डॉ॰ अम्बेडकर के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। बाद में डी.ए.वी. कॉलेज के बारहवीं कक्षा के छात्र सनवारी राम से तुलसीराम को डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर के विषय में विस्तृत जानकारी मिली थी। रामखेलावन मामा ने उनकी मुलाकात कम्युनिस्ट नेता तेजबहादुर सिंह से करवायी। मार्कशीट अटेस्ट करने के बाद उन्होंने तुलसीराम को मिलते रहने के लिए कहा। इस तरह डी.ए.वी. कॉलेज में एडमिशन के साथ तुलसीराम मार्क्सवादी प्रभाव में भी आए। डी.ए.वी. कॉलेज में आर.एस.एस. का पूर्ण प्रभाव था। कॉलेज के अध्यापक जातिवादी और साम्प्रदायिक थे। कॉलेज के मैदान में शाम को आर.एस.एस. की शाखा भी लगा करती थी। हॉस्टल में भोजन की व्यवस्था न होने के कारण तुलसीराम को बहुत परेशानी होती थी। उन दिनों 15 अगस्त और 26 जनवरी को रेल में बिना टिकिट सफर करने की सुविधा थी। तुलसीराम ने भी 15 अगस्त को आजमगढ़ से बनारस की रेल यात्रा बिना टिकिट की। बनारस में वे पैदल-पैदल ही दशाश्वमेध घाट, काशी विश्वनाथ मन्दिर तथा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी देखने गए। गंगा के पानी में डाल्फिन मछलियाँ और नहाते हुए साधुओं को देखा। नहाना चाहकर भी नहा नहीं पाए। काशी विश्वनाथ मन्दिर में जाते समय उन्हें वहाँ के खूँखार पंडों के समक्ष अपनी जाति प्रकट होने का डर था अतः वहाँ से जल्दी ही निकल कर चार कि.मी. दूर बी.एच.यू. चले गए। वहाँ का भव्य मुख्यद्वार देखकर दंग रह गए। सामने विश्वविद्यालय के संस्थापक मदनमोहन मालवीय की मूर्ति थी। श्यामपट्ट पर लिखित सूचना के अनुसार उस दिन स्टेडियम में बी.एच.यू. और चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के बीच हॉकी का मैच था।

मैच देखते समय तुलसीराम के बगल में बी.एच.यू. लॉ कॉलेज के विद्यार्थी तपसीराम बैठे थे। उनसे बातचीत करते-करते मित्रता हो गई। तपसीराम ने उनकी आगे की पढ़ाई बी.एच.यू. से करवाने में सहयोग करने का आश्वासन दिया। तुलसीराम वापसी के लिए समय पर स्टेशन पहुँच कर अपने दोनों दोस्तों के साथ आजमगढ़ लौट आए। हॉस्टल लौटते ही अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। हॉस्टल खाली कराने का खतरा है – यह जानकर अम्बेडकर हॉस्टल के विद्यार्थी हॉस्टल पर दावा करने वाले मैनेजर रामधन वकील की पिटाई कचहरी में जाकर कर देते हैं। ऐसा नजारा तुलसीराम अपने जीवन में पहली बार देखते हैं। यहाँ लेखक ने अम्बेडकर

छात्रावास में और सामने की सड़कों पर सफाई करने वाली दो महिला कर्मचारियों का उल्लेख भी किया है। इस प्रकरण में उन्होंने कालीनगंज मुहल्ले में हो रही वेश्यावृत्ति, मुजरा और नाच-गाने की जानकारी भी दी है। एक बार तुलसीराम भी अपनी चचेरी मौसी के बेटे दीपचन्द के आग्रह पर वहाँ जाकर बाहर की खिड़की से नाच देखते हैं। वहाँ उन्हें डाँट-फटकार मिलती है। वे बुद्ध के जीवन की उस घटना को याद करते हैं जब तीस भद्र लोग उन्हें लूटकर भागी हुई वेश्या के विषय में गौतम बुद्ध से पूछते हैं। बाद में वे सभी भद्र लोग बुद्ध के अनुयायी बनकर भद्रवर्गीय भिक्षु कहलाए। कठिन हालातों के चलते तुलसीराम अपनी आर्थिक परेशानी का हल ईसाई बनने में देखने लगते हैं। वे चर्च की ओर चल पड़ते हैं। रविवार को रात के समय चर्च पहुँचने पर वहाँ उन्हें ताला लगा मिलता है। क्षणिक भावावेश में लिया गया निर्णय चर्च पर लगे ताले के कारण सम्भव नहीं हो पाता। बाद में उनका ईसाई बनने का विचार बदल जाता है। वे स्कॉलरशिप से किसी तरह अपना खर्च चलाते हैं। एक बार स्कॉलरशिप मिलने के अगले दिन धनाढ्य और सम्पन्न परिवार का सवर्ण ठाकुर देवराज सिंह नामक उनका मित्र उनसे मिलने अम्बेडकर हॉस्टल आया। दोनों पैदल कॉलेज जाते हैं। सुनसान रास्ते में देवराज रामपुरी चाकू दिखाकर उनसे इक्यासी रुपये हड़प लेता है। स्कॉलरशिप के एक सौ बासठ रुपयों में से इक्यासी रुपये का नुकसान सहकर भी वे दोस्त बने रहते हैं। दसवीं कक्षा में पढ़ते समय पहली बार उन्हें शराब ज़मींदार के बेटे लालबहादुर सिंह ने पिलाई थी। वही लालबहादुर अम्बेडकर हॉस्टल में भी उनसे मिलने आता है और फिर से उसके साथ शराब की महफिलें सजने लगती हैं। लालबहादुर अपनी पत्नी का सोने का कंगन चार सौ रुपये में बेचकर उन रुपयों को शराब पर खर्च कर देता है। सारे रुपये खर्च होने पर एक दिन ठंड के दिनों में वह तुलसीराम की ऊनी चादर बेचकर ठर्रे की बोतल ले आता है। बाद में पूरे जाड़े भर तुलसीराम ठंड से कष्ट पाते हैं फिर भी लालबहादुर उनका मित्र बना रहता है। तुलसीराम मित्रों का केवल स्नेह याद रखते हैं। 26 जनवरी के दिन लालबहादुर तुलसीराम को बिना टिकिट ट्रेन से फैजाबाद ले जाता है। मित्र के ससुर फैजाबाद जंक्शन पर खजांची थे। फैजाबाद से अयोध्या पहुँचकर तुलसीराम अपने उस मित्र के साथ हनुमानगढ़ी आदि मन्दिर देखते हैं। वहाँ एक बन्दर उनके हाथ से मिठाई का प्रसाद छीन कर खा जाता है। फैजाबाद लौटकर वे टिकिट इंस्पेक्टर रीड साहब के घर ठहरते हैं। वहाँ तीनों लोग छककर शराब पीते हैं। आजमगढ़ लौटने के कुछ दिन बाद तुलसीराम के गाँव के अट्ठारह दलित तुलसीराम से मिलने उनके हॉस्टल आते हैं। गाँव के ब्राह्मण विजय पांडे ने उन पर चीटिंग का झूठा केस किया था जिसे आजमगढ़ के जज साहब खारिज कर केस खत्म कर देते हैं। तुलसीराम को बनारस के मित्र तपसीराम का पत्र मिलता है कि वे इन्टर के बाद बी.एच.यू. में ही पढ़ें। वे तुलसीराम को अपने गाँव ले जाते हैं। तपसीराम सम्पन्न परिवार से थे। उनकी माँ तुलसीराम को बीस रुपये देती है। आजमगढ़ के हॉस्टल में रहकर तुलसीराम पढ़ने के साथ-साथ आजमगढ़ में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रमों का प्रभाव भी देखते रहते हैं। इनमें आजमगढ़ के हजारों मजदूर और किसान भाग लेते थे। वे लोग महँगाई के विरुद्ध नारे लगाते थे। यह सन् 1964-65 ई. की बात है।

सन् 1965 ई. के भारत-पाकिस्तान-युद्ध की जानकारी देते हुए तुलसीराम लिखते हैं कि उनके कॉलेज के आर.एस.एस. विचारधारा के लोग किसी भी मुसलमान को देखते ही लूटने और मारने की योजना बनाने लगते थे। युद्ध के कुछ दिन बाद महँगाई बढ़ने से मिट्टी का तेल अब दो महिने भर चलाना पड़ता था। इस कारण वे रात में

ठीक से पढ़ाई नहीं कर पाते थे। ताशकन्द में लालबहादुर शास्त्री की मौत का असर आजमगढ़ में व्यापक पैमाने पर हुआ। क्योंकि शास्त्री जी कायस्थ थे और डी.ए.वी. कॉलेज कायस्थबहुल था। आजमगढ़ के कई कायस्थ दिल्ली पहुँचकर उनकी शवयात्रा में शामिल हुए थे। उन्हीं दिनों हीरालाल नामक उच्च जाति का एक लड़का तुलसीराम से मिलने उनके हॉस्टल आया। यह वही लड़का था जो उन्हें देखते ही बोलता था – "का रे चमरा, कइये हड़वे ?" और जिसने हाईस्कूल के पेपर के पहले तुलसीराम को पीट दिया था। हीरालाल ने तुलसीराम की जेब में रखा उनका नया फाउंटेनपेन छीन लिया और कहा कि जब पाँच रुपये दोगे तभी वापस करूँगा। बाद में तुलसीराम उसके घर जाकर उसे पाँच रुपये देते हैं और उससे अपना फाउंटेनपेन छुड़ाते हैं। ये दिये गए पाँच रुपये भविष्य में उसके साथ शान्ति की गारण्टी थी। ग्यारहवीं कक्षा का वर्ष बड़ी मुश्किल में बीता। बारहवीं कक्षा में समय पर स्कॉलरशिप मिलने से सुविधा रही। उन्हीं दिनों सुखनन्दन राम अम्बेडकर हॉस्टल में आकर विद्यार्थियों को मार्क्सवाद के विषय में बताते थे। तुलसीराम आजमगढ़ में होने वाले नाटक, नाच-गान, कमला सर्कस और गुलाबबाई की नौटंकी देखने जाते थे। वे अपने मित्र लालबहादुर सिंह के साथ प्रयाग घूमने गए मगर कुंभ का मेला नहीं देख सके क्योंकि इंटर फाइनल परीक्षा की तैयारी करनी थी जो सन् 1966 ई. में होने वाली थी। बी.एच.यू. में एडमिशन हेतु फीस के लिए रुपये कमाने वे कलकत्ता चले जाते हैं।

5.1.06. 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त लोकजीवन

मुर्दहिया का लेखन मूलतः भारतीय दलित जीवन की लोकसंस्कृति और सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से किया गया है। आत्मकथा में लेखक के जन्म से हाईस्कूल बारहवीं तक के जीवनकाल की घटनाओं के वर्णन के साथ ही दलित जीवन की लोकसंस्कृति का चित्रण भी हुआ है। तुलसीराम का जीवन गाँव की लोकसंस्कृति का अंग था। भारत के अन्य गाँवों के समान ही उनके गाँव में भी रूढ़ियाँ, मनौतियाँ, परम्पराएँ, मान्यताएँ, कहावतें, दन्त कथाएँ, भूत-प्रेत, टोना-टोटका आदि का प्रचलन था। विचित्र और अतार्किक अन्धविश्वास दलित लोगों के हृदय में गहरे व्याप्त थे। जैसे – लेखक की दादी को लम्बी आयु कौए का मांस खाने से मिली है, बच्चे की लम्बी आयु के लिए मन्दिर के पुजारी का आशीर्वाद लेना आवश्यक है, नवजात शिशु का नाम पण्डित से पूछकर रखना ही उचित है, शनिवार के दिन पीपल के पेड़ में जल चढ़ाना चाहिए और घी का दिया जलाना चाहिए।

एक आँख वाले को कनवा कहकर अपशकुन माना जाता था। इसी प्रकार विधवा स्त्री और कुँवारे पुरुष भी अपशकुन की श्रेणी में परिगणित किए जाते थे। रोगी को डॉक्टर के पास न ले जाकर ओझा से ही उसकी झाड़-फूँक करवायी जाती थी। डीह बाबा और शीतला माई की पूजा करना, ब्राह्मणों के घर के कार्यों के प्रति कर्त्तव्य-भावना व निष्ठा को अपना धर्म मानना जैसी भावनाएँ दलित समुदाय में इस कदर व्याप्त थीं कि वहाँ तर्क-वितर्क की कोई सम्भावना ही शेष न थी। मांस का भंडारण करना और उसे धूप में सुखा कर आगामी दिनों के लिए सुरक्षित रखना दलितों का स्वभाव बन चुका था। गाँव में पंचायत का अपना महत्त्व था। बारह गाँवों की सम्मिलित बड़ी पंचायत में किए गए निर्णयों को अंतिम निर्णय माना जाता था। पंचों का निर्णय परमेश्वर के आदेश सदृश होता था। शिवनारायण पंथ में गुरु के प्रति चेले की भक्ति, सम्मान-भावना और समर्पण अन्यत्र देख पाना विरला है। मृतदेह को दफनाने या जलाने के बाद मृत्यु के तेरहवें दिन तेरही का आयोजन करना, प्रत्येक नये कार्य को आरम्भ करने से

पूर्व शुभ मुहूर्त विचारना, किसी के मुख से उच्चरित प्रथम शब्द से कविता बनाकर गाने वाले जोगी बाबा के गीत को सांकेतिक आशीर्वाद मानना दलितों के लोकजीवन के मुख्य भाग थे। लक्कड़ ध्वनि पर नृत्य करने वाली नटिनिया, गिद्ध प्रेमी पग्गल बाबा, सिंघा बजाता बंकिया डोम, हिंगुरहारा, पटहारा, मदारी, बाइस्कोप वाला, जादू के खेल-तमाशे आदि 'मुर्दहिया' के लोकजीवन के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हैं।

'मुर्दहिया' का समूचा कथानक लोकजीवन पर आधारित है। ठंड के दिनों में चैला जलाकर कौड़ा तापना, गाना बजाना, बातचीत करना, विचार-विमर्श करना, सुनी हुई राजनीति-सम्बन्धी बातों पर विचार करना लोकजीवन का सहज पक्ष है। धोकरकसबा बाबा, लकड़सुछवा बाबा, मूड़कटवा बाबा जैसी बातों की अफवाहें उड़ना, जड़ी-बूटी और घरेलू नुस्खे से इलाज कराने में अटूट विश्वास होना, महुए आदि के फूलों को सुखाकर रखना और फिर बरसात के दिनों में उन्हें भूनकर खाना, ग्रामीण लोक-गीतों में माधुर्य और मनोरंजन मानना, लोक-संस्कृति को महत्त्व देना और नयी परम्पराओं का विरोध करना, लोक-कथाओं को सत्य मानना, धर्म-ग्रन्थों को महत्त्व देना जैसे लोकसन्दर्भ 'मुर्दहिया' में पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। ढोलक, मृदंग, सारंगी जैसे वाद्य-यन्त्रों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया जाना, पूजा में धार-पुजौरा, हलवा-सोहारी को महत्त्वपूर्ण मानना, तन्त्र-विद्या और राख-भभूत को महत्त्व देना, हवा बतास यानी बाहरी या ऊपरी बला की मान्यता में विश्वास करना, भूत-प्रेत के प्रति विश्वास और भय का होना, सामूहिक पूजा पद्धति में विश्वास करना, बरसात के दिनों में आल्हा के पठन और गायन को महत्त्व देना, कजरी विधा के गीत गाना जैसी प्रवृत्तियाँ दलित समुदाय के लोकजीवन का यथार्थ रूप में उद्घाटन है। गाँव में खानाबदोशों का जनजीवन, घुमन्तू नटों की जीवन-पद्धति, बोलचाल में ग्रामीण जीवन के प्रसंग से जुड़े मुहावरों और कहावतों का उपयोग, दलितों की झोपड़ी की दीवारों पर कोहबर (गेरू और हल्दी के घोल से केले के पेड़, हाथी, घोड़े, स्त्री, धनुष-बाण की चित्रकारी) की कलाकृतियाँ – उक्त विशिष्टताओं का चलन सवर्णों में नहीं केवल दलितों में ही देखा जा सकता है। नाटक-नौटंकी में मसखरे द्वारा मनोरंजन और सन्देश देना, लोककला मण्डली द्वारा पौराणिक और ऐतिहासिक प्रेमाख्यानों का मंचन करना, कुश्ती, कलाबाजी, जातिसूचक नाच (चमरउवा नाच, धोबियउबा नाच, कहैरउवा नाच) और इसी तरह जातिसूचक नामकरण वाले गीतों का होना, समाज में वर्णव्यवस्था का महत्त्व और जातियों की सीमा-रेखाएँ होना भी लोकजीवन की अभिव्यक्ति ही है। मुर्दहिया की भाषा में लोकजीवन सहज अनुभूत है। इसी तरह वहाँ के लोकजीवन की भाषा भी अपने में विशेष आंचलिक शब्दों को सहेजे है। आत्मकथा में स्थानीय लोकजीवन में प्रयुक्त की जाने वाली कहावतों का प्रयोग यथास्थान हुआ है। उत्तरप्रदेश, बिहार के क्षेत्र विशेष में बोली जाने वाली भोजपुरी भाषा के शब्दों यथा – चमरौटी, खरमेटाब, झिलंगा, तरकुल का कुज्जा, देसवा, ओझैती, 'दुई गोड़वा कुक्कुर' का अवसरानुकूल प्रयोग किया गया है। सामाजिक परम्पराओं और मान्यताओं में अन्धा विश्वास रखने वाले दलितों का जीवन अज्ञान और अभावों के कारण कठिनाइयों और संघर्षों से भरा हुआ था। नाग को मार देने पर नागिन का भय और उससे बचने के उपायस्वरूप गायत्री-मन्त्र का जाप करना, ब्राह्मण-भोज देना जैसी अवधारणाएँ ब्राह्मणवादी षड्यन्त्रों के प्रभावस्वरूप लोकजीवन में व्याप्त हैं, 'मुर्दहिया' में इनकी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

5.1.07. 'मुर्दहिया' और दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

दलितों द्वारा लिखित साहित्य का परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र के मानदण्डों की कसौटी पर आकलन करने के विरोध में लंबे समय से बहस छिड़ी हुई है। एक वर्ग कहता है कि सवर्णों द्वारा निर्धारित सौन्दर्यशास्त्र के मानदण्डों की कसौटी पर दलित साहित्य का मूल्यांकन करना दलित साहित्य की गम्भीरता के साथ अन्याय है जबकि अन्य वर्ग परम्परागत मानदण्डों के आधार पर दलित साहित्य का आकलन करने का पक्षधर है। वास्तव में दोनों धाराओं के साहित्य की कथावस्तु, प्रस्तुति और उद्देश्य में पर्याप्त भेद है। दलित साहित्य दलितों की भोगी हुई पीड़ा का यथार्थ चित्रण है। यहाँ शब्दालंकार, भाषिक सौन्दर्य और शिल्प सौन्दर्य वैसा नहीं हो सकता जैसा मुख्यधारा के साहित्य में वर्णित होता है। यहाँ कथ्य की प्रस्तुति और उसका प्रभाव ही मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी आधार पर दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के मानदण्ड तय किए जाने चाहिए। उचित भी यही है कि दलित साहित्य का मूल्यांकन दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की कसौटी पर ही किया जाना चाहिए, परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र के मानदण्डों पर नहीं। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर प्रश्न उठाने वालों को जवाब देने के लिए प्रो॰ तुलसीराम ने सन् 1990 ई. के दशक में एक लेख लिखा था जिसमें मुख्यधारा द्वारा स्थापित हिन्दी साहित्य के सौन्दर्य मानदण्डों पर प्रश्न उठाते हुए वे कहते हैं कि "जो लोग दलित साहित्य को समझ ही नहीं पाए हैं, वे दलित साहित्य के सौन्दर्य के विषय में क्या समझ पाएँगे !"

'मुर्दहिया' आत्मकथा को 'दलित साहित्य' की परिधि में रखना उस कृति के महत्त्व को कम करके आँकना है। सच तो यह है कि 'मुर्दहिया' आत्मकथा की व्याप्ति 'दलित साहित्य' की सीमा-रेखा के बन्धनों को भी तोड़ती है। इस कृति का अपना एक अलग सौन्दर्य है जिसे इसकी भाषा, भाव और शिल्पगत विशेषताओं के रूप में देखा जा सकता है। अधिकांश दलित साहित्य में आक्रोश, विरोध और विद्रोहमूलक भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है जबकि 'मुर्दहिया' एक समूचे परिवेश की महागाथा बयां करती है। 'मुर्दहिया' से पूर्व प्रो॰ तुलसीराम ने कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक आदि विधाओं का लेखन नहीं किया है। साहित्य जगत में उनकी प्रसिद्धि 'मुर्दहिया' के प्रकाशनोपरान्त ही देखने में आती है। इस दृष्टि से उनकी कृति 'मुर्दहिया' 'सौ सुनार की एक लुहार की' वाली कहावत सिद्ध करती है। 'मुर्दहिया' की व्यापकता केवल एक व्यक्ति की आत्मकथा तक सीमित नहीं है वस्तुतः यह संघर्षमय, अभावमय और अपमानित दलित-जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है जो दलित समाज में व्याप्त गरीबी, अभाव, अन्धविश्वास, अपमान की पीड़ा, अन्याय, अत्याचार और संघर्षों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। प्रस्तुतीकरण के दौरान प्रो॰ तुलसीराम अम्बेडकरवादी दलित साहित्यकारों की तरह आक्रोशित नहीं होते बल्कि बुद्ध की तरह शान्त-चित्त होकर मानवता, अहिंसा, समता, दया, शान्ति, मैत्री, शुचिता, ज्ञान, दृढ़ निश्चय, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, परोपकार और परदुःखकातरता का सन्देश देते हैं। वे अधिकांश सवर्णों द्वारा पीड़ित, प्रताड़ित और अपमानित होने पर भी सम्पूर्ण सवर्ण समाज के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं पालते प्रत्युत यथास्थान उन सवर्ण व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिन्होंने जाति और वर्ग से ऊपर उठकर संकट के समय उनके साथ आत्मीय व्यवहार किया। वे बुद्ध, मार्क्स और डॉ॰ अम्बेडकर की विचारधारा के समन्वय के

साथ दलितों की प्रगति और विकास को आवश्यक मानते हैं। वे दलित समाज सहित सम्पूर्ण समाज को शोषण की स्थितियों से परिचित और जागरूक कर मानवतावादी विचारधारा से दलितों को केन्द्र में लाने के समर्थक हैं।

5.1.08. 'मुर्दहिया' का भाषा-शिल्प और सौन्दर्यशास्त्र

दलित जीवन की लोकसंस्कृति की शिल्प और सौन्दर्य के साथ प्रस्तुति मुर्दहिया की प्रमुख विशेषता है। भूमिका में तुलसीराम लिखते हैं – "मरे हुए पशुओं के मांसपिंड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला-स्थली के रूप में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की 'हुआं-हुआं' वाली आवाज़ उसकी निर्जनता को भंग कर देती थी।" इस प्रकार लेखक दलित-जीवन के दुःख-दर्द में भी एक लय की अनुभूति को व्यक्त करते हैं। प्रसंगानुकूल भाषा-प्रवाह देखते ही बनता है – "मरे पशु के मांस के बंदरबाँट में महिलाओं के साथ कुत्तों और गिद्धों में उग्र होड़ मच जाती थी। दादी भी इस होड़ में शामिल हुआ करती थी।" (पृ. 15) लोक में प्रयुक्त शब्दों का समन्वय भाषिक ताज़गी में वृद्धि करता है। स्लेट-पट्टी के सन्दर्भ में अनेक स्थानीय शब्दों का समावेश हुआ है। जैसे – पोचारा, चुल्ला, दुधिया का घोल, नरकट से बनी कलम, ढिबरी की लौ, परई, ओइगा, मिट्टी की घरिया, लग्गा या संठा, भरूकी आदि।

अभिव्यक्ति की सहजता भाषिक सौन्दर्य में प्रवाह उत्पन्न करती है – "डर के मारे नरकट पकड़ते ही हाथ काँपने लगता था और लिखने के लिए हर कोशिश असफल हो जाती थी और ऊपर से मुंशी जी की 'चमरकिट' वाली गाली इतना भय पैदा कर देती कि अंततोगत्वा मैं स्कूल जाने के नाम पर रोने-चिल्लाने लगता था। पिता जी मुझे ऐसे अवसरों पर पीटते हुए स्कूल ले जाते थे और साथ में यह भी कहते जाते: "ईस्कूले ना जइबा त चिठिया के पढ़ी" किन्तु मेरा मन पढ़ाई में बिल्कुल नहीं लगता।" (पृ. 24)

जीवन की सुमधुर झंकार, हृदय का प्रेम, मन की पुकार, माँ का दुलार, विरह का विलाप, सावन की फुहार, बसन्त की बहार जैसे सरल-सहज, साफ-सुथरे अनगिनत गेयात्मक तथा लयात्मक भावों की अभिव्यक्ति का नाम लोकगीत है। हृदय की गहराइयों से सहज रूप में फूट पड़ने वाले ये लोकगीत लोक-मानस की लोक-लहर हैं। लोक-गीतों के इस सौन्दर्य में मनुष्य जीवन के समस्त रंग समाहित हैं। मनुष्य का बचपन लोरियों में झूलता है, यौवन प्रेममय रंगों से रंगीन रहता है तथा बुढ़ापे की जीवन-यात्रा इन गीतों में विश्राम पाती है। सच्चे अर्थों में, लोकगीत ही लोक-संस्कृति के उन्नत दर्पण होते हैं। 'मुर्दहिया' में प्रसंगानुकूल पद्य-प्रवाह भी निःसृत हुआ है। किसी के द्वारा उक्त पहले शब्द से कविता बनाना कलात्मक सौन्दर्य है। जोगी बाबा का गीत देखिए –

जइसन कहत बाड़ा बाबा।
बइसन जइबा काशी काबा॥
बड़ ससतिया सहबा राम।
बड़ ससतिया सहबा राम॥

दलित मजदूर द्वारा गाये गए एक लोकगीत की पंक्ति है – "ऊँचे ऊँचे कुअना क नीची बा जगतिया रामा" ऐसे गीतों का अपना ही सौन्दर्य है। सवाल-जवाब के रूप में गाये जाने वाले लोकगीतों का भी अपना माधुर्य है। (पृ. 72) गाँव के भूगोल को लेखक इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि पाठक बिना वहाँ गये भी स्वयं को पूरे परिवेश से परिचित महसूस करने लगता है। मुर्दहिया में पलाश वृक्षों पर लाल फूल खिलने का वर्णन देखिए – "दूर से देखने पर लगता था कि जलती हुई लाल आग की रक्तीली लपटें हिलोरें ले रही हैं। उन्हें देखकर ऐसी भी अनुभूति होती थी कि मानो मुर्दहिया की बुझी हुई चिताएँ पलाश के पेड़ों पर चढ़कर फिर से प्रज्वलित हो गई हों।" (पृ. 41) इसी तरह पर 'बियना कमाने' की हाँडियों का वर्णन भी अनूठा है। अनेक शब्दों के बिगड़े रूप लोकभाषा का सौन्दर्य होते हैं। लेखक ने उनको ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। (पृ. 91)

'मुर्दहिया' कृति सात सार्थक उपशीर्षकों में विभाजित है। प्रत्येक शीर्षक अपने में समूचे सन्दर्भ को समेटे हुए है। 'मुर्दहिया' वर्णनात्मक एवं घटनात्मक शैली में लिखी गई रचना है जिसमें व्यंग्य अन्तर्निहित है। 'मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोकजीवन', 'भुतनिया नागिन' जैसे शीर्षक मुर्दहिया में व्याप्त लोकजीवन और लोकसंस्कृति का परिचय देते हैं, वहीं 'आजमगढ़ में फाकाकशी' जैसा शीर्षक लेखक के जीवन-संघर्ष को बयां करता है। 'चले बुद्ध की राह' शीर्षक लेखक के जीवनोद्देश्य, प्रेरणास्रोत और गृहत्याग को संकेतित करता है। 'मुर्दहिया' आन्तरिक और बाह्य दोनों ही रूपों में शिल्प-सौन्दर्य से परिपूर्ण कृति है।

5.1.09. 'मुर्दहिया' में व्यक्त विचारों का विश्लेषण

'मुर्दहिया' आत्मकथा में शब्द केवल शब्द नहीं हैं बल्कि वे अपने आप में पूर्ण सन्दर्भ को समेटे हुए हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम 'मुर्दहिया' शब्द को ही देखें। यह श्मशान भूमि का नाम है मगर तुलसीराम का अभिप्राय अभिधार्थ तक सीमित नहीं है। उन्होंने उसे बहुउद्देशीय कर्मस्थली के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी तरह 'साइत' शब्द भी विस्तृत सन्दर्भों को व्यंजित करता है। साइत यानी शुभमुहूर्त। 'स्कूल जाने के लिए भी साईत विचारा जाना', 'फसल बोने और काटने के लिए भी साइत पूछना' – यह सब पण्डित अमिका पाण्डे द्वारा रचा गया जाल था जिसमें फँसकर दलित समुदाय के अन्धविश्वासी लोग प्रत्येक काम के लिए शुभ मुहूर्त पूछते रहते थे।

'भुतही पारिवारिक पृष्ठभूमि' प्रकरण में लेखक ने कई बातें सांकेतिक और प्रतीक रूप में प्रस्तुत की हैं। जैसे, उनके पिता के कथनानुसार उनके दादा को एक भूत ने लाठियों से पीट-पीट कर मार डाला था। यह मिथ्या बात दलितों में व्याप्त अज्ञान और अन्धविश्वास का लाभ उठाकर प्रसारित की गई है जिसमें वास्तविक सत्य को छिपाया गया है। 'मछरमरवा' का यश प्राप्त करने के लिए जच्चा और बच्चा की खाट के नीचे जीवित मछली रखना – यह प्रसंग केवल वृत्तान्त-वर्णन तक सीमित नहीं है बल्कि यह इस तथ्य का उद्घाटन है कि दलित इससे आगे की बात सोच ही नहीं पाते थे। वे शिक्षा, प्रगति, उन्नति जैसे आवश्यक मसलों से अनभिज्ञ थे और साथ ही असमर्थ भी। ऐसे वातावरण में रहकर भी तुलसीराम जी ने ज्ञानार्जन के अपने सपने को पूरा किया। उनका दृढ़ निश्चय, लगन, धैर्य और सहनशक्ति संघर्षशील युवाओं के लिए मिसाल है।

चेचक महामारी में एक आँख गँवाने के कारण गाँव में सब लोग लेखक को 'कनवा' कहकर बुलाने लगे थे । 'कनवा' कहकर बुलाना उतना आहत नहीं करता जितना कि एक आँख खराब होने से उस व्यक्ति को अपशकुन मानना । गाँव में अन्य अपशकुन भी प्रचलित थे, जैसे – कुँवारे होने के कारण बूढ़े ब्राह्मण जंगू पांड़े जिनकी निगाह पड़ने मात्र से लोग निर्वंश होने की कल्पना कर लेते थे । इसी तरह निर्वंश विधवा ब्राह्मणी को भी अशुभ माना जाता था । चमरिया माई की धार पुजौरा से मनौती मानना भी दलितों में प्रचलित अन्धविश्वास था । उनका विश्वास था कि केवल कुलदेवता की मदद से ही हम सफल हो सकते हैं । इस तरह स्वयं की क्षमताओं का मूल्यांकन नहीं कर पाना ही दलितों को दूसरों के सामने याचक बना देता है । तुलसीराम के पिता हरवाही के काम को छोड़ना पाप समझते हैं क्योंकि पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी मानसिकता की ऐसी बना दी गई है कि सवर्णों की सेवा करना ही दलितों का धर्म है और धर्म छोड़ने पर ब्रह्महत्या का पाप लगता है । भले ही जीवन भर संताप भोगना पड़े मगर सवर्णों की सेवा को वे अपना कर्त्तव्य मानते हैं । तुलसीराम के पूर्वज भी यही हरवाही करते थे । तुलसीराम के पिता उन्हें भी अपनी हरवाही का काम सौंपना चाहते थे ।

गाँव में ज्ञान-विज्ञान का अभाव था । चतुर लोग दलितों को अन्धविश्वासों में फँसाए रखते थे । किसी भी तरह की बीमारी का इलाज डॉक्टर और दवाइयों से कराने की बजाय ओझा से कराना ही पारम्परिक रूप में मान्य था । बलि की परम्परा भी सामाजिक रूप से स्वीकृत थी । पूजा-आयोजन और सामूहिक भोज की प्रथा अत्यधिक खर्चीली होने के कारण दलितों के अभावपूर्ण जीवन को और अधिक विकट बनाती थी । पुजैया और शिवनारायण पंथ के अनुसार गादी लगाना जैसे आयोजन केवल मानसिक समाधान के कार्यक्रम थे । वे लोग कर्ज लेकर इन कार्यक्रमों का आयोजन करते थे । दलित समुदाय के लोगों को अपने बच्चों की सही जन्म-तारीख का ज्ञान न होना उनके अशिक्षित होने का प्रमाण है । स्कूल के शिक्षक द्वारा जन्म के समय की ऋतु या मौसम के अनुसार किसी भी महीने की पहली तारीख दलित बच्चों की जन्मदिनांक के रूप में स्कूल के रजिस्टर में लिख दी जाती थी ।

तुलसीराम की कक्षा में तैतालीस बच्चों में सिर्फ तीन लड़कियाँ थीं । यानी उन दिनों लड़कियों को शिक्षा देना जरूरी नहीं समझा जाता था । जो दो-तीन लड़कियाँ पढ़ने आती थीं, दूसरी-तीसरी या अधिकतम पाँचवीं कक्षा के बाद उनकी पढ़ाई भी बन्द कर दी जाती थी । उस समय छुआछूत की प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर थी । मुंशी जी यानी शिक्षक की उपस्थिति में दलित बच्चों को कोई सवर्ण बच्चा छूता तक नहीं था । यह सन् 1954-55 ई. के समय की बात है । मुंशी जी चमार जाति के बच्चों को 'चमरकिट' कहकर गाली देते थे । दलित बच्चे शिक्षकों की प्रताड़ना से घबराकर स्कूल नहीं जाते थे ।

दलितों का शिक्षा पाना अक्षर-ज्ञान पाने तक सीमित था । दलित समुदाय के लोग चाहते थे कि उनका बेटा किसी तरह से चिट्ठी पढ़ने लायक बन जाए । शिक्षक द्वारा 'पसकराई' के रुपये लेना शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का प्रमाण है । जो दलित बच्चे 'पसकराई' का शुल्क नहीं दे पाते थे, उन्हें फेल कर दिया जाता था । बंकिया डोम सिंघा बजाकर अपनी आजीविका चलाता था । सिंघा बजाना डोम जाति का पुश्तैनी धंधा था । बंकिया डोम के सन्दर्भ में तुलसीराम ने परम्परा से पृथक् एक दलित का चित्रण किया है । वह निर्भय और खुद्दार व्यक्तित्व का धनी है । अप्रिय एवं अनुचित व्यवहार से वह नाराज भी हो सकता है । लेकिन बंकिया डोम एक

अपवाद है। अधिकांश दलित गरीबी से त्रस्त जीवन ही जीते थे। भूख मिटाने के लिए चूहे खाने को विवश होना दलितों की दरिद्रता और भोजनाभाव की पराकाष्ठा दर्शाता है।

दलितों के जीवन का दूसरा पक्ष भी है। भयानक और विकट जीवन में भी वे छोटे-छोटे अवसरों पर खुशियाँ और आनन्द ढूँढ लेते हैं। चुनाव के समय दलित महिलाओं का लाल चादर ओढ़कर कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन में लोकगीत गाना और अँगूठा निशानी लगाकर उल्लासपूर्वक मतदान करना उनके लिए किसी उत्सव से कम नहीं होता था। उस समय सरकारी तन्त्र पर कांग्रेस पार्टी, महात्मा गाँधी और उनकी खादी का बहुत प्रभाव था। चुनाव-कार्य की मोटर में बजने वाले गीत की पंक्ति 'लइयो चुनरिया खादी की, जय बोलो महतिमा गाँधी की' का दलित समुदाय में चर्चित होना सन् 1954-56 ई. के समय की दलितों की राजनैतिक जागरूकता को प्रकट करता है। गिरते हुए 'उल्का पिंड' को 'लूक' या 'लुक्का' कहना जानकारी के अभाव में अन्धानुकरण से आयी विकृति या दलित समुदाय की भाषाई अज्ञानता है। यह उनकी शैक्षणिक स्थिति को प्रकट करता है। दलितों में अफवाहें फैलाकर भयभीत करने का चलन था। धोकरकसवा बाबा, लकड़सुंघवा बाबा या पीपल पर भूतों का निवास जैसी बातों का छोटे गाँवों और दलित बस्तियों में बहुत प्रचार था।

सन् 1957 ई. में तुलसीराम की अवस्था आठ वर्ष थी। भादों के माह में खरवांस के समय ब्राह्मण सुदेस्सर पाण्डे की माँ का निधन हो गया। लाश को दफनाने के लिए आठ साल का दलित बालक तुलसीराम अपने पिता के साथ कब्र खोदता है और पन्द्रह दिन बाद उसी लाश का अग्नि संस्कार करने के लिए, कब्र से उस सड़ी-गली लाश को निकालने का भयावह काम भी करता है। कब्र से लाश निकालते समय तेज दुर्गन्ध के कारण सुदेस्सर पाण्डे सहित सभी ब्राह्मण दूर भाग जाते हैं। ये दलित पिता-पुत्र ही उस लाश को चिता पर रखते हैं। ब्राह्मणवादी समाज द्वारा सहस्र वर्षों से दलितों की यह मानसिकता बना दी गई है कि समस्त जुगुप्सित और कठिन कर्म करना दलितों का धर्म किंवा कर्त्तव्य है। आठ वर्ष की अवस्था वाले दलित बालक को भी ऐसे भीषण काम करने पड़ते थे। यह प्रसंग दलितों के जीवनयापन के लिए उन पर जबरन थोपी गई अन्यायपूर्ण वर्ण-व्यवस्था का साक्षात् प्रमाण है।

'अकाल में अन्धविश्वास' प्रकरण में अकाल और अन्धविश्वास की स्थिति और उनके दुष्परिणाम बताये गए हैं। तुलसीराम की शाला, शिक्षक, पढ़ाई, छुआछूत, गाँधी टोपी, अछूतोद्धार के भाषण – ये सभी उस समय की सामाजिक-राजनैतिक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। स्कूल में श्रमदान के नाम पर विद्यार्थियों से शिक्षकों के खेतों में काम करवाना आम बात थी। स्कूल में जाँच करने आए चमार डिप्टी साहब को सवर्ण शिक्षक अपने बर्तनों में भोजन नहीं परोसते। तुलसीराम के घर से थाली और लोटा मंगवाते हैं। यह घटना तत्कालीन समाज में प्रचलित छुआछूत की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करती है। दलितों का सवर्ण साहूकारों से सवाई या डेढ़िया पर बेंगही या खेत में बोने के लिए अनाज लेना, सवर्ण साहूकारों द्वारा दलितों को देते समय ईंट से तोलना और वापस लेते समय असली वजनदार बाँट से तौलकर लेना दलितों के साथ आँखों देखते धोखा, प्रत्यक्ष अन्याय और खुली लूट का प्रमाण है। इस तरह सम्पूर्ण आत्मकथा में सांकेतिक रूप से दलित-जीवन की विकट स्थितियों का उद्घाटन किया गया है।

5.1.10. प्रो॰ तुलसीराम एवं उनकी मुर्दहिया का मूल्यांकन

प्रो॰ तुलसीराम के जीवन, व्यक्तित्व और साहित्यिक रचनाओं पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं, विचार-गोष्ठियों में लगातार चर्चा एवं विचार-विमर्श होते रहते हैं जिससे प्रो॰ तुलसीराम एवं उनकी 'मुर्दहिया' के महत्त्व को समझा जा सकता है। 'मुर्दहिया' आत्मकथा का मूल्यांकन दलित दृष्टिकोण की अपेक्षा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक किया गया है। यह एक व्यक्ति या एक गाँव की कथा नहीं बल्कि समूचे दलित वर्ग और देश के प्रत्येक गाँव में जीवन-संघर्ष कर रहे दलित-समुदाय का वस्तुसत्य है। 'मुर्दहिया' आत्मकथा में प्रो॰ तुलसीराम के बारहवीं कक्षा तक की शिक्षा पाने के लिए किए गए जीवन-संघर्षों का चित्रण हुआ है। इसके बाद का जीवन आत्मकथा के दूसरे भाग 'मणिकर्णिका' में वर्णित है। यहाँ विशेष रूप से ध्यातव्य है कि प्रो॰ तुलसीराम को केवल दलित साहित्य तक सीमित करना उनकी रचनाशीलता के साथ अन्याय होगा। वे मुख्यतः मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक और बौद्ध दर्शन के प्रखर-प्रकाण्ड विद्वान हैं। वे विश्व राजनीति के विद्वान और विचारक हैं। अम्बेडकरवादी विचारधारा को भी वे विस्तृत वैश्विक दृष्टि से स्वीकार करते हैं। 'मुर्दहिया' का अध्ययन साहित्यिक, मानवीय और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। वे प्रगतिशील आन्दोलन, जनवादी आन्दोलन और दलित आन्दोलन के अच्छे जानकार हैं। उन्होंने वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा से अपमानित जीवन जिया था। स्कूल के सवर्ण शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा वे 'चमरा' जातिवाची सम्बोधन से पुकारे जाते थे। सामन्तवादी रईसों और ज़मींदारों के बेटों द्वारा वे सरेआम अपमानित होते रहे। कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़कर कामरेड बनने के बाद भी उन्होंने अछूत होने का अपमान सहा था। उस असह्य पीड़ा को वे जीवनपर्यन्त नहीं भूल सके। आत्मविश्वास, दृढ़ निश्चय, लगन और धैर्य के सहारे वे उच्च शिक्षा प्राप्त कर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में 'सेन्टर फॉर रसियन एण्ड सेन्ट्रल एशियन स्टडीज, स्कूल ऑफ इन्टरनेशनल स्टडीज में प्रोफेसर के उच्च पद तक पहुँचे और विश्वस्तर पर सम्मानित हुए। विद्वान-विचारक होने के साथ वे गंभीर समीक्षक और आलोचक भी थे। उसी दृष्टि से उन्होंने दलित जीवन और उनके संघर्षों को जाँचा-परखा था। गैर-दलितों के साथ भी उनके मधुर सम्बन्ध थे। उनका विरोध ब्राह्मणों से नहीं बल्कि ब्राह्मणवाद से था। वे वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था का हमेशा विरोध करते रहे। उन्होंने अपने जीवन में बौद्धधर्म और बौद्ध विचारधारा को अपनाया था। हाईस्कूल की कक्षा में गौतम बुद्ध के जीवन-परिचय के पाठ को पढ़कर वे बचपन से ही उनके प्रति प्रभावित थे। 'मुर्दहिया' में इसका उल्लेख उन्होंने कई बार किया है। गृह-त्याग करके बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था उसी प्रकार तुलसीराम ने गृह-त्याग करके शिक्षा प्राप्त की थी। जीवन के अन्तिम बरसों में 'डायलिसिस' की यंत्रणा को सहते हुए भी वे शान्त भाव से ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान-मार्गदर्शन देने में व्यस्त रहे। तुलसीराम जी ने अपने जीवन में बुद्ध के जीवन-दर्शन को सही रूप में अपनाया था। भारतीय विषमतावादी सामाजिक व्यवस्था के कारण ऊँच-नीच के भेदभाव और अपमान ने उन्हें व्यथित किया था। इसी पीड़ा ने उन्हें आत्मकथा लिखने को प्रेरित किया। उपर्युक्त समस्त परिस्थितियों को मद्देनज़र ही 'मुर्दहिया' का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

5.1.11. पाठ सार

बौद्ध दर्शन, मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के प्रबुद्ध चिन्तक-विचारक प्रो॰ तुलसीराम-कृत 'मुर्दहिया' की गणना समकालीन साहित्य की बहुचर्चित कृतियों में की जाती है। प्रो॰ तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' का लेखन एक बड़े उद्देश्य के साथ किया था। उनका विचार था कि नकार, विरोध और विद्रोह से दलितों को सम्मान और केन्द्र में स्थान नहीं मिल पाएगा अतः दलितों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनैतिक स्थिति एवं उनके जीवन में व्याप्त अभाव, अन्धविश्वास के साथ उनके लोकजीवन को सम्पूर्ण समाज के सामने रखकर उन्हें इस पर सोच-विचार करने के लिए मजबूर किया जाए तब बिना किसी विरोध और सवर्णों के पूरे समर्थन के साथ दलितों को भी केन्द्र में ससम्मान स्वीकार किया जाएगा। उनकी इसी स्वस्थ विचारधारा के कारण 'मुर्दहिया' का स्वागत देश-विदेश के आलोचकों, समीक्षकों और साहित्यकारों द्वारा किया गया। नामवरसिंह, मैनेजर पाण्डेय, बलराज पाण्डेय, चौथीराम यादव, मुद्राराक्षस आदि प्रबुद्ध विद्वानों ने 'मुर्दहिया' आत्मकथा को हिन्दी साहित्य की श्री में वृद्धि करने वाली महत्त्वपूर्ण रचना के रूप में प्रतिष्ठित-प्रचारित किया। यद्यपि कटु सत्य यह भी है कि दलित साहित्यकारों, आलोचकों और समीक्षकों ने 'मुर्दहिया' को इस रूप में स्वीकार नहीं किया क्योंकि दलित लेखन के प्रति उनकी अपेक्षाएँ भिन्न हैं। वस्तुतः 'मुर्दहिया' को दलित-लेखन से अलग या उससे आगे की आत्मकथा मानकर विश्लेषण करने पर ही इसके महत्त्व को समझा जा सकेगा।

5.1.12. बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'मुर्दहिया' आत्मकथा का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।
2. " 'मुर्दहिया' केवल दलित जीवन का नहीं बल्कि सामाजिक अध्ययन का आधार है।" उक्त कथन के सम्बन्ध में अपना पक्ष रखिए।
3. " 'मुर्दहिया' एक व्यक्ति विशेष की नहीं प्रत्युत एक समूचे समाज विशेष की आत्मकथा है।" उक्त कथन की युक्तियुक्त मीमांसा कीजिए।
4. 'मुर्दहिया' में वर्णित प्रसंग अत्यन्त प्रभावकारी एवं मार्मिक हैं।" विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख करते हुए उक्त कथन की विवेचना कीजिए।
5. तमाम कष्ट, पीड़ा, अपमान और उपेक्षा सहने के बावजूद अध्ययन के प्रति प्रो॰ तुलसीराम की निष्ठा, एकाग्रता, लगन और धैर्य संघर्षशील युवाओं के लिए प्रेरणादायी है। प्रो॰ तुलसीराम के जीवन-संघर्ष के उन प्रसंगों को रेखांकितकीजिए जिन्होंने आपको गहरे प्रभावित किया हो।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'मुर्दहिया' आत्मकथा में विवेचित अन्धविश्वासों का उल्लेख कीजिए।
2. 'मुर्दहिया' आत्मकथा में वर्णित दलित समुदाय की स्त्रियों के चारित्रिक महत्त्व को रेखांकित कीजिए।

3. 'मुर्दहिया' आत्मकथा में अन्तर्निहित व्यंग्य-कटाक्ष को संकेतित कीजिए।
4. 'मुर्दहिया' आत्मकथा अपने लेखकीय उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुई है ? सारगर्भित शब्दों में अपना मत रखिए।

5.1.13. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. 'मुर्दहिया' के साथ ही अन्य दलित आत्मकथाओं का अध्ययन कीजिए और उनमें वर्णित दलित जीवन-संघर्ष की पड़ताल अपने आसपास की सामाजिक व्यवस्था में तलाशिए।
2. अपने समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, कुरीतियों, रूढ़ियों तथा 'मुर्दहिया' में वर्णित अन्धविश्वास, कुरीतियों, रूढ़ियों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
3. 'मुर्दहिया' आत्मकथा के माध्यम से दलित समाज की संयुक्त कुटुम्ब व्यवस्था के लाभ, हानि और समस्याओं का विश्लेषण कीजिए।

5.1.14. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. मुर्दहिया, डॉ० तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण
2. मणिकर्णिका, डॉ० तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण
3. साहित्य और दलित दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, सम्पादक – सर्वेश कुमार मौर्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
4. दलित साहित्य की भूमिका, कँवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद
5. भारतीय दलित साहित्य – आन्दोलन और चिन्तन, बजरंग बिहारी तिवारी, शब्दारम्भ प्रकाशन, दिल्ली
6. 'बया' पत्रिका, (तुलसीराम विशेषांक) अंक : अप्रैल-जून, 2015, सम्पादक : गौरीनाथ, अन्तिका प्रकाशन, गाजियाबाद, उत्तरप्रदेश
7. बहुजन वैचारिकी, (तुलसीराम विशेषांक भाग 1) प्रवेशांक, जनवरी, 2016, अंक 1, सम्पादक : धर्मवीर यादव, गगन, मानसरोवर, 412, खालसा कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖